जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (पूर्वार्द्ध)

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

प्रथम पत्र

जैन इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं कला

laoxZ-I % tSu bfrgkl

laoxZ-II % tSu laLd`fr

laoxZ-III % tSu dyk

laoxZ-IV % tSu vkxe lkfgR;

laoxZ-V % tSu vU; lkfgR;

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरूण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग,
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

लेखक दलः

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनूं

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शारदाप्रज्ञा

समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
सहा. प्रोफेसर, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह–आचार्य, जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रो. जिनेन्द्र जैन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

प्रो. हरिशंकर पाण्डेय
सह–आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं

सम्पादक मण्डल– 1. प्रो. समणी चैतन्य प्रज्ञा
विभागाध्यक्ष – जैनविद्या विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक–आचार्य, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

संस्करण : 2016

मुद्रण संख्या : ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग		पाठ	पृष्ठ संख्या
संवर्ग–1	इकाई–1	(अ) प्रागैतिहासिक काल में जैनधर्म	1–14
		(ब) भगवान ऋषभ	15–26
		(स) अरिष्टनेमी	27–40
	इकाई–2	(अ) भगवान पार्श्वनाथ	41–50
		(ब) भगवान महावीर	51–81
	इकाई–3	महावीर कालीन (अन्य तीर्थिक) विचारधारायें	82–93
	इकाई–4	महावीर की गणधर–परम्परा	94–107
	इकाई–5	देश–विदेश में जैनधर्म (उत्तर भारत, दक्षिण भारत और विदेशों में जैनधर्म)	108–124
संवर्ग–2	इकाई–6	जैन संस्कृति की विशेषतायें – जातिवाद, व्यसनवर्जन	125–146
	इकाई–7	अहिंसक जीवन शैली (आहार के सन्दर्भ में)	147–167
	इकाई–8	जैन तीर्थस्थान	168–177
	इकाई–9	कर्मकाण्ड	178–181
	इकाई–10	जैन पर्व	182–190
संवर्ग–3	इकाई–11	(अ) मूर्तिकता	191–200
	इकाई–11	(ब) चित्रकला	201–208
	इकाई–12	स्तूप, गुफा और मंदिर	209–225
संवर्ग–4	इकाई–13	आगम साहित्य	226–253
	इकाई–14	आगम व्याख्या साहित्य	254–271
संवर्ग–5	इकाई–15	दार्शनिक साहित्य	272–282
	इकाई–16	पुराण एवं चरित	283–297
	इकाई–17	काव्य एवं कथा साहित्य	298–306
	इकाई–18	योग साहित्य	307–332

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–1 : जैन इतिहास

इकाई–1 : (अ) प्रागैतिहासिक काल में जैनधर्म

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 श्रामण्य का परिवेश
1.3 सिन्धु घाटी की सभ्यता
1.4 पुरातत्व
1.5 असुर और अर्हत्
1.6 असुर और वैदिक आर्य
1.7 असुर और आत्म विद्या
1.8 उत्कर्षकाल रामायण से महाभारत पर्यन्त
1.9 जैनधर्म का उद्भव
    1.9.1 परिवर्तन का आधार
    1.9.2 भगवान् ऋषभ : श्रमण परम्परा
    1.9.3 ऋषभ का निश्चय
    1.9.4 ऋषभ और शिव
1.10 सारांश
1.11 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

जैनधर्म भारत का प्राचीन धर्म है। इसकी प्राचीनता को लेकर विद्वानों में भिन्न-भिन्न मत हैं। दूसरी ओर भारत का प्राचीन इतिहास भी स्पष्ट नहीं है। वैसी स्थिति में हजारों वर्ष पुरानी स्थितियों का वास्तविक आकलन अपने आप में एक बहुत ही कठिन कार्य है। प्राचीन स्थितियों की जानकारी के लिए हमारे पास दो माध्यम हैं—एक है परम्परा से प्राप्त इतिहास और दूसरा है आधुनिक अनुसंधान-पद्धतियों तथा पुरातत्त्वीय विश्लेषणों के आधार पर प्राप्त इतिहास। प्रस्तुत पाठ में हम इन दोनों आधारों पर यह जानने की कोशिश करेंगे कि जैनधर्म का उद्भव कब हुआ? उससे पूर्ववर्ती परम्परा कौन-सी थी? किस-किस युग में किस-किस प्रकार के उन्मेष उसमें आते रहे?

इन सब बातों को लेकर केवल भारत के इतिहास के प्रचलित ग्रन्थों के आधार पर जानना अधूरा ज्ञान होगा। हमें कुछ प्रयत्नों का सहारा लेना होगा जिनमें भारत के प्राचीन इतिहास को अधिकाधिक उजागर करने के लिए गंभीर एवं निष्पक्ष पद्धति काम में ली गई है। श्रमण-संस्कृति क्या है? उसका उद्भव कब, कहां, किसके द्वारा किया गया? आदि विषयों के संदर्भ में ऐतिहासिक दृष्टि को अपनाकर पिछले 50 वर्षों में कुछ विद्वानों ने कार्य किया है। उसमें से एक विद्वान् डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन हैं जिन्होंने प्राचीन भारत के समग्र इतिहास को एक नया सुसंगत रूप देने का प्रयत्न किया है। हम प्रस्तुत पाठ में उनके शोध-कार्य एवं चिन्तन को एक आधार मानकर श्रामण्य के प्राचीन परिवेश एवं जैनधर्म के उद्भव की चर्चा कर रहे हैं। यद्यपि यह कह पाना कठिन है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि प्रागैतिहासिक कालीन भारत के इतिहास को निर्विवाद रूप से सभी इतिहास-मर्मज्ञ स्वीकार कर लेंगे, फिर भी जो नया प्रकल्प सामने आया है, वह सबके लिए चिन्तनीय, मननीय और अन्वेषणीय है।

1.1 उद्देश्य

प्राचीन जैन इतिहास का ज्ञान कर सकेंगे।

1.2 श्रामण्य का परिवेश

भारतीय इतिहास एक दृष्टि में डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने बहुत निष्पक्ष रूप में श्रमण-संस्कृति एवं जैनधर्म की प्रारम्भिक स्थिति पर प्रकाश डाला है। उसको हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं:

1.1.1 नृतत्त्वविज्ञान (एन्थ्रोपोलाजी) सम्बन्धी एवं पुरातात्त्विक अन्वेषण से प्राप्त निष्कर्षों की प्राचीन अनुश्रुतियों एवं मान्यताओं के साथ संगति बैठाने से यह स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में जब मनुष्य की सभ्यता का सर्वप्रथम उदय हो रहा था, भारतवर्ष में मनुष्य जाति तीन प्रधान समुदायों में विभक्त थी। उनके आचार-विचार और संस्कृति एक-दूसरे से भिन्न थे। प्रथम समुदाय उत्तरी भारत के पूर्वी मैदानी भाग में गंगा-यमुना के दोआबे से लेकर अंग-मगध पर्यन्त निवास करता था। ये लोग शान्तिप्रिय और शाकाहारी थे। लोक-परलोक, आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म, आदि में विश्वास करते थे। वे मूर्तिपूजक थे और महापुरुषों की भक्ति करते थे। योगादि द्वारा शरीर और मन के नियंत्रण में इनकी आस्था थी। इनके आचार-विचार अहिंसक एवं निवृत्त्यात्मक थे। इनका सांस्कृतिक रूझान आध्यात्मिकता की ओर विशेष था। संभव है कि उनके निवासभूमि के भौतिक एवं भौगोलिक वातावरण, जलवायु, सर्व प्रकार के भोज्य शाकाहारी की प्रचुरता एवं सुलभता, जीवन-निर्वाह के लिए किसी विशेष उद्यम की आवश्यकता का न होना तथा उनका विशिष्ट बौद्धिक संस्थान या पूर्व संस्कार ऐसी मनोवृत्ति में सहायक रहे हों। अवश्य ही प्रारम्भिक काल में बहुत कुछ विकसित हो जाने पर भी उसके उपरोक्त विचार एवं विश्वास अति अस्पष्ट, अव्यवस्थित, संक्षिप्त और सरल थे। यह समुदाय मानव वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ क्योंकि मनुओं एवं कुलकरों का जन्म इसी जाति में हुआ था और उन्होंने समय-समय पर इस जाति के लोगों का पथ प्रदर्शन किया था। आध्यात्मिक एवं बौद्धिक दृष्टि से अपने आपको आर्य भी कहने लगे। अंतिम मनु एवं प्रथम मानव तीर्थंकर ऋषभदवे का जन्म उपरोक्त भोग-भूमि के अंत में इस मध्यदेशीय मानव वंश में हुआ था और इस जाति में कर्म भूमि या कर्म प्रधान जीवन का विधिवत् प्रवेश उन्होंने कराया था, ऐसा विश्वास किया जाता है।

दूसरा समुदाय उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व के अधिकतर पर्वतीय प्रदेशों में सीमित था। आध्यात्मिक दृष्टि से ये लोग मानवों की अपेक्षा हीन थे किन्तु कला-कौशल एवं उद्योग-धंधों में वे उनसे बहुत बढ़े-चढ़े थे। इन दिशाओं में उन्होंने मानवों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता के साथ पर्याप्त उन्नति कर ली थी और मानवों में कर्मभूमि के आगमन के उपरान्त भी बहुत काल पीछे तक वे उनसे इन विषयों में आगे ही रहे किन्तु साथ ही मानवों को अपना आध्यात्मिक एवं धार्मिक गुरु मानते रहे। यदि मानवों ने ज्ञान का विकास किया तो इन विद्याधरों ने विज्ञान का विकास किया। नाग, ऋक्ष, यक्ष, वानर आदि अनेक कुलों में विभाजित यह भारतीय विद्याधर जाति भारतीय महासागर में फैले हुए विभिन्न द्वीपों एवं प्रदेशों में भी शनैः शनै फैल गयी। कालांतर में इस विद्याधर जाति के वंशजों को ही द्रविड़ की संज्ञा दी गयी। मानवों और विद्याधरों के बीच प्रारम्भ से ही घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध रहे। परस्पर विवाह आदि भी होते थे जिससे रक्तमिश्रण बढ़ा। विद्याधरों ने मानवों के ज्ञान से लाभ उठाया तो मानवों ने विद्याधरों के विज्ञान से।

तीसरा समुदाय मानव वंश की ही एक शाखा थी जो किसी बहुत पूर्व समय में मध्यदेशीय मूल मानव जाति से पृथक् होकर उत्तर-पश्चिम के पर्वतीय प्रदेशों की ओर चली गयी थी। यह समुदाय ज्ञान-विज्ञान दोनों में ही बहुत पीछे तक पिछड़ा रहा। पशुपालन इसका प्रधान कर्म रहा। यह समुदाय घुमक्कड़ था और उत्तर-पश्चिम भारतवर्ती अपने मूलस्थान से चलकर इसके अनेक दल हिन्दूकुश के दर्रों से पार होकर मध्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एशिया तक फैल गये। वहां से एक शाखा कुछ उत्तर की ओर जा बसी, दूसरी पश्चिम की ओर यूरोप, यूनान आदि में और तीसरी ईरान में बस गयी। किन्तु इन सभी शाखाओं का परस्पर यातायात एवं संपर्क चिरकाल तक बना रहा, जब तक कि वे विभिन्न भूभागों में स्थायी रूप से बसकर अपनी-अपनी स्वतंत्र सभ्यता के विकास में संलग्न न हुई। अपने देश-काल, रहन-सहन, जीवन-व्यापार आदि परिस्थितियों के कारण ये लोग सामान्यतया भौतिकवादी, प्रकृति या प्राकृतिक शक्तियों के उपासक, मांसाहारी, हिंसक एवं प्रवृत्ति प्रधान रहे। ये ही लोग कालांतर में आर्य अथवा 'इण्डोआर्य' नाम से प्रसिद्ध हुए। ये मध्यदेशीय मानव आर्यों की भांति न आत्मज्ञानरत थे और न विद्याधरों की भांति विज्ञान एवं कला-कुशल। अतएव इनकी सभ्यता के विकास का आरंभ उन दोनों से पीछे हुआ।

अस्तु, अयोध्या प्रदेश के नाभिसुत ऋषभदेव ने पाषाणकालीन प्रकृत्याश्रित असभ्य युग का अंत करके ज्ञान-विज्ञान संयुक्त कर्मप्रधान मानवी सभ्यता का भूतल पर सर्वप्रथम ॐ नमः किया। अयोध्या से हस्तिनापुर पर्यन्त प्रदेश इस नवीन सभ्यता का प्रधान केन्द्र था। उन्होंने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या रूप लौकिक षट्कर्मों का तथा देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप धार्मिक षट्कर्मों का मानवों को उपदेश दिया। राज्य व्यवस्था की, समाज संगठन किया और नागरिक सभ्यता के विकास के बीच-वपन किये। कर्माश्रय से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में श्रम विभाजन का भी निर्देश किया। वे स्वयं इक्ष्वाकु कहलाये, उन्हीं से भारतीय क्षत्रियों के प्राचीनतम इक्ष्वाकु वंश का प्रारम्भ हुआ। लोगों को लौकिक एवं पारलौकिक उपदेश देकर उन्होंने निःस्पृह योगमार्ग अपनाया और कैलाश पर्वत से निर्वाण-लाभ किया।

उनके पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम संपूर्ण भारत को राजनैतिक एकसूत्रता में बांधने का प्रयत्न किया। उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया और प्राचीन आर्यों का भरत वंश चला। ऋषभ के ही एक अन्य पुत्र का नाम द्रविड़ था जिन्हें उत्तरकालीन-द्रविड़ों का पूर्वज कहा जाता है। संभव है किसी विद्याधर कन्या से विवाह करके ये विद्याधरों में ही जा बसे हों और उनके नेता बने हों, जिससे वे लोग कालांतर में द्राविड़ कहलाये। भरत के पुत्र अर्ककीर्ति से सूर्यवंश, उनके भतीजे सोमयश से चंद्रवंश तथा एक अन्य वंशज कुरु से कुरुवंश चला, ऐसी भी अनुश्रुतियां हैं।

ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट यह अहिंसामय सरल आत्मधर्म उस काल में संभवतः ऋषभधर्म, आर्हतधर्म, मग्ग या मार्ग अर्थात् मुक्ति और सुख का मार्ग कहलाया था। इसके द्वारा अनुप्राणित संस्कृति ही श्रमण संस्कृति कहलायी। ऋषभ के उपरान्त आने वाले अजितनाथ आदि विभिन्न तीर्थंकरों ने इस संस्कृति का पोषण किया और उक्त सदाचार प्रधान योगधर्म का पुनःपुनः प्रचार किया।

1.3 सिन्धु घाटी की सभ्यता

जिस काल में मध्य देश में उपरोक्त श्रमण संस्कृति धीरे-धीरे विकसित हो रही थी प्रायः उसी काल में उक्त ऋषभधर्म एवं संस्कृति से कथंचित प्रभावित विद्याधरों की लौकिकता एवं भौतिकता प्रधान उत्कृष्ट नागरिक सभ्यता एक ओर नर्मदा नदी के कांठे में और दूसरी ओर सिन्धु नदी की घाटी में पल्लिवत हो रही था। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से सिन्धु प्रान्त के लरकाना जिले में तथा पश्चिमी पंजाब के मान्टगुमरी जिले में जो महत्त्वपूर्ण खुदाई एवं खोज-शोध हुई है उससे भारत में एक अत्यन्त प्राचीन एवं उत्कृष्ट नागरिक सभ्यता के अस्तित्व पर आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ा है। सिन्धुघाटी की मोहनजोदड़ो (मुर्दों का टीला) नाम से विख्यात उक्त सभ्यता सभ्य मानव की अधुनाज्ञात प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। पुरातत्त्वज्ञों ने एक पूरा नगर खोद निकाला है जिसकी नगर योजना, पक्की ईंटों के सुंदर सुचारू भवन, हाट-बाजार, चौरस्ते, सभा भवन, विविध अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, खेल-खिलौने, मुद्राएं, मूर्तियां आदि विविध पुरातात्त्विक सामग्री ने जो वहां से प्राप्त हुई है वर्तमान संसार को आश्चर्याभिभूत कर दिया है। गेहूं की खेती और उसका भोज्यान्न के रूप में उपयोग, रूई की खेती और उससे वस्त्र बनाना, स्वर्ण के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आभूषण आदि सिन्धु घाटी के इन प्राचीन विद्याधरों के ही आविष्कार माने जाते हैं। विद्वानों के मतानुसार इस सभ्यता का जीवनकाल ई.पू. 6000 से लेकर 2500 वर्ष तक रहा प्रतीत होता है। अब तक पिरेमिड़ों एवं फैराओ बादशाहों के पूर्ववर्ती प्राचीनतम मिस्र की नीलघाटी की सभ्यता तथा पश्चिमी एशिया में दजला-फरात की घाटी सुमेर सभ्यता ही सर्व-प्राचीन समझी जाती थी। किन्तु अब उपरोक्त सिन्धु घाटी की मोहन-जोदड़ो सभ्यता उन दोनों से पूर्ववर्ती ही नहीं वरन् मानव की सर्वप्रथम नागरिक एवं औद्योगिक सभ्यता अनुमान की जाती है और प्राचीन मिस्र, सुमेरी आदि सभ्यताएं उसके पीछे की तथा अनेक रूपों में उसकी ऋणी मानी जाती है। यह सभ्यता लोहे के आविष्कार से पूर्व की अर्थात् धातु पाषाण (चैल्कोलिथिक) या ताम्रयुग की मानी जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तीर्थंकर संभवनाथ के समय में सर्वप्रथम इस प्राचीन सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। संभवनाथ का विशिष्ट लांछन अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वों के लिए प्रख्यात रहा है। मौर्य काल तक सिन्धु में एक संभूत्तर जनपद और सांभव (सम्बूज) जाति के लोग विद्यमान थे जो बहुत संभव है कि सिन्धु सभ्यता के मूल प्रवर्तकों में हों। यह सभ्यता अवैदिक एवं अनार्य ही नहीं वरन् प्राग्वैदिक थी तथा उसके पुरस्कर्ता ऋषभ प्रणीत योग धर्म के अनुयायी और श्रमण संस्कृति के उपासक प्राचीन विद्याधर अर्थात् भारतीय द्रविड जाति के पूर्वज थे, ऐसा प्रतीत होता है।

सर जॉन मार्शल का कथन है कि "सिन्धु संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इन दोनों संस्कृतियों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था। वैदिक धर्म सामान्यतया अमूर्तिपूजक है जबकि मोहन-जोदड़ो एवं हड़प्पा में मूर्तिपूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहन-जोदड़ो के मकानों में हवनकुण्डों का सर्वथा अभाव है।" इन अवशेषों में नग्न पुरुषों की आकृतियों से अंकित मुद्राएं बहुसंख्या में मिलती हैं। जान मार्शन के अनुसार वे प्राचीन योगियों की मूर्तियां हैं। एक अन्य विद्वान् का कथन है कि "ये मूर्तियां स्पष्टतया सूचित करती हैं कि धातु पाषाणकाल में सिन्धु घाटी के निवासी न केवल योगाभ्यास ही करते थे बल्कि योगियों की मूर्तियों की पूजा भी करते थे।" रामप्रसाद चांदा का कथन है कि "सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देवमूर्तियां योगमुद्रा में हैं और उस सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती है बल्कि खड्गासन देव-मूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं और यह कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा विशेषरूप से जैन है। आदिपुराण में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या बृषभदेव के तपश्चरण के सम्बन्ध में बहुधा हुआ है। जैन तीर्थंकर की इस कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन प्राचीन मूर्तियां ईसवीं सन् के प्रारम्भकाल की मिलती हैं। प्राचीन मिस्र में प्रारम्भिक राज्यवंशों के समय की दोनों हाथ लटकाये खड़ी मूर्तियां मिलती हैं। यद्यपि इन प्राचीन मिस्री मूर्तियों तथा प्राचीन यूनानी कुरोइ नामक मूर्तियों में प्रायः वही आकृति है तथापि उनमें उस देहोत्सर्ग-निस्संग भाव का अभाव है जो सिन्धु घाटी की मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों में तथा कायोत्सर्ग मुद्रा से युक्त जिन-मूर्तियों में पाया जाता है। ऋषभ शब्द का अर्थ वृषभ है और वृषभ तीर्थंकर ऋषभदेव का लांछन है।" वस्तुतः सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में वृषभ युक्त कायोत्सर्ग योगियों की मूर्तियां अंकित मिली हैं जिससे यह अनुमान होता है कि वे वृषभ लांछन युक्त योगीश्वर ऋषभ की मूर्तियां हैं। ऋषभ या वृषभ का अर्थ धर्म भी है शायद इसीलिए कि लोक में धर्म सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभ के रूप में ही प्रत्यक्ष हुआ। प्रो. रानाडे के मतानुसार "ऋषभदेव ऐसे योगी थे जिनका देह के प्रति पूर्ण निर्ममत्व उनकी आत्मोपलब्धि का सर्वोपरि लक्षण था।" उत्तरकालीन भारतीय संतों के योगमार्ग में भी ऋषभदेव को उक्त मार्ग का मूल प्रवर्तक माना गया है। प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार न केवल सिन्धु घाटी के धर्म को जैनधर्म से सम्बन्धित मानते हैं वरन् वहां से प्राप्त एक मुद्रा (नं.449) पर तो उन्होंने 'जिनेश्वर' शब्द भी अंकित रहा बताया है और जैन आम्नाय की श्रीं, ह्रीं, होलीं आदि देवियों की मान्यता भी वहां रही बतायी है। वहां से नागफण के छत्र से युक्त योगी मूर्तियां भी प्राप्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुई हैं जो सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की जो सकती है। इनका लांछन स्वस्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वस्तिक एक अत्यन्त लोकप्रिय चिन्ह दृष्टिगोचर होता है, सड़कें और गलियां तक स्वस्तिकाकार मिलती हैं।

1.4 पुरातत्त्व

मोहन-जोदड़ो की खुदाई से जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनका सम्बन्ध श्रमण या जैन परम्परा से है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। यद्यपि एकमत से यह तथ्य स्वीकृत नहीं हुआ है फिर भी सारे परिकर का सूक्ष्म अवलोकन करने पर उनका सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से ही जुड़ता है। इसके लिए सर जान मार्शल की "मोहन-जोदड़ो एण्ड इट्स सिविलिजेशन" के प्रथम भाग की बारहवीं प्लेट की 13, 14, 15, 18, 19 और 22वीं कोष्ठिका के मूर्तिचित्र दर्शनीय हैं।

सिन्धु घाटी से प्राप्त मूर्तियों और कुषाणकालीन जैन मूर्तियों में अपूर्व साम्य है। कायोत्सर्ग-मुद्रा जैन-परम्परा की ही देन है। प्राचीन जैन-मूर्तियाँ अधिकांशतः इसी मुद्रा में प्राप्त होती हैं। मोहन-जोदड़ो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों की विशेषता यह है कि वे कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यान-लीन हैं और नग्न हैं। खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की पद्धति जैन-परम्परा में बहुत प्रचलित है। इस मुद्रा को 'स्थान' या 'ऊर्ध्वस्थान' कहा जाता है। पतञ्जलि ने जिसे आसन कहा है, जैन आचार्य उसे स्थान कहते हैं। स्थान का अर्थ है 'गति-निवृत्ति'। उसके तीन प्रकार हैं—1. ऊर्ध्व स्थान—खड़े होकर कायोत्सर्ग करना, 2. निषीदन स्थान—बैठकर कायोत्सर्ग करना, 3. शयन स्थान—सोकर कायोत्सर्ग करना।

पर्यङ्कासन या पद्मासन जैन-मूर्तियों की विशेषता है। धर्म-परम्पराओं में योग-मुद्राओं का भेद होता था, उसी के संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—"प्रभो! आपकी पर्यङ्कासन और नासाग्र दृष्टि वाली योग-मुद्रा को भी पर-तीर्थिक नहीं सीख पाए हैं तो भला वे और क्या सीखेंगे?" (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 20)

डेल्फी से प्राप्त प्राचीन आर्गिव मूर्ति, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है, ध्यान लीन है और उसके दोनों कंधों पर ऋषभ की भांति केश-राशि लटकी है, डॉ. कालिदास नाग ने उसे जैन-मूर्ति के अनुरूप बताया है। वह लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है। (डिस्कवरी ऑफ एशिया प्लेट नं. 5) अपोलो रेशफ (यूनान) की धड़-मूर्ति भी वैसी ही है। ये भी श्रमण-संस्कृति की सुदीर्घ प्राचीनता के प्रमाण हैं।

नाग-जाति वैदिककाल से पूर्ववर्ती भारतीय जाति थी। यक्ष, गंधर्व, किन्नर और द्रविड़ जातियां भी मूलतः भारतीय और श्रमणों की उपासक थी। उनकी सभ्यता और संस्कृति ऋग्वैदिक सभ्यता और संस्कृति से पूर्ववर्ती और स्वतंत्र थी। उनके उपास्य ऋषभ, सुपार्श्व आदि तीर्थंकर भी प्राग्-वैदिककाल में हुए थे।

पुरातत्त्व-साधनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि श्रमण-परम्परा वैदिककाल से पूर्ववर्ती है।

कुछ विद्वान् मोहन-जोदड़ो सभ्यता के प्रागआर्यकालीन होने में संदेह करते हैं। इनके अनुसार आर्यों का मूल निवास स्थान भारतवर्ष ही है और सिन्धु सभ्यता आर्य सभ्यता की ही एक प्राथमिक अवस्था है। किन्तु मतबाहुल्य इसी पक्ष में है कि सिन्धु सभ्यता अनार्य ही नहीं थी वरन् वह निश्चयतः द्रविड़ थी। उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति इत्यादि सब द्रविड़ीय थे। डॉ. हेरास के अनुसार 'मोहन-जोदड़ो का प्राचीन नाम नन्दूर अर्थात् मकर देश था और नन्दूर लिपि मनुष्य की सर्वप्रथम तथा यह सभ्यता मनुष्य की भूतल पर सर्वप्रथम सभ्यता थी।' डॉ. हेरास इस सभ्यता को द्रविडीय ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'मकर' नवें तीर्थंकर पुष्पदंत का लांछन है। जॉन मार्शल इस सिन्धु सभ्यता की जननी उत्तर भारत के मध्य देश में उदित एवं विकसित संस्कृति को मानते हैं। प्रो. एस. श्रीकण्ठशास्त्री का कहना है कि "अपने दिगम्बर धर्म, योग मार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लांछनों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है, अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त प्राचीन सिन्धु के पुरस्कर्त्ता प्राचीन विद्याधर जाति के लोग थे जिन्हें द्रविड़ों का पूर्वज कहा जा सकता है किन्तु साथ ही उनके प्रेरक एवं धार्मिक मार्गदर्शक मध्यप्रदेश के वे मानववंशी मूल आर्य थे जो तीर्थंकरों के आत्मधर्म और श्रमण संस्कृति के उपासक थे। तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ से लेकर नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त तक का काल उसका उत्कर्ष काल रहा। प्राय: इसी समय पंजाब के वर्तमान मान्टगुमरी जिले में हड़प्पा नाम से सूचित प्रदेश में लघुभगिनी के रूप में एक अन्य सभ्यता विकसित होनी शुरू हुई। इसका काल ई.पू. 3000 से 2000 वर्ष माना जाता है। हड़प्पा वाले भी अनार्य और अवैदिक थे, किन्तु इनमें उन पश्चिमी आर्यों का जो कालान्तर में वैदिक संस्कृति को जन्म देने वाले थे कुछ मिश्रण रहा हो सकता है। कम से कम नवोदित वैदिक आर्यों का हड़प्पा वालों के साथ ही सर्वप्रथम एवं सबसे भीषण संघर्ष हुआ। वैदिक साहित्य के दस्यु, असुर आदि यही थे। पश्चिमी एशिया में एक के बाद एक आने वाली सुमेर, अस्सुर, बाबुली आदि सभ्यताओं का सम्पर्क अपने से ज्येष्ठ मोहन-जोदड़ो एवं समकालीन हड़प्पा सभ्यता के साथ विशेष रहा। मिस्र की प्राचीनतम सभ्यता भी प्राय: इसी काल की है। ई. पू. 2350 के लगभग हड़प्पा वालों के साथ पश्चिमी एशिया की सुमेरी सभ्यता का सम्पर्क निश्चित रूप से रहा प्रतीत होता है। तत्कालीन काल-गणना में यह तिथि महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा सभ्यता के चिह्न गंगा, चम्बल और नर्मदा के काठों में पश्चिमी उत्तरप्रदेश (हस्तिनापुर आदि में), पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात-काठियावाड़ आदि प्रदेशों में भी प्राप्त हो चुके हैं जो उसके विस्तृत प्रसार के सूचक हैं। इस सभ्यता की उत्तराधिकारिणी झूकर आदि परवर्ती सभ्यताएं मानी जाती हैं और तदुपरान्त आर्यों (इन्डो-आर्यनों) का तथा उनकी वैदिक सभ्यता का उदय हुआ माना जाता है।

वैदिक सभ्यता

आर्यों के मूल निवास स्थान के विषय में बड़ा मतभेद है, किन्तु अधिक संगत यही प्रतीत होता है कि वे मूलत: भारत के ही निवासी थे और मध्यप्रदेश के प्राचीन मानव वंशी आर्यों की ही उस शाखा से सम्बन्धित हैं जो ऋषभदेव के समय में होने वाले मानवी सभ्यता के उदय के कुछ पूर्व ही पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर विचरण करके मूल शाखा से प्राय: पृथक् हो गयी थी और चिरकाल पर्यन्त पृथक् ही रही। इसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि उनका प्रवाह और विचरण पूर्व की ओर अपने मूल जाति बन्धुओं की ओर न होकर पश्चिम की ओर अर्थात् पश्चिमी एशियाई देशों की ओर हुआ। वहां से वे उत्तरी एशिया और पूर्वी एवं उत्तरी यूरोप आदि की ओर फैले। इनका प्रधान केन्द्र पश्चिमी एशिया रहा। उनकी एक शाखा जब ईरान में बस गयी तो एक अन्य शाखा फिर से भारत में आयी और उनके जो जातिबन्धु यहां पहले से ही पश्चिमोत्तर प्रदेश में बसे थे उनमें नवीन प्रोत्साहन फूंककर इन्होंने सरस्वती नदी के तटपर अपनी स्थायी बस्तियां बनायीं, ऋग्वेद के मंत्रों की रचना की और पशुहिंसा युक्त यज्ञों वाली वैदिक संस्कृति को जन्म दिया। प्रो. के.ए. नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार भारत का वैदिक युग भारतीय-ईरानी सभ्यता के विकास का ही एक पहलू है। प्राचीन ईरानी और वैदिक संस्कृति के अनेकविध सादृश्य से यह बात सिद्ध है।

वैदिक युग के प्रारम्भ काल एवं ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों की रचना की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जबकि मैक्समूलर आदि उसे ई. पू. 1200-1000 पर्यन्त निश्चित करते हैं तो तिलक और जैकोबी गणित ज्योतिष के आधार पर उसे ई. पू. 6000 व 4000 के बीच अनुमान करते हैं। किन्तु ये दोनों ही मत अतिशयोक्तिपूर्ण माने जाते हैं। बहुमत इस समय को ई. पू. 2000 के लगभग स्थिर करता है और लगभग 2000-1000 ई. पू. उक्त वैदिक सभ्यता का विकास-काल एवं चरमोत्कर्ष-काल मानता है। इसी बीच प्राचीन मिस्र की वंशानुक्रमिक सभ्यता, प्राचीन ईरानी सभ्यता, प्राचीन चीनी सभ्यता, पश्चिमी एशिया की अस्सुर, खिल्दियन आदि सभ्यताओं, भूमध्यसागरवर्ती हिट्टी, मितानी आदि सभ्यताओं तथा अमेरिका की माया सभ्यता आदि विश्व की अन्य प्राचीनकालीन सभ्यताओं का आगे-पीछे उदय एवं विकास हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वैदिक सभ्यता के प्रारम्भिक विकास के स्वरूप की जानकारी के एकमात्र किन्तु पर्याप्त सफल साधन उस काल में रचे गये ऋग्वेद के मंत्र हैं। ये मंत्र इन्द्र, वरुण, अग्नि, द्यौ आदि देवताओं के रूप में कल्पित प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की स्तुति के रूप में हैं। इन मंत्रों के अध्ययन से उक्त वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों, क्रियाकाण्ड, आचार-विचार, रहन-सहन, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संगठन, लौकिक इतिहास आदि विषयों के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है। याज्ञिक क्रियाकाण्ड, पशुबलि, समाज में पुरोहित, यजमान और राजा की स्थिति, कुटुम्ब में पिता का सर्वोपरि स्थान, विश या जनपद, ग्राम या बस्ती की व्यवस्था, समाज में स्त्रियों का सम्माननीय स्थान, बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व, वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भिक रूप, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, मांसाहार, सुरापान, द्यूतव्यसन आदि तत्कालीन संस्थाओं, प्रथाओं एवं लोकदशा की रोचक सूचनाएं मिलती हैं। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक वैदिक आर्यों का यज्ञविरोधी हड़प्पावालों के साथ सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संघर्ष हुआ, युद्ध हुआ और सुलह हुई। उन लोगों को आर्यों ने दस्यु और दास आदि संज्ञाएं दी। इस काल की प्रमुख घटना दशराज्ञ युद्ध है। भारत के प्राचीन भारतों का भी इस वेद में उल्लेख मिलता है। मानवी सभ्यता के मूल प्रवर्तक योगीश्वर ऋषभ की स्तुति में भी कुछ मंत्र हैं। किन्तु साथ ही लिंगेश्वर को इन्द्र का शत्रु भी कहा गया है। कालान्तर में ऋक्संहिता के रूप में संकलित इस प्रथम वेद में दश मंडलों में विभाजित कुल 1017 मंत्र हैं। जैन अनुश्रुति के अध्ययन से पता चला है कि दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ के उपरान्त सर्वप्रथम ब्राह्मणों ने श्रमण-परम्परा से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके अपनी पृथक् ब्राह्मण संस्कृति एवं वैदिक धर्म को जन्म दिया था। वैदिक आर्यों के समाज में ब्राह्मण वर्ग का सर्वोपरि स्थान देखकर हो सकता है कि मध्यदेशीय मानव वंशी ब्राह्मण उनकी ओर आकृष्ट हुए हों। वेदों की भाषा पर मध्यदेश की अर्धमागधी प्राकृत का तथा ईरानी प्राकृत का तथा ईरानी आदि पश्चिमी भाषाओं का द्विविध प्रभाव रहा हो । लिपि जो उन्होंने अपनायी वह भारत के मानववंशियों द्वारा आविष्कृत ब्राह्मी लिपि थी।

1.5. असुर और अर्हत्

वैदिक-आर्यों के आगमन से पूर्व भारतवर्ष में दो प्रकार की जातियां थी—सभ्य और असभ्य। सभ्य जाति के लोग गांवों और नगरों में रहते थे और असभ्य जाति के लोग जंगलों में। असुर, नाग, द्रविड़—ये सब सभ्य जातियां थीं। दास जाति असभ्य थी। असुरों की सभ्यता और संस्कृति बहुत उन्नत थी। उनके पराक्रम से वैदिक-आर्यों को प्रारम्भ में बहुत क्षति उठानी पड़ी।

असुर लोग आर्हत्-धर्म के उपासक थे। बहुत आश्चर्य की बात है कि जैन-साहित्य में इसकी स्पष्ट चर्चा नहीं मिली, किन्तु पुराण और महाभारत में इस प्राचीन परम्परा के उल्लेख सुरक्षित हैं।

विष्णुपुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण और देवीभागवत में असुरों को आर्हत् या जैन-धर्म का अनुयायी मनाने का उल्लेख है।

विष्णुपुराण के अनुसार मायामोह ने असुरों को आर्हत्-धर्म में दीक्षित किया। त्रयी (ऋग्, यजुः और साम) में उनका विश्वास नहीं रहा। उनका यज्ञ और पशु-बलि से भी विश्वास उठ गया। वे अहिंसा-धर्म में विश्वास करने लगे। उन्होंने श्राद्ध आदि कर्म-काण्डों का भी विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।

विष्णुपुराण का मायामोह किसी अर्हत् का शिष्य था। उसने असुरों को अर्हत् के धर्म में दीक्षित किया, यह भी इससे स्पष्ट है। असुर जिन सिद्धान्तों में विश्वास करने लगे, वे अर्हत्-धर्म के सिद्धान्त थे।

विष्णुपुराण में असुरों को वैदिक रंग में रंगने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु ऋग्वेद द्वारा यह स्वीकृत नहीं है। वहां उन्हें वैदिक-आर्यों का शत्रु कहा गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.6 असुर और वैदिक आर्य

वेदों और पुराणों में वर्णित देव-दानव-युद्ध वैदिक-आर्यों और आर्य-पूर्व जातियों के प्रतीक का युद्ध है। वैदिक-आर्यों के आगमन के साथ-साथ असुरों से उनका संघर्ष छिड़ा और वह 300 वर्षों तक चलता रहा। आर्यों का इन्द्र पहले बहुत शक्तिशाली नहीं था। इसलिए प्रारम्भ में आर्य लोग पराजित हुए।

भारतवर्ष में असुर राजाओं की एक लम्बी परम्परा रही है। वे सभी व्रत-पारायण, बहुश्रुत और लोकेश्वर थे। असुर प्रथम आक्रमण में ही वैदिक-आर्यों से पराजित नहीं हुए थे। जब तक वे सदाचार-परायण और संगठित थे तब तक आर्य लोग उन्हें पराजित नहीं कर सके। किन्तु जब असुरों के आचरण में शिथिलता आई तब आर्यों ने उन्हें परास्त कर डाला। इस तथ्य का चित्रण इन्द्र और लक्ष्मी के संवाद में हुआ है। इन्द्र के पूछने पर लक्ष्मी ने कहा "सत्य और धर्म से बंध कर पहले मैं असुरों के यहां रहती थी, अब उन्हें धर्म के विपरीत देखकर मैंने तुम्हारे यहां रहना पसन्द किया है। मैं उत्तम गुणों वाले दानवों के पास सृष्टि-काल से लेकर अब तक अनेकों युगों से रहती आई हूं। किन्तु अब वे काम-क्रोध के वशीभूत हो गए हैं, उनमें धर्म नहीं रह गया है इसलिए मैंने उनका साथ छोड़ दिया।" इससे स्पष्ट है कि दानवों की राज्य-सत्ता सुदीर्घ-काल तक यहां रही और उसके पश्चात् वह इन्द्र के नेतृत्व में संगठित आर्यों के हाथ में चली गई।

वैदिक आर्यों का प्रभुत्व उत्तर भारत पर अधिक हुआ था। दक्षिण भारत में उनका प्रवेश बहुत विलम्ब से हुआ या, विशेष प्रभावशाली रूप में नहीं हुआ। जब दैत्यराज बलि की राज्यश्री ने इन्द्र का वरण किया तब इन्द्र ने दैत्यराज बलि से कहा—"ब्रह्मा ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारा वध न करूं। इसीलिए मैं तुम्हारे सिर पर वज्र नहीं छोड़ रहा हूं। दैत्यराज! तुम्हारी जहां इच्छा हो चले जाओ। इन्द्र की यह बात सुन दैत्यराज बलि दक्षिण-दिशा में चले गए और इन्द्र उत्तर दिशा में।"

पद्मपुराण में भी बताया गया है कि असुर लोग जैन-धर्म को स्वीकार करने के बाद नर्मदा के तट पर निवास करने लगे। इससे स्पष्ट है कि अर्हत् का धर्म, उत्तर भारत में आर्यों का प्रभुत्व बढ़ जाने के बाद, दक्षिण भारत में विशेष बलशाली बन गया। असुरों का उत्तर से दक्षिण की ओर जाना भी उनकी तथा द्रविड़ों की सभ्यता और संस्कृति की समानता का सूचक है।

1.7 असुर और आत्म-विद्या

आर्य-पूर्व असुर राजाओं की पराजय होने के बाद आर्य-नेता इन्द्र ने दैत्यराज बलि, नमुचि और प्रहलाद से कहा—"तुम्हारा राज्य छीन लिया गया है; तुम शत्रु के हाथ में पड़ गए हो फिर भी तुम्हारी आकृति पर कोई शोक की रेखा नहीं यह कैसे?"

इस प्रश्न के उत्तर में असुर राजाओं ने जो कहा वह उनकी आत्म-विद्या का ही फलित था। विरोचनकुमार बलि ने इन्द्र को इस प्रकार फटकारा कि उसका गर्व चूर हो गया। बलि ने इन्द्र से कहा—"देवराज! तुम्हारी मूर्खता मेरे लिए आश्चर्यजनक है। इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि छिन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसा के गीत गाना चाहते हो, यह तुम्हारे कुल और यश के अनुरूप नहीं है।"

नमुचि और बलि राज्यहीन होने पर भी जिस प्रकार शोक-मुक्त रहे, वह उनकी अध्यात्म-विद्या का ही फल था। इन्द्र उनके धैर्य और अशोक-भाव को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। (महाभारत शांति पर्व 227/13)

महाभारत में असुरों पर वैदिक विचारों की छाप लगाई है फिर भी उनकी अशोक, शान्त व समभावी वृत्ति से जो आत्म-विद्या की झलक मिलती है, वह निश्चित रूप से उन्हें श्रमण-धर्मानुयायी सिद्ध करती है।

1.1.6 असुरों और वैदिक-आर्यों का विरोध केवल भौगोलिक और राजनीतिक ही नहीं, किन्तु सांस्कृतिक भी था। आर्यों ने असुरों की अहिंसा का विरोध किया तो असुरों ने आर्यों की हिंसा का और यज्ञ-पद्धति का विरोध किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारतवर्ष में वैदिक-आर्यों का अस्तित्व सुदृढ़ होने के साथ-साथ यह विरोध की धारा प्रबल हो उठी थी। एम. विन्टरनिट्ज ने लिखा है—"वेदों के विरूद्ध प्रतिक्रिया बुद्ध से सदियों पूर्व शुरू हो चुकी थी। कम-से-कम जैनों की परम्परा में इस प्रतिक्रिया के स्पष्ट निर्देश मिलते हैं और जैनधर्म की संस्थापना 750 ई. पू. में हो चुकी थी। इस विषय में जैनों की अन्यथा विश्वसनीय काल-बुद्धि और काल-गणना को यहां (और यहीं पर?) झुठलाने की आवश्यकता नहीं। व्यूलर का तो यह विश्वास था कि वेदों (ब्राह्मण-धर्म) की प्रगति तथा वेद-विरोध की प्रगति, दोनों प्रायः समानान्तर ही होती रही है। दुर्भाग्यवश, एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में यह साबित करने से पूर्व ही व्यूलर की मृत्यु हो गई।" (प्राचीन भारतीय इतिहास, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ. 233)

श्रमण-संस्कृति का अस्तित्व पूर्ववर्ती था। इसलिए वैदिक यज्ञ-संस्था का प्रारम्भ से ही विरोध हुआ। यदि वह न होती तो उसका विरोध कैसे होता?

आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार 1. तीर्थ, 2. पूजा, 3. भक्ति, 4. नदी की पवित्रता, 5. तुलसी, अश्वत्थ आदि से सम्बन्धित देव और 6. सिन्दूर आदि उपकरण—ये सब वेद-बाह्य वस्तुएं हैं। आर्यों ने इन्हें आर्य-पूर्व जातियों से ग्रहण किया था। (भारतवर्ष में जाति भेद, पृ. 75-79)

1. श्रमण-परम्परा में धर्म-संघ के लिए 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग होता था और उसके प्रवर्तक तीर्थंकर कहलाते थे। दीघनिकाय में पूरण कश्यप, मंखरी गोशाल, अजित केशकम्बल, प्रक्रुद्ध कात्यायन, संजय वेलट्ठीपुत्र और निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र—इन छहों को तीर्थंकर कहा है।
2. आवश्यक निर्युक्ति 218 के अनुसार, नाग-पूजा भगवान् ऋषभ के पुत्र भरत के समय में प्रचलित हुई थी।
3. भक्ति का मूल उद्गम द्रविड प्रदेश है, अतः भक्ति भी आर्य-पूर्व हो सकती है।
4. गंगा-यमुना आदि नदियों का वेदों में उल्लेख नहीं है और ब्राह्मण-ग्रन्थों में वे बहुत पवित्र और देवता रूप मानी गई हैं।
5. जैन-सूत्रों में भवनवासी देवों के दस चैत्य-वृक्ष बतलाए गए हैं। इसी प्रकार व्यन्तर देवों के भी आठ चैत्य-वृक्ष बतलाए गए हैं। महात्मा बुद्ध के बोधि-वृक्ष का महत्त्व प्रारम्भ से ही रहा है। जैन के 24 तीर्थंकरों के 24 ज्ञान-वृक्ष माने गए हैं।
6. सिन्दूर भी आर्य-पूर्व नाग-जाति की वस्तु है।

श्रमण-साहित्य में नदी, वृक्ष आदि का उत्सव मनाने के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य क्षितिमोहन सेन ने जिन वस्तुओं को वेद-बाह्य या अवैदिक कहा है, उनका महत्त्व या महत्त्वपूर्ण उल्लेख श्रमण-परम्परा के साहित्य में मिलता है। उनके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन नहीं है कि जिसे आर्य-पूर्व संस्कृति या अवैदिक-परम्परा कहा जाता है, वह श्रमण-परम्परा ही होनी चाहिए।

1.8 उत्कर्षकाल रामायण से महाभारत पर्यन्त

शनैः शनैः वैदिक आर्यों ने भारत के आदिम निवासी मानवों और विद्याधरों से समझौता कर लिया और उनका उनके साथ रक्तमिश्रण भी होने लगा। उन्होंने पूर्व की ओर फैलना प्रारम्भ कर दिया और पंजाब से लेकर समस्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश उनका केन्द्र बन गया। उनकी राज्य शक्तियों का भी विकास हुआ जिनमें कुरु-पांचाल के राज्य सर्व प्रमुख थे। वैदिकों के नवीन उत्साह से पूर्ण एवं द्रुतवेग से वृद्धिंगत प्रभाव, प्रसार तथा लौकिक शक्ति के सम्मुख उत्तर-पश्चिमी की नाग आदि विद्याधर जातियां पराभूत होकर सुदूर उत्तर में तक्षशिला और सिन्धु नदी के मुहाने के निकट पातालपुरी आदि में संकुचित हो गयी। दक्षिण में वे पूर्ववत् सबल बनी रहीं। पूर्व के श्रमणोपासक मध्यदेशी मानव अंग, मगध तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश में सीमित होते चले गये। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय तक वैदिक धर्म एवं ब्राह्मण संस्कृति की उत्तरोत्तर प्रगति होती गयी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थं में इक्ष्वाकु के सूर्य वंश में उत्पन्न अयोध्यापति रामचन्द्र द्वारा दोनों संस्कृतियों के समन्वय का भागीरथ प्रयत्न हुआ। अतएव श्रीराम यदि श्रमण परम्परा में एक महान् पुराण पुरुष तथा उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने वाले सिद्ध परमात्मा हुए तो दूसरी में ईश्वर के अवतार माने गये। एक में वे परम अहिंसक आत्मोपासक हैं तो दूसरी में वे यज्ञ एवं याज्ञिकों के रक्षक हैं। उन्हीं के द्वारा इस समन्वयात्मक उत्तर भारतीय संस्कृति का प्रकाश सुदूर दक्षिण देशों में पहुंचा और वैदिकों के उदय के कारण कुछ काल के लिए विच्छिन्न हो जाने वाली मानव-विद्याधर मैत्री अब आर्य-द्रविड सम्पर्क के रूप में फिर से पुनरुज्जीवित हुई।

ऋग्वेद के उपरान्त यजुष्, साम और अथर्व नामक शेष तीन वेदों में ब्राह्मण अथवा वैदिक संस्कृति के साथ श्रमण अथवा आध्यात्मिक आर्हत संस्कृति के समन्वय एवं आदान-प्रदान के उपरोक्त प्रयत्नों का पर्याप्त आभास मिलता है। वेदों में व्रतादि में विश्वास करने वाले श्रमणोपासक पूर्वी आर्यों को व्रात्य कहते थे। प्रारम्भकालीन मंत्रों में इन व्रात्यों की पर्याप्त निन्दा है किन्तु वैदिक क्षत्री राजे उन पूर्वी क्षत्रियों से विवाह, मैत्री आदि सम्बन्ध करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। इस समन्वय या समझौते का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारत की घटनाओं के मध्यवर्ती काल में वैदिक—आर्य समाज में क्षत्रियों की शक्ति और प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था—उनकी बलवती राज्यसत्ताएं यत्र-तत्र फैल गयी थीं, ब्राह्मण मंत्री और पुरोहित मात्र ही रह गये थे। इसी युग में वैदिक क्षत्रियों की राजनैतिक शक्ति सर्वोपरि थी और यही काल वैदिक सभ्यता का चरमोत्कर्ष-काल है। महाभारत के विनाशकारी युद्ध ने वैदिक युग का ही अंत नहीं किया, वैदिक क्षत्रियों की राज्यसत्ता को भी अवनत कर दिया।

जिस प्रकार इस युग के प्रारम्भ में अयोध्या के राम ने दोनों संस्कृतियों के समन्वय का स्तुत्य प्रयत्न किया था उसी प्रकार इस युग के अंत में यदुवंशी कृष्ण ने वैसा ही प्रयत्न किया। ये दोनों ही महापुरुष भारत की मौलिक सांस्कृतिक एकता के प्रतीक हैं—दोनों ही प्राचीन श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृतियों के बीच की सुदृढ़ कड़ियां हैं। कृष्ण भी दोनों ही परम्पराओं में प्रायः समान रूप से उत्पन्न हुए थे और उन्होंने कुरु-पांचाल के वैदिक-आर्य क्षत्रियों के साथ विवाह एवं मैत्री आदि सम्बन्ध स्थापित करके तथा अपनी विलक्षण कूटनीति द्वारा कालान्तर में ईश्वर के अवतार के रूप में पूजे गये। साथ ही श्रमण अथवा जैन परम्परा में भी वे नारायण, अर्धचक्री, त्रिखण्डी, श्रावकोत्तम, अपने समय के सर्वप्रतापी सर्वशक्तिमान आदर्श नरेश एवं धर्मात्मा के रूप में स्तुत्य हुए हैं। स्वयं पाण्डव बंधु भी जैनधर्म के उपासक तथा अंत में जैन मुनियों के रूप में तप करते बताये गये हैं।

रामायण एवं महाभारत की घटनाएं बहुत थोड़े-से अन्तरों को लिये हुए ब्राह्मण एवं जैन दोनों ही परम्पराओं में प्रायः एक-सी पायी जाती हैं और समान रूप से लोकप्रिय हैं। वस्तुतः दोनों धाराओं के ये कथानक एक-दूसरे के पूरक हैं और नियमित इतिहास के प्रारम्भ से पूर्व के अनुश्रुतिगम्य काल के लिए ब्राह्मण परम्परा का वैदिक साहित्य, रामायण एवं महाभारत काव्य तथा पुराण ग्रन्थ जितने उपयोगी हैं उतने ही जैन पुराण साहित्य तथा धार्मिक अनुश्रुतियां भी हैं। जैसाकि प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार का कथन है, भारत का प्राचीन इतिहास जितना वेदों को मान्य करनेवालों का है उतना ही वेद विरोधी जैनों का है। जैनों के प्राचीन तीर्थंकर भी वैसे ही वास्तविक ऐतिहासिक पुरुष हैं जैसे कि वेदों के रचयिता ऋषिगण तथा ब्राह्मण परम्परा के अन्य प्राचीन महापुरुष। वस्तुतः जैन पुराण कथानकों के उस काल-सम्बन्धी चित्रण कहीं अधिक बुद्धिगम्य, युक्तियुक्त एवं वास्तविकता के निकट हैं। श्रमण संस्कृति भी शुद्ध भारतीय प्राचीन मानव संस्कृति है जो वैदिक धर्म और ब्राह्मण संस्कृति के उदय से संभवतया कुछ पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थी और विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मण-वैदिक संस्कृति के उदय के उपरान्त वह उसके साथ संघर्ष करती, समन्वय करती, आदान-प्रदान करती तथा अपनी पृथक् सत्ता भी बनाये रखती हुई फलती-फूलती और विकसित होती रही।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विनाशकारी महाभारत युद्ध के अंत के साथ-साथ भारतीय इतिहास के सुदीर्घ प्राग्ऐतिहासिक एवं अनुश्रुतिगम्य इतिहास काल का अंत और नियमित इतिहास प्रारम्भ होता है।

1.9 जैनधर्म का उद्‌भव

1.9.1 परिवर्तन का आधार

जब से इस पृथ्वी का अस्तित्व है, जीव और पुद्‌गल का संयोग है, तब से प्राणी जगत् का अस्तित्व है, मनुष्य का अस्तित्व है। उसमें परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। जैन आचार्यों ने परिवर्तन को अलग-अलग भागों में बांटा। परिवर्तन का एक आधार बना—भौगोलिकता। पृथ्वी पर क्षेत्रजन्य परिवर्तन होते रहते हैं। परिवर्तन का एक आधार है कालचक्र। हम जिस पृथ्वी पर जी रहे हैं, उस पृथ्वी पर कालचक्र का परिवर्तन होता है। कालचक्र चलता है और कालचक्र के आधार पर परिवर्तन चलता है। कालचक्र को बारह भागों में बांटा गया। इन बारह भागों में छः भागों का नाम रखा गया—अवसर्पिणी काल और छह भागों का नाम रखा गया—उत्सर्पिणी काल। एक काल ऐसा आता है जिसमें धीरे-धीरे सब वस्तुओं का ह्रास होता चला जाता है। उस काल को अवसर्पिणी काल कहा गया। एक काल ऐसा आता है, जिसमें सब वस्तुओं का विकास होता चला जाता है, उसे उत्सर्पिणी काल कहा गया। अभी हम जिस कालखण्ड में जी रहे हैं, उसका नाम है अवसर्पिणी काल।

इस कालचक्र के सिद्धान्त के अनुसार पहला खण्ड बीता, दूसरा बीता और तीसरा बीता। जब तीसरा कालखण्ड बीत रहा था, तीसरे कालखण्ड के तीसरे भाग का भी थोड़ा भाग बच रहा था, उस समय इस विश्व की व्यवस्था ने मनुष्य जाति के इतिहास में एक नया मोड़ लिया, इस विश्व को कुलकरों ने प्रभावित किया। पहले यौगलिक युग था। तीसरे युग के अंतिम क्षणों में आकांक्षा विस्तार पाने लगी। यौगलिक युग समाप्ति की ओर था। कुछ लोगों ने अपना नेता चुनना शुरू किया। कुल बनें, कुलों के मुखिया बने। कुलकर की व्यवस्था का यह आदि बिन्दु है। कुलकरों ने कुल की व्यवस्था संभाल ली और एक प्रकार से नेतृत्व का बीजारोपण हो गया।

यौगलिक व्यवस्था में सब स्वशासित थे। दूसरे का शासन नहीं था। जब कुलकर की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ था तब एक शासक, एक व्यवस्था और एक नेतृत्व का बीजारोपण हुआ। नाभि सातवें कुलकर माने जाते हैं। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार नाभि चौहदवें कुलकर और ऋषभ पन्द्रहवें कुलकर हुए। ऋषभ को भी कुलकर मान लिया गया।

जैनदर्शन का सिद्धान्त है—कोई भी व्यक्ति ईश्वर होकर जन्म नहीं लेता। कोई अवतार नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपूर्णता के साथ जन्म लेता है। ऋषभ पूर्ण नहीं थे, अपूर्ण थे। ऋषभ में अपूर्णता के साथ-साथ कुछ विशेषतायें भी थी। वे अवधिज्ञान—अतीन्द्रिय ज्ञान के साथ जन्मे। जन्म से ही उनकी प्रज्ञा जागृत थी।

1.9.2 भगवान् ऋषभः श्रमण परम्परा

महावीर एवं पार्श्वनाथ इतिहास पुरुष हैं। उनसे आगे इतिहास की वह सामग्री प्राप्त नहीं हैं, जिसके द्वारा उनकी ऐतिहासिकता की पुष्टि की जा सके। जैनधर्म का शेष सारा अतीत प्राग् ऐतिहासिक काल की सीमा में आता है। प्रश्न होता है—जैनधर्म का प्रवर्तन कब हुआ? क्या महावीर ने जैनधर्म का प्रवर्तन किया? तीर्थंकर किसी का अनुयायी नहीं होता। कोई तीर्थंकर किसी तीर्थंकर का अनुयायी नहीं है। महावीर पार्श्व के अनुयायी नहीं हैं, पार्श्व ऋषभ के अनुयायी नहीं हैं। सब आदिकर हैं। प्रश्न हुआ—प्रत्येक तीर्थंकर आदिकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है तो तीर्थंकर चौबीस क्यों? चौबीस तीर्थंकरों की एक शृंखला क्यों? ऐसा क्यों माना गया? यह आज भी अनुसंधान का विषय है।

सब स्वतंत्र हैं, आदिकर हैं, इस दृष्टि से महावीर भी प्रवर्तक हैं किन्तु जैनधर्म का सबसे पहले प्रवर्तन किसने किया? इस प्रश्न की खोज में हम यात्रा करते-करते उस युग में पहुंच जाते हैं जिस युग में युगलों का युग समाप्त होता है ओर समाज का युग प्रारम्भ होता है। समाज के उस आदिम युग में भगवान् ऋषभ ने सबसे पहले जैनधर्म का प्रवर्तन किया। केवल जैनधर्म का ही नहीं, समग्र श्रमणधर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभ ने किया। जो परम्परा भगवान् ऋषभ द्वारा स्थापित की गई, उस परम्परा का नाम है, श्रमण परम्परा। उस परम्परा में अनेक सम्प्रदाय बने। सांख्य सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय, आजीवक सम्प्रदाय आदि-आदि न जाने कितने सम्प्रदाय विकसित हुए। उनकी संख्या चालीस तक चली गई और उससे अधिक संख्या भी हो सकती है। जितने अवैदिक सम्प्रदाय थे वे सारे श्रमण परम्परा में थे। उन सारी सम्प्रदाय की परम्पराओं का प्रवर्तन भगवान् ऋषभ से हुआ है। ऋषभ ने अपने शासन-काल में पदार्थ को बहुत विस्तार दिया और यह अनुभव भी कर लिया—जहां पदार्थ हैं वहां विषमताएं जन्मे बिना नहीं रहेंगी।

1.9.3 ऋषभ का निश्चय

ऋषभ ने एक नया मार्ग प्रारम्भ करने का निश्चय किया। उन्होंने ऐसे मार्ग का प्रवर्तन करने का संकल्प किया, जहां कोई विषमता नहीं है। उनके मानस में यह संकल्प उठा—मुझे त्याग का प्रवर्तन करना है। पुष्पवाटिका में ही इस संकल्प को मूर्त्तरूप देने का निश्चय कर ऋषभ राजमहल में आए। उन्होंने अपनी भावना भरत के सामने प्रस्तुत की। भरत एवं विनीता नगरी का कोई भी नागरिक उनकी सुखद छत्रछाया से वंचित नहीं होना चाहता था। भरत तथा जनता ने भगवान् ऋषभ से अनुरोध किया—आप हमें इस प्रकार असहाय बनाकर प्रस्थान न करें। ऋषभ ने उनकी भावना को स्वीकार नहीं किया। उनका निश्चय दृढ़ था और एक दिन ऐसा आया कि —ऋषभ ने भरत, बाहुबली आदि को अपना राज्य सौंप दिया। वे राज्य को छोड़ जंगल की ओर चल पड़े। शहर से प्रस्थान कर ऋषभ विनीता नगरी के बाहर उद्यान में पहुंचे। उनके साथ न जाने कितनी भीड़ थी! सारी विनीता नगरी उमड़ पड़ी। चार हजार व्यक्ति उनके साथ रहने के लिए चल पड़े। वे पूछ रहे थे—ऋषभ क्यों जा रहे हैं? कहां जा रहे हैं? वे नहीं जानते थे—साधु क्या होता है, कौन होता है? उन्होंने न साधु को देखा था और न साधु का नाम सुना था। वे कुछ भी नहीं जानते थे किन्तु कच्छ और महाकच्छ के नेतृत्व में वे ऋषभ के साथ चलने के लिए कटिबद्ध थे।

भरत ने कहा—कच्छ! महाकच्छ! आप कहां जा रहे हैं?

कच्छ और महाकच्छ ने कहा—हम भगवान् ऋषभ के साथ जा रहे हैं।

आप वहां क्या करेंगे? आप मत जाइए।

कुछ भी हो, जहां ऋषभ जाएंगे, वहाँ कच्छ भी जाएगा, महाकच्छ भी जाएगा, हम सब जाएंगे।

चार हजार की फौज ऋषभ के पीछे चल पड़ी। इस दृश्य को देखने के लिए विनीता का कोई नागरिक वंचित नहीं रहा। यह एक नया प्रस्थान था।

ऋषभ विनीता नगरी के उद्यान में खड़े हो गये। उनके साथ चार हजार की फौज खड़ी थी। उनका संकल्प था—जहां ऋषभ रहेंगे, वहीं हम सब रहेंगे। वे चार हजार व्यक्ति ऋषभ के साथ मुनि बन गये, समता धर्म का प्रवर्तन हो गया। समता धर्म के प्रवर्तन का अर्थ है—धर्म तीर्थ की प्रवर्तना। श्रमण परम्परा का मुख्य सूत्र है—समता। श्रमण परम्परा और वैदिक परम्परा में मुख्य विभाजक रेखा है समता। स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के व्यवसाय बताए गए हैं। उनमें एक है सामयिक व्यवसाय। इसका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से है। समता का एक अर्थ समानता किया जाता है पर यह मूल अर्थ नहीं है। समता का अर्थ है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मा और आत्मा का अर्थ समता। जो आत्मा है, वह सामायिक है और जो सामायिक है वह आत्मा है। आत्मा को स्वीकार किए बिना समता की स्थापना संभव नहीं है। यही एक ऐसा बिन्दु है जहां समता की बात की जा सकती है। जो व्यक्ति आत्मा की भूमिका में नहीं है, उसे समता की बात करने का अधिकार नहीं है।

ऋषभ ने सबसे पहले आत्मा का आयाम खोला। उन्होंने कहा—जहां आत्मा है, वहां समता स्वतः फलित होगी। इस तथ्य को स्वीकार किए बिना आत्मा की बात संभव नहीं बनती। ऋषभ की इस उद्घोषणा से मानव समाज को नया प्रकाश मिला।

भगवान् ऋषभ ने पक्ष के सामने प्रतिपक्ष का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। समाज है तो असमाज का होना जरूरी है। भोग है तो त्याग का होना जरूरी है। पदार्थ है तो अपदार्थ का होना जरूरी है। इसका नाम हो गया—धर्मतीर्थ का प्रवर्तन। जब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता है तब साधु और साध्वी, श्रावक और श्राविका समाज निर्मित होता है यह दूसरे नंबर की बात है। यह तीर्थ का मूल अर्थ नहीं है तीर्थ का मूल अर्थ है—प्रवचन। भगवान् ने जो नया बोध-पाठ दिया, वही तीर्थ का प्रवर्तन हो गया। उपचार से साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं भी तीर्थ कहलाते हैं। उनके प्रवचन से अनेक व्यक्ति प्रबुद्ध बने, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका बने। ये तीर्थ के चार घटक हैं। तीर्थ के प्रवर्तन, समता धर्म के प्रवर्तन से समाज के सामने एक नया आदर्श और एक नई भूमिका प्रस्तुत हो गई।

भगवान् ऋषभ ने हिमालय पर तप तपा। हिमालय भगवान् ऋषभ की तपोभूमि रही है। वहां उन्होंने बहुत कुछ पाया। आज इतिहास की खोज वहां की जा रही है। यह माना जाने लगा है—ऋषभ और शिव दो व्यक्ति नहीं है। एक ही व्यक्ति की दो धाराएं बन गई। एक धारा ने उसका नाम शिव दे दिया और दूसरी धारा ने उसका नाम ऋषभ रखा। मूलतः दोनों व्यक्ति एक ही हैं। ऋषभ की प्रतिमा धारवाड़ में और शिव की प्रतिमा इन्दौर के संग्रहालय में है।

1.9.4 ऋषभ और शिव

ऋषभ की प्रतिमा देखें या शिव की प्रतिमा। दोनों एक समान लगती है। इन दोनों में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। और भी ऐसे अनेक तथ्य हैं जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है—ऋषभ और शिव—ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। शिव भी अवैदिक हैं और ऋषभ भी अवैदिक। ऋषभ द्वारा प्रवर्तित समता धर्म जनता के लिए कल्याणकारी हुआ। भगवान् महावीर ने भी उसी धर्म का प्रवर्तन किया। पता नहीं, क्या बात है—इतिहास के बाईस तीर्थंकर एक ओर दिखाई देते हैं तथा ऋषभ और महावीर—दूसरी ओर दिखाई देते हैं। कहां पहला बिन्दु और कहां अंतिम बिन्दु! किन्तु दोनों समान रेखा पर अवस्थित नजर आते हैं। उन्होंने जिस तीर्थ का प्रवर्तन किया वह आज भी हमारे सामने प्रस्तुत है।

भगवान् ऋषभ से ही जैन धर्म का उद्भव हुआ—यह एक केवल परम्परा-मान्य तथ्य नहीं अपितु इतिहास-मान्य तथ्य है। यद्यपि "जैन" नामकरण बहुत प्राचीन न हो, यह बहुत संभव है। समण धर्म, आर्हत् धर्म आदि नाम जैनधर्म के ही प्राचीन नाम हैं। "निर्ग्रन्थ धर्म" के रूप में भगवान् महावीर के काल में उसकी प्रसिद्धि हुई। भगवान् महावीर के पश्चात् ही "जैनधर्म" नामकरण हुआ, ऐसा संभव है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैनधर्म का उद्भव ही बाद का है। प्रत्युत आगमों में स्थान-स्थान पर यह स्पष्टोक्ति की गई है कि जिस धर्म का प्रवर्तन भगवान् महावीर ने किया—जो तत्त्व, दर्शन, आचार आदि उन्होंने प्रस्तुत किए, उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्व भी उसी रूप में उसे प्रस्तुत करते थे। तीर्थंकर ऋषभ से लेकर महावीर तक जितने तीर्थंकर हुए सभी ने एक ही रूप में 'सत्य' की प्रस्तुति की, मोक्षमार्ग का निरूपण किया। आवश्यकसूत्र का यह पाठ—"नमो चउवीसाए तित्थयराणं उसभाइ महावीर पज्जवसाणाणं इणमेव निग्गंथं पावयणं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सच्चं ...।" यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन (जैनधर्म) सत्य है जो ऋषभ से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों के द्वारा प्ररूपित है—ऐसे चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार।"

1.10 सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि परम्परा की दृष्टि से जैनधर्म अनादि है; इतिहास की दृष्टि से जैनधर्म अपने तात्त्विक रूप में भगवान् ऋषभ से उद्भूत हुआ जिसका समय प्राग्-ऐतिहासिक होने से संख्यात्मक रूप में इसे प्रस्तुत करना संभव नहीं है।

1.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्राग्-ऐतिहासिक काल की सांस्कृतिक विभिन्नताओं को बताते हुए श्रमणों के उद्भव एवं प्रभाव को ठोस आधारों पर सिद्ध करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वैदिक वाङ्मय के आधारों पर श्रामण्य के परिवेश को स्पष्ट करें।
2. भगवान् ऋषभ से जैनधर्म का उद्भव हुआ—इस तथ्य को विवेचित करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

क. निम्न प्रश्नों के उत्तर एक वाक्य में प्रस्तुत करें:

1. भारतवर्ष के प्राचीन तीन मानव-समुदाय में तीसरे का सम्बन्ध किससे हैं?
2. मोहन-जोदड़ो के अवशेषों में प्राप्त वे कौन-से प्रमाण हैं, जो सर जॉन मार्शल को सिन्धु संस्कृति को अवैदिक मानने के निष्कर्ष तक पहुंचाते हैं?
3. वैदिक युग का प्रारम्भ काल बहुमत के अनुसार कौन-सा है?
4. वे कौन-से दो महापुरुष हैं जो भारत की मौलिक सांस्कृतिक एकता के प्रतीक कहे जा सकते हैं?

ख. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें:

5. .... व्यवस्था में सब स्वशासित थे।
6. श्रमण-परम्परा का मुख्य सूत्र था .... ।
7. भगवान् ऋषभ की तप-स्थली .... है।
8. ऋषभ और .... एक ही व्यक्ति की दो धाराएं हैं।
9. .... की दृष्टि से जैनधर्म अनादि है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–1 : (ब) भगवान ऋषभ

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 ऋषभ
1.2.1 प्रथम तीर्थंकर ऋषभ : परम्परागत इतिहास
1.2.2 कालचक्र
1.2.3 मानव की आद्य संस्कृति
1.2.4 मानव सभ्यता का विकास क्रम
1.2.5 चौदह कुलकर
1.3 ऋषभ का जन्म
1.3.1 नामकरण
1.3.2 ऋषभ का विवाह : नया मोड़
1.3.3 राज्याभिषेक
1.3.4 ऋषभ का शिल्प
1.3.5 असि
1.3.6 सेवा और वर्ण व्यवस्था
1.3.7 विवाह प्रथा
1.3.8 वन्य संस्कृति से ग्रामीण संस्कृति की ओर
1.3.9 दण्ड विधि
1.3.10 इतिहास फूलों का
1.4 अभिनिष्क्रमण
1.4.1 केवलज्ञान प्राप्ति
1.4.2 धर्म तीर्थ का प्रवर्तन
1.5 भगवान का निर्वाण
1.6 वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक प्रमाणों की कसौटी पर ऋषभ
1.7 वातरशन मुनि/वातरशन-श्रमण
1.8 व्रात्य
1.9 व्रात्य काण्ड के कुछ सूत्र
1.10 अर्हन्
1.11 सारांश
1.12 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.0 प्रस्ताना

पिछले पाठ में हमने इतिहास के सन्दर्भ में श्रमण-संस्कृति, वैदिक संस्कृति, जैन धर्म का उद्भव आदि विषयों पर चर्चा की थी। इस पाठ में जैन परम्पराओं के मान्य 24 तीर्थंकरों की परम्परा के सन्दर्भ में प्रथम, बाईसवें और तेईसवें तीर्थंकर भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ का इतिवृत्त दिया जा रहा है और साथ ही ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में भी उनके जीवन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1.1 उद्देश्य

इसके अध्ययन से ऋषभदेव के जीवन दर्शन के सन्दर्भ में ज्ञान संवर्द्धन होगा।

1.2 ऋषभ

1.2.1 प्रथम तीर्थंकर ऋषभ: परम्परागत इतिहास

तीर्थंकर ऋषभ के जीवन-वृत्त को भलीभांति जानने के लिए हमें प्रागैतिहासिक काल में झांकना होगा। जैन परम्परा के कालचक्र, यौगलिक, कुलकर आदि अवधारणाओं के सन्दर्भ में हम भगवान् ऋषभ के सम्पूर्ण जीवन की मीमांसा कर सकते हैं। इन अवधारणाओं के विषय में कुछ चर्चा हम पिछले पाठ में कर चुके हैं तथा कुछ चर्चा यहाँ करेंगे।

1.2.2 कालचक्र

प्रकृति में नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को लेकर ही यह सृष्टि चल रही है। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न कभी उत्पत्ति होती है। सदा आंशिक विनाश होता रहता है और उत्पाद होता रहता है। सृष्टि इस विनाश और उत्पाद के चक्र में अपने मूल तत्त्वों को सुरक्षित रखती है।

काल का चक्र भी सदा इसी प्रकार घूमता रहता है। निरन्तर घूमते रहने वाले चक्र में आदि और अन्त संभव भी नहीं है। काल तो अविभाज्य है, अखण्ड है। किन्तु व्यवहार की सुविधा के लिए हम काल का विभाग कर लेते हैं। जैन धर्म में व्यवहार की सुविधा के लिए काल को दो भागों में विभाजित किया गया है। उनके नाम हैं—अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग (आरे) किये गये हैं— सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषम-दु:षमा, दु:षम-सुषमा, दु:षमा, दु:षम-दु:षमा। काल के ये बारह अर हैं। इन बारह अरों का एक पूरा चक्र कल्प कहलाता है। प्रकृति कल्प के आधे भाग में निरन्तर उत्कर्षशील बनी रहती है। इस काल में मनुष्य की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रूप आदि सभी में उत्कर्ष होता रहता है। यह काल उत्सर्पिणी कहलाता है। जिस काल में आयु, अवगाहना, बुद्धि आदि में हीनता बढ़ती जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। वर्तमान काल अवसर्पिणी काल है और उसका दु:षमा नाम का पांचवाँ भाग चल रहा है।

हम व्यावहारिक सुविधा के लिए कल्प के प्रारम्भिक काल को सृष्टि का आदिकाल और उस काल के मनुष्य को सृष्टि का आदि मानव कह लेते हैं। वस्तुत: तो न सृष्टि का कोई आदि काल होता है और न कोई आदि मानव ही होता है।

1.2.3 मानव की आद्य संस्कृति

आरम्भ में मनुष्य अविकसित था। वह ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से अपरिचित था। उस काल में सामाजिक बोध भी नहीं था। इसलिए बहन-भाई जो युगलरूप में पैदा होते थे, आगे चलकर पति-पत्नी के रूप में रहने लगते थे। इसे 'युगलिया काल' कहा जाता था। ये जीवन-निर्वाह के लिए कल्पवृक्षों पर निर्भर रहते थे। उनकी भौतिक आवश्कताएँ दस प्रकार की होती थीं। इस**लिए उनकी पूर्ति करने वाले कल्पवृक्ष भी दस प्रकार के होते थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—1. मृदाङ्ग.क, 2. भृङ्ग., 3. त्रुटिताङ्ग., 4. दीपाङ्ग., 5. ज्योतिरङ्ग., 6. चित्राङ्ग., 7. चित्ररस, 8. मणिअङ्ग., 9. गेहाकार, 10. अनग्न। ये सब अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते थे।**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आधुनिक भाषा में हम उस युग को पाषाण युग कह सकते हैं। उस समय ग्राम, नगर, मकान, समाज, राज्य आदि की कोई व्यवस्था नहीं थी। उनके सामने कोई समस्या भी नहीं थी। अतः युद्ध भी नहीं होते थे। मानव के मानसिक विकास का यह शैशवकाल था। अतः उसमें न पाप की वासना आ पाई थी और न धर्म का विवेक। वह पाप और धर्म दोनों से निर्लिप्त था। फिर भी निर्विकार था। उसका जीवन सहज सन्तोष, निर्विकारता और शान्ति का जीवन था। उसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं और आवश्श्कता-पूर्ति के साधन असीम थे। सुषम-सुषमा, सुषमा और सुषम-दुःषमा इन तीन कालों में मानव की स्थिति यही थी। मानव-विकास का यह उषाकाल था।

1.2.4 मानव-सभ्यता का विकास-क्रम

तीसरे अर के अन्त में प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। एकाकी रहने वाला मानव कबीलों के रूप में रहने को बाध्य हो गया। कल्पवृक्षों को लेकर कभी-कभी कबीलों में युद्ध और संघर्ष होने लगे।

उस काल में मानव के मानसिक विकास के भी लक्षण दिखाई देने लगे। आत्म-रक्षा की भी एक समस्या उसके सामने आने लगी।

1.2.5 चौदह कुलकर

आवश्यकता अनुसन्धान की जननी होती है। ये अनुसंधान करने वाले वैज्ञानिक उस काल की भाषा में मनु या कुलकर कहलाते थे। उस युग के इन वैज्ञानिकों में 14 कुलकर सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। आत्म-रक्षा के लिए उन्होंने वृक्षों और बाँसों की लाठियाँ बनाना, पाषाणों को नुकीले करके अथवा नुकीले पाषाणों से शस्त्र बनाना और उनको चलाना सिखाया।

अब पारस्परिक संघर्ष बढ़ गये। कल्पवृक्ष कुछ कम पड़ने लगे तो मानव में वृक्षों को लेकर अधिकार भावना का उदय हुआ। तब समाज के प्रमुख पुरुष कुलकर ने सबके लिए सीमा निर्धारित कर दी। अर्थात्, इतने क्षेत्र के कल्पवृक्षों पर अमुक कबीले का अधिकार है। इस नियम का अतिक्रमण करने पर दण्ड भी निर्धारित कर दिया। यद्यपि दण्ड का रूप अत्यन्त सरल था। नियम भंग करने पर प्रथम बार 'हा' कहा जाता था। दूसरी बार अपराध करने पर 'मा' कहकर प्रताड़ना दी जाती थी और तीसरी बार अपराध की पुनरावृत्ति करने पर 'धिक्' कहकर लज्जित किया जाता था। यह उस काल का सबसे कठोर दण्ड समझा जाता था।

लेकिन इससे भी जब विवाद नहीं रुक पाये, तब हर एक के लिए वृक्षों पर चिन्ह अंकित कर दिये गये। कुलकरों ने घोड़ा, हाथी आदि पशु पकड़ना और उन पर सवारी करना सिखाया। वर्षाकाल में नदियों से पार जाने के लिए नाव बनाने का आविष्कार किया। बालकों का नामकरण और मनोरंजन के उपाय बताये। इस प्रकार उन कुलकरों ने उस समय के मानव की समस्याओं और जिज्ञासाओं का समाधान किया था। इन्होंनें कबीलों में बँटे हुए मानवों को समूहबद्ध होकर एक जगह रहना सिखाया। **'मानव-समाज'** का अभ्युदय हुआ।

इन कुलकरों के नाम इस प्रकार थे—1. **स्मृति,** 2. **प्रतिश्रुति,** 3. **सीमंकर,** 4. **सीमंधर** 5. **खेमंकर,** 6. **खेमंधर,** 7. **विमलवाहन,** 8. **चक्षुष्मान्,** 9. **यशस्वान्,** 10. **अभिचन्द्र,** 11. **चन्द्राभ,** 12. **प्रसेनजित,** 13. **मरुदेव** और 14. **नाभि**।

अन्तिम कुलकर नाभिराय के काल में प्रकृति में अद्‌भुत परिवर्तन होने लगे। कल्पवृक्ष प्रायः समाप्त थे। सुखद वर्षा होने लगी, जिससे पृथ्वी पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ, फल वाले वृक्ष, अन्न के पौधे और गन्ने उगने लगे। कुछ ही समय बाद चारों ओर फल वाले वृक्ष आदि दिखाई देने लगे। प्रजा के समक्ष उदरपूर्ति की समस्या थी। धान्य खड़े थे, किन्तु वह उनका उपयोग करना नहीं जानती थी। अनेक लोग नाभिराय के पास गये और उनसे जीवनोपाय पूछने लगे। नाभिराय ने उन्हें आश्वस्त करते हुए बताया—तुम लोग चिन्ता मत करो। जो काम कल्पवृक्ष करते थे, वही काम अब ये फल वाले वृक्ष और धान्य के पौधे करेंगे। उन्होंने उपयोग करना सिखाया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.3 ऋषभ का जन्म

भगवान् ऋषभ का जन्म यौगलिक संस्कृति के अन्त में हुआ था। यौगलिक व्यवस्था उस समय छिन्न-भिन्न हो रही थी। समुचित व्यवस्था देने वाला कोई नहीं था। कुलकरों ने जो व्यवस्था की, वह कुछ समय के बाद प्रभावहीन व निस्तेज हो गई। नित नई उलझनें बढ़ती जा रही थी। स्वयं नाभि कुलकर भी किसी तरह इस दायित्वपूर्ण पद से छुटकारा पाना चाहते थे। कहीं कोई समाधान नजर नहीं आ रहा था। उस समय भगवान् ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ का जीव सर्वार्थसिद्धि देवलोक से च्यवकर नाभि कुलकर की जीवनसंगिनी मरुदेवा की पवित्र कुक्षि में अवतरित हुआ। उसी रात्रि में माता मरुदेवा ने चौदह महास्वप्न देखें। वे इस प्रकार हैं—1. **वृषभ** 2. **हाथी** 3. **सिंह** 4. **लक्ष्मी** 5. **पुष्पमाला** 6. **चन्द्र** 7. **सूर्य** 8. **महेन्द्र ध्वज** 9. **कुम्भ** 10. **पद्म सरोवर** 11. **क्षीर समुद्र** 12. **देवविमान** 13. **रत्नराशि** 14. **निर्धूम-अग्नि।**

माता मरुदेवा चौदह स्वप्नों को देखकर हर्ष विभोर हो गई। अज्ञात खुशी से उनका मानस उछलने लगा। रोम-रोम पुलकित हो उठा। मरुदेवा ने अपने पति नाभिकुलकर से कहा- आज मैंने चौदह स्वप्न देखे हैं।मरुदेवा ने एक-एक कर स्वप्नों में देखे दृश्य गिनाए।

स्वप्नों को सुनकर नाभि चकित हो उठे। नाभि कोई स्वप्नवेत्ता नहीं थे, पर प्रत्युत्पन्नमति से उन्होंने कहा—'स्वप्न क्या है?' प्राणिमात्र के उज्ज्वल भविष्य की सूचना है। लगता है जल्दी ही हमारी चिन्ता समाप्त होगी। कोई ऐसा भुवनभास्कर तुम्हारे गर्भ में आया है, जिससे सारा विश्व आलोकित हो उठेगा। वह शुभ दिन आषाढ़ कृष्णा चतुर्थी का था, जिस दिन आद्य तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ में आया था।

गर्भकाल पूरा होने पर चैत्र कृष्णा अष्टमी की मध्य रात्रि में माता मरुदेवा ने एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल रूप में जन्म दिया। भगवान् के जन्म पर समूचा विश्व पुलकित हो उठा, अज्ञात शांति का अनुभव करने लगा। नरकगत जीवों को भी क्षणभर के लिए शांति मिली। चौसठ इन्द्र व सहस्रों देवों ने धरती पर आकर भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। इतनी बड़ी संख्या में देवों को देखकर आस-पास के यौगलिक इकट्ठे हो गए। उत्सव विधि से अपरिचित होते हुए भी देखा-देखी सभी ने मिलकर जन्मोत्सव मनाया। इस अवसर्पिणी काल में सबसे पहले जन्मोत्सव भगवान् ऋषभदेव का ही मनाया गया था। जन्मोत्सव मनाने की विधि वहीं से प्रारम्भ हुई थी।

1.3.1 नामकरण

बालक का नाम क्या रखा जाय, इस सम्बन्ध में नाभि कुलकर ने कहा- जब यह गर्भ में आया तब माता को चौदह स्वप्न दिखाई दिये थे। उनमें पहला स्वप्न वृषभ का था। बच्चे के उरु प्रदेश में भी वृषभ का चिन्ह है, अतः मेरी दृष्टि में बालक का नाम ऋषभ कुमार रखा जाये। उपस्थित सभी युगलों को यह नाम उचित लगा, सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा। पुत्री का नाम सुनन्दा रखा गया।

जैनदर्शन का सिद्धान्त है कोई भी व्यक्ति ईश्वर होकर जन्म नहीं लेता, कोई अवतार नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपूर्णता के साथ जन्म लेता है। ऋषभ में अपूर्णता के साथ-साथ कुछ विशेषता भी थी। वे अवधिज्ञान-अतीन्द्रिय ज्ञान के साथ जन्मे। जन्म से ही उनकी प्रज्ञा जागृत थी। जिस व्यक्ति की प्रज्ञा जागृत होती है उसके जीने का सारा क्रम दूसरे प्रकार का होता है। इसलिए उस समय के जितने यौगलिक जीव थे, उनका रहन-सहन और बातचीत का जो प्रकार था, ऋषभ का क्रिया-कलाप वैसा नहीं था। कहा जाता था इस कुमार का भाग्य ही अलग प्रकार का है। उनमें कुछ अतिरिक्तता थी। जब प्रज्ञा जागती है, व्यक्ति का व्यवहार बदल जाता है।

1.3.2 ऋषभ का विवाहः नया मोड़

ऋषभ का जीवन समग्रता का जीवन है। उन्होंने काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष—चार पुरुषार्थों का आश्रय लिया। उन्होंने व्यक्तिगत जीवन के लिए बहुत किया। समाज के लिए भी बहुत किया। वे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कुमार-अवस्था में चल रहे थे। उनके विवाह में भी एक नया मोड़ आया। यौगलिक युग में बहु-पत्नी प्रथा नहीं थी। एक जोड़ा जन्म लेता, वही पति-पत्नी के रूप में बदल जाता। कोई भी जोड़ा बीच में नहीं मरता, वे अन्तसमय तक एकसाथ रहते, अकालमृत्यु नहीं होती थी। पर एक दुर्घटना घटी। एक जोड़ा था, उसमें पुरुष मर गया, स्त्री बच गई। उस एकाकी स्त्री को ऋषभ के साथ जोड़ दिया गया। सुनन्दा और सुमंगला का ऋषभ के साथ विवाह हो गया। अतः बहुपत्नी-प्रथा का प्रारम्भ ऋषभ से होता है।

ऐसा लगता हैऋषभ को बचपन से ही नया-नया काम करने की आदत पड़ गयी। उन्होंने अनेक परम्पराएं तोड़ी। यौगलिक युग में एक युगल एक युगल को पैदा करता था। ऋषभ ने इस परम्परा को तोड़ा। उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियां हुई। सुमंगला ने भरत आदि निन्यानवे पुत्रों को जन्म दिया। सुनन्दा ने बाहुबली को जन्म दिया। पुत्रियों का नाम ब्राह्मी और सुन्दरी था। ऋषभ का पूरा परिवार बन गया। उनका पुत्र भरत चक्रवर्ती बना।

1.3.3 राज्याभिषेक

एक दिन कुछ युगल ऋषभ के पास बैठे बातें कर रहे थे। अभाव के बारे में जिक्र चल पड़ा। सभी दुःखी थे, आतंकित थे। ऋषभ से पूछ बैठे—"इसका सही समाधान भी होगा या यों ही लड़-झगड़कर सबको मरना पड़ेगा? जीना दूभर हो रहा है।"

ऋषभ ने सोचा—समस्या का स्थायी समाधान होना चाहिए। किस प्रकार समाधान में परिवर्तन होता चला गया, हाकार से माकार और माकार से धिक्कार नीति का प्रयोग किया गया, फिर भी समाधान नहीं हो पाया। अब कुलकर व्यवस्था से काम नहीं चलेगा। अब तो एक विधिवत् राजा होना चाहिए, उसके अनुशासन से ही समस्या सुलझ सकती है।

युगल मिलकर कुलकर नाभि के पास आए। उनसे राजा बनने की प्रार्थना की। नाभि ने कहा—तुम ऋषभ के पास ही जाओ। वही राजा बनेगा और तुम्हारी समस्याओं को सुलझाएगा।

अब युगल अपनी कल्पना से ऋषभ के राज्याभिषेक की तैयारियां करने लगे। कई तरह के फूलों से ऋषभ के शरीर को अलंकृत किया। ऋषभ को उच्च आसन पर बिठाकर पैरों में जलाभिषेक करने लगे। इन्द्र ने अपने अवधि दर्शन से यह दृश्य देखा तो गद्गद् हो उठा। तुरन्त मृत्युलोक में आया। लोगों के विनय की प्रशंसा करते हुए उस स्थान का नाम उसने विनीता रखा। आगे चलकर वहीं पर विनीता नाम की नगरी बसी।

जिस दिन ऋषभ के राजा बनने की घोषणा हुई, वह राजतंत्र के इतिहास का पहला क्षण था। उसी दिन राजतंत्र की घोषणा हुई और विधिवत् समाज-व्यवस्था को चलाने का सूत्रपात हुआ।

राजतंत्र का उद्देश्य दण्डशक्ति के द्वारा केवल अपराध का नियंत्रण नहीं है। उसका उद्देश्य है—मानवीय गुणों का विकास। वह राजतंत्रीय समाज अच्छा होता है, जहां अर्थ और पदार्थ का न अभाव होता है और न प्रभाव होता है। इन दो अंकुशों के आधार पर ऋषभ ने राजतंत्र को संभाला। ऋषभ ने बहुत सूक्ष्मता से समस्याओं को समझा। स्थिरमन से उनके समाधान सोचें।

1.3.4 ऋषभ और शिल्प

ऋषभ ने कहा—'वृक्षों पर आश्रित रहने से अब जीवन नहीं चलेगा। कर्म करो। भोग का युग गया। यह कर्म का युग है।कर्मभूमि है। करो और भोगो। उन्होंने लोगों को खेती करना सिखाया। लोगों ने खेती करना प्रारम्भ कर दिया अनाज पैदा होने लगा। खाद्य पदार्थों की समस्या सुलझने लगी। ऋषभ ने कृषि के साथ-साथ अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के अन्य उपाय भी सिखाये। प्रत्येक कार्य की विधि उन्हें स्वयं ही सिखानी पड़ी थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाएं सिखाई। कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी की लक्षण विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, क्रीड़ाविधि आदि-आदि विधियों का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पों का जन्म हुआ। अन्नपाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लोहकार शिल्प का आरम्भ हुआ। सामाजिक जीवन ने वस्त्र-शिल्प और गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि को काटने के लिए नापित-शिल्प का प्रवर्तन हुआ। इन पांचों शिल्पों का प्रवर्तन अग्नि की उत्पत्ति के बाद हुआ।

पदार्थों के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता अनुभूत हुई। उस समय ऋषभ ने व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बनें। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया।

पदार्थ बढ़े तब परिग्रह में ममता बढ़ी, संग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढ़ा। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

1.3.5 असि

ऋषभ ने लोगों की सुरक्षा के लिए एक ऐसा वर्ग तैयार किया, जिन्हें तलवार, भाला, बरछी आदि शस्त्र चलाने सिखलाए। साथ में कब, किस पर इन शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए, इस बारे में भी पूरे निर्देश दिए। इस वर्ग को सभी 'क्षत्रिय' कहकर पुकारते थे।

उत्पादित वस्तुएं एक दूसरे के पास कैसे पहुंचे इसी चिन्तन में उन्होंने मसिकर्म की शिक्षा का आविष्कार किया। मसिकर्म अर्थात् लिखा-पढ़ी से वस्तु का विनिमय करना।

1.3.6 सेवा और वर्ण-व्यवस्था

जो लोग खेती आदि किसी कार्य में दक्ष नहीं बने, वे लोग सेवा और सफाई के कार्य में लग गए। इसमें ज्यादा दिमाग लगाना नहीं पड़ता था। काम किया, पारिश्रमिक पाया। पर समाज में सब समान थे, कोई भेदभाव नहीं था। सबको अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य-चयन का अवसर मिला।

कार्य की अपेक्षा से अलग-अलग वर्ण बन चुके थे। भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध चार वर्णों की उत्पत्ति भगवान् ऋषभ के समय में हो चुकी थी। सुरक्षा का दायित्व सम्भालने वाला वर्ग क्षत्रिय कहलाता था। कृषि तथा मसिकर्म करने वाले लोग वैश्य कहलाते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले लोग शुद्रक कहलाते थे। ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति सम्राट् भरत के शासनकाल में हुई।

1.3.7 विवाह-प्रथा

ऋषभ ने काम-भावना पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से शादी की व्यवस्था प्रचलित की। शादी से पहले का जीवन सर्वथा निर्विकार बनाये रखना अनिवार्य घोषित किया। लोग पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी के साथ निर्विकार सम्बन्ध रखने के आदी हो गये। इसके अतिरिक्त बहिन के साथ शादी भी वर्जित कर दी गयी। भाई-बहिन का पवित्र सम्बन्ध जो हम आज देख रहे हैं वह भगवान् ऋषभ की देन है।

1.3.8 वन्य संस्कृति से ग्रामीण संस्कृति की ओर

ऋषभ ने सामूहिक जीवन का सूत्रपात करते हुए सबसे पहले ग्राम व्यवस्था की रूपरेखा लोगों को समझाई। उन्होंने कहा—अब समय बदल चुका है, रहन-सहन में परिवर्तन करो। शारीरिक सहन-शक्ति क्रमश: घटती जाएगी, अत: घर बनाकर रहना अधिक सुरक्षित होगा। समूह के साथ रहने वाला एक-दूसरे का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सहयोगी बन सकता है। हर विपत्ति का सामना मिलकर ही सरलता से किया जा सकता है। बात लोगों के समझ में आई, बड़ी संख्या में युगल जंगलों को छोड़कर ग्रामों में बस गये। सर्वप्रथम जो बस्ती बनी उसका नाम विनीता रखा गया। ऋषभ ने अपना निवास-स्थान वहीं बनाया। भारत की प्रथम राजधानी होने का गौरव भी उसे ही प्राप्त हुआ। उसे ही आगे चलकर 'अयोध्या' के नाम से पुकारा जाने लगा।

1.3.9 दण्ड विधि

समाज विकास के साथ-साथ अपराध पनपने लगे। अपराधों की रोकथाम के लिए दण्डनीति को नया आयाम दिया। ऋषभ ने चार प्रकार के दण्ड का विधान किया—

1. परिभाषक—थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहीं बैठ जाओ' का आदेश देना।
2. मण्डली बन्ध—इस दण्ड में अपराधी से कहा जाता—तुम इस सीमा से बाहर नहीं जा सकते।
3. नजरबंध—बन्धन का प्रयोग। इस दण्ड को पाने वाला व्यक्ति अपने घर से बाहर नहीं जा सकता या अमुक स्थान से बाहर नहीं जा सकता।
4. दण्ड प्रहार—दण्ड प्रयोग। भयंकर अपराधी को डंडों से मारना। यह सबसे बड़ा दण्ड था।

1.3.10 इतिहास फूलों का

ऋषभ की पुष्पवाटिका अत्यन्त मनोहर थी। बसंत का मौसम था। वृक्ष फलों से लदे हुए थे। लताओं पर फूल खिले हुए थे। विविध प्रकार की क्रीड़ाएं हो रही थी। ऋषभ को वह अद्भुत क्रीड़ा परिचित सी लगी। उस पर ध्यान देते-देते ऋषभ अतीत में चले गए। उन्होंने देखा—मैंने यह दृश्य स्वर्ग में अमुक स्थान पर देखा था। ऋषभ आत्म-मंथन में लीन हो गए। पदार्थ की सारी स्थितियां उनके सामने प्रत्यक्ष हो गई। पदार्थ की स्थिति क्या है? पदार्थ क्या है? यह जगत् क्या है? यह किससे बना है? यह किस प्रकार बनता है? यह फूल किस प्रकार विकसित होता है, खिलता है और किस प्रकार मुरझा जाता है? उनके मानस में यह संकल्प जाग उठा—मुझे त्याग का प्रवर्तन करना है। पुष्पवाटिका में ही इस संकल्प को मूर्त्तरूप देने का निश्चय कर ऋषभ राजमहल में आए।

1.4 अभिनिष्क्रमण

ऋषभ ने अपनी भावना भरत एवं विनीता नगरी के नागरिकों के समक्ष रखी। भरत एवं विनीता नगरी के नागरिकों ने अनुरोध किया—आप हमें असहाय छोड़कर प्रस्थान न करें। लेकिन ऋषभ ने उनकी भावना को स्वीकार नहीं किया। ऋषभ ने पूरे भूमण्डल को सौ हिस्सों में विभक्त करके भरत को विनीता व निन्यानवें पुत्रों को अन्य क्षेत्रों की सार-संभाल का भार सौंपा। सब प्रकार से पूर्णत: निवृत्त होकर वे वर्षीदान देने लगे। वर्षीदान से सब लोगों को मालूम हो गया कि अब बाबा घर छोड़कर जा रहे हैं। चार हजार लोगों ने निश्चय किया—जहां बाबा रहेंगे वहीं हम रहेंगे, हम भी बाबा के साथ जायेंगे।

चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन पूरे चार हजार व्यक्ति ऋषभ के पास एकत्रित हो गये। ठीक समय पर ऋषभ ने अभिनिष्क्रमण किया। अभिनिष्क्रमण देखने के लिए दूर-दूर के लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। साधना के प्रति सबको अज्ञात विस्मय हो रहा था। चौसठ इन्द्रों के साथ हजारों देव भी उत्सव में सम्मिलित हुए। शहर के बाहर विनीता नगरी के उद्यान में पहुंचकर ऋषभ ने अपने वस्त्राभूषण उतार कर इन्द्र को सौंप दिए।

ऋषभ ने दीक्षा लेते समय केश-लुंचन किया। भगवान् ऋषभ का अनुकरण कर अन्य लोगों ने भी ऐसा करना प्रारम्भ कर दिया। संभवत: चोटी की परम्परा वहीं से चल पड़ी।

ऋषभ की दीक्षा के साथ चार हजार व्यक्ति दीक्षित हुए, किन्तु ऋषभ की छद्मस्थ अवस्था के मौन से सब निराश हो गए थे। कुछ समय तक प्रतीक्षा भी की, किन्तु ऋषभ के सर्वथा न बोलने से उन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधुओं ने सोचा—जीवन भर ऐसे ही निराहार और मौन रहना पड़ेगा। वे घबरा उठे, साधुत्व छोड़कर जंगल की ओर चल पड़े। सब वन-विहारी हो गए। उनमें कोई कन्दाहारी, कोई मूलाहारी, कोई फलाहारी बन गया।

दीक्षा के साथ ही ऋषभ के पूर्वार्जित अन्तराय कर्म का विपाकोदय हो गया था। लोग भिक्षा विधि से अपरिचित थे। ऋषभ के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुए भी आहार-पानी के लिए किसी ने नहीं कहा। सभी ने अमूल्य आभूषण, हाथी, घोड़ा आदि के लिए आग्रह किया। शुद्ध आहार के अभाव में ऋषभ को बिना खाये-पीये बारह महीनें व्यतीत हो गये।

ऋषभ के प्रपौत्र श्रेयांस कुमार को पिछली रात्रि में एक स्वप्न दिखाई दिया कि श्यामल बने हुए मेरुगिरि को मेरे द्वारा दूध से सींचने पर वह पुनः कांतिमान बन गया है। प्रातःकाल अपने महल के गवाक्ष में बैठा श्रेयांसकुमार स्वप्न के बारे में चिन्तन कर रहा था। अचानक उसकी दृष्टि परदादा भगवान् ऋषभ पर पड़ी। जातिस्मरण ज्ञान से श्रेयांसकुमार ने जाना कि प्रभु प्रासुक आहार की गवेषणा कर रहे हैं और लोग उनकी भिक्षा विधि से अनजान हैं।

तत्काल श्रेयांसकुमार नीचे उतरा। ऋषभ के चरणों में उन्होंने विधिवत् वन्दना कर आहार के लिए प्रार्थना की। भगवान् ने राजमहल में प्रवेश किया। श्रेयांसकुमार ने निवेदन किया, भंते! इक्षु-रस के 108 घड़े प्रासुक हैं, आप ग्रहण करें। ऋषभ ने वहां स्थिर होकर दोनों हथेलियों को सटाकर मुख से लगा लिया। राजकुमार श्रेयांस ने उल्लसित भावना से इक्षु-रस का दान दिया। इस प्रकार इक्षु-रस से भगवान् का पारणा हुआ। देवों ने पंचद्रव्य प्रकट किये। **'अहोदानं'** की ध्वनि से आकाश गूंज उठा। दान की महिमा व विधि से लोग परिचित हुए। वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। अतः 'अक्षय-तृतीया' के नाम से जाना जाने लगा।

1.4.1 केवलज्ञान-प्राप्ति

एक हजार वर्ष तक ऋषि ऋषभ ने छद्मस्थ अवस्था में साधना की। विचरते-विचरते वे पुरिमतालपुर पधारे। वहां उद्यान में वट-वृक्ष के नीचे तेले की तपस्या में फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन प्रातःकाल प्रभु केवली बने।

भगवान् के केवलज्ञान-प्राप्ति महोत्सव पर चौसठ इन्द्र एकत्रित हुए। देवताओं ने देव-दुदुंभि की। लोगों को ज्ञात हुआ कि अब भगवान् जीवन की आन्तरिक समस्याओं का समाधान देंगे।

1.4.2 धर्मतीर्थ का प्रवर्तन

देवों ने समवसरण की रचना की। लोगों ने पहली बार भगवान् से अध्यात्म के बारे में सुना। भगवान् के प्रथम प्रवचन में ही साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविकाएं बन गई थीं। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के बाद भगवान् तीर्थंकर कहलाए। उनके धर्म-परिवार में चौरासी हजार श्रमणों का होना अद्भुत धर्मक्रांति का ही परिणाम था।

1.5 भगवान् का निर्वाण

भगवान् ऋषभ अपने जीवन का अवसान निकट समझ कर दस हजार साधुओं के साथ अष्टापद पर्वत (कैलाश) पर चढ़े। वहां छह दिनों के अनशन (निराहार) तप में अयोगी अवस्था में शेष अघाती कर्मों का क्षय कर पर्यंकासन में परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान् के निर्वाण का दिन माघकृष्णा त्रयोदशी का था। वे सिद्ध, बुद्ध, परमात्मा बन गए। कैलाश पर्वत उनका निर्वाण स्थान होने से सिद्ध क्षेत्र और तीर्थ हो गया।

1.6 वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक प्रमाणों की कसौटी पर ऋषभ

ऋषभ के जीवन की जानकारी केवल जैन साहित्य एवं जैन परम्परा में ही उपलब्ध नहीं है, अपितु वैदिक साहित्य में भी ऐसे उद्धरण मिल रहे हैं। समण-संस्कृति के संस्थापक प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के रूप में उनकी पहचान व्यापक बन चुकी थी। वेदों, पुराण-ग्रन्थों, महाभारत आदि वैदिक साहित्य के साक्ष्य इतने स्पष्ट और ठोस हैं कि सहज ही उन उल्लेखों का सम्बन्ध ऋषभ के साथ जुड़ जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.7 वातरशन-मुनि/वातरशन-श्रमण

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर 'वातरशन' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका शाब्दिक अर्थ है—वायुभोजी या तपस्वी। यह शब्द श्रमणों के विशेषणरूप में प्रयोग किया गया है तथा इसके द्वारा ऋषभ के शिष्यों का संकेत किया गया है। जैसे ऋग्वेद में वातरशन-मुनि का प्रयोग मिलता है।

"मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षतः" ॥ ऋग्वेद, 10/11/136/2

"वातरशन मुनि पीत वल्कल धारण करते हैं और देवत्व को प्राप्त होकर वायु-वेग से गमन करने में समर्थ हुए हैं।" इसी प्रकरण में 'मौनेय' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। वातरशन-मुनि अपनी 'मौनेय' की अनुभूति में कहता है— **उन्मदिता मौनेयेन वा ताँ आ तस्थिमा वयम्।**
शरीरेदस्माकं यूयं म र्तासो अभि पश्यथ ॥ ऋग्वेद, 10/11/136/3

"मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु में स्थित हो गए हैं। मर्त्यों! तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।"

तैत्तिरीयारण्यक में श्रमणों को 'वातरशन-ऋषि' और 'ऊर्ध्वमन्थी' कहा गया है—**वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः । (2/7/1)**

ये वातरशन श्रमण भगवान् ऋषभ के ही शिष्य हैं। **श्रीमद्‌भागवत** में ऋषभ को जिन—श्रमणों के धर्म का प्रवर्तक बताया गया है, उनके लिए ये ही विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं—

"धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुनावततार।" (5/3/20)

"भगवान् ऋषभ वातरशन श्रमणों, ऋषियों, ब्रह्मचारियों (ऊर्ध्वमन्थिनः) का धर्म प्रकट करने के लिए शुक्ल-सत्त्वमय विग्रह (शरीर) से प्रकट हुए।"

वैदिक साहित्य में मुनि का उल्लेख विरल है, किन्तु इसका कारण यह नहीं कि उस समय मुनि नहीं थे। वे थे, अपने ध्यान में मग्न थे। पुरोहितों के भौतिक जगत् से परे वे अपने चिन्तन में लीन रहते थे और पुत्रोत्पादन या दक्षिणा-ग्रहण के कार्यों से भी दूर रहते थे। मुनि के इस विवरण से स्पष्ट है कि वे किसी वैदिकेतर परम्परा के थे। वैदिक जगत् में यज्ञ-संस्थान ही सब कुछ था। वहाँ संन्यास या मुनि-पद को स्थान नहीं मिला था। वातरशन शब्द श्रमणों का सूचक है। **तैत्तिरीयारण्यक** और **श्रीमद्‌भागवत** द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती रही है। बताया गया है कि वासुदेव ने आठवाँ अवतार नाभि और मरुदेवी के वहाँ धारण किया। वे ऋषभ रूप में अवतरित हुए और उन्होंने आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया।[1] इसीलिए ऋषभ को मोक्ष-धर्म की विवक्षा से **'वासुदेवांश'** कहा गया।[2] ऋषभ के सौ पुत्र थे। वे सब के सब ब्रह्म-विद्या के पारगामी थे।[3] उनके नौ पुत्रों को 'आत्म-विद्या विशारद' भी कहा गया है।[4] उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी था।[5]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र और **श्रीमद्‌भागवत** के सन्दर्भ में हम आत्म-विद्या के प्रथम-विद्या के प्रथम पुरुष भगवान् ऋषभ को पाते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि उपनिषद्‌कारों ने ऋषभ को ही ब्रह्म कहा हो।

ब्रह्मा का दूसरा नाम हिरण्यगर्भ है। **महाभारत** के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग का पुरातन विद्वान् है, कोई दूसरा नहीं।[1] **श्रीमद्‌भागवत** में ऋषभ को योगेश्वर कहा गया है।[2] उन्होंने नाना योगचर्याओं का चरण किया था।[3] **हठयोग प्रदीपिका** में भगवान् ऋषभ को हठयोग-विद्या के उपदेष्टा के रूप में नमस्कार किया

---

[1] श्रीमद्‌भागवत, 1/3/13: अष्ट मेरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृतम्।।

[2] श्रीमद्‌भागवत, 11/2/16: तमाहु र्वासुदेवांश, मोक्षधर्मविवक्षया।

[3] श्रीमद्‌भागवत, 11/2/16: अवतीर्णः सुतशतं, तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्।

[4] श्रीमद्‌भागवत, 11/2/20: नवाभवन् महाभागा, मुनयोह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशनाः, आत्मविद्याविशारदाः।।

[5] श्रीमद्‌भागवत, 5/4/9: येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठःश्रेष्ठगुणः आसीत्।

[1] महाभारत, शान्तिपर्व, 349/65: हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्यः पुरातनः।

[2] श्रीमद्‌भागवत, 5/4/3:
भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः।

[3] श्रीमद्‌भागवत, 5/5/25:

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है।[4] जैन आचार्य भी उन्हें योग-विद्या के प्रणेता मानते हैं।[5] इस दृष्टि से भगवान् ऋषभ 'आदिनाथ', 'हिरण्यगर्भ' और 'ब्रह्मा'—इन नामों से अभिहित हुए हैं।

ऋषभ के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत-जगत् का एकमात्र पति है।[6] किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह 'परमात्मा' है या देहधारी'? शंकराचार्य ने **बृहदारण्यकोपनिषद्** में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है—किन्हीं विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वान् कहते हैं कि वह संसारी है।[7] यह सन्देह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। **भाष्यकार सायण** के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[8] आत्म-विद्या, संन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ 'ऋषभ' ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ में थे, तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें **'हिरण्यगर्भ'** भी कहा गया।[9]

ऋग्वेद के जिस प्रकरण में वातरशन-मुनि का उल्लेख है, उसी में केशी की स्तुति की गई है

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वद्देशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ (ऋग्वेद, 10/11/136/1)

"केशी अग्नि, सूर्य, पृथ्वी का धारणकर्ता है। केशी विश्व को अपने प्रकाश से परिपूर्ण करता है। यही ज्योति केशी-रूप से वर्णित है।"

यह 'केशी' भगवान् ऋषभ का वाचक है। वातरशन के सन्दर्भ में यह कल्पना करना कठिन नहीं है। भगवान् ऋषभ के केशी होने की परम्परा जैन साहित्य में आज भी उपलब्ध है।

भगवान् ऋषभ जब मुनि बने तब उन्होंने चार मुष्टि केश-लोच किया, जबकि सामान्य परम्परा पाँच-मुष्टि केश-लोच करने की है। भगवान् चार मुष्टि केश-लोच कर चुके थे, तब देवराज शक्रेन्द्र ने भगवान् से प्रार्थना की—"इतनी रमणीय केश-राशि को इसी प्रकार रहने दें।" भगवान् ने उसकी बात मानी और उसे वैसे ही रहने दिया। इसीलिए भगवान् ऋषभ की मूर्ति के कंधों पर आज भी केशों की वल्लरिका की जाती है। घुँघराले और कंधों तक लटकते हुए बाल उनकी प्रतिमा के प्रतीक हैं।

भगवान् ऋषभ की प्रतिमाओं को जटा-शेखर युक्त कहा गया है। केशी वृषभ प्राग्-वैदिक थे और श्रमण-संस्कृति के आदि स्रोत यह इस केशी-स्तुति से स्पष्ट है।

ऋग्वेद में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख मिलता है। मुद्गल ऋषि की गायें (इन्द्रियाँ) चुराई जा रही थीं, तब ऋषि के सारथी केशी वृषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आई अर्थात् ऋषभ के उपदेश से वे अन्तर्मुखी हो गईं।

नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभः।

4 हठयोग प्रदीपिकाः
श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्यै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

5 ज्ञानार्णव, 1/2:
योगिकल्पतरुं नौमि, देव-देवं वृषध्वजम्।

6 ऋग्वेद, 10/10/121/1:
हिरण्यगर्भः? समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

7 बृहदारण्यकोपनिषद्, 1/4/6, भाष्य, पृ.185:
अत्र विप्रतिपद्यन्ते-पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे।

8 तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक 10, अनुवाक 62, सायण भाष्य।

9 महापुराण, 12/95:
सैषा हिरण्मयी वृष्टिधनेशेन निपातिता।
विभो हिरण्यगर्भत्व मिव बोधयितुं जगत्।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.8 व्रात्य

वेदों में 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से है। आचार्य सायण ने व्रात्य को विद्वत्तम, महाधिकार, पुण्यशील, विश्व-सम्मान्य और ब्राह्मण-विशिष्ट कहा है तथा व्रात्य-काण्ड की भूमिका के प्रसंग में उन्होंने लिखा है "इसमें व्रात्य की स्तुति की गई है। उपनयनादि से हीन मनुष्य व्रात्य कहलाता है। ऐसे मनुष्य को लोग वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित मानते हैं। परन्तु यदि कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो तो, ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करे, परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा। व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को प्रेरणा दी थी।"

डॉ. सम्पूर्णानन्दजी ने व्रात्य का अर्थ परमात्मा किया है। **श्री बलदेव उपाध्याय** भी इसी का अनुसरण करते हैं। किन्तु समूचे व्रात्य-काण्ड का परिशीलन करने पर यह अर्थ संगत नहीं लगता।

1.9 व्रात्य काण्ड के कुछ सूत्र

"वह संवत्सर तक खड़ा रहा। उससे देवों ने पूछा—व्रात्य! तू क्यों खड़ा है? वह अनावृत्ता दिशा में चला। सोचा 'न लौटूंगा'। अर्थात् जिस दिशा में चलने वाले का आवर्तन (लौटना) नहीं होता वह अनावृत्ता दिशा है। इसलिए उसने सोचा कि मैं अब न लौटूँगा। मुक्त पुरुष का ही प्रत्यावर्तन नहीं होता।

तब जिस राजा के घर पर ऐसा विद्वान राजा व्रात्य अतिथि (होकर) आए। इस (विद्वान के आगमन) को अपने लिए कल्याणकारी माने। ऐसा (करने से) क्षेत्र तथा राष्ट्र के प्रति अपराध नहीं करता। यदि किसी के घर ऐसा विद्वान् अतिथि आ जाये स्वयं उसके सामने जाकर कहे, व्रात्य, आप कहाँ रहते हैं? व्रात्य जल व्रात्य मेरे घर के लोग आपको भोजनादि से तृप्त करें। जैसा आपको प्रिय हो, जैसी आपकी इच्छा हो, जैसी आपकी अभिलाषा हो, वैसा ही हो अर्थात् हम लोग वैसा ही करें।"

व्रात्य काण्ड के सूत्रों में व्रात्य का आतिथ्य करने वाले को महान फल की प्राप्ति करने वाला बताया है। इन सूत्रों से जो प्रतिपादित है, उसका सम्बन्ध परमात्मा से नहीं किन्तु किसी देहधारी व्यक्ति से है।

व्रात्य काण्ड में प्रतिपादित विषय की भगवान् ऋषभ के जीवन-वृत्त से तुलना होती है। जैन **महापुराण** में बताया गया है- "वे दीक्षित होने के बाद एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक भोजन न करने पर भी शरीर में पुष्टि और दीप्ति को धारण कर रहे थे।"

"मुनियों की चर्या को धारण करने वाले भगवान् जिस-जिस ओर कदम रखते थे अर्थात् जहां-जहां जाते थे, वहीं-वहीं के लोग प्रसन्न होकर और संभ्रम के साथ आकर उन्हें प्रणाम करते थे। उनमें कितने ही लोग कहने लगते थे हे देव! प्रसन्न होइए और कहिए कि क्या काम है?

"कितने ही लोग भगवान् से ऐसी प्रार्थना करते थे कि भगवन्! हम पर प्रसन्न होइए। हमें अनुगृहीत कीजिए।"

"भगवान् ऋषभ अन्त में अपुनरावृत्ति स्थान को प्राप्त हुए, जहाँ जाने के पश्चात् कोई लौट कर नहीं आता।"

यह बहुत सम्भव है कि व्रात्य-काण्ड में भगवान् ऋषभ का जीवन रूपक की भाषा में चित्रित है। ऋषभ के प्रति कुछ वैदिक श्रद्धावान् थे और वे उन्हें देवाधिदेव के रूप में मान्य करते थे।

1.10 अर्हन्

वैदिक साहित्य में 'अर्हन्' शब्द का प्रयोग बहुत स्पष्ट रूप से ऋषभ का वाचक है। **ऋग्वेद** में भगवान् के अनेक उल्लेख हैं। किन्तु उनका अर्थ-परिवर्तन कर देने के कारण वे विवादास्पद हो जाते हैं। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का बहुत प्रिय शब्द है। श्रमण लोग अपने तीर्थंकरों या वीतराग आत्माओं को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्हन् कहते हैं। जैन और बौद्ध साहित्य में अर्हन् शब्द का प्रयोग हजारों बार हुआ है। जैन लोग आर्हत नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। **ऋग्वेद** में अर्हन् शब्द का प्रयोग श्रमण नेता के लिए ही हुआ है—

अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निषकं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥ (ऋग्वेद, 2.4.33.10)

आचार्य विनोबा भावे ने इसी मंत्र के एक वाक्य **'अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं'** को उद्धृत करते हुए लिखा है—"हे अर्हन्! तुम इस तुच्छ दुनियाँ पर दया करते हो।" इसमें 'अर्हन्' और 'दया' दोनों जैनों के प्रिय शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दू-धर्म प्राचीन है, शायद उतना ही जैन-धर्म भी प्राचीन है।"

अर्हन् शब्द का प्रयोग वैदिक विद्वान् भी श्रमणों के लिए करते हैं। **हनुमन्नाटक** में लिखा है—**"अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः।"**

ऋग्वेद के अर्हन् शब्द से यह प्रमाणित होता है कि श्रमण-संस्कृति ऋग्वेदिक-काल से पूर्ववर्ती है।

श्री जयचन्द विद्यालंकार ने व्रात्यों को अर्हतों का अनुयायी माना है—"वैदिक से भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीर से पहले भी भारतवर्ष में थे। अर्हत् लोग बुद्ध से और अनेक चैत्य भी बुद्ध से पहले थे। उन अर्हतों और चैत्यों के अनुयायी 'व्रात्य' कहलाते थे, जिनका उल्लेख अथर्ववेद में भी है।"

1.11 सारांश

सभी प्रमाणों के आधार पर प्रथम तीर्थंकर ऋषभ की ऐतिहासिक पुरुष के रूप में पुष्टि होती है।

1.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'ऋषभ का जीवन एक सर्वांगीण जीवन कहा जा सकता है।'—इस कथन की सत्यासत्यता का विस्तृत विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(क) वैदिक साहित्य में प्राप्त सामग्री में से किसी एक के आधार पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए ऋषभ की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करें।

(ख) यौगलिक जीवन को संक्षिप्त रूप में बताएं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ऋषभ के साथ जन्म लेने वाली बालिका का नाम क्या था?
2. वैदिक साहित्य में ऋषभ की पहचान कराने वाले शब्द कौन-से हैं?
3. संगीत की पूर्ति करनेवाले कल्प-वृक्ष का क्या नाम है?
4. वर्तमानकाल कौन-सा काल है और कौन-सा भाग है?
5. ऋषभ ने प्राणी की लक्षण-विद्या का ज्ञान किसे दिया?
6. थोड़े समय के लिए नजरबंद करने को क्या कहते थे?
7. किस ज्ञान से श्रेयांसकुमार ने जाना कि ऋषभनाथ आहार की गवेषणा कर रहे हैं?
8. ऋषभ को केवलज्ञान किस स्थान पर हुआ?
9. भगवान् ऋषभ ने कितने महाव्रतों की दीक्षा दी?
10. भगवान् ऋषभ वर्तमान भारत के किस प्रदेश से मोक्ष गए?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–1 : (स) अरिष्टनेमि

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि : परम्परागत इतिहास
1.2.1 जन्म एवं नामकरण
1.2.2 योद्धा
1.2.3 विवाह की तैयारी और वैराग्य
1.2.4 अभिनिष्क्रमण
1.2.5 केवलज्ञान
1.2.6 परिनिर्माण
1.3 जैन आगम-साहित्य के आधार पर अरिष्टनेमि के जीवन-प्रसंग
1.3.1 देवकी (श्रीकृष्ण की माता) की शंका का समाधान
1.3.2 गजसुकुमाल (श्री कृष्ण के छोटे भाई) की दीक्षा
1.3.3 अनेक राजा/राजकुमार एवं रानियों द्वारा प्रव्रज्या -ग्रहण
1.3.4 निषध कुमार
1.3.5 पांच पांडव और द्रौपदी
1.3.6 राजीमति
1.3.7 थावन्च्चापुत्र
1.3.8 गौतम आदि दस अन्धक-वृष्णि-धारिणी के पुत्र
1.3.9 अक्षोभ आदि आठ अन्धक-वृष्णि धारिणी के पृत्र
1.3.10 अन्य राजकुमार
1.3.11 रानियों की प्रव्रज्या
1.3.12 गण-समुदाय
1.4 अर्हत् अरिष्नेमि: ऐतिहासिक प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में
1.4.1 अरिष्टनेमि की श्रमण-संस्कृति का वैदिकों पर प्रभाव
1.4.2 वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि
1.4.3 अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता के प्रमाण
1.5 सारांश
1.6 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

पिछले पाठ में हमने तीर्थंकरों की परम्परा के अन्तर्गत प्रथम जैन तीर्थंकर के विषय में पढ़ा था। उसी विषय की अगली कड़ी में हम इस पाठ में बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। यह तो आप अब भलीभांति जान गए होंगे कि ऋषभ से लेकर इक्कीसवें भगवान् नमिनाथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तक का काल ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा दुरूह है। अरिष्टनेमि से हम भारत के ऐतिहासिक युग में आ जाते हैं। इस दृष्टि से यह पाठ महत्त्वपूर्ण है।

1.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से अरिष्टनेमि के बारे में विस्तृत जानकारी हो सकेगी।

अरिष्टनेमि

1.2 बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि : परम्परागत इतिहास

भगवान् अरिष्टनेमि उस युग के तीर्थंकर हैं जिस समय श्रीकृष्ण वासुदेव इस भारत भूमि में विद्यमान थे। अरिष्टनेमि का अपर नाम 'नेमिनाथ' भी है। तीर्थंकर नमिनाथ और बाईसवें नेमिनाथ के नामों में साम्य होने के कारण यह संभव है कि विद्यार्थी इन्हें एक समझ ले, किन्तु ऐसा नहीं है।

1.2.1 जन्म एवं नामकरण

अर्हत् अरिष्टनेमि का जीव अपने पूर्व भव में बत्तीस सागरोपम का सुदीर्घ आयुष्य समाप्त होने पर अपराजित नामक स्वर्ग से कार्तिक कृष्ण द्वादशी के दिन च्यवन कर सोरियपुर या शौरीपुर नामक नगर में राजा समुद्रविजय की महारानी शिवा की कुक्षि में अवतरित हुए। वे गौतम-गोत्रीय थे। उन्हें वृष्णि-पुंगव अथवा अंधक-वृष्णि की सन्तान कहा गया है। वृष्णि उनका कुल था। श्रीकृष्ण वासुदेव उनके चचेरे भाई थे। गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन मध्य रात्री में चित्रा नक्षत्र के योग के समय उनका जन्म हुआ। (**कल्पसूत्र,** सू0 162-163) सर्वत्र लोक में हर्ष छा गया। राजा समुद्रविजय ने अपने दस भाइयों के साथ पुत्र का जन्मोत्सव बड़े अपूर्व उत्साह के साथ मनाया। राजा समुद्रविजय ने कहा—"बालक के गर्भ में आने के बाद राज्य सब प्रकार के अरिष्ट से बचा रहा है। इसकी माता को अरिष्ट रत्नमय चक्र का स्वप्न आया था, अतः बालक का नाम अरिष्टनेमि ही रखा जाए।" उपस्थित जनसमूह ने उन्हें इसी नाम से पुकारा। उनके तीन भाई हुए—रथनेमि, सत्यनेमि, दृढनेमि।

आगमों में उनके शरीर का वर्णन किया गया है—उनका शरीर शुभचिह्नों से युक्त था, वे वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान (आकृति) के धनी थे। उनका उदर मत्स्याकार तथा वर्ण कृष्ण था। उनका कद 10 धनुष्य था।

जब अरिष्टनेमि करीब चार वर्ष के हुए, उस समय यादवों ने एक बड़े संकट को पार किया। श्री कृष्ण ने मथुरा नरेश कंस का वध किया। कंस के नाना प्रतिवासुदेव जरासंध ने यादवकुल का समूल नाश करने के लिए सैन्य भेजा। देव-सहयोग से सर्व सुविधा सम्पन्न समुद्र-किनारे पर द्वारिका नगरी का निर्माण किया गया और उसमें सभी यादव सुख पूर्वक रहने लगे।

1.2.2 योद्धा

महाराज समुद्रविजय का नाम यादव कुल के प्रतापी सम्राटों में गिना जाता है। उनके एक अनुज थे—वसुदेव। वसुदेव के पुत्र बलराम और श्रीकृष्ण थे। यादव वंश में ये तीनों राजकुमार श्री कृष्ण, बलराम और अरिष्टनेमि अपनी असाधारण बुद्धि और अपार शक्ति एवं पराक्रम के लिए विख्यात थे। यादवों की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाएं सुनकर प्रतिवासुदेव जरासंध ने यादवों के साथ युद्ध करने का निश्चय किया।

जरासंध व यादवों की सेना में भयंकर युद्ध छिड़ गया। जरासंध के पुत्रों को यादव वीरों ने मार डाला। अपने पुत्रों को मरते देख जरासंध अत्यन्त कुपित हुआ और बाण-बर्षा करते हुए यादव-सेना को मथने लगा। यादव सेना हतप्रभ-सी हो गई।

अरिष्टनेमि भी युद्ध-भूमि में उपस्थित थे। उनके लिए सर्व शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रथ को मातलि सारथि के साथ इन्द्र ने भेजा। नेमिकुमार ने अवसर देख युद्ध की बागडोर अपने हाथ में ले ली। पौरंदर शंख का नेमिकुमार ने घोष किया। शंख-निनाद से शत्रु कांप उठे। इस चामत्कारिक विजय से यादव-सेना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जोश से भर उठी और भयंकर आक्रमण शुरु कर दिया। अंत में श्री कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से जरासंध को मारकर ऐतिहासिक विजय प्राप्त की और उसी से वे नौवें वासुदेव बने।

कुमार अरिष्टनेमि अद्वितीय शक्तिशाली थे। एक बार उन्होंने श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र को देखते ही देखते अंगुली पर उठा लिया और सबको चकित कर दिया। आयुधशाला के सभी कर्मचारियों के कहने से कुमार ने चक्र को यथास्थान रख दिया। फिर उन्होंने पांचजन्य शंख को उठाकर फूंका। दिव्य शंखध्वनि से द्वारकापुरी गूंज उठी। श्रीकृष्ण को बड़ा विस्मय हुआ। कुमार अरिष्टनेमि ने उनके धनुष शारंग को टंकार कर श्रीकृष्ण को अपनी अद्‌भुत बाललीला का परिचय दिया।

श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा कि मैं तुम्हारे बाहुबल की परीक्षा करना चाहता हूं। श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा फैलाई और कुमार से कहा कि इसे नीचे झुकाओ। कुमार ने क्षणभर में ही कृष्ण की भुजा को नमित कर दिया। अब श्रीकृष्ण की बारी थी। अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा ऊंची की। श्रीकृष्ण उसे झुकाने का उपक्रम करने लगे। उन्होंने अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर लिया, वे भुजा पर अपने दोनों हाथों से झूल गए, किन्तु अरिष्टनेमि को नहीं झुका सके।

इस होड़ में पिछड़ जाने पर व्यक्त रूप से तो श्रीकृष्ण ने कुमार अरिष्टनेमि की शक्ति की प्रशंसा की, किन्तु मन ही मन उन्हें कुछ क्षोभ भी हुआ। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कुमार की इस अतुल शक्ति का कारण ब्रह्मचर्य है।

माता-पिता और अन्य स्वजनों ने कुमार अरिष्टनेमि से पहले विवाह कर लेने का आग्रह कई बार किया था, किन्तु वे कुमार से इस विषय में स्वीकृति नहीं ले पाए। अतः वे सब निराश थे। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण ने एक नई युक्ति की। उन्होंने अपनी रानियों से किसी प्रकार अरिष्टनेमि को मनाने के लिए कहा। रानियों की प्रार्थना पर कुमार अरिष्टनेमि ने विवाह करना स्वीकार कर लिया।

1.2.3 विवाह की तैयारी और वैराग्य

सत्यभामा की बहिन राजीमती को कुमार के लिए सर्व प्रकार से योग्य पाकर श्रीकृष्ण ने कन्या के पिता उग्रसेन से इस सम्बन्ध में प्रस्ताव किया। उग्रसेन ने इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया। कुमार अरिष्टनेमि ने इन प्रयत्नों का विरोध नहीं किया और न ही वाचिक रूप से उन्होंने अपनी स्वीकृति दी।

यथासमय वर अरिष्टनेमि की भव्य बारात सजी। समुद्रविजय सहित समस्त दशार्ह, श्रीकृष्ण, बलराम और समस्त यदुवंशी उल्लसित मन से बारात में साथ सम्मिलित हुए।

बारात ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती थी, सबके मन का उत्साह भी बढ़ता जाता था। उग्रसेन के राजभवन के समीप जब बारात पहुंची, कुमार अरिष्टनेमि ने पशु-पक्षियों का करुण क्रन्दन सुना और उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने जब सारथी से इस विषय में पूछा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके विवाह के उपलक्ष में जो विशाल भोज दिया जाएगा, उसमें इन्हीं पशु-पक्षियों का मांस प्रयुक्त होगा। इसी के लिए इन्हें पकड़ा गया है। इस पर कुमार के मन में उत्पन्न्न करुणा और अधिक प्रबल हो गई। वे सोचने लगे—एक मेरा विवाह होगा और हजारों मूक पशुओं के प्राण लूटे जायेंगे। इनकी मौत का निमित्त बनूंगा मैं। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मुझे विवाह नहीं करना है। उन्होंने सारथि से कहा—रथ को वापिस द्वारिका की तरफ मोड़ दो। सारथि ने रथ को मोड़ दिया। नेमिकुमार ने प्रसन्नमना शरीर पर से सारे आभूषण उतार कर रथिक को दे दिये।

नेमिकुमार का रथ मुड़ते ही, बारात की सारी व्यवस्था लड़खड़ा गयी। कृष्ण व बलराम आदि सभी ने आकर बार-बार समझाया। नेमिकुमार दृढ़ता से इन्कार कर द्वारिका आ गए। पशु-हिंसा का उस समय कैसा बोलबाला था, सैकड़ों-हजारों पशु किस तरह मौत के घाट उतार दिए जाते थे—यह उस युग में व्याप्त हिंसा के मूल्य को प्राप्त सामाजिक स्वीकृति का एक प्रमाण है। इसी प्रकार की हिंसाएं यज्ञ-याग, नर-बलि आदि के नाम पर भी स्वीकृत थी। अरिष्टनेमि ने इसके विरोध में अपनी आवाज बुलंद की। ऐसी हिंसा में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किसी प्रकार से भी निमित्त न होना—यह उनकी उत्कृष्ट अहिंसा और करुणा भावना का प्रतिबिंब है। इसी भावना से उन्होंने विवाह करना भी अस्वीकार कर दिया। जन-चेतना को जगाने का इतना बड़ा 'सत्याग्रह' सचमुच एक अभिनव प्रयोग था।

इस प्रकार अरिष्टनेमि अहिंसा के महान् पुरस्कर्त्ता के रूप में उस युग में सामने आए। उस समय की क्रूर पशु-हिंसा के विरूद्ध उनके इस सक्रिय कदम का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। श्रमण-संस्कृति का स्वर एक बार फिर वैदिक संस्कृति के हिंसामूलक क्रियाकांडों के विरोध में भारतवर्ष में बुलंद हुआ।

1.2.4 अभिनिष्क्रमण

भगवान् नेमिकुमार की विरक्ति से सब विस्मित थे। परम सुन्दरी राजीमती जैसी युवती को बिना शादी किये ही छोड़ देना प्रबल आत्मबल का कार्य था। अनेक युवकों ने भी उनकी विरक्ति से स्वयं विरक्त होकर तत्काल नेमिकुमार के साथ दीक्षित होने की घोषणा कर दी।

निश्चित तिथि को उत्तरकुरू नामक शिबिका में बैठकर उज्जयंत (रैवतक) पर्वत पर सहस्राम्र उद्यान में आए। प्रभु की निष्क्रमण यात्रा में अपार मानवमेदिनी और चौसठ इन्द्रों के साथ अनगिनत देवगण सम्मिलित हुए। प्रव्रज्या में श्रीकृष्ण तथा अनेक दशार्ह भी सम्मिलित हुए।

उज्जयंत पर्वत के सहस्राम्रवन में अशोक वृक्ष के नीचे समस्त वस्त्रालंकारों का भगवान् ने परित्याग कर दिया। इन परित्यक्त वस्तुओं को इन्द्र ने श्रीकृष्ण को समर्पित किया था। भगवान् ने तेले की तपस्या में पंचमुष्टि लोच किया और शक्र ने उन केशों को अपने उत्तरीय में संभाल कर क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया। चित्रा नक्षत्र में वर्षा ऋतु के प्रथम मास श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन पूर्वाह्न-काल में सिद्धों की साक्षी से भगवान् ने सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा पाठ किया और 1000 पुरुषों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली।

समवायांग सूत्र के अनुसार प्रव्रज्या के समय अर्हत् अरिष्टनेमि ने केवल एक देवदूष्य वस्त्र धारण किया। दीक्षा के दिन वे दो दिन के उपवासी थे। प्रव्रज्या के दूसरे दिन उन्होंने वरदत्त नामक व्यक्ति के द्वारा 'परमान्न' (खीर) से पारणा किया।

1.2.5 केवलज्ञान

भगवान् नेमिनाथ की दीक्षा के बाद चौपन रात्रियां छद्मस्थ अवस्था में बीती उत्कृष्ट विरक्ति से ध्यान के विविध आलम्बनों के द्वारा आत्मलीन होकर महान् कर्मनिर्जरा की। एकदा आप पुनः उज्जयंत पर्वत पर पधारे। उसी रात्री आश्विन् कृष्णा अमावस्या को उज्झित नामक शैल-शिखर पर चित्रा नक्षत्र के योग में उन्होंने क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर, चार घनघाती कर्मों का नाश किया तथा अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, प्रतिपूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त किया। वे जिन, अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बने। उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति सूर्योदय के समय हुई।

देवों ने उत्सव कर समवसरण की रचना की। द्वारिका के नागरिक भगवान् के सर्वज्ञ बनने की बात सुनकर हर्षविभोर हो उठे। वासुदेव कृष्ण सहित सभी उत्सुक लोगों ने रैवतकगिरी पर भगवान् के दर्शन किये। राजीमती भी भगवान् के दर्शनार्थ वहां पहुंच गई। प्रभु के प्रथम प्रवचन में तीर्थ स्थापित हो गया। भगवान् ने वरदत्त आदि ग्यारह व्यक्तियों को गणधर व यक्षिणी आर्या को प्रवर्तनी नियुक्त किया।

1.2.6 परिनिर्वाण

अर्हत् अरिष्टनेमि 300 वर्ष पर्यंत कुमार-वास में रहे। 54 रात्रि दिवस छद्मस्थ अवस्था में रहे। 700 वर्ष से कुछ कम वे अर्हत् अवस्था में रहे। इस प्रकार 1000 वर्षों का आयुष्य पूर्ण होने पर वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

जीवन के अन्तिम समय में भगवान् अरिष्टनेमि ने उज्जयंत गिरि पर 536 साधुओं के साथ अनशन कर लिया। भगवान् ने 30 दिनों के अनशन में आषाढ़ शुक्ला अष्टमी की मध्य रात्रि चित्रा नक्षत्र के योग में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शेष चार अघाती कर्मों का नाश कर निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया—वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए। देवों एवं मनुष्यों ने उनका निहरण समारोह किया। जैन परम्परा (कल्पसूत्र सू0 169) के अनुसार उनके निर्वाण के 84980 वर्ष पश्चात् कल्पसूत्र की रचना हुई।

1.3 जैन आगम-साहित्य के आधार पर अरिष्टनेमि के जीवन-प्रसंग

जैन आगमों में स्थान-स्थान पर भगवान् अरिष्टनेमि के जीवन-प्रसंगों के सम्बन्ध में कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध हैं। ये सन्दर्भ जहां साहित्यिकता की दृष्टि से बहुमूल्य हैं, वहां ऐतिहासिक की दृष्टि से भी कम मूल्यवान नहीं है। यहां पर हम इनमें से कुछ चुनकर संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

1.3.1 देवकी (श्रीकृष्ण की माता) की शंका का समाधान

(सन्दर्भ—अंतगडदसाओ, 3/8/17-30)

एक बार अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी में पधारे। उनके साथ उनके छह अन्तेवासी अनगार ऐसे थे, जो छहों-सहोदर भाई थे तथा रूप, वय, शरीर का वर्ण, लक्ष्य, कानों की रचना, सौन्दर्य आदि में बिलकुल एक-दूसरे के समान लग रहे थे। दीक्षा ग्रहण कर वे छहों भगवान् अरिष्टनेमि की आज्ञा पाकर यावज्जीवन के लिए षष्ठ-षष्ठ तप-कर्म (प्रत्येक दो दिवस का उपवास और तीसरे दिन पारण) कर रहे थे।

एक बार पारणा के दिन छहों भ्राता तीन दल में विभक्त होकर भिक्षा के लिए नगरी में गए। उनमें से एक दल (दो साधुओं) ने भिक्षा के लिए राजा वसुदेव की रानी देवकी के घर प्रवेश किया। देवकी ने बहुत ही प्रसन्नता से दोनों साधुओं को केसरिया मोदकों का दान दिया। वे चले गए। इतने में दूसरा दल वहां पहुंचा। उन्हें भी पुनः उसी प्रकार केसरिया मोदकों का दान देकर देवकी बहुत प्रसन्न हुई। तीसरी बार फिर तीसरा दल भी वहां पहुंच गया और उसे भी उसी प्रकार दान दिया। दान देकर देवकी ने विनय से उनके साथ साधुओं से पूछा कि आप तीसरी बार मेरे यहां पधारे हैं, तो क्या श्रीकृष्ण वासुदेव की इतनी बड़ी द्वारवती नगरी में आपको अन्यत्र कहीं भोजन-पानी का योग नहीं मिला? तीसरे दल के सहोदर भिक्षुओं ने उत्तर दिया—'हम प्रथम बार ही आपके यहां आए हैं। वैसे, ऐसी कोई बात नहीं है कि द्वारवती में हमें अन्यत्र भोजन-पानी का योग नहीं मिलता है।' फिर उन्होंने अपना पूरा परिचय देते हुए बताया कि "हम छहों भाई भगवान् अरिष्टनेमि के पास एक साथ दीक्षित हुए हैं, और एक-से लगते हैं। हमारे षष्ठ-षष्ठ का तप-कर्म चल रहा है। हम तीन दलों में भिक्षा के लिए जाते हैं। संभव है, हमारे भाइयों के दो दल पहले आपके यहां पहुंचे हो और उन्हें आपने दान दिया हो।"

साधुओं ने अपना परिचय भी दिया कि हम भद्दिलपुर नगरी के नाग नामक गाथापति की सुलसा नामक भार्या के छह सहोदर पुत्र हैं। उस समय रानी देवकी को पूरी बात समझ में आई कि छह साधु जो तीन दलों में आए थे। वे अलग-अलग थे। किन्तु रानी देवकी के मन में एक शंका उत्पन्न हुई—"मुझे एक अतिमुक्तक नामक कुमार श्रमण ने बाल्यावस्था में भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि तुम्हारे नल-कूबर जैसे एक समान आठ पुत्र होंगे। ऐसे पुत्र और किसी स्त्री के इस भारतवर्ष में नहीं होंगे। तो ये छह साधु और किसी माता के पुत्र कैसे हो सकते हैं?"

रानी देवकी शंका का समाधान करने हेतु अरिष्टनेमि के पास पहुंची और सारी बात कही। अपनी शंका भी प्रस्तुत की। भगवान् ने उसकी शंका का समाधान करते हुए बताया—"वस्तुतः ये छहों तुम्हारे पुत्र हैं। हरिणगमेषी नामक देव ने तुम्हारे इन पुत्रों को सुलसा की कुक्षि में साहरन (देवशक्ति से दूसरे स्थान में स्थापना) कर दिया था तथा सुलसा के सद्यःमृत पुत्रों को तुम्हारी कुक्षि में।"

भगवान् अरिष्टनेमि के द्वारा दिया गया समाधान सुनकर देवकी का मातृ-प्रेम उभर गया तथा अपने छह पुत्रों को साधु-रूप में देखकर वह बहुत प्रफुल्लित हुई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.3.2 गजसुकुमाल (श्री कृष्ण के छोटे भाई) की दीक्षा

सन्दर्भ—अंतगड़दसाओ, 3/8/51-111

देवकी ने जब अपने छह पुत्रों की बात भगवान् अरिष्टनेमि से सुनी, तो उसके मन में यह इच्छा जागृत हुई कि श्रीकृष्ण-सहित मैंने सात पुत्रों को जन्म दिया, पर एक भी पुत्र का बाल-भाव देखने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। श्रीकृष्ण को जब यह बात बताई, तो श्रीकृष्ण ने हरिणगमेषी देव की आराधना की और इस बात की जानकारी प्राप्त की कि देवकी के आठवां पुत्र—श्रीकृष्ण का अनुज होगा और वह युवावस्था में भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होगा। श्रीकृष्ण ने अपनी माता देवकी को यह बात बताई। कालान्तर में देवकी ने आठवें पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम 'गजसुकुमाल' रखा गया।

उसी द्वारवती में सोमिल नामक एक ब्राह्मण की सोमा नामक पुत्री थी। श्रीकृष्ण ने अपने अनुज की भार्या बनाने हेतु सोमिल से उसकी मांग की। सोमिल ने मांग स्वीकार कर ली। श्रीकृष्ण ने सोमा को कन्याओं के अन्तःपुर में रखा ताकि वह गजसुकुमाल की भार्या बन सके।

इधर गजसुकुमाल भगवान् अरिष्टनेमि से प्रवचन सुन विरक्त हो गए। पर श्रीकृष्ण के आग्रह को मान एक दिन के लिए राज्य को भोग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर अनगार बन गए। दीक्षा लेकर उसी रात्री में श्मशान भूमि में जाकर भिक्षु की महाप्रतिमा नामक विशेष साधना में संलग्न हो गए। संयोगवश उनका श्वसुर सोमिल वहां से गुजरा और गजसुकुमाल को मुनि बना देखकर कुपित हो गया। अपनी पुत्री को छोड़कर मुनि बनने वाले अपने जामाता (मुनि) का बदला लेने के लिए उसने ध्यानस्थ मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बांध कर, उसमें श्मशान में जल रही चिता में से जलते हुए अंगारों को लाकर रख दिया। फिर वहां से चला गया।

गजसुकुमाल मुनि अत्यन्त असह्य वेदना को समभाव से सहन कर सभी कर्मों को नष्ट कर उसी रात्री में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए। उधर श्रीकृष्ण जब भगवान् अरिष्टनेमि के पास पहुंचे और अपने अनुज गजसुकुमाल मुनि के विषय में पूछा, तो अरिष्टनेमि ने उन्हें सारी बात से ज्ञात किया तथा बताया कि मुनि का हत्यारा सोमिल ब्राह्मण भी स्वयं श्रीकृष्ण को मिलेगा तथा उन्हें देखकर भय के कारण उसी क्षण मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। श्रीकृष्ण जब वापिस लौट रहे थे, तब वैसा ही हुआ। सोमिल ब्राह्मण श्रीकृष्ण को देखकर तत्क्षण भयभीत होकर धरणीतल पर 'धस' होकर गिर गया और उसके प्राणपखेरू उड़ गए।

1.3.3 अनेक राजा/राजकुमार एवं रानियों द्वारा प्रव्रज्या-ग्रहण

अर्हत् अरिष्टनेमि के युग में तत्कालीन अनेक नरेशों एवं राजकुमारों ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। उनमें कुछ उल्लेखनीय व्यक्ति हैं—

1.3.4 निषधकुमार—ये राजा बलदेव के पुत्र थे। इनकी माता का नाम रेवती था। बलदेव श्रीकृष्ण वासुदेव के सौतेले अग्रज थे। वे वसुदेव की दूसरी रानी रोहिणी के पुत्र थे। जैन परम्परा में वासुदेव के बड़े भाई बलदेव या राम कहलाते हैं। इनकी गणना तिरसठ श्लाका पुरुषों में की जाती है। (24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव, 9 बलदेव, 9 प्रतिवासुदेव—इस प्रकार 63 व्यक्ति प्रत्येक काल-चक्रार्ध में भरतक्षेत्र और ऐरावत् क्षेत्र में पैदा होते हैं।)

निरयावलिया के पंचम वर्ग **वण्हिदसाओ** (बारहवें उपांग) में निषध द्वारा भगवान् अरिष्टनेमि के द्वारा चारित्र-ग्रहण तथा अन्त में अनशन के आराधन द्वारा सर्वार्थसिद्ध नामक सर्वोत्कृष्ट अनुत्तर विमान में देव-रूप उत्पत्ति और अगले भव में मोक्ष-प्राप्त करने का वर्णन दिया गया है।

1.3.5 पांच पांडव और द्रौपदी—इतिहास-प्रसिद्ध महाभारत-युद्ध के योद्धा पांचों पाण्डवों एवं द्रौपदी का विस्तृत आख्यान **नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र)** के 16 वें अध्ययन में उपलब्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अन्त में पांच पांडवों स्थविरों के पास प्रव्रज्या-ग्रहण करते हैं। पांच पांडव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चतुर्दशपूर्वों का अध्ययन करते हैं तथा अनेक वर्षों तक नानाविध तपस्या करते हैं। द्रौपदी आर्या सुव्रता के पास दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का अध्ययन करती हैं तथा अनेक वर्षों तक नानाविध तपस्या करती हैं।

जब बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अपने अंतिम समय में सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) जनपद में विहरण कर रहे थे, तब पांचों पांडव मुनियों ने भगवान् के दर्शन करने सुराष्ट्र-जनपद की ओर विहार किया। मार्ग में हस्तकल्प नगर में उन्हें यह संवाद प्राप्त हुआ कि अरिष्टनेमि भगवान् उज्जयंत पर्वत पर एक मास का अनशन पूर्णकर निर्वाण को प्राप्त हो गए हैं, तब वे भी शत्रुंजय पर्वत पर आरोहण कर अनशन स्वीकार कर लेते हैं। दो मास का अनशन पूर्णकर अन्त में केवलज्ञान उपार्जन कर निर्वाण प्राप्त करते हैं। द्रौपदी आर्या भी बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय की आराधना कर, अन्त में एक मास का अनशन कर कालधर्म को प्राप्त होने पर पांचवें देव के रूप में उत्पन्न होती है। वहां से उसका जीव आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करेगा।

1.3.6 राजीमति—भोजराज उग्रसेन की पुत्री राजीमति जिसके साथ अरिष्टनेमि का पाणिग्रहण होने वाला था। अरिष्टनेमि के द्वारा छोड़ दिए जाने पर बहुत दु:खी हुई। तत्पश्चात् अरिष्टनेमि के एक अनुज रथनेमि राजीमति के प्रति आसक्त होकर उससे मिले। पर राजीमति स्वयं विषयभोगों से विरक्त हो चुकी थी। उसने रथनेमि को भी समझा दिया।

राजीमति की विरक्ति

राजीमति प्रियतम के वियोग में अतिशय कष्टमय समय व्यतीत कर रही थी। भगवान् के केवली हो जाने के शुभ संवाद से वह हर्ष-विह्वल हो उठी। उसने सांसारिक सुखों को तो त्याग ही दिया था। अब वह पति के मार्ग पर अग्रसर होने को कृतसंकल्प हो गई। दु:खी माता-पिता से जैसे-तैसे उसने अनुमति ली और केश-लुंचन कर संयम स्वीकार कर लिया। स्वयं दीक्षा-ग्रहण कर लेने पर उसने अन्य अनेक स्त्रियों को दीक्षा दी। अनेक साध्वियों के साथ वह भगवान् के चरणों की वन्दना के लिए चल पड़ी। इस समय मार्ग में सहसा वर्षा के कारण ये सभी साध्वियां और राजीमति भीग गई। वे अलग-अलग कंदराओं में शरण के लिए चली गईं। संयोगवश जिस गुफा में राजीमति जी घुसी, उसी में मुनि रथनेमि पहले से ही विद्यमान थे। राजीमति जी को अंधेरे में कुछ पता नहीं चला। उसने गुफा में जाकर अपने भीगे वस्त्र उतार कर सुखाने के लिए फैला दिए। अचानक विद्युत्प्रकाश में रथनेमि की दृष्टि उस पर पड़ी। एक बार दीक्षा से पूर्व रथनेमि के परिणय-प्रस्ताव को राजीमति ने ठुकरा दिया था। काम-वासना से आविष्ट रथनेमि अपने मुनित्व को भूल गए। उसने अपना कुत्सित प्रस्ताव राजीमति के समक्ष रखा। राजीमति ने उसकी भर्त्सना की। राजीमति जी की फटकार से रथनेमि पुन: धर्म में स्थिर हो गया। भगवान् के चरणों में पहुंच कर रथनेमि ने अपने पापों की आलोचना की—प्रतिक्रमण के माध्यम से आत्म-शुद्धि की। कठोर तप से उसने कर्मों को नष्ट किया और अन्तत: मुक्त हुए। इसका मार्मिक वर्णन उत्तराध्ययन के 22 वें अध्ययन में उपलब्ध है। दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन में भी यही बात मिलती है। राजीमति भी तप, व्रत, साधना आदि के द्वारा कैवल्य प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुई।

1.3.7 थावच्चापुत्र—द्वारिका की प्रसिद्ध श्राविका थावच्चा का पुत्र अपनी मां के नाम से प्रसिद्ध हुआ। माता के द्वारा संसार के स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर थावच्चापुत्र उत्सुकता से अरिष्टनेमि के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ समय बाद उनका आगमन हुआ। वह अपनी मां के साथ भगवान् के समवसरण में गया। उनका प्रवचन सुना। प्रतिबुद्ध हुआ और मां की आज्ञा लेकर भगवान् के पास दीक्षित हो गया। उन्होंने 32 पत्नियों को त्याग कर हजार पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ली। उनकी प्रव्रज्या रैवतक पर्वत के नन्दनवन में हुई। उस समय अरिष्टनेमि इस वन के सुरप्रिय यक्ष के यक्षायतन में विराजते थे। थावच्चापुत्र ने स्थविरों से सामायिकादि 14 पूर्वों का अभ्यास किया तथा नाना प्रकार के तप किये। अरिष्टनेमि ने थावच्चापुत्र के साथ प्रव्रजित सहस्र पुरुषों को, उन्हें ही शिष्य के रूप में सौंप दिया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनगार थावच्चापुत्र ने भगवान् की आज्ञा से अलग जनपद विहार किया। सेलकपुर के राजा सेलक और उनके पांच सौ मन्त्री श्रावक-धर्म को ग्रहण कर श्रमणोपासक हुए। सौगन्धिका नगरी का नगरश्रेष्ठी सुदर्शन, शुक नामक परिव्राजक का अनुयायी था। वह शौच-मूल-धर्म को मानता था। थावच्चापुत्र ने उसे विनय-मूल धर्म बतलाया। वह भी श्रमणोपासक हुआ। बाद में शुक परिव्राजक सुदर्शन को ले थावच्चापुत्र के पास आया। लम्बी चर्चा हुई। अन्त में शुक अपने हजार शिष्यों के साथ मुण्डित हो थावच्चापुत्र के पास प्रव्रजित हुआ। शुक भी बड़ा प्रभावशाली अनगार निकला। अन्त में थावच्चापुत्र ने पुण्डरीक पर्वत पर श्याम शिलापट्ट पर पादोपगमन अनशन किया। एक मास की संलेखना की। उन्हें केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन उत्पन्न हुआ और वे सिद्ध हुए। राजा सेलक और उसके पांच सौ मन्त्रियों ने शुक से दीक्षा ली। सेलक राजर्षि के पतन और उत्थान की कहानी भी बड़ी रोचक है।

1.3.8 गौतम आदि दस अन्धक-वृष्णि-धारिणी के पुत्र—अन्तगड् दसाओ प्रथम वर्ग में बताया गया है कि द्वारवती के राजा अन्धक-वृष्णि की धारिणी रानी से उत्पन्न गौतम, समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कांपिल्य, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु—इन दस राजकुमारों ने भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर, ग्यारह अंगों का अध्ययन कर, बारह भिक्षु-प्रतिमाओं (विशेष तपःसाधना) को पूर्ण कर, गुणरत्न तप कर अंत में शत्रुंजय पर्वत पर एक मास की संलेखना कर, बारह वर्ष चारित्र-पर्याय का पालन कर सिद्ध हुए।

1.3.9 अक्षोभ आदि आठ अन्धक-वृष्णि-धारिणी के पुत्र—इनका भी वर्णन **अंतगडदसाओ**, द्वितीय वर्ग में है, जो पूर्ववत् हैं, केवल इतना अन्तर है कि इनकी दीक्षा पर्याय सोलह वर्ष बताई गई। इन आठ में कुछ नाम तो वे ही हैं, जो **अंतगडदसाओ,** प्रथमवर्ग में बताए गए हैं, कुछ नाम भिन्न हैं।

1.3.10 अन्य राजकुमार—राजा वासुदेव और रानी धारिणी के पुत्र सारण कुमार (**अन्तगडदसाओ**, 3/16) दारूककुमार और अनावृष्टि कुमार (वही, 3/110), जालिकुमार, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन तथा वारिषेण (वही, 4/2-6), राजा बलदेव और रानी धारणी के पुत्र सुमुख कुमार, दुर्मुख कुमार तथा कूप कुमार (वही, 3/113-118) राजा श्रीकृष्ण एवं रानी रूक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न, राजा श्रीकृष्ण एवं रानी जाम्बुवती के पुत्र साम्ब कुमार, राजा प्रद्युम्न और रानी वैदर्भी के पुत्र अनिरूद्ध तथा राजा समुद्रविजय एवं रानी शिवा के पुत्र सत्यनेमि और दृढ़नेमि (**अंतगडदसाओ**, 4/6) का अरिष्टनेमि के पास द्वारवती में पधारने पर दीक्षा-ग्रहण एवं निर्वाण-प्राप्ति उपलब्ध है।

1.3.11 रानियों की प्रव्रज्या—श्रीकृष्ण की रानियां—पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्षणा, सुसीमा, जम्बूवती, सत्यभामा, रूक्मिणी, मूलश्री और मूलदत्ता ने भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा साध्वीप्रमुखा आर्या यक्षिणी के माध्यम से मुंडित होकर प्रव्रजित हुईं तथा अन्त में निर्वाण प्राप्त किया (5/1-43)

1.3.12 गण-समुदाय—अर्हत् अरिष्टनेमि के 18 गण और 18 गणधर थे। उनके गण समुदाय में वरदत्त आदि 18000 श्रमणों की उत्कृष्ट श्रमण-सम्पदा एवं आर्या यक्षिणी आदि 40000 आर्याओं की उत्कृष्ट आर्या-सम्पदा थी। उनके नन्द आदि 100069 श्रमणोपासक और महासुव्रता आदि 300039 श्रमणोपासिकाएं थीं।

अर्हत् अरिष्टनेमि के समुदाय में जिन नहीं पर जिन-समान तथा सर्व अक्षर के संयोगों को अच्छी तरह जाननेवाले 414 पूर्वधारियों की सम्पत्ति थी। इसी प्रकार 1500 अवधिज्ञानी, 1500 केवलज्ञानी, 1500 वैक्रिय लब्धिधारी, 100 विपुलमति ज्ञानधारी, 800 वादी और 1600 अनुत्तरौपपातिकों की सम्पदा थी। उनके श्रमण-समुदाय से 1500 श्रमण सिद्ध हुए और 3000 श्रमणियां सिद्ध हुईं।

1.4 अर्हत् अरिष्टनेमि: ऐतिहासिक प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में

भगवान् अरिष्टनेमि के जीवन-वृत्त को हमने जैन साहित्य के आधार पर देखा। **उत्तराध्ययन**, **ज्ञाताधर्म-कथा** आदि के प्रमाण अपने आप में उतने ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक साक्ष्य हैं, जितने अन्य वाङ्मय के। जैन आगमों के इन विवरणों की ऐतिहासिकता के सन्देह से परे होने पर भी हम वैदिक एवं बौद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साहित्य के आधार पर तथा पुरातत्त्वीय उल्लेखों के आधार पर भी बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि, उनके और श्रीकृष्ण वासुदेव के सम्बन्ध आदि के विषय में कुछ और ठोस साक्ष्यों की चर्चा करने जा रहे हैं।

1.4.1 अरिष्टनेमि की श्रमण–संस्कृति का वैदिकों पर प्रभाव

वैदिककाल के अन्तिम भाग में ही पशुबलि के विरोध में एक लहर चल पड़ी थी। मगधनरेश वसु चैद्योपरिचर के समय में पर्वत–नारद उसी प्रश्न को लेकर हुआ था। इस घटना के विषय में जैन एवं ब्राह्मण दोनों अनुश्रुतियां एकमत हैं। अपने बन्धु तीर्थंकर अरिष्टनेमि के विचारों से प्रभावित कृष्ण वासुदेव और उसके भाई बलराम भक्तिप्रधान अहिंसाधर्म की इस लहर के अनुयायी एवं सबल पोषक थे। महाभारत के उपरान्त काल में कुछ वैदिक ब्राह्मणों को छोड़कर शेष बहुभाग समाज इसी लहर का अनुयायी होता चला गया। इसके नेता प्रमुखतः क्षत्रिय लोग थे।

जो प्रत्यक्षतः श्रमणपरम्परा के नहीं थे या नहीं हुए वे वैदिक परम्परा में से ही वैदिक कर्मकांड तथा याज्ञिक हिंसा का विरोध और अध्यात्म के बीज खोजने लगे। इन्होंने औपनिषदिक रहस्यवाद को जन्म दिया। विदेह इनका केन्द्र था। इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के स्थान में अखिल विश्व में संचलित चेतनपुंज रूप निराकार–निर्विकार अजर–अमर ब्रह्म की स्थापना हुई। वैदिक यज्ञों को फूटे नख की उपमा दी गयी। आत्मदर्शन या आत्मानुभूति को परम प्राप्तव्य बताया गया, दुश्चरित का त्याग, इन्द्रियों का निग्रह, मनस्कता, शुचिता, मन–वाणी–कर्म का नियमन, तप–ध्यान, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा–शान्ति, सम्यक्ज्ञान, विज्ञान, समाधि या आत्मलीनता से परमपद प्राप्त करने का उपदेश दिया जाने लगा। वस्तुतः औपनिषदिक विचारधारा का जैन अध्यात्म के साथ इतना विलक्षण सादृश्य है कि बहुधा एक में दूसरे का भ्रम हो जाता है। अनेक उपनिषदों में तो विशिष्ट जैन शब्दावली तक प्रयुक्त हुई मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तर–वैदिककालीन औपनिषदिक विचारधारा उस युग में श्रमण संस्कृति के पुनरुत्थान की ही सूचक है। वैदिक एवं श्रमण–संस्कृति के समन्वय का यह एक सुन्दर प्रयत्न था। इस काल में किसी राज्य–द्वारा भी किसी वैदिक यज्ञ के लिये जाने के प्रायः कोई प्रमाण नहीं मिलते। जनसाधारण को याज्ञिकहिंसा से अरुचि हो गयी थी। वैदिक–धर्म इतना जटिल एवं आडम्बरपूर्ण बना डाला गया था कि वह लोकग्राह्य ही नहीं रह गया था। वह शनैः–शनैः कतिपय वेदानुयायी ब्राह्मण विद्वानों में ही सीमित होता चला गया। जनसाधारण या तो श्रमणोपासक था या ब्रह्मवादी जनकों के उपनिषद् धर्म का अनुसर्ता, अथवा इन दोनों के समन्वय से जो सदाचार एवं भक्ति प्रधान एक नवीन लोकधर्म सामान्यतः अलक्ष्य रूप में उदित हो रहा था उसी से सन्तुष्ट था। वर्णाश्रम–व्यवस्था इस युग की इस नवीन धारा की एक प्रमुख विशेषता थी।

इस युग के उक्त श्रमणधर्म–पुनरुत्थान के सर्वप्रथम पुरस्कर्त्ता बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि थे। श्री कृष्ण ने प्रवृत्ति का मार्ग अपनाया और नेमिनाथ ने निवृत्ति का। तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभाव विशेषकर पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत पर हुआ। दक्षिण भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त जैन तीर्थंकरों की प्राचीन मूर्त्तियों में नेमिनाथ की प्रतिमाओं का बाहुल्य है, जो अकारण नहीं है। उत्तरापथ के मध्य में उस समय वैदिक धर्म एवं वैदिक क्षत्रियों की राज्यसत्ताएं ही सबल थीं। किन्तु महाभारत के विनाशकारी युद्ध ने उक्त राज्यसत्ताओं के साथ–साथ वैदिक धर्म को भी वहां निस्तेज कर दिया था। स्वयं पांडवबन्धु अन्त में नेमिनाथ के जैन मुनियों के रूप में तप करके सद्गति प्राप्त की, ऐसा बताया जाता है। महाराज श्री कृष्ण और बलराम जो तत्कालीन राजनैतिक जगत् के प्रधान एवं प्रभावशाली नेता थे। इन महानुभावों के प्रभाव से उत्तरापथ और मध्यदेश में भी पशुबलि संयुक्त याज्ञिक वैदिक धर्म निष्प्रभाव हो गया। उत्तराकाल में होनेवाली राज्यक्रान्तियों एवं राजनैतिक परिवर्तनों ने तीर्थंकर नेमिनाथ–द्वारा पुरस्कृत इस श्रमण पुनरुत्थान को किस प्रकार सहायता पहुंचायी यह ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

अब से कुछ दशक पूर्व भी इतिहासज्ञ विद्वान् नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में अविश्वास करते थे। किन्तु अब इतिहासकाल की प्रारम्भिक सीमा 6ठी शती ई. पू. से पीछे हटकर महाभारत युद्ध के समय तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पहुंचा दी गयी है और जब कि महाराज श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं किया जाता। तब स्वयं उन्हीं कृष्ण के ताऊजात भाई तीर्थंकर अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानने का कोई कारण नहीं रह जाता। वस्तुतः प्रसिद्ध कोषकार डॉ. नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्त्वज्ञ डॉ. फुहरर, प्रो. बारनेट, कर्नल टाड, मि. कर्वा, डॉ. हरिसत्य भट्टाचार्य, डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ. राधाकृष्णन् आदि अनेक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक विद्वान् नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं करते। स्वयं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, यास्क निरुक्त, सर्वानुक्रमणिका टीका, वेदार्थदीपिका, सायणभाष्य, महाभारत, भागवत, स्कन्द एवं मार्कण्डेय पुराण आदि प्रसिद्ध प्राचीन ब्राह्मणीय ग्रन्थों में उनके उल्लेख मिलते हैं।

इतना ही नहीं, तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में भी पहुंचा प्रतीत होता है। कर्नल टाड अपने 'राजस्थान' में लिखते हैं कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। इनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। ये नेमिनाथ ही स्केण्डिनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम फो नामक देवता थे।

डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है: "इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन-धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ के पहले भी विद्यमान था।" {Indian Philosophy vol. I, p. 287: "Jain tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva, who lived many centuries back. There is evidence to show that so far backs the first century B. C. There were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhaman or parsvanath'.}

1.4.2 वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार—"अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर थे। उन्हें अभी तक पूर्णतः ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना गया है किन्तु वासुदेव कृष्ण को यदि ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाय तो अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक न मानने का कोई कारण नहीं। कौरव, पाण्डव, जरासंध, द्वारका, यदुवंश, अन्धक, वृष्णि आदि का अस्तित्व नहीं मानने का कोई कारण नहीं। पौराणिक विस्तार व कल्पना को स्वीकार न करें फिर भी ये कुछ मूलभूत तथ्य शेष रह जाते हैं।"

"**ऋषि-भाषित (इसि-भासिय)** में 45 प्रत्येक बुद्धों के द्वारा निरूपित 45 अध्ययन हैं। उनमें 20 प्रत्येक बुद्ध भगवान् अरिष्टनेमि के तीर्थंकाल में हुए थे।1-{**इसिभासियाइं**, पृ. 297, परिशिष्ट 1, गाथा 1:, **पत्तेय बुद्धमिसिणो वीसं तित्थ अरिट्ठणेमिस्स।**} उनके द्वारा निरूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंभूत प्रमाण हैं।"2-{उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 7}

जैन-आगमों से प्राप्त उनकी सहज जीवनी से अर्हत् अरिष्टनेमि के जन्म-स्थान, वंश, प्रव्रज्या, साधना, व्यक्तित्व और धर्म-प्रचार के विषय में जो प्रामाणिक और सहज मानवीय घटनाएं मिलती हैं उनको देखते हुए उनकी ऐतिहासिकता के विषय में किसी को भी शंका करने का कोई कारण नहीं रह जाता।

अरिष्टनेमि के जीवन-प्रसंगों को लेकर श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में अनेक काव्यों की रचना हुई हैं। भारतीय संस्कृति पर उन्होंने अपने जीवन और विचारों से गम्भीर प्रभाव डाला है।

अर्हत् अरिष्टनेमि ने विनयमूल धर्म का प्रचार किया। विनयमूल धर्म का अर्थ है वह धर्म जो आत्मा के विनयन—उसकी शुद्धि में सहायक हो। दैहिक पवित्रता को वे मोक्ष का मार्ग नहीं मानते थे और इसी कारण उन्होंने शौचमूलक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति की—तीव्र आवाज बुलन्द की।

बौद्ध साहित्य का जन्म-काल महात्मा बुद्ध के पहले का नहीं है। जैन साहित्य का विशाल भाग भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं हैं। पर थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का भी उसमें मिश्रित है, यह बहुत सम्भव है। भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वेदों का अस्तित्व पांच हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध साहित्य श्रीकृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखाचित्र खींचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत में चली जाती है। वेदों में एक ऋचा है जिसमें 'अरिष्टनेमि' का नाम मिलता है:

स्वस्ति न इन्दो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो वृहस्पति दधातु ॥ 1-{**ऋग्वेद** 1,1,16; **यजुर्वेद** 25,19; **शामवेद**3,9।}

इसमें आये हुए अरिष्टनेमि अर्हत् अरिष्टनेमि ही है या कोई अन्य, यह अभी खोज का विषय है, पर कुछ विद्वान् मानते हैं कि ये उल्लेख अर्हत् अरिष्टनेमि विषयक हैं। {Jainism the Oldest Living Religion (Jyoti Parsad Jain p. 22}

डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं: "यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि—इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। {Indian Philosophy vol. i, p. 287: " The Yajurveda mentions the names of there Tirthankaras-Rishabha, Ajitanath and Arishtanemi"}

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार—"**ऋग्वेद** में 'अरिष्टनेमि' शब्द चार बार आया है।{**ऋग्वेद**, 1/4/89/6; 1/24/180/10; 3/4/53/17; 10/12/178/1} **महाभारत** में 'तार्क्ष्य' शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है।{**महाभारत**, शान्तिपर्व, 288/4: एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदां वरः। विबुध्य सम्पदं चाग्रयां सद्वाक्यमिदमब्रवीत्।।} तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष-विषयक उपदेश दिया उसकी तुलना जैन-धर्म के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धांतों से होती है। वह उपदेश इस प्रकार है—

"सागर! संसार में मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है, परन्तु जो धन-धान्य के उपार्जन में व्यग्र तथा पुत्र और पशुओं में आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्य को उसका यथार्थ-ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है; जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्य की चिकित्सा करनी कठिन है, क्योंकि जो स्नेह के बंधन में बंधा हुआ है, वह मूढ़ मोक्ष पाने के लिए योग्य नहीं होता।" {**महाभारत,** शान्तिपर्व, 2888/5 6।}

"इस समूचे अध्याय में संसार की असारता, मोक्ष की महत्ता, उसके लिए प्रयत्नशील होने और मुक्त के स्वरूप का निरुपण है। सगर के काल में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे, इसलिए यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता। यहां 'तार्क्ष्य' अरिष्टनेमि का प्रयोग भगवान् अरिष्टनेमि के लिए ही होना चाहिए।"

"लगता है कि **ऋग्वेद** के व्याख्याकारों ने उसका अर्थ-परिवर्तन किया है। अरिष्टनेमि विशेषण ही नहीं है। प्राचीन काल में यह नाम होता था। **महाभारत** में मरीचि के पुत्र के दो नाम बतलाए गए हैं—अरिष्टनेमि और कश्यप। कुछ लोग उसे अरिष्टनेमि कहते हैं और कुछ लोग कश्यप।" {**महाभारत,** शान्तिपर्व, 208/8:, मरीचेःकश्यपः पुत्रस्तस्य द्वे नामनी स्मृते। अरिष्टनेमिरित्येके कश्यपेत्यपरे विदुः।।} **ऋग्वेद** में भी तार्क्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। {**ऋग्वेद,** 10/12/178/1: त्यूम पु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्। अरिष्टनेमि पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम।।} **छान्दोग्य उपनिषद्** के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे।{**छान्दोग्य उपनिषद्** 3/17/6।}

जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे।{ज्ञाताधर्मकथा, 3/05।} घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जो उपदेश दिया है, वह जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। 'तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-संशित-अतिसूक्ष्मप्राण है।' इस त्रयी को सुनकर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओं के प्रति तृष्णाहीन हो गए। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है। घोर आंगिरस ने जो उपदेश दिया, उसका सम्बन्ध आत्मवादी धारणा से है। **'स्थितभाषिय'** में आंगिरस नामक प्रत्येक-बुद्ध का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उल्लेख है। वे भगवान् अरिष्टनेमि के शासनकाल में आए थे। इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि घोर आंगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य या उनके विचारों से प्रभावित कोई संन्यासी रहे होंगे। **महाभारत** के अनुशासन पर्व में निम्न श्लोक मिलते हैं:

अशोकस्तारणस्तार: शूर: शौरिर्जिनेश्वर।
अनुकूल: शतावर्त: पदोपद्निभेक्षण: ॥50॥
कालनेमिनिहमवीर: शौरि: शूरजनेश्वर:।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेश: केशव: केशिहाहरि: ॥82॥

इन श्लोकों में '**शूर: शौरिर्जिनेश्वर:**' शब्दों के स्थान में **"शूर: शौरिर्जिनेश्वर:"** पाठ मानकर इनका अर्थ अरिष्टनेमि किया गया है।

अरिष्टनेमि का नाम महावीर और बुद्ध-काल में महापुरुषों में प्रचलित था। **लंकावतार** के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नामों में अरिष्टनेमि का भी नाम है। वहां लिखा है—"जिस प्रकार एक ही वस्तु के अनेक नाम प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार बुद्ध के असंख्य नाम हैं—कोई उन्हें तथागत कहते हैं तो कोई उन्हें स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतानत, भाष्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बलि, वरुण आदि नामों से पुकारते हैं।{बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ. 162}

आचार्यश्री महाप्रज्ञ लिखते हैं—**"प्रभासपुराण** में अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध का उल्लेख है। अरिष्टनेमि का रेवत (गिरनार) पर्वत से भी सम्बन्ध बताया गया है। और वहां बताया गया है कि वामन ने नेमिनाथ को शिव के नाम से पुकारा था। वामन ने गिरनार पर बलि को बांधने का सामर्थ्य पाने के लिए भगवान् नेमिनाथ के आगे तप तपा था।" इन उद्धरणों से श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि के पारिवारिक तथा धार्मिक सम्बन्ध की पुष्टि होती है। **उत्तराध्ययन** के बाईसवें अध्ययन से भी यही प्रमाणित होता है।

"प्रोफेसर प्राणनाथ ने प्रभास पाटण से प्राप्त ताम्रपत्र को इस प्रकार पढ़ा है—रेता नगर के राज्य के स्वामि सु-जाति के देव नेबुशर नेजर आए हैं। वह यदुराज के स्थान (द्वारिका) आए हैं उन्होंने मंदिर बनवाया है। सूर्य—देवनेमि कि जो स्वर्ग समान रेवत पर्वत के देव हैं उन्हें सदैव के लिए अर्पण किया।"

"बाबल के सम्राटों में नेवुशर और नेजर नामक दो सम्राट हुए हैं। पहले का समय ई. सन् से लगभग दो हजार वर्ष पहले हैं और दूसरे ई. सन् पूर्व छठी या 7वीं शती में हुए हैं। इन दोनों में से एक ने द्वारिका आकर रेवत (गिरनार) पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ का मंदिर बनवाया था। इस प्रकार साहित्य व ताम्र-पत्र-लेख दोनों से अरिष्टनेमि का अस्तित्व प्रमाणित होता हैं।"(उत्तराध्ययन: एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 7-9)

1.4.3 अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता के प्रमाण

अर्हत् अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण के जीवन-वृत्त स्वत: जुड़े हुए हैं। कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे और अर्हत् अरिष्टनेमि वसुदेव के ज्येष्ठ भ्राता समुद्रविजय के पुत्र। इस तरह दोनों एक वंश और परिवार के थे। इतना ही नहीं दोनों महापुरुषों के जीवन-वृत्तांत परस्पर इतने सम्बन्धित हैं कि एक के वर्णन के साथ दूसरे का उल्लेख आवश्यक हो जाता हैं।

जैन आगमों में दोनों महापुरुषों के जीवन-वृत्तांतों का विस्तृत उल्लेख रहने पर भी यह एक आश्चर्य की ही बात है कि ब्राह्मण-परम्परा के ग्रन्थों में कृष्ण के वर्णन के साथ अर्हत् अरिष्टनेमि के जीवन-वृत्तांत का कुछ भी उल्लेख नहीं। सम्भवत: इसके पीछे किसी विशेष प्रकार की मनोवृत्ति ने कार्य किया हो।

जैन-आगमों के अनुसार कृष्ण अर्हत् अरिष्टनेमि के परम भक्त थे। कृष्ण के अनेक पुत्र, अनेक रानियां और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने। वेदों में कृष्ण के देव-रूप की चर्चा नहीं है। **छान्दोग्य उपनिषद्** में भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है। पौराणिक काल में कृष्ण का रूप-परिवर्तन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है। वे सर्वशक्तिमान् देव बन जाते हैं। कृष्ण के यथार्थ-रूप का वर्णन जैन आगमों में मिलता है। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

वैदिक साहित्य के अनुसार श्रीकृष्ण यदु-वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम वसुदेव था और माता का नाम देवकी था। जैन-आगमों के अनुसार भी उनके पिता का नाम वसुदेव ही था और वे अन्धकवृष्णि अथवा वृष्णि-कुल में उत्पन्न हुए थे।

जैन-आगमों में मान-मर्दक के रूप में कृष्ण के जीवन की अनेक घटनाओं का उल्लेख आया है। कृष्ण ने अति भयंकर गर्जन करते हुए घमण्डी चाणुरमल्ल का विनाश किया। चाणूर कंस का एक असुर था। मल्लयुद्ध में उसके वध की कथा **भागवत** में भी है। रिष्ट नामक दुष्ट बैल का बध किया। **भागवत** में भी वृषभासुर अरिष्ट बैल के वध की कथा है।

वैदिक ग्रन्थों के अनुसार कृष्ण कंस का वध करने में समर्थ हुए और मथुरा के राज्य पर अधिकार कर लिया। जैन-आगमों में उल्लेख है कि कृष्ण ने कंस का मुकुट-मर्दन किया।

वैदिक ग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है कि मथुरा को अधीन कर लेने पर भी कृष्ण उसको अधिक वर्षों तक अपने अधिकार में नहीं रख सके। मगध अधिपति जरासंध (ये कंस के श्वसुर थे) के आक्रमण के कारण कृष्ण को मथुरा का राज्य छोड़ना पड़ा, और उन्होंने द्वारका को अपनी राजधानी बनायी।

जैन-आगमों में जरासंध के साथ युद्ध का उल्लेख है परन्तु इसमें कृष्ण की पराजय नहीं, जीत हुई थी। कृष्ण को मथुरा छोड़ जाना पड़ा इसका जैन-आगमों में उल्लेख नहीं। जरासंध ने कृष्ण के साथ चक्र युद्ध किया था और स्वचक्र से ही हत होकर वह मारा गया।

वैदिक मान्यता में द्वारिका को राजधानी बनाने के बाद कृष्ण ने विदर्भ की राजकन्या रुक्मिणी को अपनी प्रधान रानी बनाया। कृष्ण की कुल रानियों की संख्या 16,000 थी और उनके 180,000 पुत्र थे। जैन-आगमों में रुक्मिणी का नामोल्लेख नहीं है। रुक्मिणी नाम अवश्य मिलता है। रुक्मिणी को पाने के लिए कृष्ण को शिशुपाल के साथ युद्ध करना पड़ा था। जैन-आगमों के अनुसार कृष्ण के आठ महेषियां थीं जिनमें पद्मावती देवी सर्वप्रमुख थी। उनकी रानियों की संख्या तो यहां भी 16,000 ही मिलती है पर नामोल्लेख 9 के ही मिलते हैं। उनके पुत्रों की संख्या का उल्लेख नहीं मिलता पर साम्ब और प्रद्युम्न दो पुत्र निश्चित रूप से थे। उनके एक पौत्र अनिरुद्ध का नामोल्लेख है।

वैदिक परम्परा में कुरु में पाण्डवों की पुनःस्थापना के बाद कृष्ण द्वारका लौटे। यादव कुमारों में आपस में संघर्ष छिड़ गया। द्वारका की रक्षा के लिये कृष्ण ने नगरी में मद्यपान का निषेध किया। पर एक दिन एक उत्सव पर यदुकुमार मद्य में चूर हो परस्पर मार-काट करने लगे। कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न मार डाला गया। भाई-बलराम भी मारे गये। इस तरह सारा परिवार नाश को प्राप्त हुआ। कृष्ण दुखित हो समीप के जंगल में चले गये। वहां वे एक झाड़ी के पास में चिन्ताग्रस्त हो लेट गये। एक शिकारी ने उन्हें हरिण समझ उन पर बाण छोड़ा। बाण सीधा पैर के तलवे में लगा और कृष्ण की मृत्यु हो गयी। इसके बाद द्वारका समुद्र द्वारा ग्रसित हुई।

जैन-आगमों में भी द्वारवती नगरी का विनाश मदिरा, अग्नि और द्वीपायन से बताया गया है। कृष्ण की मृत्यु के विषय में सामान्य अन्तर है। जैन मान्यता के अनुसार, द्वारवती नगरी द्वीपायन देव के कोप से भस्म हुई। कृष्ण माता-पिता और स्वजनों से रहित हुए। उनको ले वे दक्षिण दिशा के किनारे बसी पाण्डु मथुरा की ओर अग्रसर हुए। पाण्डु राजा के पुत्र पांचों पाण्डव उस समय मथुरा में रहते थे। रास्ते में कौशाम्बी नगरी के वन में न्यग्रोध वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर पीत वस्त्र द्वारा शरीर को आच्छादित कर कृष्ण आराम लेने लगे। उस समय जरा कुमार द्वारा कोदण्ड से छोड़ा गया तीक्ष्ण बाण उनके बांये पैर में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लगा। उससे विंधे जाने पर कृष्ण मृत्यु को प्राप्त हुए।मक्खन चोर कृष्ण, गोपी–रसिक कृष्ण का दर्शन जैन वर्णन में नहीं है। कृष्ण के जीवन के ये पहलू वास्तव में ही बहुत अर्वाचीन हैं। इतिहासज्ञ इसमें एकमत हैं। उनका वास्तविक जीवन एक विचक्षण योद्धा और संकट–मोचक का ही है। यही रूप असली और प्राचीन है। जैन–आगमों में ऐसा ही विशुद्ध रूप मिलता है।

आगमिक वर्णन में कृष्ण एक महारथी के रूप में प्रगट होते हैं। वे परम पुरुष कहलाते थे और अपने युग के वासुदेव थे। वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और महान् यशस्वी पुरुष थे। बड़े स्वाभिमानी और अप्रतिहत बली थे। वे शरणागतवत्सल और शरणयोग्य थे। संकटमोचन उनका स्वभाव था। वे मुकुल मुख और मंजुल भाषी थे। वे वचन के बड़े पक्के थे। वे हृदय से अत्यन्त विशाल व्यक्ति देखे जाते हैं।

1.5 सारांश

अर्हत् अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण भारतीय संस्कृति के दो महान् पुरस्कर्त्ता हैं। अर्हत् अरिष्टनेमि निवृत्ति मार्ग के ऋषि थे। वे श्रमण संस्कृति के अन्यतम उपदेष्टा–तीर्थंकर थे। जैन परम्परा के अनुसार भविष्य में भी कृष्ण इसी जम्बू द्वीप में आगामी उत्सर्पिणी में पाण्डु जनपद में शतद्वार नामक नगर में बारहवें अमम नामक तीर्थंकर होंगे।

1.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता को सिद्ध करते हुए उनके एवं श्रीकृष्ण के समग्र संबंधों का विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अरिष्टनेमि ने अपने युग में चलने वाली हिंसा की परम्पराओं को समाप्त करने के लिए क्या त्याग किया?
2. अरिष्टनेमि के उपदेश का प्रभाव उस युग के राजघरानों के लोगों पर बहुत तीव्रता से पड़ा—इसे सिद्ध करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अरिष्टनेमि एक कुशल योद्धा थे, यह बात उनके .... के साथ युद्ध में सामने आई।
2. .... के छह पुत्रों ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होकर अपनी माता के हाथ से मोदकों का दान ग्रहण किया।
3. पांच पाण्डव जब .... नगर में थे, तब उन्हें .... के निर्वाण के समाचार प्राप्त हुए।
4. थावच्चा पुत्र के साथ .... लोगों ने दीक्षा ग्रहण की।
5. वामन ने गिरनार पर .... को बांधन का सामर्थ्य पाने के लिए भगवान् नेमिनाथ के आगे तप तपा था।
6. राजीमति ने .... को फटकार के द्वारा प्रतिबुद्ध किया।
7. उपनिषद् में श्रीकृष्ण के गुरु के रूप में .... का नाम मिलता है, जो सम्भवत: अरिष्टनेमि ही थे।
8. .... में कृष्ण के देव–रूप की चर्चा नहीं है।
9. महाभारत में .... शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची नाम के रूप में प्रयुक्त हैं।
10. .... के बाईसवें अध्ययन से श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि के सम्बन्ध की पुष्टि होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : (अ) भगवान पार्श्वनाथ

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाश : परम्परागत इतिहास
2.3 जन्म
2.4 विवाह
2.5 रूढ़ परम्परा पर कुठाराघात
2.6 दीक्षा एवं साधना
2.7 चातुर्याम-धर्म
2.8 अप्रतिहत प्रभाव
2.9 निर्वाण
2.10 पार्श्वनाथ ऐतिहासिक सन्दर्भ
2.11 उत्तरवैदिक काल या उपनिषद् युग
2.12 भगवान पार्श्व की ऐतिहासिकता : विद्वानों की दृष्टि में
2.13 तीर्थंकर पार्श्व के चातुर्याम धर्म की ऐतिहासिकता
2.14 सारांश
2.15 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.0 प्रस्तावना

ऋषभ और अरिष्टनेमि के जीवन के सम्पूर्ण पक्षों से भली-भांति परिचित होने के पश्चात् अब आप तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विषय में जानना चाहेंगे। पार्श्वनाथ का समय चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर से केवल 250 वर्ष पूर्व का है। इस दृष्टि से उनका युग ऐतिहासिक काल-क्रम के संदर्भ में और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यद्यपि महावीर पूर्व का भारतीय इतिहास बहुत कुछ स्पष्ट नहीं है फिर भी साहित्यिक सन्दर्भों के आधार पर पार्श्वनाथ के युग को जानने-समझने में काफी सुविधाएं हैं। प्रस्तुत पाठ में हम पार्श्वनाथ के परम्परागत जीवन-वृत्त को जानने के साथ उनकी ऐतिहासिकता एवं समसामयिक स्थितियों के संबंध में भी कुछ जानकारी करने का प्रयत्न करेंगे।

2.1 उद्देश्य

इसके अध्ययन से पार्श्वनाथ के जीवन-दर्शन का ज्ञान हो सकेगा।

2.2 तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ : परम्परागत इतिहास

भगवान पार्श्वनाथ जैनों के तेइसवें तीर्थंकर हुए हैं। जैन धर्म के उद्गम में भगवान की कितनी महती भूमिका रही है—डॉ. यार्ल शार्पेण्टियर की इस उक्ति से इस बिन्दु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—'जैनधर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं और परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्ररूप धारण कर चुकी होंगी।' स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक अस्तित्व असंदिग्ध है।

2.3 जन्म

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में परम सुखमय देवायु भोगकर वे इसी भरत क्षेत्र की वाराणसी के नरेश अश्वसेन की महारानी वामादेवी की पवित्र कुक्षि में अवतरित हुए। चौदह महास्वप्नों से सभी को ज्ञात हो गया कि हमारे राज्य में तीर्थंकर पैदा होंगे। सर्वत्र हर्ष का वातावरण छा गया।

गर्भकाल पूरा होने पर पौष कृष्णा दशमी की मध्य रात्रि में भगवान का सुखद प्रसव हुआ। देवेन्द्रों के उत्सव के बाद राजा अश्वसेन ने राज्य भर में जन्मोत्सव का विशेष आयोजन किया। पुत्र-जन्म की खुशी का लाभ राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को मिला। उत्सव के दिनों में कर-लगान आदि सर्वथा समाप्त कर दिये गये। बंदीगृह खाली कर दिये गये और याचकों को अयाचक बना दिया गया।

नाम के दिन विराट् प्रीतिभोज रखा गया। नाम देने की चर्चा में राजा अश्वसेन ने कहा—'इसके गर्भकाल में एक बार मैं रानी के साथ उपवन में गया। वहॉं अंधेरी रात्रि में एक कालिन्दर सर्प आ गया। काली रात और काला नाग, कैसे दृष्टिगत हो? फिर भी पार्श्व में चलता हुआ सर्प रानी को दिखाई दे गया। वह मुझे जगाकर वहॉं से अन्यत्र ले गई तभी मैं जीवित बच सका। मेरी दृष्टि में यह गर्भ का ही प्रभाव था, अतः बालक का नाम पार्श्वकुमार रखा जाए।' सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा। यहां यह चिन्तनीय है कि उनका नाम 'पास' रखा गया, जिसका प्रचलित संस्कृत रूप 'पार्श्व' बना पर उक्त घटना के आधार पर यह रूप 'पश्यक'—देखने वाला होना चाहिए। यह अनुसंधान का विषय है।

2.4 विवाह

तारुण्य में प्रवेश करते ही पार्श्वकुमार के सुगठित शरीर में अपूर्व सौन्दर्य निखर आया। उनके सौन्दर्य की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई।

उस समय कुशस्थल में महाराजा प्रसेनजित का शासन था। उनकी राजकुमारी प्रभावती अनिन्द्य रूपवती और सर्वगुण सम्पन्न थी। अब वह भी विवाहोपयुक्त वय को प्राप्त कर चुकी थी और महाराज प्रसेनजित उसके अनुकूल वर की खोज में थे। कुमारी प्रभावती ने एक दिन किन्नरियों का एक गीत सुन लिया, जिसमें पार्श्वकुमार के अनुपम रूप की प्रशंसा के साथ उस कन्या के महाभाग्य का बखान था, जो उसकी पत्नी बनेगी। राजकुमारी पार्श्वकुमार के प्रति पूर्वराग से ग्रस्त हो गई। उसने मन में संकल्प धारण कर लिया कि वह विवाह करेगी तो उसी राजकुमार से अन्यथा आजन्म अविवाहित ही रहेगी। कोमल मन ने इसकी अभिव्यक्ति सखियों के सम्मुख की और राजकुमारी की हितैषी उन सखियों ने यह संवाद राजा प्रसेनजित तक पहुॅंचा दिया। अब प्रयत्न प्रारम्भ हुए। महाराजा स्वयं वाराणसी नरेश महाराजा अश्वसेन के समक्ष इस प्रार्थना के साथ पहुंचना ही चाहते थे कि एक संकट आ उपस्थित हुआ।

कलिंग में उन दिनों यवनराज का शासन था। वह अपने युग का एक शक्तिशाली शासक था। यवनराज ने जब राजकुमारी के रूप-गुण की ख्याति सुनी, तो उसे प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठा। उसने महाराज प्रसेनजित को सन्देश भिजवाया कि प्रभावती का हाथ मेरे हाथ में दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। इस धमकी से राजा प्रसेनजित विचलित हो गए। यवनराज की शक्ति के दबाव में भी भला राजा अपनी कन्या उसे कैसे दे देते? अब उनके पास अन्य शासकों से सहायता की याचना करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था। उन्होंने अपना दूत महाराजा अश्वसेन के दरबार में भेजा। दूत ने सारी कथा प्रस्तुत कर दी। राजकुमारी के मन में पार्श्वकुमार के प्रति प्रेम का जो प्रबल भाव था, दूत ने महाराजा अश्वसेन को उससे भी अवगत करा दिया और प्रार्थना की कि संकट की इस घड़ी में कुशस्थल की स्वाधीनता और राजकुमारी प्रभावती के धर्म की रक्षा कीजिए।

महाराजा अश्वसेन को यवनराज का यह अनीतिपूर्ण दुराग्रह उत्तेजित कर गया। उन्होंने दूत को महाराजा प्रसेनजित की सहायता करने का आश्वासन देकर विदा किया और युद्ध की तैयारी का आदेश दे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दिया। तुरन्त ही सैन्यदल शस्त्रों से सुसज्जित होकर प्रयाण के लिए तत्पर हो गया। महाराजा स्वयं इस विशालवाहिनी का नेतृत्व करने के लिए प्रस्थान कर ही रहे थे कि युवराज पार्श्वकुमार उपस्थित हुए और उन्होंने विनयपूर्वक निवेदन किया कि युवा पुत्र के होते हुए महाराजा को यह कष्ट न करना होगा। मुझे आदेश दीजिए, मैं यवन-सेना का दलन करने की पूर्ण क्षमता रखता हूँ। मेरे भुजबल के परीक्षण का उचित अवसर आया है। कृपया यह दायित्व मुझे सौंपिये। अश्वसेन ने अपने पुत्र का सामर्थ्य देखकर सहर्ष उसे जाने की अनुमति दे दी। इधर शक्रेन्द्र ने अपने सारथी को शस्त्र आदि से सज्जित रथ देकर पार्श्वकुमार की सेवा में भेजा। पार्श्वकुमार उसी रथ में बैठकर गगन मार्ग से कुशस्थलपुर की तरफ चले। चतुरंगिणी सेना उनके पीछे-पीछे जमीन पर चल रही थी।

वाराणसी से प्रस्थान करते ही पार्श्वकुमार ने एक दूत के साथ अपना संदेश यवनराज के पास भेजा। यवन राजा ने प्रत्युत्तर में कहा—ओ दूत अपने दुधमुंहे पार्श्वकुमार से कहो कि वह इस युद्धाग्नि से दूर रहे अन्यथा असमय में ही मारा जाएगा।

दूत लौट गया। पार्श्वकुमार ने उसे दुबारा भेजा। दूत की बात सुनकर कुछ दरबारी उत्तेजित हुए, किन्तु वृद्धमंत्री ने उन्हें शांत करते हुए कहा—'पार्श्वकुमार की महिमा हम अन्य सूत्रों से भी सुन चुके हैं। देवेन्द्र उनकी सेवा में हैं, देवों को जीत सकें, यह हमारे में सामर्थ्य नहीं है। हमें अपनी सेना और इज्जत को नहीं गंवाना चाहिए।' यवन राजा को यह बात जच गई। देवेन्द्र द्वारा प्रदत्त गगनगामी रथ का भी उस पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने तुरन्त युद्ध का विचार त्याग दिया और पार्श्व के सम्मुख जाकर सेवा साधने लगा।

महाराजा प्रसेनजित तो अतिशय आभारी थे ही। उन्होंने समस्त राज्य की ओर से कुमार के प्रति धन्यवाद करते हुए उनका अभिनन्दन किया। उन्होंने राजकुमार से अपनी कन्या प्रभावती के साथ पाणिग्रहण का भी प्रबल आग्रह किया। राजकुमारी के दृढ़ प्रेम से अवगत होकर पार्श्वकुमार विचित्र समस्या से ग्रस्त हो गए। वे कुशलस्थल की सुरक्षा के लिए आए थे; विवाह के लिए नहीं। इस नए कार्य के लिए पिता की अनुमति अपेक्षित थी और कुमार ने इसी आशय का उत्तर दिया।

महाराज प्रसेनजित अपनी पुत्री के साथ वाराणसी पहुँचे और उन्होंने महाराजा अश्वसेन से आग्रहपूर्वक निवेदन किया। उस समय कुमार की भव्य सफलता के उपलक्ष्य में राजधानी में उल्लास के साथ समारोह मनाए जा रहे थे। यद्यपि कुमार, जो मन से विरक्त थे, विवाह के चक्र में पड़ना नहीं चाहते थे। किन्तु अपने पिता के आदेश का पालन करते हुए उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी और समारोहों में एक नवीन आकर्षण आ गया। अनुपम उत्साह के साथ राजकुमार पार्श्वनाथ और राजकुमारी प्रभावती का परिणयोत्सव सम्पन्न हुआ। किन्तु पार्श्वकुमार ने राजा का पद स्वीकार नहीं किया।

2.5 रूढ़ परम्परा पर कुठाराघात

पार्श्वकुमार एक बार महल से नगर का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि नागरिकों की अपार भीड़ एक ही दिशा में जा रही है। अनुचर से पता चला—उद्यान में कमठ नामक एक घोर तपस्वी आए हुए हैं। पंचाग्नि तपते हैं, लोग उन्हीं के दर्शनार्थ जा रहे हैं। कुतूहलवश पार्श्वकुमार भी वहाँ गये। अग्नि ज्वाला आकाश को छू रही थी, बड़े-बड़े लक्कड़ जल रहे थे। पार्श्व ने अवधिज्ञान से जलते हुए लकड़ों में एक नाग-दम्पति को देखा। उन्होंने तत्काल तपस्वी से कहा—धर्म तो अहिंसा में है, अहिंसा विहीन धर्म कैसा? तुम तो पंचाग्नि तप रहे हो। इसमें तो एक नाग और नागिनी जल रहे हैं। तपस्वी के प्रतिकार करने पर पार्श्व ने लक्कड़ को चिरवाया। उसमें से जलते हुए नाग दम्पति बाहर आकर तड़फड़ाने लगे। पार्श्व ने उन्हें नमस्कार महामंत्र सुनाया तथा तपस्वी पर क्रोध न करने की सलाह दी। उसी समय दोनों के प्राण छूट गये। मरकर वे नागकुमार देवों के इन्द्र व इन्द्राणी—धरणेन्द्र व पद्मावती के नाम से उत्पन्न हुए। राजकुमार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पार्श्व द्वारा अज्ञान-तपस्या का पर्दाफाश करना उस युग में प्रचलित रूढ परम्पराओं पर एक कुठाराघात था। पार्श्व ने जनता के समक्ष इस सत्य को उजागर कर दिया कि हिंसा, अज्ञान आदि के द्वारा आत्म-हित नहीं सध सकता। इनके क्रांतिकारी विचारों से जनता ने सत्य-परक धर्म को समझा। परिणामस्वरूप तापस का प्रभाव घट गया। चारों ओर उसका तिरस्कार होने लगा। उसने क्रुद्ध होकर अनशन कर लिया। मरकर वह मेघमाली देवता बना।

2.6 दीक्षा एवं साधना

भोगावली कर्मों के परिपाक की परिसमाप्ति पर भगवान् पार्श्व दीक्षा के लिए उद्यत हुए। लोकांतिक देवों ने आकर उनसे जन-कल्याण के लिए निवेदन किया। वर्षीदान देकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन भगवान ने सौ व्यक्तियों के साथ वाराणसी के आश्रमपद उद्यान में पंचमुष्ठि लोच किया। देव और मनुष्यों की भारी भीड़ के बीच सावद्य योगों का सर्वथा त्याग किया। उस दिन प्रभु के अट्ठम तप (तेला) था। दूसरे दिन उद्यान से विहार कर कोपकटक सन्निवेश में पधारे, वहाँ धन्य गाथापति के घर पर परमान्न से पारणा किया। देवों ने देव-दुंदुभि द्वारा दान का महत्त्व बताया।

भगवान् अब वैदेह बनकर विचरने लगे। अभिग्रहयुक्त साधना में संलग्न हुए। विचरते-विचरते वे शिवपुरी नगरी में पधारे। वहाँ कोशावन में ध्यानस्थ खड़े हो गये। कुछ समय बाद प्रभु वहाँ से विहार कर आगे तापसाश्रम में पहुँचे तथा वहीं पर वटवृक्ष के नीचे ध्यान-मुद्रा में खड़े हो गये।

इधर 'कमठ' तापस ने मेघमाली देव होने के बाद अपने विभंग ज्ञान से भगवान पार्श्व को देखा। देखते ही पूर्वजन्म का वैर जाग पड़ा। भगवान् को कष्ट देने के लिए वहाँ आ पहुँचा। पहले तो उसने शेर, चीता, व्याघ्र, विषधर आदि के रूप बनाकर भगवान को कष्ट दिये। किन्तु प्रभु मेरु की भांति अडोल बने रहे। अपनी विफलता से देव और अधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने मेघ की विकुर्वणा की। चारों और घनघोर घटाएं छाने लगीं। देखते-देखते मुसलाधार पानी पड़ने लगा। बढ़ता-बढ़ता वह घुटनों, कमर, छाती को पार करता हुआ नासाग्र तक पहुँच गया। फिर भी प्रभु अडोल थे। तभी धरणेन्द्र का आसन कंपित हुआ। अवधिज्ञान से उसने भगवान् को पानी में खड़ा देखा। सेवा के लिए तत्काल दौड़ आया। वन्दन करके उसने प्रभु के पैरों के नीचे एक विशाल नाल वाला पद्म (कमल) बनाया। स्वयं ने सात फणों का सर्प बनकर भगवान के उपर छत्री कर दी। प्रभु के तो समभाव था, न कमठ पर रोष और न धरणेन्द्र पर अनुराग। कमठासुर देव फिर भी बारिश करता रहा। धरणेन्द्र ने फटकार कर कमठ से कहा—प्रभु तो समता में लीन है और तू अधमता के गर्त में गिरता ही जा रहा है।

धरणेन्द्र की फटकार से कमठ भयभीत हुआ। अपनी माया समेट कर प्रभु से क्षमायाचना करता हुआ चला गया। उपसर्ग शांत होने पर धरणेन्द्र भी भगवान की स्तुति कर लौट गया।

भगवान ने तयासी रातें इसी प्रकार अभिग्रह और ध्यान में बिताई। चैत्र कृष्णा चतुर्थी को चौरासीवें दिन उन्होंने आश्रमपद उद्यान में धातकी वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए क्षपक श्रेणी ली। घातिक-कर्मों को क्षय कर केवलत्व को प्राप्त किया।

2.7 चातुर्याम धर्म की स्थापना

देवेन्द्र ने केवल महोत्सव किया। समवसरण की रचना की। वाराणसी के हजारों लोग सर्वज्ञ भगवान् के दर्शनार्थ आ पहुँचे। प्रभु ने प्रवचन दिया। उनके प्रथम प्रवचन में ही तीर्थ की स्थापना हो गई। अनेक व्यक्तियों ने अगार व अनगार धर्म को स्वीकार किया।

भगवान पार्श्व ने मुनि के लिए चातुर्याम (चार महाव्रत) का निरूपण किया। वे इसके अंतिम निरूपक थे। इसके पश्चात् भगवान महावीर ने पांच महाव्रत रूप धर्म की स्थापना की। अतः पार्श्वनाथ का धर्म 'चातुर्याम-धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर पांच महाव्रत रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संयम धर्म का प्रवर्तन करते हैं। शेष बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म के प्ररूपक होते हैं। 'चातुर्याम' और 'पंचयाम' भी शब्द-भेद ही हैं। साधना दोनों की समान है। चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को पृथक् याम (महाव्रत) नहीं माना गया, किंतु ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह के अन्तर्गत ले लिया गया। चातुर्याम धर्म का विकास ही पंच महाव्रत धर्म है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ के समय तक सामाजिक जीवन में स्त्री एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में नहीं मानी जाती थी, वह परिग्रह का ही एक अंग थी। साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां स्त्री को परिग्रह के अन्तर्गत रखा गया है। महाकवि कालिदास ने **'रघुवंश'** में महाराज दिलीप के लिए पत्नी सहित होने के कारण **'सपरिग्रहः'** शब्द का प्रयोग किया है। **'कुमारसंभव'** में कहा गया है कि महादेव अपनी प्रथम पत्नी सती के स्वर्गवास के बाद से पार्वती के साथ परिणय होने तक अपरिग्रही रहे।

जैन आगम **स्थानांग सूत्र** में भी अपरिग्रह की व्याख्या करते हुए लिखा है—बहिद्धा का अर्थ है मैथुन अर्थात् परिग्रह-विशेष। परिग्रह में मैथुन का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि अपरिग्रहीत स्त्री का उपभोग नहीं किया जाता। जैन आगम उत्तराध्ययन में पार्श्वनाथ के शिष्य केशी और महावीर के शिष्य गौतम के परिसंवाद का विस्तृत वर्णन है।

2.8 अप्रतिहत प्रभाव

भगवान् पार्श्व का प्रभाव मिश्र, ईरान, साइबेरिया, अफगानिस्तान आदि सुदूर देशों में भी गहरा फैला हुआ था। तद्युगीन राजा तथा लोग पार्श्व के धर्म की उपासना विशेष रूप से करते थे। प्रसिद्ध चीनीयात्री ह्वेनसांग ने जब उन प्रदेशों की यात्रा की, तो वहाँ उसने अनेक निर्ग्रन्थ मुनियों को देखा था। महात्मा बुद्ध का काका स्वयं भगवान पार्श्वनाथ का श्रमणोपासक था। दक्षिण में भी पार्श्व के अनुयायी पर्याप्त मात्रा में थे। उस समय के सभी धर्म-सम्प्रदायों पर पार्श्व की साधना-पद्धति का विशेष प्रभाव था। उनके शासनकाल में आर्य शुभदत्त, आर्य हरिदत्त, आर्य समुद्रसूरि, आर्य केशी श्रमण जैसे प्रतिभाशाली व महाप्रभावक आचार्य हुए।

2.9 निर्वाण

विभिन्न प्रदेशों की पदयात्रा करके भगवान ने लाखों लोगों को मार्गदर्शन दिया। अन्त में वाराणसी से आमलकल्पा आदि विभिन्न नगरों में होते हुए प्रभु सम्मेदशिखर पर पधारे। तेतीस चरम शरीरी मुनियों के साथ अंतिम अनशन किया। ई.पू. 877 में सावन शुक्ला अष्टमी को एक मास के अनशन में चार अघाति कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त किया। देवों, इन्द्रों, मनुष्यों एवं राजाओं ने मिलकर भगवान के पार्थिव शरीर का अंतिम संस्कार किया।

2.10 पार्श्वनाथः ऐतिहासिक सन्दर्भ

भगवान पार्श्वनाथ के परम्परागत जीवन-वृत्त को जानने के पश्चात् अब हम ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनके विषय में जो जानकारी उपलब्ध है उसकी मीमांसा करें। सर्वप्रथम हम प्रसिद्ध इतिहास लेखक डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के विचारों का अवलोकन करें। उन्होंने अपने ग्रंथ **भारतीय इतिहासः एक दृष्टि** में ठोस ऐतिहासिक आधारों पर शोध कर जो मन्तव्य प्रस्तुत किया है, वह सचमुच मननीय है। यहाँ उनके मन्तव्य को हम यथावत् प्रस्तुति दे रहे हैं।

2.11 उत्तरवैदिक काल या उपनिषद्-युग

नेमिनाथ के उपरान्त श्रमण पुनरुत्थान आन्दोलन के दूसरे महान् नेता तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। ये काशी के राजकुमार थे और उरगवंश में इनका जन्म हुआ था। यह वही वंश था जिसमें इसी युग का ऐतिहासिक चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्त हुआ था। डॉ. रायचौधरी के अनुसार काशी इस काल में भारत का सर्वप्रमुख राज्य था और **शतपथ ब्राह्मण** के अनुसार काशी के ये राजा वैदिक धर्म और यज्ञों के विरोधी थे। तीर्थंकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पार्श्व की माता का नाम वामादेवी था और उनके पिता काशी नरेश महाराजा अश्वसेन थे। प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति में इनका 'असभ' नाम से उल्लेख हुआ है तथा महाभारत आदि में अश्वसेन नामक एक प्रसिद्ध तत्कालीन नाग नरेश का उल्लेख मिलता है। पार्श्व का जन्म ई.पू. 877 में हुआ था। ये बालब्रह्मचारी रहे।

बाल्यावस्था से ही इनके हृदय में संसार एवं भोगों के प्रति विराग तथा जीव मात्र के प्रति करुणा का भाव था। तीस वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने घर का त्याग करके वन की राह ली। कुछ काल दुर्द्धर तपश्चरण करने के फलस्वरूप इन्हें केवलज्ञान एवं अर्हन्त पद की प्राप्ति हुई। तदनन्तर शेष जीवन इन्होंने देश-देशान्तर में विहार करके धर्म का प्रचार करने में बिताया। अन्त में एक सौ वर्ष की आयु में ई. पू. 777 में इन्होंने बिहार प्रदेश में स्थित सम्मेदशिखर पर्वत में निर्वाण लाभ किया। वह पर्वत आज पर्यन्त पारसनाथ पर्वत के नाम से विख्यात है। बरेली जिले का प्राचीन अहिच्छत्र नामक स्थान पार्श्वनाथ की विशिष्ट तपस्याभूमि रही थी। पार्श्वनाथ का विशिष्ट लाञ्छन नाग है। इनका वर्ण श्याम रहा बताया जाता है। अतः इनकी अधिकांश प्रतिमाएं श्याम वर्ण एवं शिर के ऊपर छत्राकार नागफण से युक्त पायी जाती हैं। इनकी ऐतिहासिकता में अब किसी भी विद्वान को कोई संदेह नहीं है, यद्यपि कुछ एक का यह आग्रह बना हुआ है कि पार्श्व ही जैनधर्म के प्रवर्तक थे अथवा कम से कम यह कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर ऐतिहासिक परिधि से बाहर हैं; अतः उनके अस्तित्व के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

तीर्थंकर पार्श्व का जन्म उत्तर-वैदिककाल, उपनिष्‌दयुग, श्रमण-पुनरुद्धार युग अथवा नाग-पुनरुत्थान युग आदि विभिन्न नामों से सूचित महाभारत एवं महावीर और बुद्ध के मध्यवर्ती (1400-600 ई.पू.) काल के प्रायः तृतीय पाद में हुआ। अतः उस युग के सांस्कृतिक इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म स्वयं उरगवंश में हुआ था जो नाग जाति की ही एक शाखा थी। अतः उस काल में पुनः जागृत नाग लोगों में उनके धर्म का प्रचार अत्यधिक रहा। उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रबल नागसत्ताएँ राजतंत्रों अथवा गणतंत्रों के रूप में उदित हो चुकी थी और इन लोगों के इष्ट देवता पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशों के अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी इन्हीं के उपासक थे। लिच्छवि आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पार्श्व का धर्म ही लोकधर्म था।

करकंडु चरित के नायक कलिंग के शक्तिशाली नरेश करकंडु भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ये तीर्थंकर पार्श्व के तीर्थ में ही उत्पन्न हुए थे और उन्हीं के उपासक तथा उस युग के आदर्श नरेश थे। राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप में इन्होंने तपस्या की और सद्‌गति प्राप्त की बतायी जाती है। तेरापुर आदि की गुफाओं में प्राप्त पुरातात्विक चिह्न से तत्संबंधी जैन अनुश्रुति प्रमाणित होती है। इनके अतिरिक्त पांचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ-नरेश भीम और गन्धार-नरेश नागजित या नागाति, तीर्थंकर पार्श्व के अनुयायी अन्य तत्कालीन नरेश थे।

डॉ. चार्ल सारपेण्टियर के अनुसार 'जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रमुख तत्त्व महावीर से बहुत पूर्व, पार्श्वनाथ के समय से ही व्यवस्थित रहे आये प्रतीत होते हैं।' प्रो. हर्म्सवर्थ के अनुसार गौतम बुद्ध के समय से पूर्व ही पार्श्वनाथ-द्वारा स्थापित जैनसंघ, जो निर्ग्रन्थ संघ कहलाता था, एक विधिवत् सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय था। प्रो. रामप्रसाद चांद का कथन है कि 'यह आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि महावीर से पहले भी जैन साधु विद्यमान थे जो पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित संघ से संबंधित थे। उनके अपने चैत्य भी थे।' डॉ. विमलाचरण लाहा भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं और कहते हैं कि महावीर के उदय के पूर्व भी वह धर्म जिसके कि वे अन्तिम उपदेशक थे वैशाली तथा उसके आस-पास के प्रदेशों में अपने किसी पूर्वरूप में प्रचलित रहा प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कम से कम उत्तरी एवं पूर्वी भारत के कितने ही क्षत्रियजन, जिनमें कि वैशाली-निवासियों की प्रमुखता थी, पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित एवं प्रचारित धर्म के अनुयायी थे। **आचारांग सूत्र** आदि से पता चलता है कि महावीर के माता-पिता पार्श्व के उपासक एवं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रमणों के अनुयायी थे। इसी प्रकार प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार का भी कथन है कि अथर्ववेद में भी जिन व्रात्यों का उल्लेख है वे अर्हतों और चैत्यों के उपासक थे। ये अर्हत और उनके चैत्य बुद्ध के समय के बहुत पहले से विद्यमान थे। अभी तक आधुनिक पर्यालोचकों ने केवल तीर्थंकर पाश्र्व की ही ऐतिहासिकता स्वीकार की है। अन्य पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के वृत्तांत पौराणिक गाथाओं में इतने उलझे हुए हैं कि उनका अभी तक पुनर्निर्माण नहीं हो पाया। तथापि इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि महावीर और बुद्ध के पहले भी भारतवर्ष में वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न धर्म विद्यमान थे।

यही नहीं, अपितु इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि पार्श्व की मान्यता विदेशों में भी पहुँची। प्रो. बील ने सन् 1885 ई. में रायल एशियाटिक सोसायटी के समक्ष अपने एक कथन में बताया था कि शाक्यमुनि गौतम द्वारा बौद्ध धर्म प्रवर्तन के बहुत पूर्व मध्य एशिया में उससे मिलता-जुलता धर्म प्रचलित था। सर हेनरी रालिन्सन के अनुसार मध्य एशिया के वल्ख नगर का नव्यविहार तथा ईंटों से बने अन्य स्मारकीय अवशेष वहाँ 'काश्यप' का जाना सूचित करते हैं। काश्यप एक प्रसिद्ध प्राचीन जैन मुनि का नाम तथा कई प्राचीन तीर्थंकरों का गोत्र तो था ही, वह स्वयं पार्श्वनाथ का भी गोत्र नाम था। **आदि-पुराण** के अनुसार जिस उरगवंश में पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था, उसका संस्थापक कश्यप अपरनाम मघवा था। अत: तीर्थंकर पार्श्व काश्यप-गोत्री थे और संभवत: अपने गोत्र नाम 'काश्यप' से भी प्रसिद्ध थे। मध्य एशिया का कियापिशि नगर कैस्पिया भी कहलाता था और सम्भवतया इसी आधार पर 7वीं शती ई. में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने तथा उसके भी लगभग एक सहस्त्र वर्ष पूर्व सिकन्दर के यूनानी साथियों ने इस नगर में बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ साधु देखे थे। अतएव इसकी पूरी सम्भावना है कि महावीर के पूर्व भी मध्य एशिया के कैस्पिया, अमन, समरकन्द, बल्ख आदि नगरों में जैनधर्म प्रचलित था। छठी-पांचवीं शती ई. पू. में होने वाले यूनानी इतिहास के जनक हेरोदोतस ने अपने ग्रन्थ में एक ऐसे भारतीय धर्म का उल्लेख किया है जिसमें सर्व प्रकार का मांसाहार वर्जित था और जिनके अनुयायी मात्र अन्नभोजी थे। ई. पू. 580 में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक पैथेगोरस, जो स्वयं महावीर और बुद्ध का समकालीन था, जीवात्मा के पुनर्जन्म एवं आवागमन में तथा कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करता था, सर्व प्रकार की जीव हिंसा तथा मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देता था, यहाँ तक कि कतिपय वनस्पतियों को भी धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य मानता था। उसका यह भी दावा था कि वह अपने पूर्व जन्मों का वृत्तान्त भी स्मृतियों से बता सकता था। लघु एशिया के इस सम्प्रदाय के विचारक आयोनियन या आरफिक दार्शनिक कहलाते थे। आत्मा के समक्ष ये देह को हेय और नाशवान समझते थे। उपर्युक्त विचारों का बौद्धधर्म या ब्राह्मण धर्म में से कोई सादृश्य नहीं है जबकि वे जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखते हैं। और क्योंकि ये मान्यताएँ सुदूर यूनान एवं एशिया माइनर में उस काल में प्रचलित थीं जबकि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मों का प्रचार प्रारम्भ ही कर रहे थे, अत: पैथेगोरस आदि पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित रहे प्रतीत होते हैं।

मेजर जनरल फर्लांग का कथन है कि लगभग 1500 से 800 ई. पू. पर्यन्त, बल्कि उसके बहुत पूर्व अनिश्चित काल से सम्पूर्ण उत्तर, पश्चिम तथा मध्य भारत में तूरानियों का जिन्हें सुविधा के लिए द्रविड़ कहा जाता है, प्रभुत्व रहता रहा था। उनमें वृक्ष, नाग, लिंग आदि की पूजा प्रचलित थी, किन्तु उसके साथ ही साथ उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक ऐसा अति व्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप प्रधान धर्म, अर्थात् जैनधर्म, अवस्थित था जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्मो के संन्यासमार्ग बाद में विकसित हुए। आर्यों के गंगातट क्या सरस्वती तटपर पहुँचने के पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख संत अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे। उनके उपरांत 8वीं-9वीं शती ई. पू. में 23वें तीर्थकर पार्श्व हुए और उन्हें अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिये हुए पहले हो चुके थे, उन्हें उन अनेक धर्मशास्त्रों का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहलाते थे और जो सुदीर्घ काल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा में मौलिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे।'

कुछ लोग पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं और इसका कारण यह बताया जाता है कि उनके द्वारा उपदेशित महाव्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत की गणना नहीं थी, केवल अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह ही थे और भगवान् महावीर ने उनमें ब्रह्मचर्य को सम्मिलित करके व्रतों की संख्या पांच कर दी। कुछ आधुनिक विद्वान् भ्रमवश यह भी कथन कर देते हैं कि वर्तमान श्वेताम्बर सम्प्रदाय मूल में पार्श्व की शिष्य परम्परा के विचारों से प्रभावित है जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय महावीर की आम्नाय है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पार्श्व की शिष्य परम्परा के साधु महावीर एवं बुद्ध के समय तक विद्यमान थे। गौतम-केशी संवाद की घटना इस बात की सूचक है कि पार्श्व परम्परा के महावीरकालीन साधु कतिपय बातों में महावीर के उपदेश से मतभेद रखते थे अतः उनके नेता केशी का महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर के साथ विचार विमर्श हुआ और फलस्वरूप वे मतभेद परित्याग कर दिये गये। एक ऐसी भी अनुश्रुति है कि बौद्ध धर्म के मूल प्रवर्तक बुद्धकीर्ति तथा उनके साथी सारिपुत्त एवं मौद्गलायन आदि प्रारम्भ में पार्श्व की परम्परा के ही साधु थे, ये बुद्धकीर्ति स्वयं गौतम बुद्ध थे अथवा उनके कोई जैन गुरु, यह कहना कठिन है।

2.12 भगवान पार्श्व की ऐतिहासिकता : विद्वानों की दृष्टि में

डॉ. हर्मन जेकोबी ने भगवान पार्श्व को ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित किया।[1] फिर इस विषय की पुष्टि अनेक विद्वानों ने की। डॉ. बासम का अभिमत है 'भगवान महावीर बौद्ध-पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में अंकित किए गए हैं इसलिए उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। भगवान् पार्श्व चौबीस तीर्थंकरों में से तेईसवें तीर्थंकर के रूप में प्रख्यात थे।'[1]

डॉ. बिमलाचरण लॉ के अनुसार भगवान् पार्श्व के धर्म का प्रचार भारत के उत्तरवर्ती क्षत्रियों में था। वैशाली उसका मुख्य केन्द्र था।[2] वृज्जिगण के प्रमुख महाराजा चेटक भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे।[3] भगवान महावीर के माता-पिता भी भगवान् पार्श्व के धर्म का पालन करते थे।[4] कपिलवस्तु में भी पार्श्व का धर्म फैला हुआ था। वहाँ न्यग्रोधाराम में शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक 'वप्प' के साथ बुद्ध का संवाद हुआ था।[5] भगवान् महावीर से पूर्व जैन-धर्म के सिद्धान्त स्थिर हो चुके थे।

डॉ. चार्ल सरपेंटियर ने लिखा है-हमें दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिए कि जैन धर्म निश्चित रूपेण महावीर से प्राचीन है; उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चित रूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके है एवं परिणाम स्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र रूप धारण कर चुकी होगी।[6]

इसी तरह प्रसिद्ध विद्वान राधाकमल मुखर्जी लिखते हैं—पार्श्व जो कि सम्भवतः एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, बनारस के एक राजा के पुत्र थे। वे चातुर्याम धर्म को मानते और उसका प्रचार करते थे। यह धर्म महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म से काफी सादृश्य रखता था।[7]

---

1 The Sacred Books of the East, Vol XLV, Introduction p. 21: "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable;...."

1 The Wonder that was India (A.L. Basham.), Reprinted 1956,pp. 287-88.
"As he (Vardhamana Mahavira) is referred to in the Buddhist scriptures as one of the Buddha"s chief opponents, his historicity is beyond doubt. ..... Parsva was remembered as the twenty-third of the twenty-four great teachers or Tirthankaras "ford-makers" of the Jaina faith."

2 Kshatriya Clans in Buddhist India, P. 82.

3 उपदेशमाला, 'लोक 92: वेसालीए पुरीए सिरिपासजिणेससासणसणाहो।
हेहयकुलसंभूओ चेडगनामानिवोअसि ।।

4 आचारांग, 2।3।401।

5 अंगुत्तर निकाय, चतुष्कनिपात, महावर्ग वप्पसुत्त, भाग 2, पृ. 210-213 ।

6 The Uttaradhyayana Sutra, Introduction p. 21:
"We ought also to remember both that the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real person, and that, consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira".

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जैनों के 24 तीर्थंकरों में से वर्धमान और उनके पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ के अस्तित्व को इतिहासज्ञ स्वीकार करने लगे हैं।

गौतम बुद्ध और वर्द्धमान महावीर से पूर्ववर्ती पुरूष के रूप में पार्श्व का उल्लेख करते हुए बताया गया है—'नातपुत्त (श्रीमहावीर वर्द्धमान) के पूर्वगामी उन्हीं की मान्यता वाले अनेक तीर्थंकरों में उनका (जैनों का) विश्वास है और इनमें से अंतिम पार्श्व या पार्श्वनाथ के प्रति विशेष श्रद्धा व्यक्त करते हैं। उनकी यह मान्यता ठीक भी है क्योंकि अंतिम व्यक्ति पौराणिक से अधिक है। वह वस्तुतः जैन-धर्म के राजवंशी संस्थापक थे जबकि उनके अनुयायी महावीर कई पीढियों से उनसे छोटे थे और उन्हें मात्र सुधारक ही माना जा सकता है। गौतम के समय में ही पार्श्व द्वारा स्थापित 'निग्गन्थ' नाम से प्रसिद्ध धार्मिक संघ एक पूर्व संस्थापित सम्प्रदाय था और बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार उसने बौद्ध-धर्म के उत्थान में अनेक बाधाएं डाली।'[8]

भगवान पार्श्व का व्यक्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणित होने पर यह प्रश्न उठा—'क्या पार्श्व ही जैन-धर्म के प्रवर्तक थे?' इसके उत्तर में डॉ. हर्मन जैकोबी ने लिखा है—'किन्तु यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नहीं है कि पार्श्व जैन-धर्म के संस्थापक थे। जैन-परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर (आद्यसंस्थापक) बताने में सर्वसम्मत है। परम्परा में कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है जो उन्हें प्रथम तीर्थंकर मान्य करती है।'[1]

2.13 तीर्थंकर पार्श्व के चातुर्याम धर्म की ऐतिहासिकता

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से 250 वर्ष पहले हुआ। भगवान महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाज-व्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान पार्श्व अहिंसक-परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमें 'पुरिसादाणीय'[2]—पुरुषादानीय विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्व की परम्परा विद्यमान थी, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। पार्श्व की परम्परा के अनुयायियों की मान्यता को भगवान् महावीर ने सही बताया। धर्मानन्द कौसम्बी ने भगवान् पार्श्व के बारे में कुछ मान्यताएं प्रस्तुत की हैं:

"परीक्षित का राज्य-काल बुद्ध से तीन शताब्दियों के पूर्व नहीं जा सकता। परीक्षित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरु देश में महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी-देश में पार्श्व एक नई संस्कृति की नींव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर में अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रंथों में आयी है। पार्श्व की नई संस्कृति काशी राज्य में अच्छी तरह टिकी रही होगी, क्योंकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यों को खोजने के लिए वाराणसी ही जाना पड़ा था। पार्श्व का धर्म बिलकुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह—इन चार बातों के त्याग करने का वे उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला उदाहरण है।

---

7 The Culture and Art of India(1959) pp. 77: "Parsva, who was probably a historical figure, the son of a King of Banarasa, practised and preached a religion of Four Vows that greatly resembled the faith of Mahavira."

8 Harmsworth History of the word, Vol. II, p. 1198:
"They, the Jainas believe in a great number of prophets of their faith anterior of nataputta (Mahavira Vardhamaana) and pay special reverence to the last of these, Parsva or Parswa Natha. Herein they are correct, in so far as the latter personality is more than mythical. He was indeed the royal founder of Jainism (776 B.C.) while his successor Mahavira was younger by many generations and can be considered only as a reformer. As early as the time of Gotama, the religious confraternity founded by parsva and known as the Nirgrantha, was a formally established sect, and according to the Buddhist chronicles, threw numerous difficulties in the way of the rising Buddhism".

1 Indian Antiquary, Vol IX, P.163.
"But there is nothing to prove that Parswa was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rsabha, the first Tirthankara, as its founder. There may be someting historical in the tradition which makes him the first Tirthankara".

2 ठाणं, 6/78 आदि-आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दस आज्ञाएं सुनाईं, उनमें हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुनकर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइन में घुसे और वहाँ खून की नदियां बहाईं। न जाने कितने लोगों को कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियों को पकड़कर आपस में बांट लिया। इन बातों को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाए? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नहीं।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही सीमित थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, अब वह इन नियमों के संबंध से सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई। पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था। पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उनका त्याग करके जंगलों में तपस्या करने वालों के संघ भी थे। तपस्या का एक अंग समझकर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे पर समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

2.14 सारांश

बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और बाद में यज्ञ-याग से ऊबकर जंगलों में जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे—ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखने वाले तीसरे प्रकार के संन्यासी थे और उन लोगों में पार्श्व मुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिए।"[1] जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजितनाथ और अंतिम प्रवर्तक भगवान पार्श्व हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक चातुर्याम धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान ऋषभ और भगवान् महावीर ने पांच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। निर्ग्रन्थ श्रमणों के संघ भगवान् ऋषभ से ही रहे हैं, किन्तु वे वर्तमान इतिहास की परिधि से परे हैं। इतिहास की दृष्टि से कौसम्बीजी की संघबद्धता सम्बन्धी धारणा सही है।

2.15 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भगवान् पार्श्व की ऐतिहासिकता पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पार्श्वकुमार ने नाग-युगल का उद्धार कैसे किया?
2. 'चातुर्याम धर्म' से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पार्श्वनाथ का समय भगवान् महावीर से पहले था—
   अ. लगभग 300 वर्ष ब. लगभग 250 वर्ष स. लगभग 200 वर्ष स. लगभग 350 वर्ष
2. पार्श्वनाथ की माता का नाम था— अ. वामा देवी ब. त्रिशला
   स. भगवती देवी द. इनमें से कोई नहीं
3. प्रभावती के पिता का नाम था—अ. अजातशत्रु ब. बिम्बसार स. प्रसेनजित द. चन्द्रगुप्त
4. पंचाग्नि तपने वाले तपस्वी थे—अ. इन्द्र ब. यक्ष स. सिंहरथ द. कमठ
5. 'प्रभु तो समता में लीन हैं और तू अधमता में गिरता जा रहा है।' यह
   कहा था—अ. कमठ ने ब. धरणेन्द्र ने स. मेघमाली ने द. इनमें से कोई नहीं
6. चातुर्मास धर्म का निरूपण किया—
   अ. ऋषभदेव ने ब. महावीर ने स. पार्श्वनाथ ने द. इनमें से कोई नहीं
7. केशी शिष्य थे—अ. पार्श्वनाथ के ब. महावीर के स. ऋषभदेव के द. इनमें से किसी के नहीं
8. पार्श्वनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया—अ. वाराणसी में ब. सारनाथ में स. सम्मेदशिखर पर
   द. इनमें से कहीं नहीं
9. पार्श्वनाथ थे—अ. नागवंश के ब. उरगवंश के स. नन्दवंश के द. इनमें से कोई नहीं
10. किस पाश्चात्य विद्वान ने भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित किया है—
    अ. डॉ. जेलर ब. डॉ. हर्मन जैकोबी स. डॉ. गोम्पर्ज द. इनमें से कोई नहीं।

☆☆☆

[1] पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : (ब) भगवान् महावीर

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 महावीरकालीन भारत : प्रशासनिक परिवेश
2.3 धार्मिक और सामाजिक परिवेश
2.4 महावीर का गर्भ संहरण
2.5 मां त्रिशला द्वारा स्वप्न
2.6 अद्भुत प्रतिज्ञा
2.7 जन्म और नाम गोत्र
2.8 अद्भुत शिशु
2.9 आमलकी क्रीडा
2.10 विद्यार्थी जीवन
2.11 वैराग और प्रव्रज्या
2.12 साधना और सिद्धि
2.13 महावीर और ग्वाला
2.14 ध्यानयोगी महावीर
2.15 शूलपाणि यक्ष और महावीर के दस स्वप्न
2.16 महावीर और चंडकौशिक सर्प
2.17 कटपूतना कृत उपसर्ग : विशिष्ट अवधिज्ञान
2.18 संगम देव कृत उपसर्ग
2.19 संगम द्वारा क्षमा याचना
2.20 चन्दनबाला : दासप्रथा का उन्मूलन
2.21 आदिवासियों के बीच
2.22 केवलज्ञान की प्राप्ति और तीर्थप्रर्वतन
2.23 महावीर और गौतम
2.24 महावीर का परिनिर्वाण
2.25 मौलिक सिद्धान्त
2.26 सारांश
2.27 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

पच्चीस सौ वर्ष पहले का बृहत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। पूर्वी देशों में दो शासन–पद्धतियां चल रही थीं। अंग, मगध, वत्स आदि देश राजतंत्र द्वारा शासित थे। काशी, कौशल, विदेह आदि देशों में गणतंत्र की स्थापना हो चुकी थी। उस समय दो प्रसिद्ध गणतंत्र थे—एक लिच्छवियों का, दूसरा मल्लों का। गणतंत्र राजतंत्र का उत्तर चरण और जनतंत्र की पूर्व पीठिका है। लिच्छवियों ने राज्यशक्ति को संगठित करने के लिए गणतंत्र की स्थापना की। इसकी स्थापना का मुख्य श्रेय विदेह के अधिपति महाराज चेटक को था। इनमें नौ लिच्छवि और नौ मल्ल—इन अठारह राज्यों का प्रतिनिधित्व था। इनमें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विदेह राज्य सबसे बड़ा था। उसकी राजधानी थी वैशाली। वैशाली केवल लिच्छवियों की ही राजधानी नहीं थी, वह संपूर्ण वज्जी संघ की राजधानी थीं।

2.1 उद्देश्य– इस अध्ययन से भगवान महावीर के जीवनदर्शन क बारे में जानकारी हो सकेगी।

2.2 महावीरकालीन भारत : प्रशासनिक परिवेश

वज्जी गणतंत्र में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी। चेटक अर्हंत् पार्श्व के अनुयायी थे। चेटक के पिता का नाम केक, माता का नाम यशोमति तथा पत्नी का नाम पृथा था। वैशाली के निकट कुंडपुर नाम का सन्निवेश था। उसके दक्षिण भाग में ब्राह्मणों की बस्ती थी, इसलिए वह ब्राह्मण कुंडपुर कहलाता था। उसके उत्तरी भाग में क्षत्रियों की बस्ती थी, इसलिए वह क्षत्रीय कुंडपुर कहलाता था। ब्राह्मण कुंडपुर के नायक थे ऋषभदत्त ब्राह्मण और क्षत्रिय कुंडपुर के नायक थे क्षत्रिय सिद्धार्थ। ऋषभदत्त और सिद्धार्थ—ये दोनों ही भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। महाराज केक ने अपनी पुत्री त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ के साथ किया। इस वैवाहिक योग से वैशाली और क्षत्रिय-कुंडपुर के सम्बन्ध प्रगाढ हो गए।

2.3 धार्मिक और सामाजिक परिवेश

भारतवर्ष में श्रमण और वैदिक—इन दोनों धर्मों की स्वतंत्र धाराएं थीं। श्रमणों के अनेक संघ थे। उन संघों के महाप्रज्ञ आचार्य तीर्थंकर कहे जाते थे। वैदिक परम्परा के भी अनेक सम्प्रदाय थे। वैदिक ऋषि ईश्वरवादी थे। उपनिषद् के ऋषि ब्रह्मवादी थे। श्रमणों में भी कुछ आचार्य ईश्वरवादी थे, किन्तु बहुत सारे आत्मवादी और निर्वाणवादी थे।

कुछ आचार्य ध्यान, तप आदि की साधना के द्वारा सत्य के साक्षात्कार का प्रयत्न कर रहे थे। आध्यात्मिक धारा में वीतराग होना अनिवार्य समझा जाता था। शक्ति और मंत्र के साधक वीतरागता को अनिवार्य नहीं मानते थे। वे देवता की संतुष्टि के लिए होने वाली हिंसा को विहित मानते थे। पशुबलि, स्वर्ग के लिए यज्ञ-याग, स्नान द्वारा शुद्धि, पंचाग्नि तप आदि विविध उपक्रम थे। कुछ तपस्वी लोह की नुकीली शूलों की शय्या बनाकर उस पर लेटे रहते थे। उग्र, भोज, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात, कौरव और द्राविड़ ये जातियां श्रमण धर्म की अनुयायी थीं। ब्राह्मण जाति वैदिक धर्म की अनुयायी थी।

ईस्वी पूर्व नौवीं शताब्दी में जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व ने अहिंसा के अभियान को बहुत गतिशील बनाया। उससे विदेह, सिंधु-सौवीर, अंग, कुरू, पांचाल, काशी-कौशल आदि देशों की जनता विशेष प्रभावित हुई। सामुदायिक साधना के आसन पर प्रस्थापित अहिंसा के अभियान ने पार्श्व को असाधारण लोकप्रिय बना दिया। वे श्रमण-परम्परा के सीमा-बंधन से ऊपर उठकर सर्वव्यापी हो गए। ई. पू. 777 में उनका निर्वाण हो गया।

भगवान् पार्श्व के निर्वाण को अभी दो सौ वर्ष ही नहीं हुए थे कि अहिंसा के अभियान की प्राणवत्ता समाप्त हो गई। हिंसा, घृणा, विषमता, पशुबलि, नारी की दयनीयता, दास्य कर्म और उच्च-नीच के दमनपूर्ण वातावरण से समाज में अमा का अन्धकार छा गया। जनता नये सूर्योदय की प्रतीक्षा करने लगी।

2.4 महावीर का गर्भ संहरण

महावीर प्राणतकल्प के पुष्पोत्तर विमान से च्युत हो ब्राह्मणकुंडग्राम में कोडाल सगोत्र ब्राह्मण ऋषभदत्त के घर में देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए, उस समय ब्राह्मणी ने गज, वृषभ आदि चौदह स्वप्न देखे।

बयासी दिन के बाद सौधर्म देवलोक के इन्द्र ने हरिनैगमेषी को बुलाकर कहा—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव असार कुलों में उत्पन्न नहीं होते। वे उत्तम पुरुष उग्र, भोग, क्षत्रिय इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव्य, हरिवंश आदि विशाल कुलों में उत्पन्न होते हैं। महावीर अपने पूर्व कर्मों के कारण ब्राह्मण कुल में आए हैं। तुम जाओ और उस गर्भ को क्षत्रियकुंडग्राम के क्षत्रिय सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ में रख दो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वह देव तत्काल वहां गया। उस दिन आश्विन कृष्णा त्रयोदशी थी। रात्रि के दूसरे प्रहर के अंत में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उसने गर्भ का संहरण कर त्रिशला के गर्भ में रख दिया।

2.5 मां त्रिशला द्वारा स्वप्न दर्शन

नीरव वातारण। रात्रि का पश्चिम प्रहर। महाराज सिद्धार्थ का भव्य प्रासाद। मृदु शय्या। अर्ध निद्रावस्था में सुप्त देवी त्रिशला ने एक स्वप्न-श्रृंखला देखी। देवी ने देखा—शुभ्र, चतुर्दंत, उन्नत और विशाल हाथी। वृषभ, सिंह, सूर्य, चन्द्र आदि चौदह महत्त्वपूर्ण स्वप्न देखे। स्वप्न दर्शन की दो परम्पराएं हैं—

दिगम्बर परम्परा	**श्वेताम्बर परम्परा**
गज	गज
वृषभ	वृषभ
सिंह	सिंह
लक्ष्मी	श्री अभिषेक
माल्यद्विक	दाम (माला)
शशि	शशि
सूर्य	दिनकर
कुंभद्विक	कुंभ
झषयुगल	ध्वजा
सागर	सागर
सरोवर	पद्मसर
सिंहासन	विमान
देवविमान	रत्न उच्चय
नाग विमान	अग्नि
रत्नराशि	
निर्धूम अग्नि	

त्रिशला जागी। उसका मन उल्लास से भर गया। उसे अपने अपूर्व दृष्ट स्वप्नों पर आश्चर्य हो रहा था। वह महाराज सिद्धार्थ के पास गई। उन्हें स्वप्नों की बात सुनाई। सिद्धार्थ को अत्यंत हर्ष हुआ। स्वप्न पाठकों को आमंत्रित किया। उन्होंने कहा—'महाराज! देवी के पुत्र-रत्न होगा। ये स्वप्न उसके धर्म-चक्रवर्ती होने की सूचना दे रहे हैं।' महाराज ने प्रीतिदान दे स्वप्न पाठकों को विदा किया।

2.6 अद्‌भुत प्रतिज्ञा

जो सबके जीवन में घटित होता है वह सहज ही बुद्धिगम्य हो जाता है। जो कुछेक व्यक्तियों के जीवन में घटित होता है वह बुद्धि से परे होता है। उसे हम अलौकिक कहकर स्वीकार करते हैं या उसे सर्वथा अस्वीकार कर देते हैं। जो घटित होता है, वह स्वीकृति या अस्वीकृति से निरपेक्ष होकर ही घटित होता है। महावीर के जीवन की घटना है कि वे गर्भ में थे। उनका ज्ञान बहुत स्पष्ट था। छह मास बीत जाने पर एक दिन उन्होंने अकस्मात् हिलना-डुलना बन्द कर दिया। त्रिशला के मन में आशंका उत्पन्न हुई कि क्या गर्भ जीवित नहीं है? यदि है तो यह हलन-चलन बंद क्यों? चिन्ता की ऊर्मियां उसकी प्रसन्नता को लील गई।

महाराज सिद्धार्थ को इस वृत्त की सूचना दी गई। वे भी व्यथित हो गये। जैसे-जैसे वृत्त फैलता गया वैसे-वैसे व्यथा भी फैलती गई। नाटक बन्द हो गए। पूरा राज्य-परिवार शोक-मग्न हो गया। सूर्य उगता-उगता जैसे कुछ क्षणों के लिए थम गया।

महावीर ने बाहर की घटनाओं को देखा। वे आश्चर्य-चकित हो गए। उन्होंने सोचा—कभी-कभी अच्छा करना भी बुरा हो जाता है। मैंने माता के सुख के लिए हिलना-डुलना बन्द किया है। वह दुःख के लिए हो गया। स्वाभाविक को अस्वाभाविक प्रयत्न मान्य नहीं है। महावीर ने फिर हलन-चलन शुरू की। माता की आशंका दूर हो गई। समूचा परिवार व्यथा के ज्वार से मुक्त हो गया। वाद्यों के मंगल-घोष से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आकाश गूंज उठा। महावीर माता-पिता के प्रेम से अभिभूत हो गए। उन्होंने प्रतिज्ञा की—मैं माता-पिता के जीवित काल में दीक्षित नहीं होऊंगा। माता-पिता के प्रति उनका लौकिक प्रेम अलौकिक बन गया।

2.7 जन्म और नाम-गोत्र

प्रसन्न वातावरण में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्रि को एक शिशु ने जन्म लिया। यह विक्रम पूर्व 542 और ई. पू. 599 की घटना है। अवसर्पिणी कालखंड का चौथा अर—दु:षम-सुषमा पूरा होने में 74 वर्ष 11 माह साढ़े सात दिन शेष थे। उस समय हस्तोत्तर (उत्तराफाल्गुनी) नक्षत्र का योग था। उस पुण्य वेला में प्रियंवदा दासी ने सिद्धार्थ को पुत्र-जन्म की सूचना दी। हर्षविभोर सिद्धार्थ ने प्रियंवदा को प्रीतिदान दिया और सदा के लिए दासीकर्म से मुक्त कर दिया। दास प्रथा के उन्मूलन में यह शिशु का पहला अभियान था।

राज्याधिकारियों ने समूचे नगर में पुत्र-रत्न के जन्म की सूचना दी। उसकी खुशी में उत्सव का आयोजन किया गया। जन्म का बारहवां दिन। शिशु अभी अनाम। माता-पिता ने अतिथियों और संबंधियों से कहा—जिस दिन यह शिशु गर्भ में आया, उसी दिन हमारा राज्य धन-धान्य, सोना-चांदी, मणिमुक्ता, कोश-कोष्ठागार, बल-वाहन से बढ़ा है, इसलिए हम चाहते हैं कि इस शिशु का नाम 'वर्धमान' रखा जाए। उपस्थित लोगों ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और शिशु का नाम वर्धमान हो गया।

. उन्हें सहज ज्ञान प्राप्त था, इसलिए वे समण कहलाए।
. वे ज्ञात (नाग) नामक क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम नागपुत्र हुआ।
. साधना के दीर्घकाल में उन्होंने अनेक कष्टों का वीरवृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नहीं हुए। इसलिए उनका नाम महावीर हुआ।
. सिद्धार्थ काश्यप—गोत्रीय क्षत्रिय थे। पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है, इसलिए महावीर काश्यप—गोत्रीय कहलाए।

भगवान् महावीर के पिता तीन नामों से संबोधित किए जाते थे—1. सिद्धार्थ 2. श्रेयांस 3. यशस्वी। उनकी माता वाशिष्ठ गोत्रीय थी। उसके तीन नाम थे—1. त्रिशला 2. विदेहदत्ता 3. प्रियकारिणी। उनके चाचा का नाम सुपार्श्व, ज्येष्ठ भ्राता का नाम नंदीवर्धन और ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना था। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था। वह कौडिन्य गोत्रीय थी। उनकी पुत्री के दो नाम थे—अनवद्या और प्रियदर्शना तथा दौहित्री के दो नाम थे—शेषवती और यशस्वती। वह कौशिकगौत्रीय थी।

2.8 अद्भुत शिशु

संतुलित आहार-विहार, मानसिक आवेगों से मुक्त प्रसन्नमना देवी त्रिशला ने गर्भस्थ शिशु के दायित्व का समुचित निर्वहन किया। परिणामत: उसने एक सर्वांग सुंदर, सर्व लक्षण संपन्न, संबुद्ध शिशु को जन्म दिया। लौकिक सृष्टि में उत्पन्न शिशु की अलौकिकता अनेक रूपों में उद्घाटित हो रही थी।

शिशु वर्धमान का रूप अद्भुत था। उसके श्वासोच्छ्वास में कमल जैसी सुगंध फूट रही थी। वह शिशु के धर्म-चक्रवर्ती होने की सूचना थी। उस शिशु के शरीर में न पसीना आता था, न मैल जमता था। शरीर रोगमुक्त था। शिशु का रक्त और मांस गोक्षीर धारा की भांति धवल था। शरीरशास्त्र के अनुसार रक्त में श्वेत और लाल—दोनों प्रकार के कण होते हैं। उस शिशु के रक्तकण दोनों प्रकार के रहे होंगे और उसके रक्त-मांस की आभा गोदुग्ध की भांति श्वेत रही होगी।

2.9 आमलकी क्रीड़ा

महावीर आठ वर्ष के हो रहे थे, उस समय में भी वे स्थिर, भद्र, विनम्र और पराक्रमी थे। एक बार देवसभा के मध्य स्थित देवराज इन्द्र ने भगवान् महावीर का गुणोत्कीर्तन करते हुए कहा—महावीर बालक हैं फिर भी उनका पराक्रम प्रौढ़ है। कोई भी देव, दानव, इन्द्र उन्हें भयभीत नहीं कर सकता। एक देव ने इन्द्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के इस कथन पर श्रद्धा नहीं की। वह महावीर के पास आया! महावीर उस समय प्रमदवन में बच्चों के साथ आमलकी क्रीड़ा कर रहे थे। इस क्रीड़ा में जो वृक्ष पर सर्वप्रथम चढ़कर उतर जाता, वह विजयी होता और पराजित बच्चों के कंधों पर चढ़कर आता।

देव वृक्ष के नीचे आया। महावीर को भयभीत करने के लिए एक भयंकर सर्प का निर्माण किया। सर्प वृक्ष पर चढ़ा।

महावीर ने उसे देखा और जागरूकता पूर्वक अपने बाएं हाथ से सात तल तक फेंक दिया। देव ने सोचा—मैं इसे छल नहीं सका हूं। महावीर गेंद से खेल रहे थे। देव ने बच्चों का रूप बनाया और महावीर के साथ खेलने लगा। महावीर ने उसे पराजित कर दिया और उसके कंधों पर चढ़ गए। देव ने महावीर को भयभीत करने के लिए एक भयंकर ताड पिशाच का रूप बनाया और बढ़ता ही चला गया। महावीर ने उसे देखा और बिना डरे एडी से प्रहार किया। वह वहीं भूमि में धंस गया। देव ने भयभीत होकर सोचा—मैं इसे छलने में समर्थ नहीं हूं। वह महावीर को वंदन कर चला गया। महावीर के अभय और पराक्रम की गाथा सर्वत्र गाई जाने लगी।

2.10 विद्यार्थी–जीवन

महावीर ने आठ वर्ष पूरे कर नौवें वर्ष में प्रवेश किया। माता–पिता ने उन्हें लेखाचार्य के पास भेजा। लेखाचार्य के लिए एक विशाल आसन का निर्माण किया गया।

इन्द्र का आसन–चलित हुआ। वह शीघ्र वहां आया। इन्द्र ने लेखाचार्य के आसन पर महावीर को बिठाया। लेखाचार्य भी वहीं बैठे थे। इन्द्र ने बद्धांजलि हो पूछा—अकार आदि अक्षरों के पर्याय कितने हैं। भंग कितने हैं और गमा सदृश पर्याय कितने हैं?

महावीर ने उनका अनेक प्रकार से व्याकरण किया। लेखाचार्य ने इसे सुना। उन्हें अनेक नए पदों के अर्थों का ज्ञान हुआ। उन प्रश्नों से ऐन्द्र नामक व्याकरण का निर्माण हुआ। लेखाचार्य आदि सभी आश्चर्यचकित हुए।

इन्द्र ने कहा—महावीर सब कुछ जानते हैं। इन्हें जाति स्मृति है। ये तीन ज्ञान (मति, श्रुत और अवधि) से युक्त हैं। इन्द्र द्वारा यह सुन सब संतुष्ट हुए। महावीर का अध्ययनकाल सम्पन्न हो गया।

2.11 वैराग्य और प्रव्रज्या

भगवान् महावीर के माता–पिता बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक धर्म का पालन कर अंतिम समय में अनशनपूर्वक शरीर का त्याग किया और अच्युत कल्प में देव रूप में उत्पन्न हुए। उस समय भगवान् महावीर अट्ठाईस वर्ष के थे।

भगवान् महावीर ने गर्भावस्था में प्रतिज्ञा की थी—"माता–पिता के जीवन काल में दीक्षा नहीं लूंगा"। माता–पिता के स्वर्गवास होने पर प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। महावीर ने नंदीवर्धन, सुपार्श्व आदि स्वजन वर्ग से कहा— मैं अब दीक्षा लेना चाहता हूं! दीक्षा की बात सुनकर उनका शोक द्विगुणित हो गया। उन्होंने कहा—हे परमबन्धु! क्या हम एक साथ ही अनाथ हो जाएंगे? इधर माता–पिता के दिवंगत होने का शोक और उधर तुम्हारी दीक्षा की बात। यह घाव पर नमक छिड़कने जैसा है! तुम तब तक हमारे साथ रहो, जब तक हम शोक मुक्त न हो जाएं। हमारा राजकीय शोक दो वर्ष के बाद समाप्त होगा।

महावीर ने स्वीकार किया—मैं घर में रह सकता हूं! पर इस शर्त के साथ कि मैं भोजन आदि समस्त क्रियाएं अपनी इच्छानुसार करूंगा। उन्होंने महावीर की बात का समर्थन किया। महावीर ने स्वयं अपने अभिनिष्क्रमण काल के बारे में निर्णय किया और दो वर्ष से अधिक समय तक गृहस्थ जीवन में रहे। इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अवधि में उन्होंने सचित्त जल का सेवन नहीं किया। अप्रासुक भोजन का वर्जन किया। रात्रिभोजन नहीं किया। ब्रह्मचर्य की साधना की, असंयमपूर्ण प्रवृत्ति का वर्जन किया।

दो वर्ष पूरे हुए। स्वतंत्रता-सेनानी के पैर परतंत्रता के निदान की खोज में आगे बढ़ गये। महावीर घर से अभिनिष्क्रमण कर क्षत्रियकुंडपुर के बाहर ज्ञातखंड उद्यान में चले गये। वैशाली के हजारों-हजारों लोग वहां उपस्थित थे। यह दिन मृगसर कृष्णा दसमी का था। महावीर ने दीक्षा से पूर्व दायें हाथ से दायीं ओर का बाएं हाथ से बायीं ओर का लोच किया, सिद्धों को नमस्कार किया उसके पश्चात् 'मेरे लिये सब पाप कर्म अकरणीय हैं'—इस संकल्प के साथ सामायिक चारित्र स्वीकार किया।

श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार अभिग्रह ग्रहण किया—मैं बारह वर्ष पर्यंत शरीर का व्युत्सर्ग करूंगा—शरीर की सार संभाल नहीं करूंगा। इस अवधि में देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे, उन्हें मैं अनाकुल, अव्यथित और अदीनभाव से मन, वचन और काया—इन तीनों से गुप्त रहकर सम्यक् प्रकार से सहन करूंगा।

दीक्षा के समय भगवान् महावीर कंधे पर एक वस्त्र धारण किये हुए थे। भगवान् ने संकल्प किया—मैं हेमन्त ऋतु में इस वस्त्र से शरीर को आच्छादित नहीं करूंगा। वे जीवनपर्यंत सर्दी के कष्ट को सहने का निश्चय कर चुके थे। भगवान् ने तेरह महीनों तक उस वस्त्र को नहीं छोड़ा। फिर अनगार और त्यागी महावीर उस वस्त्र को छोड़ अचेलक हो गए।

2.12 साधना और सिद्धि

महावीर मुनि बन गए। उपस्थित सभी ज्ञातिजनों से पूछकर ज्ञातखंड उद्यान से विहार किया, एक मुहूर्त्त दिन शेष रहा, तब वे कर्मारग्राम में पहुंचे। महावीर का शरीर दिव्य गोशीर्ष चंदन, सुंगधित चूर्ण, पटवास और पुष्पों से वासित था। अभिनिष्क्रमण के समय इन्द्रों द्वारा चंदन आदि से उन्हें वासित किया गया था।

प्रव्रजित होने के चार महिने से अधिक समय तक उनके शरीर से दिव्य सुगंध नहीं मिटी। उस दिव्य गंध से दूर से ही आकृष्ट हो भ्रमर लोध्र, कुंद आदि के पुष्पित वनखंडों को छोड़ महावीर के पास आते, उनके चारों ओर मंडराते शरीर को बींधते, पृष्ठभाग की ओर गुंजारव करते। मकरंद न मिलने पर क्रुद्ध हो नख और मुख से काटने लगते। चींटियां भी उनके शरीर को काटतीं।

2.13 महावीर और ग्वाला

साधना का प्रथम वर्ष। महावीर कर्मार ग्राम के बाहर प्रतिमा में स्थित थे। उस ग्राम का एक ग्वाला बैलों को हांकता हुआ ग्राम के निकटवर्ती खेत में पहुंचा। बैल चरने लगे। वह गायों को दुहने बाड़े में चला गया। बैल चरते हुए जंगल में चले गये। बैलों को वहां न देख ग्वाले ने महावीर से पूछा—मेरे बैल कहां गए? महावीर मौन रहे। वह बैलों को खोजने लगा। बैल तृप्त होकर लौट आए, महावीर ने निकट बैठकर जुगाली करने लगे। ग्वाला लौटा तो बैलों को वहां न देख क्रुद्ध हो उठा। इसने ही मेरे बैल चुराए हैं, यह सोच वह चाबुक लेकर महावीर की ओर दौड़ा।

दीक्षा के प्रथम दिन महावीर क्या कर रहे हैं? इसे जानने के लिए एकाग्र बने देवराज इन्द्र ने ग्वाले को देखा और उसे वहीं स्तंभित कर दिया। इन्द्र महावीर के निकट आकर बोला—प्रभो! आपके साधना काल में बहुत उपसर्ग आने वाले हैं। आप मुझे अनुमति दें, मैं बारह वर्ष तक आपकी सेवा में रहूं। इन्द्र के इस निवेदन पर महावीर बोले—शक्र! ऐसा न कभी हुआ है, न होता है और न कभी होगा। अर्हंतों ने कभी किसी देवेन्द्र अथवा असुरेन्द्र के सहारे न केवलज्ञान प्राप्त किया है, न करते हैं और न करेंगे। वे केवल अपने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम के सहारे केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, तप करते हैं और स्वतंत्र चर्या करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दूसरे दिन कर्मारग्राम से विहार कर महावीर कोल्लाक सन्निवेश में आए। वहां बहुल ब्राह्मण के घर घृत और शर्करायुक्त खीर से षष्ठ भक्त का पारणा किया। पांच दिव्य प्रकट हुए।

भगवान् महावीर साधना के पथ पर निरंतर आगे बढ़ रहे थे। आत्मबल प्रबल और पुरूषार्थ प्रदीप्त हो रहा था। उनका पथ अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से भरा था। अजितेन्द्रिय युवक महावीर के शरीर से आने वाली गंध में आसक्त हो जाते। वे इस गंध का नुस्खा मांगते। महावीर मौन रहते, वे प्रतिकूल उपसर्ग करते। भगवान् का शरीर सुगठित, सुडौल और सुन्दर था। उनके रूप-वैभव को देख अनेक स्त्रियां उनके समक्ष रति-प्रणय की समग्र चेष्टाएं करतीं। भगवान् पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता। मिट्टी का गोला आग की आंच में प्रदीप्त होता है, किन्तु पिघलता नहीं। भगवान् ऊर्ध्व ध्यान की साधना के द्वारा कामवासना के रस को क्षीण कर रहे थे।

भगवान् का अपना कोई घर नहीं था। उनका अधिकतम आवास शून्यगृह, देवालय, उद्यान और अरण्य में होता था। कभी-कभी श्मशान में भी रहते थे। वे कोल्लाक सन्निवेश से मोराक सन्निवेश में पहुंचे। वहां तापसों का आश्रम था। आश्रम का कुलपति महावीर के पिता का मित्र था। उसकी प्रार्थना पर महावीर एक कुटीर में वर्षावास के लिए ठहरे। तापसों की शिकायत के आधार पर कुलपति ने बड़ी मृदुता के साथ कहा—कुमार प्रवर! पक्षी भी अपने घोंसले की सुरक्षा करता है। आप अपने कुटीर की सुरक्षा नहीं करते। 'यह अप्रीतिकर स्थान है'—यह सोच महावीर ने वहां से प्रस्थान कर दिया। उसी दिन से महावीर ने पांच अभिग्रह धारण किये—

. मैं अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा।
. शरीर की सार-संभाल नहीं करूंगा।
. मौन रहूंगा।
. हाथ में भोजन करूंगा।
. गृहस्थ का अभिवादन और अभ्युत्थान नहीं करूंगा।

2.14 ध्यानयोगी महावीर

भगवान् महावीर में उपवास और ध्यान का अपूर्व संगम था। उनका कोई उपवास ऐसा नहीं था, जिसमें ध्यान की विशेष प्रक्रिया न चली हो। साधना-काल में उनका अधिकांश समय ध्यान में बीता। सोलह दिन-रात तक वे सतत ध्यान में लीन रहे।

साधना का ग्यारहवां वर्ष। सानुलष्टि ग्राम। वहां भद्रप्रतिभा का प्रयोग किया। वे पूर्व दिशा की ओर मुंह कर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हो गये। चार प्रहर तक ध्यान की अवस्था में खड़े रहे। इसी प्रकार उन्होंने उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशा की ओर अभिमुख होकर चार-चार प्रहर तक ध्यान किया। इस प्रतिमा में भगवान् को बहुत आनंद का अनुभव हुआ। वे उसकी श्रृंखला में ही महाभद्र प्रतिमा के लिए प्रस्तुत हो गए। उसमें भगवान् ने चारों दिशाओं में एक-एक दिन-रात तक ध्यान किया। ध्यान की श्रेणी इतनी प्रबल हो गई कि वे उसे तोड़ नहीं पाए। वे ध्यान के इसी क्रम में सर्वतोभद्र प्रतिमा की साधना में लग गए। चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं, ऊर्ध्व और अधः—इन दसों दिशाओं में एक-एक दिन-रात तक ध्यान करते रहे। भगवान् ने कुल मिलाकर सोलह दिन-रात निरतंर ध्यानप्रतिमा की साधना की।

भगवान् ध्यान के समय ऊर्ध्व, अधः और तिर्यंक्—तीनों को ध्येय बनाते थे। ऊर्ध्व लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे ऊर्ध्व दिशापाती ध्यान करते थे। अधो लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए अधो दिशापाती और तिर्यंक् लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए तिर्यंक् दिशापाती ध्यान करते थे। वे ध्येय का परिवर्तन भी करते रहते थे। उनके मुख्य-मुख्य ध्येय ये थे—1. ऊर्ध्वगामी, अधोगामी और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तिर्यंग्गामी कर्म। 2. बंधन, बंधनहेतु और बंधन परिणाम। 3. मोक्ष, मोक्षहेतु और मोक्षसुख। 4. सिर, नाभि और पादांगुष्ठ। 5. द्रव्य, गुण और पर्याय। 6. नित्य और अनित्य। 7. स्थूल—संपूर्ण जगत्। 8. सूक्ष्म—परमाणु। 9. प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का निरीक्षण।

भगवान् ध्यान की मध्यावधि में एकत्व, अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का अभ्यास करते थे। भगवान् नींद नहीं लेते थे, बहुत नहीं सोते थे। वे अधिक समय आत्मा को जागृत रखते थे। चिर जागरण के बाद क्षणभर नींद ले लेते थे। वे अधिकतर खड़े-खड़े ध्यान करते थे। कभी-कभी टहल लेते थे। इन साधनों से वे नींद पर विजय पा लेते थे। उन्होंने दीर्घ साधना काल में, अंतर मुहूर्त्त से अधिक नींद नहीं ली। उनके ध्यान काल में बैठने के मुख्य आसन थे—पद्मासन, पर्यंकासन, वीरासन, गोदोहिका और उत्कटिका। भगवान् ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का आतप लेते थे। ऊकडू आसन में लू के सामने मुंह कर बैठते थे, शिशिर ऋतु में छाया में ध्यान करते थे।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक आंखों को अपलक रख तिरछी भींत पर मन को केन्द्रित कर ध्यान करते थे। लम्बे समय तक अपलक रही आंखों की पुतलियां ऊपर की ओर चली जातीं। उन्हें देखकर भयभीत बनी हुई बच्चों की टोली हंत! हंत! कहकर चिल्लाती—दूसरे बच्चों को बुला लेती। त्राटक साधना (अभिमेष प्रेक्षा) से केवल उनका मन ही एकाग्र नहीं हुआ, उनकी आंखें भी तेजस्वी हो गईं।

भगवान् प्रायः मौन रहने का संकल्प पहले ही कर चुके थे। वे भिक्षा की याचना और स्थान की स्वीकृति के लिए बोलते थे। कोई कुछ पूछता तो उसका संक्षिप्त उत्तर देते। शेष सारा समय अभिव्यक्ति और संपर्क से अतीत रहता।

ध्यान आत्मसाक्षात्कार का साधन है। आहार, निद्रा और आसन का नियमन ध्यान का साधन है। आचार्य कुंदकुंद ने लिखा है—'जो व्यक्ति आहार विजय, निद्रा विजय और आसन विजय को नहीं जानता, वह महावीर को नहीं जानता।

2.15 शूलपाणि यक्ष और महावीर के दस स्वप्न

महावीर की साधना का प्रथम वर्ष चल रहा था। मोराक सन्निवेश में पन्द्रह दिन रहकर महावीर अस्थिक ग्राम में गए। वहां एक व्यंतर गृह में शूलपाणि यक्ष रहता था। जो कोई रात्रि में वहां प्रवास करता, उसे पहले वह कष्ट देता और फिर मार देता। इसलिये उधर आने वाले राहगीर दिन में वहां ठहरकर संध्या के समय अन्यत्र चले जाते। भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुये वहां आये।

महावीर ने व्यंतरगृह में रहने की अनुमति मांगी। लोगों ने कहा—आप यहां रह नहीं सकेंगे। हमारी बस्ती में आप ठहरे। महावीर ने इसे अस्वीकार कर दिया। क्योंकि वे जानते थे कि वहां रहने से यक्ष को संबोध प्राप्त होगा। अतः व्यंतरगृह में रहने की अनुमति प्राप्त कर महावीर उसमें गये और एक कोने में ध्यान प्रतिमा में स्थित हो गये।

संध्या को भयंकर अट्टहास करता हुआ यक्ष महावीर को भयभीत करने लगा। अट्टहास से जब महावीर भयभीत नहीं हुये तब वह हाथी का रूप बनाकर उपसर्ग करने लगा। उससे भी भयभीत नहीं हुये तब उसने पिशाच का रूप बनाया। इतना करने पर भी जब वह महावीर को क्षुब्ध न कर सका तो उसने प्रभात काल में सात प्रकार की वेदना—सिर, कान, आंख, दांत, नख और पीठ में उत्पन्न की। साधारण व्यक्ति के लिये एक-एक वेदना भी प्राणलेवा थी। किन्तु भगवान् उन सबको सहते रहे। आखिर प्रभु को विचलित करने में स्वयं को असमर्थ पा यक्ष महावीर के चरणों में गिर कर बोला—पूज्य! मुझे क्षमा करे।

शूलपाणि के द्वारा भगवान् को कुछ न्यून चार प्रहर तक अतीव परिताप दिया गया। फलतः प्रभात काल में भगवान् को मुहूर्त्त मात्र नींद आ गई। निद्राकाल में महावीर ने दस स्वप्न देखे और जाग गये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

महानैमित्तिक उत्पल ने महावीर की वन्दना की और बोला—स्वामिन्! आपने रात्रि के अन्तिम प्रहर में दस स्वप्न देखे, उनका फलादेश इस प्रकार है—

1. **तालपिशाच**—आपने ताल-पिशाच को पराजित होते हुये देखा। उसके फलस्वरूप आप शीघ्र ही मोहनीय कर्म का उन्मूलन करेंगे।
2. **श्वेत पुंस्कोकिल**—आपने श्वेत पंख वाले पुंस्कोकिल को देखा। उसके फलस्वरूप आप शुक्ल ध्यान को प्राप्त होंगे।
3. **विचित्र पुंस्कोकिल**—आपने चित्र-विचित्र पंख वाले पुंस्कोकिल को देखा। उसके फलस्वरूप आप द्वादशांगी की प्ररूपणा करेंगे।
4. **दामद्विक**—उत्पल ने कहा—आपने स्वप्न में दो मालाएं देखी हैं, उनका फल मैं नहीं जानता। महावीर ने कहा—उत्पल! जिसे तुम नहीं जानते हो, वह यह है—मैं दो प्रकार के धर्म—अगारधर्म और अनगार धर्म का प्ररूपण करूंगा।
5. **गोवर्ग**—आपने श्वेत गोवर्ग देखा है। उसके फलस्वरूप आपके चतुर्वर्णात्मक श्रमण संघ होगा।
6. **पद्मसरोवर**—आपने चहुंओर से कुसुमित विशाल पद्मसरोवर देखा है। उसके फलस्वरूप आपकी परिषद् में चतुर्विध देवों का समवाय होगा अथवा चतुर्विध देवों की प्ररूपणा करेंगे।
7. **महासागर**—आपने भुजाओं से महासागर को तैरते हुये अपने आपको देखा। उसके फलस्वरूप आप संसार समुद्र का पार पायेंगे।
8. **सूर्य**—आपने तेज से जाज्वल्यमान सूर्य को देखा। उसके फलस्वरूप आपको शीघ्र ही केवल ज्ञान उत्पन्न होगा।
9. **अंत्र**—आपने अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित देखा है। उसके फलस्वरूप सम्पूर्ण त्रिभुवन में आपका निर्मल यश, कीर्ति और प्रताप फैलेगा।
10. **मंदरगिरि**— आपने अपने को मंदराचल पर आरूढ़ देखा है। उसके फलस्वरूप आप सिंहासनस्थ होकर देव, मनुष्य और असुर परिषद में बीच धर्म का आख्यान करेंगे।

2.16 महावीर और चंडकौशिक सर्प

साधना का दूसरा वर्ष। भगवान् महावीर कनकरवल आश्रमपद के भीतरी मार्ग से उत्तर वाचाला जा रहे थे। वहां स्थित ग्वालों ने कहा—भंते! थोड़ा आगे जाने पर चंडकौशिक सर्प का खतरा है। उसके दृष्टिपात मात्र से व्यक्ति भस्म हो जाता है। अतः आप बाहरी मार्ग से जाइए। महावीर ने इस परामर्श को स्वीकार नहीं किया। वे जानते थे कि यह सर्प भव्य (रूपान्तरण के योग्य) है। बोधि को प्राप्त होगा। वे वनखंड में पहुंचकर ध्यानस्थ हो गये। चंडकौशिक सर्प आश्रम में घूमकर वहां आया। उसने देखा—महावीर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हैं। वह क्रुद्ध हो गया। उसने सूर्य की ओर दृष्टि डाल महावीर की ओर देखा। दूसरे लोग उसके दृष्टि प्रक्षेप मात्र से जल जाते थे। महावीर नहीं जले। उसने दो तीन बार अपनी विषबुझी आंखों से महावीर की ओर देखा, पर महावीर पर कोई असर नहीं हुआ। फिर उसने तीन बार महावीर को काटा पर महावीर पूर्णतः अप्रभावित। इस असफलता के कारण अमर्ष से भरकर वह महावीर को देखने लगा। देखते-देखते उनकी कांति और सौम्यता उसकी आंखों में उतर आई। आंखों का विष धुल गया। महावीर बोले—चंडकौशिक! शांत हो जाओ। शांत हो जाओ। ये शब्द सुनकर वह ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने लगा। उसे पूर्व जन्म की स्मृति हो आई। उसने महावीर को वंदना-नमस्कार किया और अनशन स्वीकार कर लिया। वह अपने मुंह को बिल में डालकर बैठ गया। चरवाहों ने पत्थर फेंके, वह हिला-डुला

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नहीं। उसके उपशांत होने की बात सुन लोग वहां आये, महावीर को वंदना की, फिर उस सर्प को वंदना की और उत्सव मनाया। अहिरिणियों ने उसे घी से चुपड़ा। घी की गंध पा चींटियां उसके शरीर पर चढ़ गई, काटने लगीं। उसने उस वेदना को समभाव से सहा। पन्द्रह दिनों का अनशन सम्पन्न कर वह सहस्रार कल्प (आठवें देवलोक) में उत्पन्न हुआ।

2.17 कटपूतना कृत उपसर्ग : विशिष्ट अवधिज्ञान

साधना का छठा वर्ष। महावीर शालिशीर्ष ग्राम में गये। उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गये। माघ का महीना था। कटपूतना नाम की वाणमंतरी वहां आई। महावीर के तेज को न सहने के कारण उसने तापस का रूप बनाया। वल्कल पहना। बिखरी हुई जटाओं में पानी भरकर महावीर के शरीर पर छिड़कने लगी। द्रह पर स्थित हो उनके अंगों को प्रकंपित करने लगी। तेज हवाएं चलने लगी। यदि साधारण व्यक्ति होता तो वह विचलित हो जाता। त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में वह उनके अंतःपुर की एक रानी थी। उस समय सम्यक् प्रकार से परिचर्या न होने के कारण वह त्रिपृष्ठ के प्रति द्वेष से भर गई।

कटपूतना द्वारा की गई वेदना महावीर सहन कर रहे थे। ऐसा करते-करते महावीर का अवधिज्ञान अधिक विकसित हो गया। उससे वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे। इससे पूर्व गर्भकाल से लेकर जब वे शालिशीर्ष ग्राम में पहुंचे, तब तक उनका अवधिज्ञान देवलोक तक जान सके उतना ही था।

2.18 संगम देव कृत उपसर्ग

एक बार देवराज इन्द्र ने देवी-देवताओं को संबोधित कर कहा—हे देवो! श्रमण भगवान् महावीर तीन लोक में महावीर हैं। कोई भी देव अथवा दानव महावीर को ध्यान से किंचित् भी विचलित नहीं कर सकता। उस सभा सौधर्म कल्प में संगम नाम का एक सामानिक देवता था। वह अभव्य था। उसने कहा—देवराज इन्द्र रागवश ऐसा कथन कर रहे हैं। ऐसा कौन मनुष्य है जिसे देवता विचलित न कर सके। मैं उसे आज ही विचलित कर दूं। इन्द्र ने सोचा—मैं अगर रोकूंगा तो उसका अर्थ होगा, महावीर दूसरों के सहारे तपस्या कर रहे हैं। इन्द्र मौन रहा। संगम महावीर के पास आया।

साधना का ग्यारहवां वर्ष। महावीर दृढ़भूमि गए। वे उसके बाहरी भूभाग में पेढाल उद्यान के पोलाश चैत्य में ठहरे। तेले की निर्जल तपस्या थी। ध्यान की मुद्रा में खड़े हुए। थोड़ा झुका हुआ शरीर। एक पुद्गल (वस्तु) पर टिकी हुई दृष्टि। अनिमिष नयन (अनिमेष प्रेक्षा/त्राटक)। सब अवयव अपने स्थान पर अवस्थित। सब इन्द्रियां गुप्त। दोनों पैर सटे हुए, दोनों हाथ घुटनों की ओर फैले हुए—इस मुद्रा में महावीर एकरात्रि की महाप्रतिमा में स्थित थे।

संगम ने उसी रात्रि में महावीर को बीस मारणांतिक कष्ट दिये—1. वज्रधूलि की वर्षा। 2. वज्रमुखी चींटियों का निर्माण। 3. वज्रमुखी खटमलों का निर्माण। 4. बिच्छुओं का निर्माण। 5. तीक्ष्ण दाढ़ों वाले नेवलों का निर्माण। 6. विषैले और क्रोधी सर्पों का निर्माण। 7. चूहों का निर्माण। 8. हाथी का निर्माण (महावीर को आकाश में उछाला फिर भूमि पर गिराया)। 9. हथिनी का निर्माण (सूंड से बींधा)। 10. पिशाच रूप का निर्माण। 11. व्याघ्र का निर्माण (नखों से विदारित किया)। 12. सिद्धार्थ का रूप बनाकर हृदय-विदारक रुदन। 13. त्रिशला के रूप में निवेदन। 14. रसोइये के रूप में महावीर के दोनों पैरों के मध्य आग जलाकर पात्र रख भोजन पकाया। 15. चंडाल का रूप बनाकर महावीर की भुजाओं, कानों एवं गले में पक्षियों के पिंजड़े लटका दिये। 16. प्रचंड वात का निर्माण। 17. चक्राकार हवा चलाई। उसमें महावीर का शरीर बेंत की तरह कांपने लगा। 18. कालचक्र का निर्माण कर उसे फेंका। महावीर हाथों के नखों तक भूमि में धंस गए। 19. सामानिक देवता की ऋद्धि दिखाकर अनुकूल उपसर्ग किया। 20. प्रभात का निर्माण। कालज्ञ महावीर ने जान लिया कि यह प्रभात स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम है, अतः ध्यानस्थित रहे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पुरुषसिंह महावीर इन उपसर्गों के द्वारा अपने ध्यान से तिल तुष भाग मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने चिंतन किया—यह सब तुमने ही किया है। शुद्ध आत्मा के लिए कोई दंड नहीं होता।

जब संगम महावीर को विचलित न कर सका तो लौट गया। दूसरे दिन पुनः उपसर्ग करने लगा। प्रभात होने पर महावीर बालुका ग्राम की ओर गए। संगम ने 500 चोरों का निर्माण कर उपसर्ग दिए। अनेक ग्रामों में अनेक रूपों में उपसर्ग दिए। छह माह तक यही क्रम चला।

2.19 संगम द्वारा क्षमायाचना

संगम ने अवधिज्ञान से देखा कि महावीर के परिणाम कुछ भग्न हुए हैं या नहीं? महावीर के परिणाम उतने ही विशद्ध थे, जितने छह मास पूर्व। वे छह जीवनिकाय के सभी जीवों का हित चिंतन कर रहे हैं। यह देख संगम महावीर के चरणों में गिरा और बोला—भगवन्! इन्द्र ने जो कहा, वह सत्य है। मैं भग्नप्रतिज्ञ हूं। आप यर्थाथ प्रतिज्ञ हैं। मैंने जो कुछ किया, उस सबके लिए क्षमायाचना करता हूं। भंते! मैं अब उपसर्ग नहीं करूंगा।

उस दिन सौधर्म देवलोक के सभी देव उद्विग्न-से बैठे थे। संगम वहां गया। उसे देख शक्र ने कहा—हे देवो! सुनो, यह दुरात्मा है। यह तीर्थंकर का प्रत्यनीक है। यह बातचीत करने योग्य भी नहीं है। इसे देशनिकाला दे दो। संगम को पैर से लताड़ कर निकाल दिया गया।

2.20 चन्दनबाला : दासप्रथा का उन्मूलन

साधना का बारहवां वर्ष चल रहा था। भगवान् वैशाली और कौशाम्बी के मध्यवर्ती गांवों में विहार कर रहे थे। उन्हें पता चला कि राजा शतानीक के सैनिकों ने चंपा को लूटा है और किसी सैनिक ने महारानी धारिणी और राजकुमारी वसुमती का अपहरण कर लिया है। धारिणी की मृत्यु हो चुकी है। वसुमती श्रेष्ठी धनावह के घर दासी का जीवन जी रही है। नारी जाति की दयनीयता और दास्य कर्म—दोनों का चित्र उनकी आंखों के सामने उभर आया। उन्होंने मन ही मन इसके अहिंसक प्रतिकार की योजना बना ली।

भगवान् कौशांबी आ गए। पौष मास का पहला दिन। भगवान् ने संकल्प किया, 'मैं दासी बनी हुई राजकुमारी के हाथ से ही भिक्षा लूंगा, जिसका सिर मुंडा हुआ हो, हाथ-पैरों में बेड़ियां हों, तीन दिन की भूखी हो, आंखों में आंसू हो, जो देहलीज के बीच में खड़ी हो और जिसके सामने शूर्प के कोने में उबले हुए थोड़े से उड़द पड़े हों।'

भगवान् कौशांबी के घरों में भिक्षा लेने गए। लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें भोजन देना चाहा। पर भगवान् उसे लिए बिना ही लौट आए। प्रतिदिन यही क्रम चलता रहा। चार मास बीत गए। पांचवां महीना भी उपवास में बीता। छठे महीने के पचीस दिन बीत गये।

इधर वसुमती ने धनावह के घर में दासी के रूप में पैर रखा था, पर अपनी विशिष्टता के कारण वह पुत्री बन गई। शील की सुगंध और शीतलता ने उसे वसुमती से चंदना बना दिया। उसके रूप-सौन्दर्य को देख मां मूला का मन ईर्ष्या और आशंका से जल उठा—'कहीं सेठ इसके साथ शादी न कर लें।' एक बार सेठ बाहर गया हुआ था। मूला ने नौकर को भेजकर नाई को बुलाया। चंदना का सिर मुंडवा दिया। हाथ-पैरों में बेड़ियां डाल दीं। एक ओरे में बिठा, उसका दरवाजा बंद कर ताला लगा दिया। दास-दासियों को कड़ा निर्देश दे दिया कि इस घटना के बारे में श्रेष्ठी को कोई कुछ भी कहेगा तो उसके प्राण सुरक्षित नहीं होंगे। श्रेष्ठी घर आया। चंदना दिखाई नहीं दी। तीन दिन बीत गये। पूछताछ की। एक स्थविरा दासी से संकेत पाकर श्रेष्ठी ने उस ओरे का दरवाजा खोला। वह स्तब्ध रह गया। 'पिताजी! यह सब मेरे ही किसी अज्ञात संस्कार का सृजन है'— चंदना की उदात्त वाणी से श्रेष्ठी को कुछ शांति मिली। वह रसोई में गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वहां केवल उबले हुए उड़द थे। उन्हें शूर्प के कोने में डाला और चंदना के सामने रखकर खुद लुहार को लाने चला गया।

भगवान् अपनी चर्या के अनुसार घूमते-घूमते छठे महीने के छब्बीसवें दिन श्रेष्ठी धनावह के घर पहुंचे। वहां चंदना देहली के बीच खड़ी थी। हाथ-पैरों में बेड़ियां डाली हुई थी। सिर मुंडित था। तीन दिन से भूखी थी। उसके पास सूप के कोने में उबले हुए उड़द थे। वह राजपुत्री दासी का जीवन बिता रही थी। सहसा वहां भगवान् की उपस्थिति से उसका चेहरा खिल उठा। वह मृदु स्वर में बोली— भंते! मेरे पास ये उड़द हैं। आप अनुग्रह करें। मेरे हाथ से आहार लें।

कुछ ही क्षणों में आशा और हर्ष पर तुषारापात् हुआ। भगवान् आहार लिये बिना ही मुड़ गए। चंदना की आंखों से अश्रुधार बह चली। सब अभिग्रह पूर्ण हुए। भगवान् वापस मुड़े। उसके हाथ से उबले हुए उड़द का आहार लिया। पांच दिव्य प्रकट हुए। भगवान् के दासी के हाथ से आहार लेने की बात सारे नगर में फैल गई। महाराज शतानीक और रानी मृगावती ने भी उस दासी के भाग्य की सराहना की। वे धनावह के घर पहुंचे। उन्हें पहचानते देर न लगी कि यह दासी राजा दधिवाहन की पुत्री है। लोग उसके मूल रूप से परिचित हुए तो समाज-व्यवस्था को कोसने लगे—हाय! जिस समाज-व्यस्था में राजकुमारी भी बाजार में बिक सकती है, उसमें दूसरों की क्या गति होगी? कितना कष्टपूर्ण जीवन! यह दासप्रथा अन्याय है। मानवता के सिर पर कलंक का टीका है। इस चर्चा से समाज का स्थितिपालक वर्ग चिंतित हो उठा। महावीर की तपस्या ने जनमानस को इतना आंदोलित और प्रभावित किया कि दासप्रथा की जड़े हिल गईं। पहला प्रभाव चंदना पर आया। वह सदा के लिए दासी जीवन से मुक्त हो गई। भगवान् महावीर द्वारा नारी जाति के पुनरूत्थान की दिशा में किया गया विशेष प्रयोग सफल हो गया।

2.21 आदिवासियों के बीच

महावीर ने राजगृह में आठवां वर्षावास किया। चातुर्मासिक तप किया। विचित्र अभिग्रह किये। नगर के बाहर पारणा किया। शरदकाल का समय। महावीर ने चिंतन किया—मेरे बहुत से कर्म हैं। उनकी निर्जरा सहज संभव नहीं है। मुझे अनार्य देश में जाकर दूसरे लोगों के निमित्त से अपने कर्मों का निर्जरण करना चाहिये। यह सोच महावीर लाढदेश की वज्रभूमि और सुम्हभूमि में गए। वहां के लोग रूक्षभोजी, क्रोधी, निरनुकंप और निर्दयी थे।

साधना का नौवां वर्ष। भगवान् एक गांव में जा रहे थे। ग्रामवासी लोगों ने कहा—नग्न! तुम किसलिए हमारे गांव में जा रहे हो? वापस चले जाओ। भगवान् वापस चले गए।

एक बार भगवान् पूर्व दिशा की ओर मुंह कर खड़े-खड़े सूर्य का अताप ले रहे थे। कुछ लोग आए। सामने खड़े हो गये। भगवान् ने उनकी ओर नहीं देखा। वे चिढ़ गये। वे हूं-हूं कर भगवान् पर थूक कर चले गये। भगवान् शांत खड़े रहे।

भगवान् की आंखे अधखुली थीं। एक व्यक्ति ने भगवान् पर धूल फेंकी। भगवान् ने न आंखें मूंदी और न क्रोध किया। उसका प्रयत्न विफल हो गया। उसने क्रुद्ध होकर भगवान् पर मुष्टिप्रहार किया। फिर भी भगवान् की शांति भंग नहीं हुई। उसने ढेले फेंके। हड्डियां फेंकी। आखिर भाले से प्रहार किया। लोग खड़े-खड़े चिल्लाने लगे। भगवान् वैसे ही मौन और शांत थे।

वहां कुत्ते बड़े भयानक थे। पास में लाठी होने पर भी वे काट लेते थे। भगवान् के पास न लाठी थी और न नालिका। उन्हें कुत्ते घेर लेते और काटने लग जाते। कुछ लोग छू-छू कर कुत्तों को बुलाते और वे भगवान् पर झपटते, तब आदिवासी लोग हर्ष से झूम उठते। कुछ लोग भले भी थे। वे वहां जाकर कुत्तों को भगा देते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक बार भगवान् पर्वत की तलहटी में ध्यान कर रहे थे। कुछ लोगों ने पद्मासन की ध्यान मुद्रा में बैठे हुए आदमी को पहली बार देखा। वे कुतूहलवश घंटा भर खड़े रहे। एक आदमी आगे बढ़ा, धक्का दिया। भगवान् लुढक गये, फिर पद्मासन लगा ध्यान में स्थिर हो गए। वे लोग भद्र प्रकृति के थे। वे भगवान् के निकट आये, पैरों में प्रणत होकर बोले—हमने आपको कष्ट दिया है। आप हमें क्षमा करना।

अपरिचित चेहरा देखकर कुछ व्यक्ति पूछते—तुम कौन हो? मैं भिक्षु हूं—बस, इतना-सा उत्तर दे भगवान् मौन हो जाते।

चातुर्मास का समय आ गया। उस जनपद में उन्हें रहने का कहीं स्थान नहीं मिला। वृक्षों के नीचे रहे। वहां छह महीने तक अनित्य जागरिका का प्रयोग किया। यह महावीर का नौवां वर्षावास था।

भगवान् अहिंसा के महास्रोत थे। आदिवासी लोगों के प्रति उनके मन में वही प्रेम प्रवाहित था, जिसका प्रवाह हर प्राणी को आप्लावित किये हुए था। वे निरंतर प्रसन्न मुद्रा में रहते थे। ध्यानयोग और भावना के बल से प्राप्त प्रसन्ता परिस्थिति के वात्याचक्र से प्रताड़ित नहीं होती।

अन्तर जगत् में प्रविष्ट साधक की दृष्टि में शूलपाणि यक्ष, कटपूतना व्यंतरी, संगम देव आदि द्वारा कृत उपसर्गों की घटना संस्कार दर्शन की घटना है। भगवान् महावीर के पार्श्व में होने वाले अट्टहास, हाथी, विषधर और भूत-प्रेत उन्हीं के द्वारा प्रताड़ित संस्कारों के प्रतिबिम्ब हैं। चिरकाल से अर्जित, छिपे हुए संस्कारों का उन्मूलन ही बिच्छू, अजगर और जंगली जानवर हैं। आत्मदर्शन या सत्य का साक्षात्कार करने वे पूर्व प्रत्येक साधक को ये खतरनाक घाटियां पार करनी होती हैं।

भगवान् बुद्ध ने भी इन घाटियों को पार किया था। वे वैशाखी पूर्णिमा को ध्यान कर रहे थे। उन्हें कुछ अशांति का अनुभव हुआ। उस समय उन्होंने संकल्प किया— 'मैं आज बोधि प्राप्त किए बिना इस आसन से नहीं उठूंगा। जैसे-जैसे उनकी एकाग्रता आगे बढ़ी, वैसे-वैसे उनके सामने भयानक आकृतियां उभरने लगीं—जंगली जानवर, अजगर और राक्षस। इन आकृतियों ने बुद्ध को काफी कष्ट दिये। उनकी धृति अविचल रही। मन शांत हुआ। उन्हें बोधि प्राप्त हो गई।

यह परमात्मपद तक पहुंचने की आध्यात्मिक प्रक्रिया है। अतः कोई भी महान् साधक इसका अतिक्रमण नहीं कर पाता। जो इस प्रक्रिया में अविचल रह जाता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव को प्राप्त करता है। जो विचलित हो जाता है, वह उन्मत्त, रुग्ण या धर्मच्युत हो जाता है। महावीर ने इस शिखर पर बारह बार आरोहण किया था।

भगवान् महावीर दीर्घ-तपस्वी थे। उनका साधना काल साढ़े बारह वर्ष और एक पक्ष का है। इस अवधि में उनकी उपवास-तालिका यह है—

दो दिन का उपवास	बारह बार
तीन दिन का उपवास	दो सौ उन्नीस बार
पाक्षिक उपवास	बहत्तर बार
एक मास का उपवास	बारह बार
डेढ़ मास का उपवास	दो बार
दो मास का उपवास	छह बार
ढ़ाई मास का उपवास	दो बार
तीन मास का उपवास	दो बार
चार मास का उपवास	नौ बार
पांच मास का उपवास	एक बार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

छह मास का उपवास	एक बार
भद्रप्रतिमा—दो उपवास	एक बार
महाभद्रप्रतिमा—चार उपवास	एक बार
सर्वतोभद्रप्रतिमा—दस उपवास	एक बार।

भगवान् ने साधनाकाल में सिर्फ तीन सौ पचास दिन भोजन किया। निरन्तर भोजन कभी नहीं किया उपवासकाल में जल कभी नहीं पिया। उनकी कोई भी तपस्या दो उपवास से कम नहीं थी। उन्होंने सैकड़ों तेले (तीन दिन का उपवास) किये। प्रत्येक तेले के अंत में एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा की आराधना की। उन्होंने उकडू निषद्या और खड़े-खड़े प्रतिमा करने का सैकड़ों बार प्रयोग किया।

भगवान् रोग से अस्पृष्ट होने पर भी अवमौदर्य (अल्पाहार) करते थे। वे रोग से स्पृष्ट या अस्पृष्ट होने पर चिकित्सा का अनुमोदन नहीं करते थे। ग्वाले ने भगवान् के कान में शलाका प्रविष्ट कर दी। खरक वैद्य ने उसे निकाला और औषधि का लेपन किया। भगवान् ने मन से भी उसका अनुमोदन नहीं किया।

भगवान् कभी-कभी रूखे कोदो, सत्तू और उड़द से जीवन यापन करते थे। इन तीनों का सेवन कर आठ महीने तक जीवन यापन किया। भोजन व्यंजन सहित हो या व्यंजन रहित, ठंडा भात हो या बासी उड़द, सत्तू हो या चने, भोजन प्राप्त हो या न हो—इन सब स्थितियों में भगवान् राग या द्वेष नहीं करते थे। उन्होंने कभी-कभी अर्धमास, एकमास, दो मास और छह मास तक भी पानी नहीं पीया। वे भोजन के प्रति संकल्प नहीं करते थे। कभी पुराने कुल्माष, बुक्कस और पुलाक जैसा नीरस भोजन मिलता और कभी परमान्न जैसा सरस भोजन। पर इन दोनों प्रकारों में उनकी मानसिक समता विखंडित नहीं होती थी।

वे वमन, विरेचन, तैलमर्दन, स्नान और दंतप्रक्षालन नहीं करते थे। वे आंखों का भी प्रमार्जन नहीं करते थे। वे शरीर को भी नहीं खुजलाते थे। वे शरीर के परिकर्म से मुक्त रहते थे। उनका देहाध्यास क्षीण हो चुका था। मन, विचार, अध्यवसाय, इन्द्रिय और भावना—ये सब एक ही दिशा में गतिशील हो गए। भगवान् वैराग्य और संवर, अभ्यास और अनुभूति के द्वारा मन की धारा को चैतन्य के महासिंधु में विलीन कर रहे थे।

2.22 केवलज्ञान की प्राप्ति और तीर्थप्रर्वतन

श्रमण भगवान् महावीर को साधना पथ पर विहरण करते हुए बारह वर्ष बीत गए। तेरहवां वर्ष चल रहा था। ग्रीष्म काल का दूसरा महीना। वैशाख मास का शुक्ल पक्ष। दसवीं तिथि। सुव्रत दिवस। विजय मुहूर्त्त। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का योग। पूर्व गामिनी छाया। व्यक्त (चौथा) प्रहर। जृम्भिकग्राम। नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी का उत्तरी तट। श्यामाक गृहपति का खेत। व्यावृत चैत्य का ईशान कोण। शाल वृक्ष से न अति दूर, न अति निकट। महावीर पहले उत्कटुक आसन में बैठे, फिर गोदोहिका मुद्रा में आतापन। दो दिन का निर्जल उपवास। ऊपर की ओर उठे हुए घुटने। नीचे की ओर झुका हुआ मस्तक। धर्म-ध्यान में लीन। ध्यान कोष्ठक में प्रविष्ट। शुक्ल-ध्यान की अंतरिका में वर्तमान—एकत्ववितर्क ध्यान में लीन। उस स्थिति में भगवान् महावीर को केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। वे संपूर्ण लोक में विद्यमान सब जीवों के सब भावों को जानते-देखते हुए विहरण करने लगे। अब उन्हें बोलने का अधिकार प्राप्त हो गया। उन्होंने पहले समवसरण में धर्म का निरूपण किया। उस परिषद् में केवल देव विद्यमान थे, अतः कोई व्रती या महाव्रती नहीं बना। दूसरे समवसरण में मनुष्यों को धर्म का उपदेश दिया। वैशाख शुक्ला एकादशी। मध्यम पावा के बाहर महासेन उद्यान में महावीर ठहरे। अन्तर में अकेले और बाहर में भी अकेले। न कोई शिष्य, न कोई सहायक। प्राणियों के कल्याण की सहज स्फूर्त्त प्रेरणा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उस समय सोमिल ब्राह्मण मध्यम पावा में विशाल यज्ञ का आयोजन कर रहा था। उसकी यज्ञ वाटिका में इन्द्रभूति आदि ग्यारह यज्ञविद् विद्वान और उनके 4400 शिष्य उपस्थित थे। उन्होंने देखा—हजारों –हजारों लोग एक ही दिशा में जा रहे हैं। मन में कुतुहल उत्पन्न हुआ। संदेशवाहक से सूचना प्राप्त कर वे श्रमणों के नये नेता सर्वज्ञ महावीर के समवसरण में पहुंच गए।

महावीर अपनी आंखों में प्रवहमान मैत्री की पीयूषधारा को उनकी आंखों में उंडेलते हुए बोले—इन्द्रभूति गौतम! तुम आ गए? एक अपरिचित व्यक्ति से अपना नाम सुन गौतम नाना विकल्पों में उलझ गये। उनके संदेह के धागे को तोड़ते हुए महावीर ने पूछा—'गौतम! तुम्हें जीव के अस्तित्व के बारे में संदेह क्यों? जिसका पूर्व और पश्चिम नहीं है, उसका मध्य कैसे होगा? वर्तमान का अस्तित्व ही अतीत और भविष्य क अस्तित्व का साक्ष्य है। सूक्ष्म तत्त्व का अस्वीकार करें तो गति तत्त्व और आकाश का स्वीकार कैसे किया जाएगा? यह जीव इन्द्रियातीत सत्य है। इसे इन्द्रियों से अभिभूत मत करो, किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान से इसका साक्षात् करो।'

भगवान् की वाणी सुन गौतम का ग्रंथिभेद हो गया। अपने अस्तित्व के साक्षात् की तड़प तीव्र हो उठी और वह इन स्वरों में मुखर हुई—भंते! मुझे अपनी शरण में लें। भगवान् ने कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। इन्द्रभूति अपने पांच सौ शिष्यों सहित भगवान् की शरण में आ गए, आत्मसाक्षात्कार की साधना में दीक्षित हो गए। इन्द्रभूति ने श्रमणनेता के पास दीक्षित होकर ब्राह्मणों की गौरवमयी परम्परा के सिर पर फिर एक बार सुयश का कलश चढ़ा दिया। ब्राह्मण विद्वानों की गुणग्राहिता और सत्यान्वेषी मनोवृत्ति ने ही उन्हें सहस्राब्दियों तक विद्या और चरित्र में शिखरस्थ बनाए रखा है।

इन्द्रभूति की दीक्षा का समाचार जल में तेलबिन्दु की भांति ने सारे नगर में फैल गया। पैसे के पास पैसा जाता है। धनात्मक शक्ति ऋणात्मक शक्ति को अपनी ओर खींच लेती है। महावीर के शेष विद्वानों को इस प्रकार खींचा कि वे वहां जाने से रूक नहीं सके। एक-एक विद्वान आते गए और भगवान् से संबोधन तथा अपनी धारणा में संशोधन पाकर दीक्षित होते गए। उनकी धारणाएं थीं—

इन्द्रभूति—आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

अग्निभूति—कर्म का अस्तित्व नहीं है।

वायुभूति—जो शरीर है, वही जीव है।

व्यक्त—पंचभूत का अस्तित्व नहीं है।

सुधर्मा— प्राणी मृत्यु के बाद अपनी ही योनि में उत्पन्न होता है।

मंडित—बंध और मोक्ष नहीं है।

मौर्यपुत्र—स्वर्ग नहीं है।

अकंपित—नरक नहीं है।

अचलभ्राता—पुण्य और पाप पृथक् नहीं है।

मेतार्य—पुनर्जन्म नहीं है।

प्रभास—निर्वाण नहीं है।

भगवान् ने परिषद् के सम्मुख द्विविध धर्म की व्याख्या की—अगार धर्म (गृहस्थ धर्म) और अनगार धर्म (मुनि धर्म)। उन्होंने आत्म-साक्षात्कार के चतुरंग मार्ग का प्रतिपादन किया—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र और सम्यग् तप।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उन्होंने पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति—इस त्रयोदशांग मुनिधर्म का प्रतिपादन किया। उनके शासन में चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां दीक्षित हुईं। उस समय वैदिक प्रवक्ता स्त्री के प्रति हीनता का प्रसार करते थे। महावीर को वह इष्ट नहीं था। उन्होंने साध्वी संघ की स्थापना कर स्त्री जाति के पुनरूत्थान के कार्य को फिर गतिशील बना दिया। चन्दनबाला को दीक्षित कर उसे साध्वीसंघ का नेतृत्व सौंप दिया। साधु संघ का नेतृत्व इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को सौंपा।

भगवान् जातिवाद को अतात्त्विक एवं समताविरोधी मानते थे। इसलिए उनके संघ में सभी जातियों के लोग दीक्षित हुए। उनके ग्यारह प्रमुख शिष्य ब्राह्मण थे। उनके साथ दीक्षित होने वाले चवालीस सौ मुनि ब्राह्मण जाति से आये थे। क्षत्रिय जाति के लोग भी बड़ी संख्या में दीक्षित हुए थे। दशार्णपुर के राजा दशार्णभद्र, सिंधु-सौवीर के राजा उद्रायण, हस्तिनागपुर के राजा शिव आदि अनेक क्षत्रिय राजा भगवान् के पास दीक्षित हुए। कोशांबी के महाराज शतानीक की रानी मृगावती, मगध सम्राट् श्रेणिक की अनेक रानियां भी दीक्षित हुईं। धन्ना, शालिभद्र, अनाथी आदि वैश्य तथा हरिकेशबल अर्जुनमाली आदि शूद्र जाति के लोग भी भगवान् के संघ में दीक्षित हुए।

जो लोग साधु-जीवन की दीक्षा लेने में समर्थ नहीं थे, किन्तु समता धर्म में दीक्षित होना चाहते थे, उन्हें भगवान् ने अणुव्रत की दीक्षा दी। वे श्रावक-श्राविका कहलाए। लाखों गृहस्थ अणुव्रती बने।

महावीर साधु-जीवन और श्रावक-श्राविका—इस तीर्थ-चतुष्टय की स्थापना कर तीर्थंकर हो गए। संघीय जीवन का सिंह द्वार खुल गया। प्रश्न होता है कि कैवल्य-प्राप्त भगवान् के मन में तीर्थस्थापना की आकांक्षा शेष क्यों रही? तीर्थ का अर्थ है प्रवचन। भगवान् ने प्रवचन किया, इसलिए तीर्थंकर बन गए। प्रवचन का आकर्षण पा तीर्थ संगठित हो गया। उसने आर्हत् वाणी को सुरक्षित रखा। आज भी उसे सुरक्षित रखे हुए है।

2.23 महावीर और गौतम

गौतम पृष्ठचंपा से विहार कर भगवान् के पास आ रहे थे। पृष्ठचंपा के राजर्षि शाल और गागलि उनके साथ थे। भगवान के समवसरण में बैठने की व्यवस्था होती है। सब श्रोता अपनी-अपनी परिषद् में बैठते हैं। शाल और गागलि केवली-परिषद् की ओर जाने लगे। गौतम ने उन्हें उधर जाने से रोका। भगवान् ने कहा—गौतम! इन्हें मत रोको। ये केवली हो चुके हैं।

गौतम आश्चर्यचकित रह गए—मेरे नव-दीक्षित शिष्य केवली और मैं अकेवली। यह क्या? गौतम उदास हो गए। कुछ दिनों बाद गौतम अष्टापद की यात्रा पर गए। कोडिन्न, दिन्न और शैवाल—तीनों तापस अपने शिष्यों के साथ उस पर चढ़ रहे थे। वे गौतम से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गए। गौतम उन्हें साथ लेकर भगवान् के पास आए। वे केवली-परिषद् में जाने लगे। गौतम ने उन्हें उधर जाने से रोका। भगवान् ने कहा—गौतम! इन्हें मत रोको। ये केवली हो चुके हैं।

गौतम का धैर्य विचलित हो गया। मेरे देव! हम सब एक ही साधना-पथ पर चल रहे हैं। फिर मेरे शिष्यों का मार्ग इतना छोटा और मेरा मार्ग न जाने कितना लम्बा है?

भगवान् आश्वासन की भाषा में बोले—गौतम! तुम अधीर क्यों हो रहे हो? तुम चिरकाल से मेरे साथ स्नेह-सूत्र से बंधे हुए हो। चिरकाल से मेरे प्रशंसक हो। चिरकाल से परिचित हो। चिरकाल से प्रेम करते रहे हो। चिरकाल से अनुगमन करते रहे हो। चिरकाल से अनुकूल बरतते रहे हो।

इससे पहले जन्म में मैं देव था, उस समय तुम मेरे साथ थे। मनुष्य जन्म में भी तुम मेरे साथ हो। मेरा और तुम्हारा संबंध चिरपुराण है। भविष्य में इस देह-मुक्ति के बाद हम-दोनों तुल्य होंगे। मेरा और तुम्हारा अर्थ भिन्न नहीं होगा, प्रयोजन भिन्न नहीं होगा, क्षेत्र भिन्न नहीं होगा। यह सब स्वल्प काल में ही घटित होने वाला है। फिर तुम खिन्न क्यों होते हो? तुम जागरूक रहो, पल-भर भी प्रमाद मत करो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान् ने रहस्य को अनावृत करते हुए कहा—गौतम! इन नव-दीक्षित श्रमणों का साधना-पथ छोटा नहीं है। ये द्रुतगति से चले। इन्होंने स्नेह-सूत्र को तत्परता से छिन्न कर डाला। इसीलिए ये अपने लक्ष्य पर जल्दी पहुंच गए।

तुम अभी स्नेह-सूत्र को छिन्न नहीं कर पाए हो। तुम्हारी आसक्ति का धागा मेरे शरीर में उलझ रहा है। तुम जानते हो कि स्नेह का बंधन कितना सूक्ष्म और कितना जटिल होता है। काठ को भेद देने वाला मधुकर कमल-कोश में बन्दी बन जाता है। तुम इस बंधन को देखो और देखते रहो। एक क्षण आएगा कि तुम देखोगे, अपने में प्रकाश ही प्रकाश। सब कुछ आलोकित हो उठेगा।

महावीर और गोशालक

साधना का दूसरा वर्ष। भगवान् के तपस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मंखलिपुत्र गोशालक उनका शिष्य बन गया। वह कुछ वर्षों तक महावीर के साथ रहा, फिर उसने उनका साथ छोड़ दिया।

साधना का तीसरा वर्ष। महावीर और गोशालक कोल्लाग सन्निवेश से सुवर्णखल की ओर जा रहे थे। मार्ग में एक स्थान पर ग्वाले खीर पका रहे थे। गोशालक ने रुकने के लिए कहा तो महावीर ने कहा—खीर नहीं पकेगी, हांडी फट जाएगी। यह कहकर महावीर आगे चले गये। गोशालक वहीं रहा। उसने ग्वालों को सावधान कर दिया। ग्वालों ने हांडी को बांस की खपाचियों से बांध दिया। हांडी दूध से भरी थी। चावल अधिक थे। वे फूले तब हांडी फट गई। खीर नीचे गिर गई। गोशालक के मन में नियति का पहला बीज-वपन हो गया। उसने सोचा—जो होने का होता है, वह होकर ही रहता है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुईं और वह नियतिवादी हो गया।

साधना का दसवां वर्ष। महावीर कूर्मग्राम में विहार कर रहे थे। वहां वैश्यायन नाम का तपस्वी तपस्या कर रहा था। मध्यान्ह का समय। दोनों हाथ ऊपर की ओर तने हुए। खुली जटा। सूर्य के सामने दृष्टि। यह थी उसकी मुद्रा। उसकी जटा से जूएं गिर रही थीं। वह उन्हें उठाकर पुनः अपनी जटा में रख रहा था। यह देख गोशालक ने कई बार पूछा—भंते! वह जुओं का शय्यास्तर (आश्रयदाता) कौन है? तपस्वी क्रुद्ध हो गया। उसने तेजोलब्धि नामक योगशक्ति का प्रयोग किया। मुंह से धुआं निकलने लगा। आग की तेज लपटें उठने लगी। महावीर ने शीतल तेजोलब्धि का प्रयोग कर उसे हतप्रभ कर दिया। गोशालक का जीवन बच गया। अब इस लब्धि के लिए उसका मन उत्सुक हो उठा। महावीर ने इसका रहस्य समझाया और उसने साधना प्रारंभ कर दी—छह मास तक निरंतर दो-दो उपवास (बेले-बेले) की तपस्या की, सूर्य के सामने दृष्टि रख कर खड़े-खड़े उसका आतप लिया, पारणा के दिन मुट्ठीभर उबले हुए छिलकेदार उड़द खाये और चुल्लुभर गर्म पानी पीया। इस साधना से वह तेजोलब्धि प्राप्त कर शक्तिशाली हो गया। वह छह वर्ष तक महावीर के साथ रहा, फिर अलग हो गया।

तीर्थंकर काल का पन्द्रहवां वर्ष। भगवान् महावीर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में ठहरे हुए थे। उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम आहार की एषणा के लिए नगरी में गए। लोगों से सुना कि गोशालक अपने आपको जिन (तीर्थंकर) कहता है। गौतम की जिज्ञासा को समाहित करते हुए महावीर ने कहा—गोशालक मंखलि भद्रा का पुत्र है। वह मेरा शिष्य रह चुका है। मैंने उसे कुछ अतीन्द्रिय ज्ञान से परिचित करवाया था।

लोगों से इन बातों को सुन गोशालक का मन प्रज्वलित हो गया। एक दिन वह अपने आजीवक संघ के साथ भगवान् की परिषद् में आकर बोला—आयुष्मान् काश्यप! मैं तुम्हारा शिष्य नहीं हूं। जो तुम्हारा शिष्य था, वह मर चुका। मैं सात शरीरांत प्रवेश कर चुका हूं।

सातवें मनुष्य भव में मैं उदायी कुंडियान था। राजगृह नगर के बाहर मण्डिकुक्ष चैत्य में उदायी कुंडियान का शरीर छोड़कर मैंने ऐणेयक के शरीर में प्रवेश किया और बाईस वर्ष उसमें रहा। चम्पा,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वाराणसी, वैशाली आदि नगरों में रोह आदि व्यक्तियों के शरीर में प्रवेश किया, वर्षों तक उसमें रहा। अब श्रावस्ती में हालाहला की भांडशाला में अर्जुन के शरीर को छोड़कर इस गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। सोलह वर्ष पश्चात् मुक्त हो जाऊंगा। इस प्रकार एक सौ तेईस वर्षों में मैंने सात शरीरांत-परावर्तन किया।

भगवान् ने कहा—तुम अपने आपको छिपाओ मत। ऐसा करना उचित नहीं है। गोशालक क्रुद्ध होकर अनर्गल बकवास करने लगा— पता नहीं आज तुम बच पाओगे या नहीं। अब मेरे हाथों तुम्हारा अप्रिय होने वाला है।

सब श्रमण मौन थे। उन्हें भगवान् ने पहले ही निर्देश दे दिया था—यदि गोशालक यहां आये तो कोई उससे वाद-विवाद न करे, पूर्व घटना की स्मृति न दिलाए और उसका तिरस्कार न करे। किन्तु पूर्वदेशीय शिष्य अनगार सर्वानुभूति और अयोध्या से प्रव्रजित अनगार सुनक्षत्र मौन न रह सके। उसको समझाने का प्रयत्न किया तो वह उत्तेजित हो उठा, तैजस शक्ति का प्रयोग किया और भगवान् के देखते-देखते उन दोनों को भस्म कर दिया। फिर उसने पूरी शक्ति लगा भगवान् पर तैजस शक्ति का प्रयोग किया। सब हतप्रभ-से हो गये। वह शक्ति भगवान् के शरीर के पास चक्कर काटती रही, फिर आकाश में उछली और लौटकर गोशालक के शरीर को प्रज्वलित करती हुई उसी में प्रविष्ट हो गई। वह बोला—काश्यप! अब तुम पित्तज्वर और दाह में पीड़ित होकर छह मास के भीतर असर्वज्ञ दशा में ही मर जाओगे। भगवान् ने कहा—मैं छह मास के भीतर नहीं मरूंगा। अभी सोलह वर्ष तक जीवित रहूंगा। तुम सात दिन में मृत्यु का वरण करोगे।

भगवान् श्रावस्ती से विहार कर मेंढिय ग्राम पहुंचे। वहां उन्हें पित्तज्वर, दाह और रक्तातिसार हो गया। प्रवास स्थल शाणकोष्ठक चैत्य के पास ही मालुयाकच्छ था। वहां अंतेवासी सिंह अनगार ध्यान साधना कर रहा था। पित्तज्वर, दाह आदि की चर्चा सुन वह आतापन भूमि से उतरा और मालुयाकच्छ में आकर जोर-जोर से रोने लगा। भगवान् ने श्रमणों को भेज उसे बुलाया, पूर्णतः आश्वस्त किया। सिंह ने दवा के लिए अनुरोध किया। भगवान् ने कहा—काल का परिपाक होने पर अपने आप शांत हो जाएगा। आग्रह करने पर भगवान् ने कहा—सिंह! तुम गृहपत्नी रेवती के घर जाओ। उसने मेरे लिए कुम्हड़े का पाक बनाया है। वह तुम मत लाना। उसने अपने घर के लिए बिजौरापाक बनाया है, वह ले आओ। वह गया, बिजौरापाक ले आया। भगवान् ने खाया। रोग थोड़े समय में शांत हो गया। भगवान् स्वास्थ्य का सुखसंवाद पाकर सब प्रसन्न हुए।

गोशालक की सातवें दिन मृत्यु हो गई। अंतिम समय में उसने कुकृत्यों-दुष्कृत्यों की भर्तसना की, आत्मालोचना किया और मरकर बारहवें अच्युत कल्प विमान में उत्पन्न हुआ। वह वहां से च्यवन कर दीर्घ काल तक भवभ्रमण करता हुआ अंत में मुक्त हो जायेगा।

महावीर के वर्षावास

वर्षावास	स्थान
प्रथम वर्षावास	अस्थिग्राम
दो वर्षावास	चंपा और पृष्ठचंपा
बारह वर्षावास	वैशाली और वाणिज्यग्राम
चौदह वर्षावास	राजगृह और नालंदा
छह वर्षावास	मिथिला
दो वर्षावास	भद्रिका
एक वर्षावास	आलभिका
एक वर्षावास	श्रावस्ती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक वर्षावास	पण्यभूमि (अनार्य देश)
अंतिम	मध्यम अपापा नगरी

2.24 महावीर का परिनिर्वाण

श्रमण भगवान् महावीर ने अंतिम वर्षावास मध्यम अपापा नगरी में हस्तिपालक राजा की रज्जुक सभा में किया। उस वर्षावास का चौथा महीना। सातवां पक्ष। कार्तिक का कृष्ण पक्ष। अमावस्या। दो दिन का निर्जल उपवास। भगवान् दो दिन-रात तक प्रवचन करते रहे। अंतिम प्रवचन में पुण्य-पाप के फलों का विशद विवेचन किया। भगवान् प्रवचन करते-करते ही निर्वाण को प्राप्त हो गए। उनके जन्म, जरा, मृत्यु के बंधन टूट गए। वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, अंतकृत, परिनिर्वृत और सब दुःखों से मुक्त हो गए। उस समय रात्रि चार घड़ी शेष थी। क्षणभर के लिए समूचे प्राणी-जगत् में सुख की लहर दौड़ गई।

परिनिर्वाण के समय चंद्र नाम का दूसरा संवत्सर, प्रीतिवर्धन मास, नंदिवर्धन पक्ष, अग्निवेश दिन (उपशम), देवानंदा रात्रि (निर्ऋति), अर्चि लव, मुहूर्त्त प्राण, स्तोक सिद्ध, नागकरण, सर्वार्थसिद्धि मुहूर्त्त और स्वातिनक्षत्र का योग था। वह रात्रि नीचे उतर रहे और ऊपर जा रहे बहुत से देव-देवियों के विमानों के प्रकाश से उद्योतित हो गई।

दीपावली पर्व—उस अमावस्या की रात्रि को नव मल्लवी और नव लिच्छवी—काशी-कौशल के अठारह गणराजाओं ने प्रतिपूर्ण पौषध किया। भाव उद्योत चला गया, यह सोच उन्होंने द्रव्य उद्योत करने का संकल्प किया।

गौतम को कैवल्य—उस रात्रि को महावीर के ज्येष्ठ अंतेवासी शिष्य इन्द्रभूति गौतम का रागबन्धन विच्छिन्न हो गया। उन्हें अनंत, अनुत्तर केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

ईसा पूर्व 599 (विक्रम पूर्व 542) में भगवान् का जन्म हुआ।
ईसा पूर्व 569 (विक्रम पूर्व 512) में भगवान् श्रमण बने।
ईसा पूर्व 557 (विक्रम पूर्व 500) में भगवान् केवली बने।
ईसा पूर्व 527 (विक्रम पूर्व 470) में भगवान् का निर्वाण हुआ।

शिष्य सम्पदा

श्रमण	14000
श्रमणी	36000
श्रावक	1,59000
श्राविका	3,18000
अनुत्तर विमान में उत्पन्न	800
केवलज्ञानी श्रमण	700
केवलज्ञानी श्रमणी	1400
अवधिज्ञानी	1300
मनःपर्यवज्ञानी	500
वैक्रियलब्धिधर	700
वादी	400
चौदहपूर्वी	300

परम्परा भेद

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में भगवान् महावीर के जीवनवृत्त विषयक आम्नाय भेद इस प्रकार हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्वेताम्बर	दिगम्बर
1. भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहन थी।	1. भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की पुत्री थी।
2. राजकुमार महावीर का विवाह वसंतपुर नगर के समरवीर की पुत्री यशोदा के साथ हुआ।	2. महावीर के सामने कलिंग नरेश जितशत्रु की महासांमत की पुत्री यशोदा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव आया पर उन्होंने विवाह नहीं किया।
3. दीक्षा के पूर्व भगवान् के माता-पिता दिवंगत हो चुके थे।	3. दीक्षा के समय माता-पिता विद्यमान थे।
4. भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश वैशाख शुक्ला 11, मध्यम पावापुरी में हुआ।	4. भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्णा 1, विपुलाचल पर्वत पर हुआ।
5. महावीर वाणी द्वारा उपदेश देते थे।	5. महावीर दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देते थे।
6. महावीर केवली होने के पश्चात् भी आहार करते थे।	6. महावीर केवली होने के पश्चात् आहार नहीं करते थे।
7. महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आचार्य सुधर्मा हुए।	7. महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आ. गौतम हुए।

2.25 मौलिक सिद्धान्त

भगवान् राजकुल में जन्मे। वैभव में पले-पुसे। भगवान् तीस वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। साढ़े बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया। तीस वर्ष तक धर्मोपदेश किया। भगवान् ने काशी, कोशल पंचाल कलिंग, कम्बोज, कुरू-जांगल, बाह्लीक, गांधार, सिंधु-सौवीर आदि देशों में विहार किया। उन्होंने जनता को शान्ति, समता और अनेकान्त का मार्गदर्शन दिया। उनका दर्शन केवल व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए भी है। उनका धर्म केवल परलोक के लिए नहीं, वर्तमान लोक के लिए भी है। उनकी आचार-पद्धति से आन्तरिक समस्याएं ही नहीं सुलझतीं, समाज-व्यवस्था की समस्याएं भी सुलझती हैं। उनकी अहिंसा कायर की अहिंसा नहीं है। वह योद्धा की अहिंसा है। अभय और पराक्रम उसके साथ जुड़े हुए हैं। उनकी निवृत्ति अकर्मण्यता नहीं है। वह कर्म के परिष्कार की अजेय शक्ति और मानसिक शक्ति का महान् साधन है। आज भी उनकी वाणी में विश्व शान्ति के पथ दर्शन की क्षमता है। उनके सिद्धान्त आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व थे। महावीर के धर्म, दर्शन और व्यवहार से संबंधित सिद्धान्तों की संक्षिप्त चयनिका यहां प्रस्तुत है—

(अ) अनेकांत और समता

गणधर गौतम भगवान् से बहुत प्रश्न पूछा करते थे। एक बार उन्होंने पूछा—भंते! आप अस्ति हैं या नास्ति? भगवान् ने कहा—में अस्ति भी हूं और नास्ति भी हूं। दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं? इसको समाहित करते हुए महावीर ने कहा—यह एकांततः निश्चित है कि मैं अपने चैतन्य से ही अस्ति हूं और यह भी एकांततः निश्चित है कि मैं दूसरों के चैतन्य से अस्ति नहीं हूं।

कोई भी वस्तु केवल सत् या केवल असत् नहीं है। वह सत् और असत्—इन दोनों धर्मों का सह-अस्तित्व है। उसमें नित्य-अनित्य, सदृश-विसदृश, वाच्य-अवाच्य जैसे अनंत युगल हैं। इन युगलों का सहअस्तित्व ही तत्त्व है। यही अनेकांत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवजगत् के सम्पर्क में अहिंसा की रेखाएं मैत्री का और तत्त्व जगत् के सम्पर्क में वे अनेकांत का चित्र निर्मित करती हैं। भगवान् के मानस से निःसृत मैत्री की सघन रश्मियां सिंह को प्रेममय और बकरी को अभय बना देती थीं। भगवान् की सन्निधि में दोनों आस-पास बैठ जाते।

महावीर के सहारे अनुभवों और वक्तव्यों को दो शब्दों की परिधि में समेटा जा सकता है—अनेकांत और समता। महावीर ने अपने समय के दार्शनिकों को देखा और अनुभव किया कि समग्र दृष्टिकोण के बिना समग्र सत्य को जाना नहीं जा सकता, समझा नहीं जा सकता। उन्होंने समग्र दर्शन का प्रतिपादन किया। अनेकांत का दर्शन वीतरागता के प्रति प्रस्थान है और है सब दर्शनों में समन्वय खोजने की एक दिव्य दृष्टि।

महावीर के द्वारा प्रतिपादन धर्म का नाम है—समता धर्म, सामायिक धर्म। उन्होंने समता को अनेक रूपों में जीया और उसके अनेक रूपों का प्रतिपादन किया। यथा—

. सब जीवों को आत्मतुल्य समझना।

. हर परिस्थिति में संतुलन न खोना।

. राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीना।

समता सुरतरु की दो महान् शाखाएं हैं—अपरिग्रह और अहिंसा। समता आचरण भी है और दृष्टिकोण को सम्यक् बनाने का साधन भी। समता की प्रतिष्ठा होने पर दृष्टिकोण अपने आप सम्यक् बन जाता है।

समता का विकास मैत्री, अभय और सहिष्णुता इन तीन आयामों में होता है। जिसमें परिस्थिति को सहन करने की क्षमता नहीं है, वह अभय नहीं हो सकता और भयभीत मनुष्य में मैत्री का विकास नहीं हो सकता।

(ब) अहिंसा और मैत्री

महावीर का समन्वय का सिद्धान्त वस्तु जगत् में बौद्धिक है, प्राणी जगत् में वह अहिंसक है। महावीर की सम्पूर्ण यात्रा व्यक्तित्व से अस्तित्व की ओर है। उन्होंने कहा—

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू दास बनाना चाहता है, वह तू ही है।

यदि कोई आत्मा मुझसे भिन्न नहीं है तो मैं किसे मारूंगा? अस्तित्व के धरातल पर यह अभेदानुभूति है। यही है अहिंसा। आत्मा-आत्मा के बीच भेदानुभूति है, वह हिंसा है। आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है। व्यक्तित्व के जगत् में महावीर ने कहा—'किसी प्राणी को मत मारो। जैसे तुम्हें दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरे प्राणियों को दुःख अप्रिय है। इसलिए किसी को मत सताओ। सबको आत्मतुल्य समझो। समानता की अनुभूति होने पर हिंसा की वृत्ति शांत हो जाती है।

प्रमाद हिंसा है। अप्रमाद अहिंसा है। किसी के प्रति दुर्भावना मात्र हिंसा है। भगवान् बुद्ध ने **'बहुजनहिताय'** का उद्घोष किया। भगवान् महावीर ने **'सर्वजनहिताय'** अहिंसा का संदेश दिया। अहिंसा शाश्वत धर्म है। वह सब जीवों की रक्षा के लिए है। अहिंसा के घड़े में शत्रुता का एक भी छेद नहीं रह सकता। वह पूर्ण निश्छिद्र होकर ही समत्व के जल को धारण कर सकता है।

महावीर का प्रसिद्ध घोष है—**'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'** स्वयं सत्य की खोज करो। इस घोषणा ने जैन दर्शन को वैज्ञानिक होने का श्रेय दिया है और वह वैज्ञानिक युग में अधिक प्रासंगिक बना है। वैज्ञानिक जगत् में भी सत्य की खोज के अधिकार की स्वतंत्रता है। इस स्वतंत्रता ने वैज्ञानिक को अणुबम के युग तक पहुंचा दिया। महावीर ने इस त्रासदी पर भी अंकुश लगाया। उनका अग्रिम घोष है—**मेत्तिं भूएसु कप्पए**—सब जीवों के साथ मैत्री करो। सत्य की खोज को सर्वजीव मैत्री में बाधक मत बनने दो। यदि सत्य की खोज के साथ मैत्री की अनिवार्य प्रकल्पना होती तो विज्ञान संहार की भूमिका पर आरोहण नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करता। सत्य की खोज और मैत्री की प्रकल्पना का युगपत् प्रत्यय होने पर ही मानवीय शक्ति सृजनात्मक हो सकती है। उसी अवस्था में विश्वशांति और निःशस्त्रीकरण की कल्पना साकार हो सकती है।

मृगावती और चण्डप्रद्योत

भगवान् व्यवहार की भूमिका के औचित्य को समझते थे। इसलिये उन्होंने जनता को प्रत्याक्रमण का निषेध नहीं दिया और नहीं दिया कर्तव्य के अतिक्रमण का संदेश। भगवान् प्रत्याक्रमण में भी अहिंसा का दृष्टिकोण बनाए रखने का संकल्प देते थे। हिंसा की अनिवार्यता आ जाने पर भी करुणा की स्मृति का संकल्प देते थे।

उज्जयिनी का राजा चण्डप्रद्योत बहुत शक्तिशाली था। वह उस युग का प्रसिद्ध कामुक था। महारानी मृगावती का चित्र फलक देख वह मुग्ध हो गया। उसने दूत भेजकर शतानीक से मृगावती की मांग की। शतानीक ने कड़ी भर्त्सना के साथ उसे ठुकरा दिया। चण्डप्रद्योत क्रुद्ध होकर वत्स देश की ओर चल पड़ा। शतानीक घबरा गया। उसके हृदय पर आघात लगा। उसे अतिसार की बीमारी हो गई और वह इस संसार से चल बसा।

महारानी ने कौशांबी की सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ कर ली। वत्स की जनता अपने देश और महारानी की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध हो गई। चण्डप्रद्योत की विशाल सेना ने नगरी को घेर लिया। चारों ओर युद्ध का आंतक छा गया। मृगावती को भगवान् महावीर की स्मृति हुई। उसे अंधकार में प्रकाश की रेखा का अनुभव हुआ। समस्या का समाधान दीखने लगा। भगवान् महावीर कौशांबी के उद्यान में आ गए। भगवान् के आगमन का संवाद पाकर मृगावती ने कौशांबी के द्वार खुलवा दिए। भय का वातावरण अभय में बदल गया।

मृगावती महावीर के समवसरण में आई। चण्डप्रद्योत भी आया। भगवान् ने न किसी की प्रशंसा की ओर न किसी के प्रति आक्रोश प्रकट किया। वे मानवीय दुर्बलताओं से भली भांति परिचित थे। उन्होंने मध्यस्थभाव से अहिंसा की चर्चा की। उससे सबके मन में निर्मलता की धार बहने लगी। चण्डप्रद्योत का आक्रोश शांत हो गया।

उचित अवसर देख मृगावती बोली—भंते! मैं आपकी वाणी से बहुत प्रभावित हुई हूं। महाराज चण्डप्रद्योत मुझे स्वीकृति दें और वत्स के राजकुमार उदयन की सुरक्षा का दायित्व अपने कंधों पर लें तो मैं साध्वी होना चाहती हूं। चण्डप्रद्योत का सिर नत और मन प्रणत हो गया। अहिंसा के आलोक में वासना का अंधतमस् विलीन हो गया। उसने उदयन का भाग्यसूत्र अपने हाथ में लेना स्वीकार कर लिया, आक्रामक संरक्षक बन गया। मृगावती का शील सुरक्षित रह गया। उसे साध्वी बनने की स्वीकृति मिल गई। युद्ध के बादल फट गये। उज्जयिनी और वत्स—दोनों मैत्री के सघन सूत्र में बंध गये।

(स) अपरिग्रह

महावीर ने असंग्रह को महाव्रत के रूप में प्रस्तुत किया। जो व्यक्ति अपरिग्रह को नहीं समझता, वह, धर्म को नहीं समझ सकता। चैतन्य से भिन्न जो कुछ है, वह सब परिग्रह है, यदि उसके प्रति मूर्च्छा है। परिग्रह के दो रूप हैं—1. अंतरंग परिग्रह मूर्च्छा। 2. बाह्य परिग्रह—वस्तु।

वस्तु अपने आप परिग्रह नहीं है। वह मूर्च्छा से जुड़कर परिग्रह बनती है। जिसके पास में जीवन निर्वाह के साधन मात्र हैं और मन में मूर्च्छा नहीं है, वह संयमी है। भगवान् ने सामाजिक मनुष्य को अपरिग्रह की दिशा में ले जाने के लिए परिग्रह-संयम का सूत्र दिया। उसका भीतरी आकार था इच्छापरिणाम और बाहरी आकार था वस्तुपरिणाम। वस्तु का अपरिमित संग्रह वही व्यक्ति करता है, जिसकी इच्छा अपरिमित है। महावीर ने संग्रह-नियंत्रण की दो दिशाएं प्रस्तुत की—1. अर्थार्जन में साधन शुद्धि का विवेक। 2. व्यक्तिगत जीवन में संयम का अभ्यास। महावीर ने अल्पपरिग्रही समाज रचना की नींव डाली। इसमें लाखों स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए। उन्होंने अपनी आवश्यक सम्पत्ति से अधिक संग्रह नहीं करने का संकल्प किया। अल्पपरिग्रही व्यक्तियों के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिए निम्न आचरण वर्जित थे—1. मिलावट। 2. झूठा तोल-माप। 3. असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देना। 4. पशुओं पर अधिक भार लादना। 5. दूसरों की आजीविका का विच्छेद करना।

संग्रह में आसक्त दोनों वैर की अभिवृद्धि करता है। वैर की वृद्धि करने वाला अहिंसा को विकसित नहीं कर सकता। अहिंसा और अपरिग्रह एक ही वस्तु के दो छोर हैं एक की प्रतिष्ठा में दूसरे की प्रतिष्ठा सन्निहित है।

1. श्रमणोपासक पूनिया

भगवान् ने जन-जन में अपरिग्रह की निष्ठा का निर्माण किया। 'पूनिया' उस निष्ठा का ज्वलन्त प्रतीक था। सम्राट श्रेणिक ने उससे कहा— तुम एक सामायिक (समता की साधना का व्रत) मुझे दे दो। उसके बदले में मैं तुम्हें आधा राज्य दे दूंगा। 'पूनिया' ने विनम्रता के साथ सम्राट का प्रस्ताव लौटा दिया। अपनी आत्मिक साधना का सौदा उसे मान्य नहीं हुआ। पूनिया कोई धनपति नहीं था। वह रूई की पूनिया बनाकर अपनी जीविका चलाता था। पर वह समत्व का धनी था। परिग्रह के केन्द्रीकरण में उसका विश्वास नहीं था। वह भगवान् महावीर के अल्प-संग्रह के आंदोलन का प्रमुख अनुयायी था। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादि क्रांतिकारी दर्शन-सिद्धान्तों के कुछ स्फुलिंग यहां प्रस्तुत हैं—

1. अहिंसा, संयम और तपोमय धर्म उत्कृष्ट मंगल है और वही सर्वाधिक कल्याणकारी है।
2. धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है। चरित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश त्राण नहीं देते।
3. जाति और गोत्र त्राण नहीं देते।
4. विविध भाषाएं और नानाविध विद्याएं शांति नहीं देतीं। शांति का मार्ग है धर्म।
5. मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय। कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र।
6. जो व्यक्ति सम्प्रदाय से अतीत है और जिसने धर्म का पहला पाठ भी नहीं सुना, वह आध्यात्मिक पवित्रता को बढ़ाते-बढ़ाते केवली (सर्वज्ञ) हो जाता है, असोच्चा (अश्रुत्वा) केवली कहलाता है।
7. कुछ व्यक्ति गृहस्थ के वेश में मुक्त हो जाते हैं, वे गृहलिंग सिद्ध कहलाते हैं।
8. कुछ व्यक्ति अन्यतीर्थिकों के वेश में मुक्त हो जाते हैं, वे अन्यलिंग सिद्ध कहलाते हैं।
9. साधनापथ में तप बहिरंग साधन है, ध्यान अंतरंग साधन। दो दिन का उपवास दो मिनट के ध्यान की तुलना नहीं कर सकता।
10. संचित संस्कारों को क्षीण करने के लिए तप तपो, शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं। कायक्लेश भी तप है, जिसका अर्थ है—आसन प्रयोग से शरीर और मन की शक्तियों का विकास करना।

2. श्रावक धर्म

भगवान् महावीर ने दो प्रकार का धर्म प्रतिपादित किया—अगार धर्म और अनगार धर्म। जो लोग अनगार धर्म (साधु जीवन) की दीक्षा लेने में समर्थ नहीं थे, किन्तु समता धर्म में दीक्षित होना चाहते थे, उन्हें भगवान् ने अगारधर्म (अणुव्रत) की दीक्षा दी। वे श्रावक-श्राविका या श्रमणोपासक कहलाये। भगवान् के आनंद प्रमुख दस श्रमणोपासकों का जीवनवृत्त उपासक दशा आगम में उपलब्ध है।

श्रमणोपासक आनंद

कोल्लाग सन्निवेश में पटेल जाति का आनंद गृहपति रहता था। उसके पास बारह करोड़ स्वर्णमुद्राएं और चालीस हजार गायें थीं। एक दिन उसने भगवान् महावीर से धर्म सुना। हृष्ट-पुष्ट होकर आनंद बोला—भंते! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूं। मैं आपके पास पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत—इस बारह व्रत वाले श्रावक धर्म को अंगीकार करना चाहता हूं। भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय! जैसा चाहो, विलंब न करो। पत्नी शिवानंदा सहित उसने श्रावक धर्म स्वीकार किया। बीस वर्षों तक श्रावक धर्म की सम्यक्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुपालना कर अंत में उसने संलेखनापूर्वक अनशन स्वीकार किया। अनशन में आंतरिक उज्जवलता और जागरूकता से उसे अवधिज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) उत्पन्न हुआ।

गौतम भगवान् के प्रथम शिष्य थे। भगवान् की अनेकान्त-दृष्टि के महान् प्रवक्ता और महान् भाष्यकार। एक दिन उन्हें पता चला कि उपासक आनंद समाधि-मरण की आराधना कर रहा है। वे आनंद के उपासना-गृह में गए। आनंद ने उनका अभिवादन किया। धर्मचर्या के प्रसंग में आनंद ने कहा—भंते! भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अप्रमाद की साधना से मुझे विशाल अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। मैंने पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में पांच सौ योजन लवण समुद्र के अंदर तक, उत्तर में चुल्ल हिमवंत पर्वत तक, ऊपर सौधर्म कल्प और नीचे प्रथम नरक के लौलुच्य नरकावास को जाना-देखा है। गौतम बोले—आनंद! गृहस्थ को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है पर इतना विशाल नहीं हो सकता। तुम कहते हो कि इतना विशाल प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, इसके लिए तुम प्रायश्चित करो।

भंते! क्या भगवान् ने सत्य बात कहने वाले के लिए प्रायश्चित का विधान किया है? नहीं, सर्वथा नहीं। 'भंते! यदि भगवान् ने सत्य बात कहने वाले के लिए प्रायश्चित का विधान नहीं किया है तो आप ही प्रायश्चित करें। आनंद की यह बात सुन गौतम के मन में संदेह उत्पन्न हो गया। वे वहां से प्रस्थान कर भगवान् महावीर के पास गए। सारी घटना भगवान् के सामने रखकर पूछा—भंते! प्रायश्चित आनंद को करना होगा या मुझे?

भगवान् ने कहा—आनंद ने जो कहा है, वह जागरण के क्षण में कहा है। वह सही है। उसे प्रायश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रमाद तुमने किया है। तुमने जो कहा वह सही नहीं है, इसलिए तुम ही प्रायश्चित करो। आनंद के पास जाओ, उसकी सत्यता को समर्थन दो और क्षमायाचना करो।

गौतम तत्काल आनंद के उपासना-गृह में पहुंचे। भगवान् के प्रधान शिष्य का आनंद के पास जाना, उसके ज्ञान का समर्थन करना, अपने प्रमाद का प्रायश्चित करना और क्षमा मांगना— व्यक्ति-निर्माण की दिशा में अद्भुत प्रयोग था। आनंद समाधिमरण का वरण कर सौधर्म कल्प में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यवनकर महाविदेह क्षेत्र में मुक्त होगा।

3. श्रमणोपासक महाशतक

महावीर के तीर्थंकर काल का दसवां वर्ष। महाशतक उपासना-गृह में धर्म की आराधना कर रहा था। उसकी पत्नी रेवती बहुत निर्मम और निर्दय थी। उसने महाशतक को विचलित करने का प्रयत्न किया। उसकी ध्यान-धारा विच्छिन्न नहीं हुई। उसका साधना क्रम अविचल रहा। कुछ दिन बाद रेवती ने फिर वैसा प्रयत्न किया। इस बार महाशतक क्रुद्ध हो गया। उसने रेवती की भर्त्सना की। क्रोध के आवेश में कहा—रेवती! तुम इसी सप्ताह विशूचिका से पीड़ित होकर मर जाओगी। मृत्यु के पश्चात् तुम नरक में जन्म लोगी।

रेवती भयभीत हो गई। वह रोग, मृत्यु और नरक का नाम सुन घबरा गई। शब्द-संसार में ये तीनों शब्द सर्वाधिक अप्रिय हैं। महाशतक ने एक साथ इन तीनों का प्रयोग कर दिया। वह सप्ताह पूरा होते-होते मर गई।

भगवान् महावीर राजगृह आए। भगवान् ने गौतम से कहा— उपासक महाशतक ने अपनी पत्नी के लिए अप्रिय शब्दों का प्रयोग किया है। तुम जाओ और उससे कहो— समत्व की साधना में तन्मय उपासक के लिए अप्रिय शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं है। इसलिए तुम उसका प्रायश्चित करो।

गौतम महाशतक के पास गए। भगवान् का संदेश उसे बताया। उसे अपने प्रमाद का अनुभव हुआ। उसने प्रायश्चित किया। अप्रमाद की ज्योति फिर प्रज्वलित हो गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. श्रमणोपासक कामदेव

तीर्थंकर काल का अठारहवां वर्ष। कामदेव अपने उपासना गृह में शील और ध्यान की आराधना कर रहा था। पूर्वरात्रि का समय था। उसके सामने अकस्मात् पिशाच की डरावनी आकृति उपस्थित हो गई। वह कर्कश ध्वनि में बोली—कामदेव! इस शील और ध्यान के पाखण्ड को छोड़ दो। यदि नहीं छोड़ोगे तो तलवार से तुम्हारे सिर के टुकड़े-टुकड़े कर डालूंगा। कामदेव अप्रमाद के क्षण का अनुभव कर रहा था। उसके मन में न भय आया, न कम्पन और न दु:ख।

पिशाच को अपने प्रयत्न की व्यर्थता का अनुभव हुआ। वह खिसिया गया। उसने विशाल हाथी का रूप बना कामदेव को फिर विचलित करने की चेष्टा की। उसे गेंद की भांति आकाश में उछाला। नीचे गिरने पर पैरों से रौंदां पर उसका ध्यान भंग नहीं कर सका।

पिशाच अब पूरा सठिया गया। उसने भयंकर सर्प का रूप धारण किया। कामदेव के शरीर को डंक मार-मारकर बींध डाला। पर उसे भयभीत नहीं कर सका। आखिर वह अपने मौलिक देवरूप में उपस्थित हो वहां से चला गया। प्रमाद-अप्रमाद से पराजित हो गया।

भगवान् महावीर चंपा में आए। कामदेव भगवान् के पास आया। भगवान् ने श्रमण-श्रमणियों को आमंत्रित कर कहा—आर्यों! कामदेव गृहवासी है, फिर भी इसने अपूर्व जागरूकता का परिचय दिया है, दैविक उपसर्गों को अपूर्व समता से सहा है। इसका जीवन धन्य हो गया। तुम मुनि हो। इसलिए तुम्हारी धर्म-जागरिका, समता, सहिष्णुता और ध्यान की अप्रकम्पता इससे अनुत्तर होनी चाहिए।

जयन्ती

तीर्थंकर काल का तीसरा वर्ष चल रहा था। भगवान् कौशम्बी के चन्द्रावतरण चैत्य में विहार कर रहे थे। महाराज शतानीक की बहन जयन्ती वहां आई। उसने वंदना कर पूछा—'भंते! सोना अच्छा है या जागना अच्छा है? कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है।'

'भंते! ये दोनों कैसे?

'अधार्मिक मनुष्य जागकर दूसरों को सुला देता है, इसलिए उसका सोना अच्छा है। धार्मिक मनुष्य जागकर दूसरों को जगा देता है, इसलिए उसका जागना अच्छा है।

'भंते! जीवों का दुर्बल होना अच्छा है या सबल होना?

'कुछ जीवों का दुर्बल होना अच्छा है और कुछ जीवों सबल होना अच्छा।

'भंते! ये दोनों कैसे?

'अधार्मिक मनुष्य अधर्म से आजीविका कर दूसरों के दु:ख का हेतु होता है, इसलिए उसका दुर्बल होना अच्छा है। धार्मिक मनुष्य का सबल होना अच्छा है, क्योंकि वह धर्म से आजीविका कर दूसरों के दु:ख का हेतु नहीं होता।'

'भंते! जीवों का आलसी होना अच्छा है या क्रियाशील?'

'असंयमी का आलसी होना अच्छा है, जिससे वह दूसरों का अहित न कर सके। संयमी का क्रियाशील होना अच्छा है, जिससे वह दूसरों का हित साध सके।'

भगवान् हर तत्त्व का सापेक्ष वाणी से प्रतिपादन करते। उन्होंने अनेकांत दृष्टि देकर हजारों-हजारों व्यक्तियों को चक्षुष्मान बनाया।

5. राजा श्रेणिक

भगवान् जीवितधर्म थे। उनका संयम अनुत्तर था। वह उनके शिष्यों को भी संयममूर्ति बनाए हुए था। महानिर्ग्रन्थ अनाथी के अनुत्तर संयम को देखकर मगध सम्राट बिम्बसार—श्रेणिक भगवान् का उपासक बन गया। वह जीवन के पूर्व काल में बुद्ध का उपासक था। उसकी पट्टरानी चेलना महावीर की उपासिका थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसने सम्राट को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। सम्राट ने उसे बौद्ध बनाने के प्रयत्न किये। पर कोई भी किसी ओर नहीं झुका। सम्राट ने महानिर्ग्रन्थ अनाथी को ध्यान-लीन देखा। उनके निकट गए। वार्तालाप हुआ। अंत में जैन बन गए।

इसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ठ सर्म्पक रहा। सम्राट का पुत्र महामंत्री अभयकुमार जैन था। जैन परम्परा में आज भी अभयकुमार की बुद्धि का वरदान मांगा जाता है। श्रेणिक अभयकुमार को दीक्षित होने की अनुमति नहीं दे रहा था। अभयकुमार बार-बार दीक्षा की अनुमति मांग रहा था। एक दिन श्रेणिक ने कहा—जिस दिन मैं तुझे 'जा रे जा' कह दूं, उस दिन तू दीक्षा ले लेना। एक दिन श्रेणिक संदेह की कारा का बंदी बन गया। अभयकुमार को राज-प्रासाद जलाने की आज्ञा देकर स्वयं भगवान् महावीर के पास चला गया। महावीर की वाणी से उसके संदेह का धागा टूटा। वह तत्काल लौट आया। उसने दूर से ही देखी आग की लपटें और धुआं। अभयकुमार मार्ग में मिला। श्रेणिक ने पूछा—'यह क्या? अभयकुमार ने कहा—'सम्राट की आज्ञा का पालन।' श्रेणिक बोला—जा रे जा, यह क्या किया तुमने? अभयकुमार की मांग पूरी हो गई। वह सम्राट की स्वीकृति ले भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गया।

6. अर्हत् पार्श्व और श्रमण महावीर

तीर्थंकर पुराने शास्त्र के आधार पर सत्य का प्रतिपादन नहीं करते। वे सत्य का साक्षात्कार कर उसका प्रतिपादन करते हैं। भगवान् महावीर ने अपने प्रत्यक्ष बोध के आधार पर सत्य का प्रतिपादन किया। भगवान् पार्श्व भी तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने प्रत्यक्ष बोध से सत्य का प्रतिपादन किया। सत्य के अनंत पक्ष हैं। किन्तु प्रतिपादन सीमित और परोक्ष ही होता है। भगवान् पार्श्व को जिस तत्त्व के प्रतिपादन की अपेक्षा थी, उसी का प्रतिपादन उन्होंने किया। भगवान् महावीर ने भी उसी तत्त्व का प्रतिपादन किया, जिसकी अपेक्षा उनके सामने थी। सत्य का दर्शन दोनों का भिन्न नहीं था, प्रतिपादन भिन्न भी था। श्रमण महावीर का साधना मार्ग अर्हत् पार्श्व के साधना मार्ग से कुछ भिन्न था।

प्राग् ऐतिहासिक काल में अर्हत् ऋषभ ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया था। ऐतिहासिक काल में अर्हत् पार्श्व ने चतुर्याम धर्म का उपदेश दिया था—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिस्तात् आदान-विरमण (बाह्य वस्तु के ग्रहण का त्याग) श्रमण महावीर ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया था—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। श्रावस्ती नगरी में भगवान् पार्श्व की परम्परा के आचार्य कुमारश्रमण केशी ने अपने शिष्यों के संदेह-निवारण के लिए प्रश्न किया—हम एक ही प्रयोजन से मुनि बने हैं, फिर चतुर्याम और पांच महाव्रत का अंतर क्यों? महावीर के शिष्य गणधर गौतम ने जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा—प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजुजड़ होते हैं। उनके लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण करना कठिन है। अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ होते हैं। उनके लिए मुनि के आचार का पालन कठिन है। मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। वे मुनि-आचार का यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी सरलता से करते हैं। इसलिए धर्म के ये दो प्रकार किये गये हैं।

भगवान् पार्श्व के समय सामायिक चारित्र था और भगवान् महावीर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र का प्रवर्तन किया। छेद का अर्थ है विभाग। महावीर ने पार्श्व के निर्विभाग सामायिक चारित्र को विभागात्मक सामायिक चारित्र बना दिया और वही छेदोपस्थापनीय चारित्र (विभागशः विस्तार पूर्वक महाव्रतों का स्वीकरण) कहलाया। महावीर ने चारित्र के तेरह मुख्य विभाग किये—पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति। यह विचित्र संयोग की बात है कि आचार्य भिक्षु ने भी तेरापंथ की व्याख्या इन्हीं तेरह व्रतों के आधार पर की थी।

महावीर ने पार्श्व की परम्परा का सम्मान करने अथवा अपने निरूपण के साथ उसका सामंजस्य बिठाने के लिए दोनों व्यवस्थाएं की—प्रारंभ में अल्पकालीन निर्विभाग (सामायिक) चारित्र को मान्यता दी, दीर्घकाल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लिए विभागात्मक (छेदोपस्थापनीय) चारित्र की व्यवस्था की। इसी प्रकार कुछ अन्य भिन्नताएं भी हैं, जिन्हें निम्न तालिका से समझा जा सकता है।

7. पार्श्व और महावीर का शासन भेद

अर्हत् पार्श्व की धर्मसामाचारी	श्रमण महावीर की धर्मसामाचारी
1. चातुर्याम	1. पांच महाव्रत
2. सामायिक चारित्र	2. छेदोपस्थापनीय चारित्र
3. रात्रि भोजन विरमण उत्तर गुण	3. रात्रि भोजन विरमण मूल गुण
4. सचेल	4. अचेल
5. प्रतिक्रमण (दोष होने पर)	5. प्रतिक्रमण (नियमतः दो बार)
6. औद्देशिक (एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा ग्रहण)	6. औद्देशिक (एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा वर्जन)
7. राजपिण्ड का ग्रहण	7. राजपिण्ड वर्जन
8. मासकल्प—मासकल्प का नियम न होने पर जीवनभर एक गांव में रहने का विधान। कीचड़ और जीवजन्तु न हो, उस स्थिति में वर्षाकाल में भी विहार का विधान।	8. मासकल्प का नियम—एक स्थान में एक मास से अधिक न रहने का विधान।
9. पयुर्षण कल्प का नियम नहीं।	9. पयुर्षण कल्प का नियम—जघन्यतः भाद्रपद शुक्ला पंचमी से कार्तिक शुक्ला पंचमी तक और उत्कृष्टतः आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक एक स्थान में रहने का नियम।
10. परिहाविशुद्धि चारित्र नहीं।	10. परिहाविशुद्धि चारित्र।

इस प्रकार भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर का शासन भेद दस कल्पों में उपलब्ध है, जिसे दो भागों में बांटा गया है—अवस्थित (अनिवार्य) कल्प और अनवस्थित (ऐच्छिक) कल्प। भगवान् पार्श्व के शासन में चार कल्प अवस्थित और छह कल्प अनवस्थित थे।

अवस्थित कल्प

1. चातुर्याम
2. शय्यातर पिण्ड (उपाश्रयदाता के घर का आहार) न लेना
3. ज्येष्ठ
4. कृतिकर्म (दीक्षापर्याय में बड़े साधुओं को वंदना करना)

अनवस्थित कल्प

1. अचेलता
2. औद्देशिक
3. प्रतिक्रमण
4. राजपिण्ड
5. मासकल्प
6. पयुर्षणा कल्प

भगवान् महावीर के शिष्यों के लिए ये सभी कल्प अवस्थित थे। परिहारविशुद्धि चारित्र भी भगवान् महावीर की देन थी। इसे छेदोपस्थापनीय चारित्र की भांति अवस्थित कल्प कहा गया है।

कुमारश्रमण केशी ने पुनः प्रश्न किया—महावीर ने रंगीन और बहुमूल्य वस्त्र अस्वीकार कर वेशभूषा में परिवर्तन क्यों किया? गौतम ने कहा—महावीर ने देखा—वर्तमान में मुनि वेश में कुछ आसक्त हो रहे हैं। आसक्ति को क्षीण करने के लिए अवस्त्र का विधान किया। कोई अवस्त्र न रह सके, उसके लिए अल्पमूल्य वाले अल्पवस्त्र रखने का विधान किया है। गौतम ने आगे कहा—जीवन यात्रा का निर्वाह हो और जनता को उसके मुनि होने की प्रतीति हो—ये वेशधारण के प्रयोजन हैं। वेश केवल प्रयोजन की निष्पत्ति है, मुक्ति का साधन नहीं है। उसके साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। इस विषय में पार्श्व और महावीर का पूर्ण मतैक्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक लम्बी परिचर्या के पश्चात् केशी के शिष्यों का चित्त समाहित हो गया। केशी स्वयं बहुत प्रभावित हुए और महावीर के तीर्थ में सम्मिलित होने का प्रस्ताव रख दिया। गौतम ने केशी और उनकी शिष्य संपदा को पंच-महाव्रत की परम्परा में दीक्षित किया। यह गौतम की बहुत बड़ी सफलता थी। वह कोई साधारण घटना नहीं थी। वह था प्राचीन और अर्वाचीन प्रभावी स्रोतों का मिलन। वह था महान् श्रमण-नेताओं की धाराओं का एकीकरण।

8. पार्श्वापत्यीय श्रमण

कुमाराक सन्निवेश में कूपनय नाम का कुंभकार रहता था। वह बहुत धनाढ्य था। उसकी शाला में भगवान् पार्श्व की परम्परा के साधु ठहरे हुए थे। गोशालक ने उन्हें देखा। उनके बहुरंगी वस्त्रों को देख गोशालक ने पूछा—आप कौन हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हम श्रमण हैं। भगवान् पार्श्व के शासन में साधना कर रहे हैं। गोशालक बोला—इतने वस्त्र-पात्र रखने वाले श्रमण कैसे हो सकते हैं?

उसने बहुत देर तक पार्श्वपत्यीय श्रमणों से वाद-विवाद किया। फिर भगवान् के पास लौट आया। उसने कहा—भंते! आज मैंने परिग्रही साधुओं को देखा है। भगवान् ने अन्तर्ज्ञान से देखकर बताया—वे परिग्रही नहीं हैं। वे भगवान् पार्श्व के शिष्य हैं।

एक बार तम्बाय सन्निवेश में भी पार्श्व की परम्परा के आचार्य नन्दिषेण के श्रमणों से गोशालक मिला था। गौतम! नन्दिषेण बहुत ज्ञानी और ध्यानी श्रमण थे। वे रात्रि के समय चौराहे पर खड़े होकर ध्यान कर रहे थे। उस समय आरक्षिक का पुत्र आया। उसने नन्दिषेण को चोर समझकर मार डाला।

एक बार भगवान् कौशांबी से विहार कर राजगृह आए और गुणशीलक चैत्य में ठहरे। गौतम स्वामी भिक्षा के लिए नगर में गए। उन्होंने जन-प्रवाद सुना-तुंगिका नगरी के बाहरी भाग में पुष्पवती नाम का चैत्य है। वहां भगवान् पार्श्व के शिष्य आए हुए हैं। कुछ उपासक उनके पास गए और कुछ प्रश्न पूछे। जन-जन के मुंह से यह बात सुन गौतम के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उन्होंने उपासकों से पूछा—बताओ, तुमने क्या प्रश्न किए और पार्श्वपत्यीय श्रमणों ने क्या उत्तर दिए?

हमने उनसे पूछा—भंते! संयम का क्या फल है? तप का क्या फल है?

पार्श्वापत्यीय श्रमणों ने उत्तर दिया—संयम का फल नए बंधन का निरोध है। तप का फल पूर्व बंधन का विमोचन है, तब फिर देवलोक में उत्पन्न होने का हेतु क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में स्थविर कालियपुत्त ने कहा—आर्यों! जीव पूर्व तप से देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

स्थविर मेहिल ने कहा—'आर्यों! जीव पूर्व संयम से देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

स्थविर आनंदरक्षित ने कहा— आर्यों! शेष कर्मों से जीव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

स्थविर काश्यप ने कहा—आर्यों! आसक्ति क्षीण न होने के कारण जीव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

गौतम संवाद को सुन भगवान् के पास पहुंचे।

भगवान् के सामने सारी बात रखकर बोले—भंते! क्या पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा प्रदत्त उत्तर सही है? क्या वे सही उत्तर देने में समर्थ हैं? क्या वे सम्यग्ज्ञानी है? क्या वे विशिष्ट ज्ञानी हैं? भगवान् ने कहा—गौतम! पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा प्रदत्त उत्तर सही हैं। वे सही उत्तर देने में समर्थ हैं। मैं भी इन प्रश्नों का सही उत्तर देता हूं। महावीर ने पार्श्व के श्रमणों के यथार्थ बोध का मुक्त भाव से समर्थन किया। पार्श्व के शिष्य लम्बी-लम्बी चर्चाओं के बाद महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हुए और कुछ साधु अंत तक भी उसमें सम्मिलित नहीं हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9. स्कंदक परिव्राजक

श्रावस्ती नगरी में पिंगल नाम का निर्ग्रंथ रहता था। वहां परिव्राजकों का एक आवास था, जिसके आचार्य थे गर्दभाल। स्कंदक उनका शिष्य था। एक दिन पिंगल परिव्राजक आवास में चला गया। उसने स्कंदक से पूछा—1. लोक सांत है या अनंत? 2. जीव सांत है या अनंत? 3. मोक्ष सांत है या अनंत? 4. मुक्त आत्मा सांत है या अनंत? 5. किस मरण से मरता हुआ जीव जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता या घटाता है?

स्कंदक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सका। पिंगल उससे समाधान लिये बिना लौट आया।

स्कंदक ने सुना, भगवान् महावीर कयंजला से विहार कर श्रावस्ती आ गए हैं। वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने कहा—'स्कंदक! तुम्हारे मन में जिज्ञासा है कि लोक सान्त है या अनंत?

'भंते! हां मैं इसका व्याकरण चाहता हूं?'

मैं इसका सापेक्ष दृष्टि से व्याकरण करता हूं। उसके अनुसार लोक सान्त भी है और अनंत भी है।

भंते! यह कैसे?

लोक एक है, इसलिए संख्या की दृष्टि से वह सान्त है। लोक असंख्य आकाश में फैला हुआ है, इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से वह सांत है। लोक था, है और होगा इसलिए काल की दृष्टि से वह अनंत है। लोक वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के पर्यायों से युक्त है, इसलिए पर्याय की दृष्टि से वह अनंत है। इसी प्रकार जीव, मोक्ष और मुक्त आत्मा भी द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से सांत हैं, काल और भाव की दृष्टि से अनंत हैं। मरण दो प्रकार का होता है—बाल मरण और पंडित मरण। बाल मरण से मरने वाला जीव-मरण की परंपरा को बढ़ाता है और पंडित मरण से मरने वाला उसे घटाता है। भगवान् के उत्तर सुन स्कंदक परिव्राजक का मानस-चक्षु खुल गया। उसके मुक्त मानस ने स्वीकृति दी और वह महावीर के पास प्रव्रजित हो गया। उस समय महावीर के तीर्थंकर काल का ग्यारहवां वर्ष चल रहा था।

10. कालोदायी आदि परिव्राजक और मद्दुक

भगवान् महावीर राजगृह के गुणशीलक चैत्य में विहार कर रहे थे। उस चैत्य के आसपास अनेक अन्यतीर्थक परिव्राजक रहते थे। एक दिन कालोदायी, शैलोदायी आदि कुछ परिव्राजक परस्पर बातचीत करने लगे। उनके वार्तालाप का विषय था भगवान् महावीर के पंचास्तिकाय का निरूपण। वे बोले—'श्रमण महावीर पांच अस्तिकायों का निरूपण करते हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय। इनमें पहले चार अस्तिकायों को वे अमूर्त्त बतलाते हैं और पुद्‌गलास्तिकाय को मूर्त्त। यह अस्तिकाय का सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है।

परिव्राजकों का वार्तालाप चल रहा था। उस समय उन्होंने श्रमणोपासक मद्दुक को गुणशीलक चैत्य की ओर जाते हुए देखा। एक परिव्राजक ने प्रस्ताव किया—'श्रमण महावीर पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं, यह हमें भलीभांति ज्ञात है। फिर भी अच्छा है कि मद्दुक से इस विषय में और जानकारी प्राप्त कर लें। इस प्रस्ताव पर सब सहमत होकर वे मुद्दक के पास गए। उन्होंने कहा—मद्दुक! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमें चार अजीव हैं और एक जीव। चार अमूर्त्त हैं और एक मूर्त्त। मद्दुक! अस्तिकाय प्रत्यक्ष नहीं हैं, अत: उन्हें कैसे माना जा सकता है? मद्दुक ने उस परिव्राजकों से कहा—जो क्रिया करता है, उसे हम जानते-देखते हैं और जो क्रिया नहीं करता, उसे हम नहीं जानते-देखते।

सब परिव्राजक एक साथ बोल उठे—तुम कैसे श्रमणोपासक हो जो अस्तिकाय को नहीं जानते-देखते।

"आयुष्मन्! हवा चल रही है, यह आप मानते हैं? हां मानते हैं। आप हवा का रूप देख रहे हैं? नहीं, ऐसा नहीं होता।

'आयुष्मन्! नाक में गंधयुक्त पुद्‌गल प्रविष्ट होते हैं? हां होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'आयुष्मन्! आप नाक में प्रविष्ट गंधयुक्त पुद्गलों का रूप देखते हैं? नहीं, ऐसा नहीं होता।

'आयुष्मन्! अरणि में अग्नि होती है? हां होती है। आयुष्मन्! आप अरणि में रही हुई अग्नि का रूप देखते हैं? नहीं, ऐसा नहीं होता।

'आयुष्मन्! समुद्र के पार रूप हैं? हां हैं। आयुष्मन्! आप समुद्र के पारवर्ती रूपों को देखते हैं? नहीं, ऐसा नहीं होता। 'आयुष्मन्! देवलोक में रूप हैं? हां हैं। 'आयुष्मन्! आप देवलोक में विद्यमान् रूपों को देखते हैं? नहीं, ऐसा नहीं होता।

'आयुष्मन्! जैसे उक्त वस्तुओं के न दिखने पर भी उनके अस्तित्व को कोई आंच नहीं आती, वैसे ही मैं या आप न जानें-देखें, उससे वस्तु का नास्तित्व प्रमाणित नहीं होता। यदि आप वस्तु के न दीखने पर उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करेंगे तो आपको जगत् के बहुत बड़े भाग के अस्तित्व को अस्वीकार करना होगा? मद्दुक के इस तर्क पर सब परिव्राजक मौन हो गए। तब वह वहां से चल भगवान् महावीर के पास पहुंचा। भगवान् ने उसे सम्बोधित कर कहा—'मद्दुक! तुमने कहा—जो क्रिया करता है, उसे हम जानते-देखते हैं और जो क्रिया नहीं करता, उसे हम नहीं जानते-देखते। यह बहुत सुन्दर कहा, यह बहुत उचित कहा।

कुछ दिनों बाद कालोदायी भगवान् की विशाल परिषद् में पहुंचा। पंचास्तिकाय के बारे में जो भी संदेह थे, वे भगवान् की वाणी से निर्मूल हो गये। कालोदायी भगवान् के पास प्रव्रजित हो गया। अम्मड़ आदि अन्य अनेक परिव्राजक महावीर के पास प्रव्रजित हुए।

11. बौद्ध साहित्य में महावीर

बौद्ध पिटकों में भगवान् महावीर के सिद्धांतों का बार-बार उल्लेख हुआ है। उन सबमें भगवान् महावीर के जीवन और सिद्धांतों का अपकर्षण दिखलाने का प्रयत्न है। यह उस समय की शैली या साम्प्रदायिक मनोवृत्ति है। इसकी उपेक्षा की जा सकती है किन्तु पिटक साहित्य में भगवान् महावीर के विषय में कुछ तथ्य सुरक्षित है, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनमें भगवान् के विहार और सिद्धांतो के बारे में कुछ नई जानकारी मिलती है।

भगवान् महावीर श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व देते थे। उस समय निग्गंठ नातपुत्र मच्छिकासण्ड़ में अपनी बड़ी मण्डली के साथ पहुंचा हुआ था। गृहपति चित्त ने सुना कि निग्गंठ नातपुत्र मच्छिकासण्ड़ में ठहरे हुए हैं। चित्त कुछ उपासकों के साथ वहां पहुंचा और कुशल-क्षेम पूछकर एक और बैठ गया। एक ओर गृहपति चित्त से निग्गंठ नातपुत्र बोला— गृहपति तुम्हें क्या ऐसा विश्वास है कि श्रमण गौतम को भी आवतर्क-अविचार समाधि लगती है। उसके वितर्क और विचार का निरोध होता है।

'भंते! मैं श्रद्धा से ऐसा नहीं मानता कि भगवान् को अवितर्क अविचार समाधि लगती है। इस पर निग्गंठ ने अपनी मण्डली की ओर देखकर कहा—आप सब देखे, चित्र गृहपति कितना सीधा है, सच्चा है, निष्कपट है। वितर्क और विचार का निरोध कर देना मानो हवा को जाल से रोकना है।

भंते! ज्ञान बड़ा है या श्रद्धा?

गृहपति! श्रद्धा से ज्ञान ही बड़ा है।

'भंते! जब मेरी इच्छा होती है, मैं प्रथम-ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता हूं। द्वितीय-ध्यान को, तृतीय-ध्यान को और चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त कर विहार करता हूं।'

'भंते! मैंने स्वयं ऐसा जाना और देखा है। ऐसी स्थिति में क्या मैं किसी ब्राह्मण या श्रमण की श्रद्धा से ऐसा जानूंगा कि अवितर्क-अविचार समाधि होती है तथा वितर्क और विचार का निरोध होता है।

चित्त की यह बात सुनकर निग्गंठ नागपुत्र ने अपनी मण्डली से कहा—आप लोग देखें-चित्त गृहपति कितना टेढ़ा है। शठ है। कपटी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'भंते! अभी तो आपने कहा था कि चित्त कितना सीधा है। सच्चा है। और निष्कपट है। और अभी आप कहते है। कि वह कितना टेढ़ा है। शठ और कपटी है।

'भंते! यदि आपकी बात सच है तो दूसरी बात झूठ और यदि दूसरी बात सच है तो पहली बात झूठ।

2.26 सारांश

भगवान् महावीर लोक को सान्त और अलोक को अनंत प्रतिपादित करते थे। पिटक साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है। दो लोकायतिक ब्राह्मण भगवान् के पास आए और अभिवादन कर पूछा—भंते! पूरणकश्यप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निखिल ज्ञान-दर्शन का अधिकारी है। वह मानता है कि मुझे चलते, खड़े रहते, सोते, जागते भी निरंतर ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वह कहता है—मैं अनंत ज्ञान से अनंत लोक को जानता-देखता हूं। भंते! निग्गंठ नागपुत्र भी ऐसे ही कहता है। वह भी कहता है, मैं अपने अनंत ज्ञान से सांत लोक और अनंत अलोक को देखता-जानता हूं। इन परस्पर-विरोधी ज्ञानवादों में है—गौतम! कौन-सा सत्य है और कौन-सा असत्य?

2.27 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. महातपस्वी ध्यानयोगी महावीर की जीवंत प्रतिमा प्रस्तुत करें।
2. सिद्ध करें कि महावीर अद्भुत बालक थे।
3. श्रमण महावीर के साधनाकाल की किन्हीं तीन घटनाओं का उल्लेख करें।
4. भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त सिद्धान्तों का प्रायोगिक रूप क्या था? **अथवा**
   भगवान् महावीर के व्यक्तित्व-कर्तृत्व की व्यापक प्रभावशीलता के कुछ उदाहरण दें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) मां त्रिशला ने कौन से स्वप्न देखे?
(ख) महावीर ने गर्भावस्था में क्या प्रतिज्ञा की?
(ग) महावीर के अपर नाम क्या थे?
(घ) महावीर ने उत्पल को अपने चौथे स्वप्न का क्या अर्थ बताया?
(ङ) महावीर ने मद्दुक की प्रशंसा क्यों की?
(च) जमालि भगवान् के किस सिद्धान्त में दिग्मूढ बना?
(छ) तीर्थंकर पार्श्व और महावीर के शासन में क्या भिन्नता थी?

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

(क) महावीर के अल्पसंग्रह आंदोलन का प्रमुख अनुयायी था .... ।
(ख) दासप्रथा के उन्मूलन का निदर्शन है .... की घटना।
(ग) वर्धमान प्रमदवन में .... क्रीड़ा कर रहे थे।
(घ) महावीर ने गौतम से कहा .... शाल और गागलि .... हो चुके हैं।
(ङ) कालोदायी आदि परिव्राजकों की चर्चा का विषय था .... महावीर द्वारा निरूपित .... ।
(च) महावीर ने प्रथम वर्षावास .... में और अंतिम वर्षावास .... में किया।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-3 : महावीरकालीन (अन्य तीर्थिक) विचारधाराएँ

संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 क्रियावाद
3.3 अक्रियावाद
3.4 अज्ञानवाद
3.5 विनयवाद
3.6 अक्रियावाद पूरण कश्यप
3.7 दो प्रवाह : क्रियावादी और अक्रियावादी (आत्मवाद और अनात्मवाद)
3.8 आत्मा क्यों?
3.9 नियतिवाद
3.10 बौद्ध दर्शन
3.11 अनात्मवाद
3.12 उच्छेदवाद
3.13 अन्योन्यवाद
3.14 विक्षेपवाद
3.15 सारांश
3.16 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.0 प्रश्नावली

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों और कर्मकाण्डों से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण सम्प्रदाय विद्यमान थे। जैन साहित्य में तीन सौ तिरेसठ धर्म-मतवादों का उल्लेख मिलता है। यह भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में सारे सम्प्रदाय चार वर्गो में समाहित हो जाते हैं। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण कहा है।

3.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद आदि का ज्ञान हो सकेगा।

3.2 क्रियावाद

क्रियावाद और अक्रियावाद का चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रख कर किया गया है। आत्मा है, वह पुनर्भवगामी है, वह कर्म का कर्त्ता है, कर्म-फल का भोक्ता है और उसका निर्वाण होता है। सुचीर्ण कर्म का फल अच्छा होता है, दुश्चीर्ण कर्म का फल बुरा होता है। यह क्रियावाद का पूर्ण लक्षण है।

क्रियावाद के चार अर्थ फलित होते है:—

1. अस्तित्ववाद—आत्मा और लोक के अस्तित्व की स्वीकृति
2. सम्यग्वाद—नित्य और अनित्य - दोनों धर्मो की स्वीकृति - स्याद्वाद, अनेकान्तवाद।
3. पुनर्जन्मवाद
4. आत्मकर्तृत्ववाद

क्रियावाद में उन सभी धर्मवादों को सम्मिलित किया गया है जो आत्मा आदि के अस्तित्व में विश्वास करते थे। जो आत्मा के कर्त्तृत्व को स्वीकार करते थे। क्रियावादी आत्मा का अस्तित्व मानने पर भी उसके स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं, कुछ उसे असर्वव्यापी मानते

हैं। कुछ मूर्त्त मानते हैं और कुछ अमूर्त्त। कुछ उसे अंगुष्ठ जितना मानते हैं और कुछ श्यामाक तन्दुल जितना। कुछ उसे हृदय में अधिष्ठित प्रदीप की शिखा जैसा मानते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला कर्त्ता और भोक्ता, स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह परिमाण न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है।

आचार्य अकलंक ने क्रियावाद के कुछ आचार्यों का उल्लेख किया है—मरीचि कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि।

जैन मुनि के लिए एक संकल्प का विधान है जो प्रतिदिन किया जाता है—अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि—मैं अक्रिया का परित्याग करता हूँ और क्रिया की उपसम्पदा स्वीकार करता हूँ।

3.3 अक्रियावाद

अक्रियावादी दार्शनिकों की नैतिक निष्ठा वर्तमान की उपयोगिता पर टिकी हुई थी। वे आत्मा को पुनर्जन्मानुयायी तत्त्व नहीं मानते थे। इसलिए उनमें धर्मनिष्ठा नहीं थी। उनका सिद्धान्त था—सुकृत और दुष्कृत के फल में अन्तर नहीं है। सुचीर्ण कर्म का फल अच्छा नहीं होता। दुश्चीर्ण कर्म का फल बुरा नहीं होता, कल्याण और पाप अफल हैं। नास्ति के आधार पर अक्रियावाद के चार फलित होते हैं—1. आत्मा का अस्वीकार, 2. आत्मा के कर्तृत्व का अस्वीकार, 3. कर्म का अस्वीकार, 4. पुनर्जन्म का अस्वीकार।

अक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ, नास्तिकदृष्टि कहा गया है।

आचार्य अकलंक ने अक्रियावाद के कुछ प्रमुख आचार्यों का नामोल्लेख किया है—

कौक्वल, कांठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुड, अश्वलायन आदि ...

सांख्य दर्शन के अनुसार क्रिया का मूल प्रकृति है। पुरुष के अकर्तृत्व की दृष्टि से सांख्यदर्शन को अक्रियावाद में परिगणित किया गया है।

वैशेषिकों के अनुसार जगत् के मूल उपादान परमाणु हैं। नाना प्रकार के परमाणुओं के संयोग से भिन्न-भिन्न वस्तुएं बनती हैं। जैसे कुंभकार मिट्टी आदि उपादानों से सृष्टि की रचना करता है। वह जीवों को कर्मानुसार फल देता है। कर्म फल आत्मा के अधीन नहीं है, इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन को भी अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया है।

3.4 अज्ञानवाद

इस दार्शनिकवाद का आधार है अज्ञान। इनका मानना है कि सब समस्याओं का मूल है ज्ञान, इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है। ज्ञान से लाभ ही क्या है? शील में उद्यम करना चाहिए। ज्ञान का सार है शील संवर। शील और तप से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। अज्ञानी जितना सुखी होता है उतना ज्ञानी नहीं हो सकता।

अज्ञानवाद की विचारधारा की ओर मनुष्यों का झुकाव कई कारणों से हुआ था—

0 मनुष्य अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा जानता है। फिर भी अच्छाई को स्वीकार और बुराई को अस्वीकार नहीं कर पाता, इस प्रकार की मनोवृत्ति ने मनुष्य के मन में निराशा का भाव उत्पन्न किया कि जानने से क्या लाभ? जान लेने पर भी बुराई नहीं छूटती और अच्छाई पर नहीं चला जाता फिर उस ज्ञान की क्या सार्थकता? इस प्रकार की मनोवृत्ति ने अज्ञानवाद को जन्म दिया।

0 कुछ लोग सोचते थे—सत्य वही है जो इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध है। किसी ने अतीन्द्रिय विषय का साक्षात् किया भी हो तो हम नहीं जान सकते। अतः अतीन्द्रिय ज्ञान व्यर्थ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

0 कुछ लोग वर्तमान जन्म में उपलब्ध विषयों से विरत होकर अदृष्ट पुनर्जन्म की खोज करने को यथार्थ नहीं मानते थे। प्राप्त को त्याग अप्राप्त की ओर दौड़ना उन्हें बुद्धिमत्ता प्रतीत नहीं होती थी। उन्होंने अतीत और भावी को छोड़कर वर्तमान जीवन की समीक्षा को पसन्द किया। उसके लिए इन्द्रिय ज्ञान को ही पर्याप्त समझा। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपेक्षा की और तद्विषयक अज्ञानवाद का समर्थन किया।

अज्ञानवाद के 67 प्रकारों का उल्लेख मिलता है। आचार्य अकलंक ने अज्ञानवादियों के कुछ आचार्यो का उल्लेख किया है- साकल्य, वाष्कल, कुधुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, बादरायण आदि।

3.5 विनयवाद

विनयवाद का मूल आधार विनय है। अहं विसर्जन और समर्पण को ही वे सर्वोपरि मूल्य देते थे। उनकी दृष्टि में अहं ही सब दु:खों का मूल था। उनका अभिमत था कि किसी भी सम्प्रदाय या गृहस्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिए। सबके प्रति विनम्र होना चाहिए। विनयवादियों के बत्तीस प्रकार निर्दिष्ट हैं। विनयवादी दर्शन के कुछ प्रमुख आचार्य ये हैं—वशिष्ठ, पाराशर, वाल्मीकि, व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त आदि। 'दाणामा' 'पाणामा' आदि प्रव्रज्याओं को विनयवादी बतलाया है। भगवतीसूत्र में इन प्रव्रज्याओं का स्वरूप निर्दिष्ट है—

तामलिप्ती (ताम्रलिप्त) नाम की नगरी में तामली गाथापति रहता था। उसने 'पाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् वह तामली जहां कहीं इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण, दुर्गा, चामुण्डा आदि देवियों तथा राजा, ईश्वर (युवराज आदि) मांडविक, कौटुम्बिक ईभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, चाण्डाल, कौआ या कुत्ता को देखता तो उन्हें प्रणाम करता। उन्हें ऊंचा देखता तो ऊँचे प्रणाम करता। नीचे देखता तो नीचे प्रणाम करता।

पूरण गाथापति ने 'दाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। प्रव्रज्या के पश्चात् वह चार पुट वाला लकड़ी का पात्र लेकर भिक्षा के लिए जाता। जो भोजन पात्र के पहले पुट में गिरता उसे पथिकों को दे देता। जो भोजन पात्र के दूसरे पुट में गिरता उसे कौए कुत्तों को दे देता। जो भोजन तीसरे पुट में गिरता उसे मच्छ-कच्छों को दे देता। जो चौथे पुट में गिरता उसे स्वयं खा लेता।

विनय शब्द यहाँ विमर्शणीय है। विनय का अर्थ आचार होना चाहिए। ज्ञानवादी जैसे ज्ञान के द्वारा ही सिद्धि मानते थे, वैसे ही आचारवादी केवल आचार पर ही बल देते थे। दोनों एकांगी होने के कारण मिथ्यादृष्टि की कोटि में आते हैं। जैनधर्म को विनयमूलक धर्म बतलाया गया है। जैन साहित्य में आचार के अर्थ में विनय शब्द का प्रयोग हुआ है। विनम्रतावाद आचारवाद का ही एक अंग हैं।

भगवान् महावीर ने चारों वादों की समीक्षा कर क्रियावाद का सिद्धान्त स्वीकार किया। उनका स्वीकार एकांगी दृष्टि से नहीं था। इसलिए उनके दर्शन को सापेक्ष क्रियावाद की संज्ञा दी जा सकती है। भगवान् महावीर के युग में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। उनमें पाँच बहुत प्रभावशाली थे:

1. निर्ग्रन्थ - महावीर का शासन
2. शाक्य - बुद्ध का शासन
3. आजीवक - मक्खलि गोशालक का शासन
4. गैरिक - तापस शासन
5. परिव्राजक - सांख्य शासन

बौद्ध साहित्य में छ: श्रमण सम्प्रदायों तथा उनके आचार्यो का उल्लेख है :

1. अक्रियावाद - आचार्य पूरणकश्यप
2. नियतिवाद - मक्खलिगोशाल
3. उच्छेदवाद - अजित केशकम्बली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. अन्योन्यवाद - पकुध कात्यायन
5. विक्षेपवाद - संजयवेलट्ठिपुत्र
6. चातुर्याम संवरवाद - निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र

3.6 अक्रियावाद—पूरण कश्यप

अनुभवों से परिपूर्ण मानकर लोग इन्हें पूर्ण कहते थे। ब्राह्मण थे इसलिए काश्यप। वे नग्न रहते थे। उनके अस्सी हजार अनुयायी थे। उनका अभिमत था कि किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई। शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसका पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार के सब प्राणियों को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा। गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ भी पुण्य नहीं होने का। दान, धर्म, संयम, सत्य भाषण—इन सब से पुण्य प्राप्ति नहीं होती। इस पूरणकश्यप के वाद को अक्रियावाद कहते थे।

3.7 दो प्रवाह : क्रियावादी और अक्रियावादी (आत्मवाद और अनात्मवाद)

ज्ञान का अंश यत्किंचित् मात्रा में प्राणी-मात्र में मिलता है। मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। उनमें बौद्धिक विकास अधिक होता है। बुद्धि का काम है—सोचना, समझना, तत्त्व का अन्वेषण करना। उसमें से दो विचार-प्रवाह निकले—क्रियावाद और अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करने वाले 'क्रियावादी' और इन पर विश्वास नहीं करने वाले 'अक्रियावादी' कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने संयमपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ बतलाया। क्रियावादियों ने—'शारीरिक कष्टों को समभाव से सहना महाफल है, आत्महित कष्ट सहने से सधता है'—ऐसे वाक्यों की रचना की और अक्रियावादियों के मन्तव्य के आधार पर—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' जब तक जिएं, सुख से जिएं, ऋण लेकर भी घी पियें'—जैसी युक्तियों का सृजन हुआ।

क्रियावादी वर्ग ने कहा—जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापस नहीं आता। अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं। इसलिए धर्म करने में एक क्षण भी प्रमाद मत करो। क्योंकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूंद के समान क्षण-भंगुर है। यदि इस जीवन को व्यर्थ गंवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है। कर्मो के विपाक बड़े निविड़ होते हैं। अतः समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो? ऐसा सद्-विवेक बार-बार नहीं मिलता। बीती हुई रात फिर लौटकर नहीं आती और न मानव जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढ़ापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इन्द्रियां शक्तिहीन न बनें तब तक धर्म का आचरण कर लो नहीं तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में जाने वाला गाड़ीवान रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है।

अक्रियावादियों ने कहा—यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुख को पाने की दौड़ में लगे हुए हैं। ये कामभोग हाथ में आये हुए हैं, प्रत्यक्ष हैं। जो पीछे होने वाला है न जाने कब क्या होगा? परलोक किसने देखा है—कौन जानता है कि परलोक है या नहीं? जन-समूह का एक बड़ा भाग सांसारिक सुखों का उपभोग करने में व्यस्त है, फिर हम क्यों न करें? जो दूसरों को होगा, वही हमको भी होगा। हे प्रिये! चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं, खूब खा-पी, आनन्द कर, जो कुछ कर लेगी, वह तेरा है। मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नहीं है। कुछ लोग परलोक के दुःखों का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखों से विमुख कर देते हैं। पर यह अतात्त्विक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रियावाद की विचारधारा में वस्तुस्थिति स्पष्ट हुई। लोगों ने संयम सीखा। त्याग-तपस्या को जीवन में उतारा।

अक्रियावाद की विचार-प्रणाली से वस्तुस्थिति ओझल रही। लोग भौतिक सुखों की ओर मुड़े।

क्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दृष्कृत का फल होता है। शुभ कर्मो का फल अच्छा और अशुभ कर्मो का फल बुरा होता है। जीव अपने पाप एवं पुण्य कर्मो के साथ ही परलोक में उत्पन्न होते हैं। पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है।"

फलस्वरूप लोगों में धर्मरुचि पैदा हुई। अल्प-इच्छा, अल्प-आरम्भ और अल्प-परिग्रह का महत्व बढ़ा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनकी उपासना करने वाला महान समझा जाने लगा।

अक्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता। शुभ कर्मो के शुभ और अशुभ कर्मो के अशुभ फल नहीं होते। आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता।

फलस्वरूप लोगों में सन्देह बढ़ा। भौतिक लालसा प्रबल हुई। महा-इच्छा, महा-आरम्भ और महा-परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावादी की अन्तर-दृष्टि 'अपने किये कर्मो को भोगे बिना छुटकारा नहीं' इस पर लगी रहती है। वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में। किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नहीं। इसलिए यथासम्भव पाप-कर्म से बचा जाए, यही श्रेयस् है। अन्तर-दृष्टि वाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबराता नहीं, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु को वरण करता है ।

अक्रियावादी का दृष्टि-बिन्दु 'हत्थगया इमे कामा'—ये काम हाथ में आए हुए हैं—जैसी भावना पर टिका हुआ होता है। वह सोचता है कि इन भोग साधनों का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है। मृत्यु के बाद कुछ होना जाना नहीं है। इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है। वह कर्म-बन्ध से निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवों की सार्थक और निरर्थक हिंसा से सकुचाता नहीं। वह जब कभी रोगग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मो का स्मरण कर पछताता है। परलोक से डरता भी है। अनुभव बताता है कि मर्मान्तिक रोग और मृत्यु के समय बड़े-बड़े नास्तिक कांप उठते हैं। वे नास्तिकता को तिलांजलि दे आस्तिक बन जाते हैं। अन्तकाल में अक्रियावादी को यह सन्देह होने लगता है—"मैंने सुना कि नरक है? जो दुराचारी जीवों की गति है, जहां क्रूर कर्म वाले अज्ञानी जीवों को प्रगाढ़ वेदना सहनी पड़ती है। यह कहीं सच तो नहीं है? अगर सच है तो मेरी क्या दशा होगी?" इस प्रकार वह संकल्प-विकल्प की दशा में मरता है।

क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि आत्मा के अस्तित्व में सन्देह मत करो। वह अमूर्त है इसलिए नित्य है। अमूर्त्त पदार्थ मात्र अविभागी नित्य होते हैं। आत्मा नित्य होने के उपरान्त भी स्वकृत अज्ञान आदि दोषों के बन्धन में बंधा हुआ है। वह बन्धन ही संसार (जन्म-मरण) का मूल है।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि यह लोक इतना ही है, जिनता दृष्टिगोचर होता है। इस जगत् में केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पांच महाभूत ही हैं। इनके समुदाय से चैतन्य या आत्मा पैदा होती है। भूतों का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है—जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार अरणि की लकड़ी से अग्नि, दूध से घी और तिलों से तेल पैदा होता है, वैसे ही पंच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती।

इस प्रकार दोनों प्रवाहों से जो धाराएं निकलती हैं, वे हमारे सामने हैं। हमें इनको अथ से इति तक परखना चाहिए, क्योंकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक जीवन की नींव इन्हीं पर खड़ी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का ख्याल होगा, जबकि अक्रियावादी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसा-बहुल विचारधारा में बह चले हैं। जीवन की क्षण भंगुरता को बिसार कर महारम्भ और महापरिग्रह में फंसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार में यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी है और कौन अक्रियावादी?

अक्रियावादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नहीं। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठे, आगे पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा में क्रियावादी हैं, सही अर्थ में नहीं। भविष्य में सोचने का अर्थ वर्तमान से आंखे मूंद लेना नहीं है। भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय वासनाओं में फंसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राणघात से भी अधिक भयंकर है। उसे आत्म-अन्वेषण करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—"हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पराभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए। चेतन जड़ का कोई गुण नहीं, परन्तु उसमें समायी हुई अपने को प्रदर्शित करने वाली एक स्वतन्त्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नहीं हो जाता। भौतिक और पराभौतिक संज्ञाओं के पारस्परिक नियम क्या हैं?, इस बात का पता लगाना अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है।"

3.8 आत्मा क्यों?

अक्रियावादी कहते हैं—"जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं, उसे कैसे माना जाए? आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, फिर उसे क्यों माना जाए?" क्रियावादी कहते हैं—पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष अनुमान और आगम भी हैं। इन्द्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो-चार पीढ़ी के पूर्वज भी नहीं जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए? इन्द्रियाँ सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती है। मन इन्द्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है, चिन्तन करता है। मूर्त के माध्यम से वह अमूर्त वस्तुओं को भी जानता है। इसलिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इन्द्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितान्त अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है। वह अरूपी सत्ता है।

अरूपी तत्त्व इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है इसलिए इन्द्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। इन्द्रिय द्वारा अरूपी आकाश को कौन कब जान सकता है? अरूपी की बात छोड़िए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ, जो रूपी हैं वे सभी कोरी इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मनाने से कोई तथ्य नहीं निकलता।

सार की भाषा में अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं।

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं इसलिए वह नहीं, यह मानना तर्क-बाधित है क्योंकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकती।

3.9 नियतिवाद

नियतिवादी क्रियावाद और अक्रियावाद दोनों में विश्वास नहीं करते। उनका दर्शन यह है—कुछ लोग क्रिया का प्रतिपादन करते हैं और कुछ अक्रिया का प्रतिपादन करते हैं। ये दोनों समान है। "मैं करता हूँ—यह मानने वाला भी कुछ नहीं करता और मैं नहीं करता हूँ—यह मानने वाला भी कुछ नहीं करता। सब कुछ नियति करती है। यह सारा चराचर जगत् नियति के अधीन है। अज्ञानी पुरुष कारण को मानकर इस प्रकार जानता है। मै दुःखी हो रहा हूँ, शोक कर रहा हूँ, खिन्न हो रहा हूँ, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा हूँ, पीड़ित हो रहा हूँ, परितप्त हो रहा हूँ, यह सब मैंने किया है। दूसरा पुरुष जो दुःखी हो रहा है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शोक कर रहा है, खिन्न हो रहा है, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, यह सब उसने किया है। इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष कारण को मानकर स्वयं के दुःख को स्वकृत और पर के दुःख को परकृत मानता है।

मैं (नियतिवादी) कहता हूँ—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं वे सब नियति के कारण ही शरीरात्मक संघात, विविध पर्यायों (बाल्य, कौमार आदि अवस्थाओं), विवेक (शरीर से पृथक् भाव) और विधान (विधि विपाक) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे सब सांगतिक (नियतिजनित) हैं इस उत्प्रेक्षा से।

भगवती (शतक 15) में नियतिवादी गोशालक के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

भगवान् महावीर सद्दालपुत्त के कुंभकारापण में विहार कर रहे थे उस समय सद्दालपुत्त घड़ों को धूप में सुखा रहा था। भगवान् महावीर ने पूछा—सद्दालपुत्त! ये घड़े कैसे किये जाते हैं? सद्दालपुत्त ने कहा—भंते! पहले मिट्टी लाते हैं, फिर उसमें जल मिलाकर रोंदते हैं, फिर उसमें राख मिलाते हैं, फिर मिट्टी का पिंड बना उसे चाक पर चढ़ाते हैं। इस प्रकार ये घड़े तैयार किये जाते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—'सद्दालपुत्त! ये घड़े उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम से किए जाते हैं या अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किए जाते है? सद्दालपुत्त ने कहा—भंते! ये सब अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किए जाते हैं। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम का कोई अर्थ नहीं है। सब भाव नियत है।

भगवान्—"यदि कोई इन बर्तनों को फोड़ डाले या अग्निमित्रा के साथ सहवास करे तो तुम क्या करोगे?"

सद्दालपुत्त—"मैं उसे शाप दूंगा, उस पर प्रहार करूंगा और उसे मार डालूंगा।"

भगवान् महावीर—यदि यह तथ्य है—जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है, तो ऐसा करने के लिए तुम क्यों उद्यत होते हो?" सद्दालपुत्त को भगवान् की वाणी सुन सम्यक् ज्ञान हुआ और उसने अणुव्रत रूप गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया।

नियतिवादी मानते हैं कि अकृत का फल नहीं होता। मनुष्य जो फलभोग करता है उसके पीछे कर्तृत्व अवश्य है, किन्तु वह कर्तृत्व मनुष्य का नहीं है। यदि मनुष्य का कर्तृत्व हो, वह क्रिया करने में स्वतन्त्र हो तो वह सब कुछ मन चाहा करेगा। उसे जो इष्ट नहीं है, वह फिर क्यों करेगा? किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मनुष्य बहुत सारे अनीप्सित कार्य भी करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सब कुछ नियति करती है।

बौद्ध साहित्य में नियतिवाद के सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार मिलता है—'प्राणियों के संक्लेश का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रयत्न नहीं है बिना किसी हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी संक्लेश पाते हैं। प्राणियों की विशुद्धि का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। किसी हेतु और प्रत्यय के बिना ही प्राणी विशुद्ध होते हैं। आत्मशक्ति नहीं है, पर शक्ति नहीं है, पुरस्कार नहीं है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष-सामर्थ्य नहीं है। सभी तत्व, प्राणी, भूत और जीव अवश, अबल, अवीर्य हैं। वे नियति के वश में हैं। वे छः अभिजातियों में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं।

इस पर्यन्तकृत संसार में सुख और दुःख द्रोण (नाप) से नपे हुए हैं। घटना-बढ़ना नहीं होता। उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता। जैसे सूत की गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पड़ती है वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर, दुःख का अन्त करेंगे। सबों के दुःखों का नाश अस्सी लाख के महाकल्पों के फेर में होकर जाने के बाद ही होता है। इस मक्खली गोशाल के मत को संसार शुद्धिवाद कहते थे। इसी को नियतिवाद भी कह सकते हैं। ये आजीवक मत से भी अभिहित होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आजीवक श्रमण-परम्परा का एक प्रभावशाली सम्प्रदाय था। उसके आचार्य थे गोशालक। आजीवक भिक्षु अचेलक रहते थे। वे पंचाग्नि तपते थे। वे अन्य अनेक प्रकार के कठोर तप करते थे। अनेक कठोर आसनों की साधना भी करते थे। रस निर्यूहण और जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—ये दोनों तप आजीविकों के अस्वाद व्रत के सूचक हैं।

आजीवक श्रमणों के चार प्रकार के संयम, त्याग और अकिंचनता का निर्देश है। तापस होने के कारण इनका समाज में आदर था। लोग निमित्त, शकुन, स्वप्न आदि का फल इनसे पूछते थे।

भगवती में आजीवक उपासकों के आचार-विचार का संक्षिप्त परिचय मिलता है, जो इस प्रकार है—

"गोशालक के उपासक अरिहन्त को देव मानते, माता-पिता की सेवा करते, गूलर, बड़, बैर, अंजीर एवं पिलंखु इन पांच फलों का भक्षण नहीं करते, बैलों को लांछित नहीं करते, उनके नाक, कान का छेदन नहीं करते एवं जिससे त्रस प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नहीं करते थे।

3.10 बौद्ध दर्शन

बौद्ध धर्म का उद्भव आचार-क्रांति के रूप में हुआ। उसने अति त्याग तथा अतिभोग का वर्जन कर मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। धर्माचरण का वह रूप प्रतिपादित किया, जो बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय था।

बौद्ध धर्म लोकप्रिय हुआ। बुद्ध के उपदेशों में दर्शन के बीज न रहें हो, ऐसा नहीं है, किन्तु बौद्ध धर्म का दार्शनिक विकास बुद्ध के अनन्तर हुआ। भिक्षु चिन्तन, मनन में अग्रसर रहे। दार्शनिक चिन्तन के किसी एक पहलू पर या एकाधिक पहलुओं पर मतभेद के कारण बौद्ध धर्म सम्राट अशोक के समय तक अठारह निकायों में बंट गया।

बुद्ध का समय दार्शनिक वादों का युग था। उस समय नियतिवाद, ईश्वरवाद तथा यदृच्छावाद आदि अनेक वाद प्रचलित थे। दार्शनिक जगत् में इनके सिद्धान्तों का अपने-अपने क्षेत्रों में काफी प्रचार था।

नियतिवाद की मान्यता थी—शुभ-अशुभ, कुशल-अकुशल, सुख-दुःख जो भी होता है, नियति द्वारा पूर्व निर्धारित है। उसमें कोई कुछ परिवर्तन करने में सक्षम नहीं है। बुद्ध को यह संगत नहीं लगा। यदि ऐसा हो तो मनुष्य का पुरुषार्थ एवं कर्तृत्व का कोई मूल्य नहीं है। ईश्वरवादी एक ऐसी लोकोत्तर शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते थे—विश्व की सारी व्यवस्था जिसके नियमन और संचालन पर आधारित है। बुद्ध ने ऐसी लोकोत्तर सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

बुद्ध का चिन्तन था यदि इन वादों को माना जाए तो फिर मनुष्य के अपने पुरुषार्थ का कोई महत्व नहीं रहेगा। यदि पुरुषार्थ की उपयोगिता स्वीकार की जाए तो भी उसकी फलवत्ता का तर्क संगत आधार नहीं होगा। वह जो भी करेगा, उसमें फल विपर्यास की संभावना बनी रहेगी। उत्तरदायित्व सन्देहास्पद होगा। इस चिन्तन के परिणामस्वरूप उन्होंने सब वादों के बीच अपना अभिनव दार्शनिक चिन्तन दिया कि जड़ चेतनात्मक समग्र जगत् सापेक्ष-कारणतावाद पर आधारित है। उन्होंने बताया—किसी वस्तु की प्रतीति होती है, प्राप्ति होती है, तब दूसरी वस्तु की उत्पत्ति या उत्पाद होता है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि जगत् के सब पदार्थ कारण-कार्य की शृंखला में संग्रथित हैं। कारण होता है, तब उससे कार्य उत्पन्न होता है। यह सर्वव्यापक नियम है। कारण की उपस्थिति, प्रतीति या प्राप्ति के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। बुद्ध का यह सिद्धान्त "प्रतीत्यसमुत्पादवाद" कहलाया, जिसका शाब्दिक अर्थ है प्रतीति होकर—प्राप्ति होकर उत्पत्ति होना। "अस्मिन् सति इदं भवति"। ऐसा होने पर यह होता है अर्थात् कारण होने पर कार्य होता है। बुद्ध ने कहा—"जो प्रतीत्यसमुत्पादवाद का ज्ञाता है, वह धर्म का ज्ञाता है, धर्म को जानता है। जो धर्म को समझता है, वह प्रतीत्यसमुत्पादवाद को समझता है।" उन्होंने कहा—"प्रतीत्यसमुत्पादवाद का सिद्धान्त शाश्वत है। वह देश, काल, भाव से अबाधित है। वर्तमान भूत एवं भविष्य उसे विखण्डित नहीं करते। वह तीनों पर समान रूप से लागू है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रतीत्यसमुत्पादवाद के बारह अंग माने गये हैं। उन्हें निदान भी कहा गया है। उनकी उत्पत्ति क्रमशः एक दूसरे के कारण होती है। यह उत्पत्ति-क्रम भव-चक्र कहा जाता है। बारह अंग या निदान निम्नांकित हैं—1. अविद्या, 2. संस्कार, 3. विज्ञान, 4. नाम-रूप, 5. षडायतन, 6. स्पर्श, 7. वेदना, 8. तृष्णा, 9. उपादान, 10. भव, 11. जाति, 12. जरा-मरण।

3.11 अनात्मवाद

बुद्ध ने आत्मवाद का दृढ़ता से खण्डन किया, प्रबल विरोध किया। उनके कथन का सार था—आत्मा को कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने को आत्मवादी मानने वाले भी नहीं जानते, उसका क्या स्वरूप है, किन्तु बड़ा आश्चर्य है, आत्मा के कल्याण के लिए, सुख के लिए, हित के लिए तरह-तरह के कर्म करते हैं, कष्ट झेलते हैं। यह तो उस पुरुष जैसे बात हुई, जो जनपद-कल्याणी-जनपद की सर्वाधिक सुन्दरी से प्यार करता हो, किन्तु वह उसे ज्ञात ही न हो, वह सुन्दरी कहाँ है, कौन है, उसके क्या गुण हैं, उसकी देहयष्टि कैसी है, रूप रंग कैसा है, वह किस नाम से, गोत्र से सम्बद्ध है? कहाँ जनपद-कल्याणी, कहां उसकी प्राप्ति, कहां उस पुरुष का प्रेमाभिक्रम सब काल्पनिक-सा प्रतीत होता है।

कोई पुरुष एक चतुष्पथ पर खड़ा हो और उस प्रासाद पर चढ़ने हेतु सोपान तैयार करने का उपक्रम करे, जिसका कोई ठौर-ठिकाना नहीं है। यह मूर्खता नहीं तो क्या है? आत्मवादी लोगों द्वारा किये जाते हैं नानाविध धार्मिक कृत्य, तपश्चरण—सब उसी कोटि के प्रयत्न हैं। आत्मा को अनुभवकर्ता, अनुभव का विषय नित्य, ध्रुव, शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील मानना परिपूर्ण बाल-धर्म है। सर्वथा अज्ञान प्रसूत है।

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिकतत्व, काया) के संघात संसार यात्रा के लिए काफी है। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहूँ आत्मा है तो लोग शाश्वत-वादी बन जाते हैं, यदि यह कहूँ कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूँ। एक जगह नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है और आत्मा नहीं है यह भी कहा है, तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।"

बुद्ध ने आत्मा क्या है? कहां से आया है? और कहां जाएगा—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख निरोध—इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश किया। बुद्ध ने कहा "तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए । तीर कहाँ से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—पांच स्कन्धों का समुच्चय या संघात है। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

रूप—शरीर एवं इन्द्रियों का वाचक है, जिनका विषयों से सम्बन्ध है।

विज्ञान—अपने आप में अहं की प्रतीति, अनुभूति तथा इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का ज्ञान विज्ञान कहा जाता है।

वेदना—अनुकूल या प्रिय वस्तु के स्पर्शन, वीक्षण, आस्वादन, आसेवन से सुखमय, प्रतिकूल या अप्रिय वस्तु के स्पर्शन, वीक्षण, आस्वादन, आसेवन से दुःखमय तथा अनुकूल-प्रतिकूल या प्रियता-अप्रियता वर्जित वस्तु के आसेवन से न सुखमय न दुःखमय चित्तावस्था वेदना है।

संज्ञा—अनुकूल-प्रतिकूल वेदनीयता के आधार पर वस्तुओं का यथावत् ग्रहण तथा गुणावगुण वस्तुओं का नामकरण संज्ञा है। संज्ञा विशुद्ध रूप है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बौद्ध दर्शन के अनुसार, जैसा ऊपर प्रतिपादित किया गया है, इन पांच स्कन्धों के समुच्चय के अतिरिक्त आत्मा का कोई पृथक् अस्तित्व, स्वरूप नहीं है।

3.12 उच्छेदवाद

अजित केशकम्बली केशों का बना कम्बल धारण करते थे, इसलिए केशकम्बली कहे जाते थे। श्री एफ.एल. वुडवार्ड की धारणा के अनुसार यह कम्बल मनुष्य के केशों का ही बना होता था। इनकी मान्यता लोकायतिक दर्शन जैसी ही थी। कुछ विद्वानों का यह भी अभिमत बनने लगा है कि नास्तिक दर्शन के आदि प्रवर्तक भारत में यही थे। वृहस्पति ने इनके अभिमतों को ही विकसित रूप दिया हो, ऐसा लगता है।

अजित केश कम्बल के दार्शनिक विचारों का वर्णन इस प्रकार है—

.... पैर के तलवे के ऊपर, सिर के केशाग्र से नीचे और तिरछे चमड़ी तक जीव है—शरीर ही जीव है। यही पूर्ण आत्म-पर्याय है। यह जीता है तब तक प्राणी जीता है, यह मरता है तब प्राणी मर जाता है। शरीर रहता है, तब तक जीव रहता है। उसके विनष्ट होने पर जीव नहीं रहता। शरीर पर्यन्त ही जीवन होता है। जब तक शरीर होता है तब तक जीवन होता है (शरीर के विकृत हो जाने पर) दूसरे उसे जलाने के लिए ले जाते हैं। आग में जला देने पर उसकी हड्डियां कबूतर के रंग की हो जाती है। आसंदी (अरथी, चारपाई) को पांचवी बना उसे उठाने वाले चारों पुरुष गांव में लौट आते हैं। इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं होता।

जिनका अभिमत है—जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वह इसलिए सही नहीं है कि वे इस प्रकार नहीं जानते कि आयुष्मान्! यह आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व, वलयाकार है या गोल, त्रिकोण है या चतुष्कोण है या षटकोण। कृष्ण है या नील, लाल है या पीला या शुक्ल। सुगंधित है या दुर्गन्धित। तीता है या कड़ुवा, कषैला है या खट्टा या मधुर। कर्कश है या कोमल, भारी है या हल्का, शीत है या उष्ण, चिकना है या रूखा। आत्मा का किसी भी रूप में ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं होता।

जो यह जानते हैं कि—जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वह इसलिए सही नहीं है कि उन्हें वह इस प्रकार उपलब्ध नहीं होता—जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार निकालकर दिखलाए—आयुष्मान्! यह तलवार है, यह म्यान। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकालकर दिखलाए, आयुष्मान्! यह आत्मा है, शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मूंज से शलाका को निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान्! यह मूंज है, यह शलाका। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकालकर दिखलाए, आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को निकालकर दिखलाए—आयुष्मान्! यह मांस है, यह हड्डी। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष हथेली में लेकर आंवले को दिखलाएं—आयुष्मान्! यह हथेली है, यह आंवला। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाएं—आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष दही से नवनीत निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान्! यह नवनीत है, यह दही। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष तिलों से तेल निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान्! यह तेल है, यह खली। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैसे कोई पुरुष ईख से रस निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान्! यह ईख का रस है, यह छाल। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को निकालकर दिखलाए, आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष अरणी से आग निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान्! यह अरणी है, यह आग। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान्! यह आत्मा है, यह शरीर है।

इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं है।

जैन साहित्य में तज्जीव-तच्छरीरवाद का उल्लेख है किन्तु उसके पुरस्कर्ता तीर्थंकर का उल्लेख नहीं है। बौद्ध साहित्य में उसके तीर्थंकर का भी उल्लेख प्राप्त है।

बौद्ध मत में दीर्घनिकाय के अनुसार अजितकेशकम्बल के दार्शनिक विचार इस प्रकार हैं—

.... दान नहीं है, यज्ञ नहीं है, आहुति नहीं है। सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल-विपाक नहीं है। न यह लोक है और न परलोक। न माता है और न पिता। औपपातिक सत्त्व (देव) भी नहीं है। लोक में सत्य तक पहुंचे हुए तथा सम्यक् प्रतिपन्न श्रमण-ब्राह्मण नहीं है, जो इस लोक और परलोक को स्वयं जानकर, साक्षात् कर बतला सके। प्राणी चार महाभूतों से बना है। जब वह मरता है तब (शरीरगत) पृथ्वी तत्त्व पृथ्वीकाय में, पानी तत्त्व अप्काय में, अग्नि तत्व तेजस् काय में और वायु तत्व वायुकाय में मिल जाते हैं। इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती हैं। चार पुरुष मृत व्यक्ति को खाट पर ले जाते हैं। जलाने तक उसके चिन्ह जान पड़ते हैं। फिर हड्डियां कपोत वर्ण वाली हो जाती है। आहुतियां राख मात्र रह जाती है। 'दान करो' यह मूर्खों का उपदेश है। जो आस्तिकवाद का कथन करते हैं, वह उनका कहना तुच्छ और झूठा विलाप है। मूर्ख हो या पंडित शरीर का नाश होने पर सब विनष्ट हो जाते हैं। मरने के बाद कुछ नहीं रहता। अजितकेशकम्बली के इस मत को उच्छेदवाद कहते हैं।

3.13 अन्योन्यवाद

चौथे संघ का आचार्य पकुधकात्यायन था। उसका कहना था—"सातों पदार्थ न किसी ने किए, न करवाए। वे वंध्य, कूटस्थ तथा खम्बे के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते और एक-दूसरे को सुख-दुःख देने में असमर्थ हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ हैं। इनमें मारने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला कोई नहीं। जो तेज शस्त्रों से दूसरे से दूसरे के सिर कटवाता है वह खून नहीं करता, सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश(रिक्त स्थान) में घुसता है, इतना ही।" इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं।

3.14 विक्षेपवाद

छठे बड़े संघ का आचार्य संजयवेलट्ठिपुत्र था। वह कहता था—"परलोक है या नहीं, यह मैं नहीं समझता। परलोक नहीं है, यह भी मैं नहीं मानता। ...... अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नहीं मानता, नहीं मिलता यह भी मैं नहीं मानता। वह रहता भी है, नहीं भी रहता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या रहता नहीं, यह मैं नहीं समझता। वह रहता है यह भी नहीं, वह नहीं रहता, यह भी नहीं।" इस संजयवेलट्ठिपुत्र के वाद को विक्षेपवाद कहते हैं।

ये आचार्य अपने आपको तीर्थंकर तथा "जिन" घोषित करते थे। इनके सहस्त्रों अनुयायी थे।

किसी एक सिद्धान्त पर मतभेद हो जाने से भगवान् महावीर के धर्मशासन से विद्रोह कर अलग होने वाले धर्मोपदेशक निन्हव कहलाए। जमाली, तिष्यगुप्त, आषाढ़ शिष्य, गंग, अश्वमित्र, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल— ये सात निन्हव बतलाये गये हैं।

3.15 सारांश

विचार का इतिहास जितना पुराना है। लगभग उतना ही पुराना विचारभेद का इतिहास है। जितने प्रकार के विचार उद्भूत हुए उन सभी के सम्प्रदाय बन गए हों ऐसा नहीं हुआ। जिनको अपेक्षित अनुकूलता,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लोक समर्थन के साधन प्राप्त नहीं हो सके, वे विचार कुछेक व्यक्तियों तक ही सीमित रहे। सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हो सके। भगवान् महावीर के युग में जिन विचारों को समर्थन मिला, मान्यता मिली, अनुयायी बढ़ते गए वे समुदाय सम्प्रदाय के रूप में उभरे। उन्हीं में से कतिपय दार्शनिकों के विचारों को आंशिक एवं विस्तार रूप में यहां उल्लिखित किया गया है।

3.16 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्रियावाद और अक्रियावाद के स्वरूप का विस्तार से विश्लेषण करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में दें—

अ. क्या बौद्ध धर्म आत्मतत्त्व को स्वीकार करता है? मीमांसा करें।

ब. अजितकेशकम्बली के दार्शनिक विचारों का निरूपण करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भगवान् महावीर के समय जैन साहित्य के अनुसार मतवाद थे—
   अ. 63 स. 300 स. 100 द. 363
2. क्रियावाद और अक्रियावाद चिन्तन के केन्द्र में है—
   अ. शरीर स. आत्मा स. इन्द्रियां द. मन
3. समस्त समस्याओं का मूल ज्ञान है, यह मान्यता किस वाद की है—
   अ. अक्रियावाद ब. प्रतीत्यसमुत्पाद स. अज्ञानवाद द. स्याद्वाद
4. अहं विसर्जन और समर्पण का सर्वोपरि मूल्य देने वाले थे—
   अ. प्रतिक्रियावादी ब. विनयवादी स. क्रियावादी द. अज्ञानवादी
5. भगवान् महावीर के समय मक्खलि गोशालक था—
   अ. आजीवक ब. शाक्य स. गैरिक द. पारिव्राजक
6. अक्रियावाद का दूसरा नाम है—
   अ. आत्मवाद ब. अज्ञानवाद स. अनात्मवाद द. भौतिकवाद
7. 'ऐसा होने पर ऐसा होता है' सम्बन्धित है—
   अ. अनेकान्तवाद से ब. प्रतीत्यसमुत्पाद से स. आरम्भवाद से द. सत्कार्यवाद से
8. 'द्वादशनिदान' का मूल है—
   अ. वेदना ब. जाति स. संस्कार द. अविद्या
9. 'सातों पदार्थ अचल है', यह मान्यता किस वाद की है—
   अ. अन्योन्यवाद की ब. विनयवाद की स. विक्षेपवाद की द. अभौतिकवाद की
10. 'जब तक जिएं, सुख से जिएं, ऋण लेकर भी घी पियें'
    यह मान्यता किस वाद के आधार पर विकसित हुई—
    अ. अज्ञानवाद से ब. अक्रियावाद से स. विक्षेपवाद से द. विनयवाद से

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–4 : महावीर की गणधर परम्परा

संरचना

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 गणधर परम्परा

- 4.2.1 गणधर इन्द्रभूति गौतम
- 4.2.2 अग्निभूति गौतम
- 4.2.3 वायुभूति गौतम
- 4.2.4 व्यक्त
- 4.2.5 सुधर्मा
- 4.2.6 मण्डित
- 4.2.7 मौर्यपुत्र
- 4.2.8 अकम्पित
- 4.2.9 अचल भ्राता
- 4.2.10 मेतार्य गणधर
- 4.2.11 प्रभास गणधर

4.3 आचार्य परम्परा

- 4.3.1 आचार्य जम्बू
- 4.3.2 आचार्य प्रभव
- 4.3.3 आचार्य शय्यम्भव
- 4.3.4 आचार्य यशोभद्र
- 4.3.5 आचार्य सम्भूतविजय
- 4.3.6 आचार्य भद्रबाहु
- 4.3.7 आचार्य स्थूलभद्र
- 4.3.8 आचार्य महागिरि
- 4.3.9 आचार्य सुहस्ती
- 4.3.10 आचार्य समुद्र, मंगू, भद्रगुप्त
- 4.3.11 आचार्य श्याम (श्याम कालकावाय)
- 4.3.12 आचार्य कालक
- 4.3.13 आचार्य खपुट
- 4.3.14 आचार्य पादलिप्त
- 4.3.15 आचार्य वज्रस्वामी
- 4.3.16 आचार्य कुन्दकुन्द

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.17 आचार्य आर्यरक्षित
4.3.18 आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र
4.3.19 आचार्य वज्रसेन
4.3.20 आचार्य गुणधर
4.3.21 आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि
4.3.22 आचार्य उमास्वाति
4.3.23 आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन
4.4 सारांश
4.5 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

भगवान् महावीर की संघ-व्यवस्था सुव्यवस्थित थी। उनकी उत्तरवर्ती परम्परा दो भागों में विभक्त है—

1. गणधर परम्परा
2. आचार्य परम्परा

तीर्थंकर द्वारा अर्थ रूप में प्रवर्तित प्रवचन को धारण कर सूत्ररूप में व्याख्या करने वाले गणधर होते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। उनके द्वारा की गई रचनाएं आगम कहलाती है।

संघीय व्यवस्था के सूत्रधार आचार्य होते हैं। सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सर्वोपरि संचालन करना आचार्य का कार्य है। इन्हें तीर्थंकर का प्रतिनिधि माना जाता है। महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा है जो आज तक अविच्छिन्न चली आ रही है। प्रस्तुत आलेख में वल्लभी वाचना तक के आचार्यों की चर्चा की गई है।

4.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से महावीर की समृद्ध गणधर परम्परा की जानकारी हो सकेगी।

4.2 गणधर परम्परा

4.2.1 गणधर इन्द्रभूति गौतम

गणधर इन्द्रभूति गौतम अपने गोत्र 'गौतम' के नाम से विश्रुत हैं। इनका जन्म 'गोबर' ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम 'वसुभूति' और माता का नाम 'पृथ्वी' था। ये ब्राह्मण कुल में बहुप्रतिष्ठित थे। इन्द्रभूति चार वेद, चौदह विद्याओं में निष्णात तथा अपने समाज में सम्पन्न, अग्रगण्य तथा प्रसिद्ध याज्ञिक थे।

सोमिल ब्राह्मण के निमंत्रण पर ये मध्यमा-पावा में यज्ञार्थ गए। वहाँ श्रमण भगवान् महावीर से सम्पर्क हुआ। उन्हें जीव के अस्तित्व के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ़ प्रश्न को स्वयं सामने ला रखा। इन्द्रभूति को आश्चर्य हुआ और उनकी अन्तरात्मा भगवान् के चरणों में झुक गई। भगवान् का तत्त्वमय उपदेश श्रवण कर उन्हें यथार्थ का बोध हुआ और वे महावीर के चरणों में समर्पित हो गए। उन्होंने 50 वर्ष की अवस्था में 500 ब्राह्मण शिष्यों के साथ दीक्षा ली। श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य और प्रथम गणधर थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ये महावीर के प्रथम पट्टधर भी थे किन्तु श्वेताम्बर परम्परा ऐसा नही मानती।

गौतम भगवान् से प्रश्न पूछते और भगवान् उनका समाधान देते। आगमों में इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों से अनेक दार्शनिक सैद्धान्तिक पक्षों पर विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। गौतम को सम्बोधित कर भगवान् ने जो उपदेश दिया वह शाश्वत सत्य की गाथा बन गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान् का निर्वाण होने के बाद उन्होंने 80 वर्ष की अवस्था में कैवल्य प्राप्त किया और 92 वर्ष की अवस्था में मोक्ष पधारे। यद्यपि गौतम स्वामी भ. महावीर से आयु में आठ वर्ष बड़े थे, फिर भी प्रभु के प्रति जो समर्पण भाव, जिज्ञासा, विनय भाव रखा उससे उनकी असाधारणता स्पष्ट झलक रही है।

4.2.2 अग्निभूति गौतम

अग्निभूति इन्द्रभूति के मझले भाई थे ये भी पाँच सौ ब्राह्मण छात्रों के विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्य के यज्ञोत्सव में अपने छात्रगण के साथ मध्यमा पावा में पधारे थे। वेद, उपनिषद और कर्मकाण्ड के महान् ज्ञाता थे। इनके आकर्षक व्यक्तित्व का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता था। इनका व्यवहार मधुर एवं विनयपूर्ण था।

इन्द्रभूति की दीक्षा के समाचार से आश्चर्यचकित हो, शास्त्रार्थ करने की साध लेकर महावीर के समवशरण में आयें। वे महावीर की शांत मुखमुद्रा का दर्शन करने में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें शरीर की भी सुध-बुध न रही। जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि में तपकर निखर जाता है और समस्त मलिनता दूर हो जाती है, उसी प्रकार अग्निभूति की आत्मज्योति तीर्थंकर महावीर के सम्पर्क से निखर गई और आत्म-शोधन के हेतु दीक्षित होने की कामना भी जागृत हो गयी। द्वैत-अद्वैत सम्बन्धी उनकी शंकाऐं स्वयं निराकृत हो गयी। अग्निभूति ने 46 वर्ष की अवस्था में तीर्थंकर महावीर के चरणों में दीक्षा ग्रहण की।

4.2.3 वायुभूति गौतम

वायुभूति इन्द्रभूति का छोटा भाई था। ये भी सोमिलार्य के यज्ञोत्सव में 500 छात्रों के साथ मध्यमा पावा में आये हुये थे। जब इन्हें इन्द्रभूति और अग्निभूति के दीक्षित होने का समाचार प्राप्त हुआ तो इनका मन महावीर से शास्त्रार्थ करने के लिए फड़क उठा। इन्होंने विचार किया— मेरे दो भाई पता नहीं, किस प्रकार से मायावी के इन्द्रजाल में फँस गये हैं। मुझे वैदिक मान्यताओं की रक्षा करनी है। अतएव मैं शास्त्रार्थ द्वारा महावीर को अवश्य पराजित करूंगा। भौतिक सुख, समृद्धि, यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड, जातिवाद, बहुदेववाद आदि का विरोध करने का सामर्थ्य किसमें हैं? यह मैं मानता हूँ कि मेरे दोनों भाई मुझसे अधिक विद्वान् और प्रतिभाशाली हैं, पर मैं भी अपने ज्ञान पर भरोसा करता हूँ। मेरा विश्वास है कि देहातिरिक्त 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ नहीं। चलता हूँ महावीर की सभा में और अपने तर्कों से उन्हें परास्त कर देता हूँ।

इस प्रकार अहंकार से पुलकित होते हुये वायुभूति महावीर के समवशरण में उपस्थित हुये। तीर्थंकर महावीर की सौम्य मुद्रा को निर्निमेष होकर वे देखते रहे। ज्ञानमद चूर होते ही उनका हृदय श्रद्धा से जगमगाने लगा। दम्भ और मिथ्याभिनिवेश हटते ही उनका हृदय परिवर्तित हो गया। मन के सारे विकल्प समाप्त हो गये।

वायुभूति भगवान् महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति और गणधर 'अग्निभूति' के सहोदर थे। इनका भी गौतम गोत्र, वसुभूति ब्राह्मण पिता तथा 'पृथ्वी' माता थी। इनके मन में सन्देह था—"शरीर ही आत्मा है या शरीर आत्मा से भिन्न है।" वायुभूति ने 42 वर्ष की अवस्था में तीर्थंकर महावीर के पादमूल में दीक्षा धारण की और तृतीय गणधर का पद प्राप्त किया।

4.2.4 व्यक्त

परिवेश व्यक्ति को कितना परिवर्तित कर देता है, यह व्यक्ति के जीवन से जाना जा सकता है। ये ब्रह्मवादी थे और यज्ञ-यागादि द्वारा लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति में विश्वास करते थे। जब उन्हें इस बात का ज्ञान हुआ कि तीर्थंकर महावीर समवशरण में स्थित हैं और जनसमुदाय उनकी पीयूष-वाणी का पान करने के लिये एकत्रित हुए हैं, तो वे भी अपनी इच्छा का संवरण न कर सके और तीर्थंकर महावीर के दर्शन के लिये चल पड़े। व्यक्त ज्ञानी अध्यापक थे और 500 शिष्य इनके चरणों में बैठकर वेदाध्ययन करते थे। इनके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञान की धूम समस्त पूर्वांचल में व्याप्त थी। ये कोल्लाग-सन्निवेश के निवासी और भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वारूणी और पिता का नाम धनमित्र था। व्यक्त अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। इनके हृदय में दृश्य जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में आशंका विद्यमान थी। इन्हें भी अपने ज्ञान का दम्भ था और शास्त्रार्थ में बड़े-बड़े विद्वानों को परास्त करने की क्षमता भी थी। व्यक्त महावीर के समवशरण में उपस्थित हुये और महावीर के दर्शन मात्र से उनकी शंकाओं का समाधान हो गया। वे सोचने लगे कि महावीर का तेज अदभुत है। इनके तेज के समक्ष सभी का तेज फीका पड़ जाता है। मैं द्वैतवाद की शंका में अब तक पड़ा हुआ था, पर आज मेरी आखें खुल गयी और मुझे सत्य का साक्षात्कार हो गया। अतएव मुझे दीक्षा ग्रहण करने में अब विलम्ब नहीं करनी चाहिए। व्यक्त ने 50 वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की और महावीर के चतुर्थ गणधर का पद प्राप्त किया।

4.2.5 सुधर्मा

महावीर के पंचम गणधर का नाम सुधर्मा है जो सुधर्मा स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है। ये कोल्लाग-सन्निवेश निवासी अग्निवैश्यायनगोत्री ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल्ल था। ये भी अपने 500 शिष्यों के साथ आर्य सोमिल के यज्ञोत्सव में सम्मिलित होने के हेतु मध्यमा पावा पधारे थे।

जब इन्हें इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि के दीक्षित होने का वृत्त ज्ञात हुआ, तो इनके मन में भी तीर्थंकर महावीर के दर्शन की इच्छा जागृत हुई और निर्मल वातावरण में तीर्थंकर महावीर के समवशरण में इन्होंने प्रवेश किया।

आत्मा के महान् शिल्पी के स्पर्श से उनकी सरागता उज्ज्वलता में बदल रही थी। वे महावीर की सौम्य मुद्रा के दर्शन से आनन्द-विभोर थे।

सुधर्मा सोचने लगे कि मेरे पचास वर्ष बीत गये। मैने अभी तक अपनी आत्मा का कुछ भी सुधार नहीं किया। ज्ञान और जाति के अहंकार में डूबा रहा। न मैंने आत्म-साधना की और न कल्याण ही। वास्तव में अहिंसा ही जीवनोत्थान का साधन है। जो व्यक्ति वैभव और विभूतियों से दबा रहता है वह महान् नहीं बन सकता है। मानव की मानवता के सामने देव भी नतमस्तक हो जाते हैं। अतएव व्यक्ति को सदा सत्य, अहिंसा आदि मानवीय एवं ज्ञान-दर्शनादि आत्मीय गुणों का साक्षात्कार करना चाहिए। मानवता के नाते सभी मानव समान है। जन्म से कोई भी व्यक्ति न बड़ा-न छोटा। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य, गुणों और श्रम से महान बनते हैं। अतएव अब मुझे प्रव्रजित हो जाना चाहिये। सुधर्मा ने 50 वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। महावीर के गणधरों में इनका पांचवा स्थान था। सुधर्मा दीर्घजीवी थे। इन्होंने बहुत दिनों तक श्रमण संघ का संचालन किया।

4.2.6 मण्डित

मण्डित संख्या-दर्शन के समर्थक थे। उनके मन में बन्ध-मोक्ष के सम्बन्ध में आशंका थी। वे मौर्य सन्निवेश के निवासी और वशिष्ठगोत्री विद्वान् ब्राह्मण थे। उनकी माता का नाम विजयदेवी और पिता का नाम धनदेव था। 350 छात्रों के विद्या गुरु थे। सोमिल आर्य के निमंत्रण पर यज्ञोत्सव में सम्मिलित होने के लिये मध्यमा पावा में आये थे। मण्डित स्वस्थ शरीर, गौरवर्ण और सात हाथ उन्नत थे। उनके ज्ञान का प्रकाश पूर्वांचल में पूर्णतया व्याप्त था। वेद की अपेक्षा वे तर्कशास्त्र में अधिक निष्णात् थे। उनका शिष्यवर्ग दर्शन और तर्क में विशेष निपुण था।

मण्डित को इन्द्रभूति, वायुभूति आदि के दीक्षित होने का समाचार उपलब्ध हुआ तो उनके मन में भी महावीर के समवशरण में प्रविष्ट होने की भावना उत्पन्न हुई। मण्डित सोचने लगे— देवार्य महावीर में ऐसा कौन सा चमत्कार है, जो बड़े-बड़े विद्वानों को अपना शिष्य बना लेते हैं। इन्द्रभूति, अग्निभूति वैदिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर्मकाण्डी विद्वान् थे। तर्कशास्त्र से वे प्रायः दूर थे। अतः सम्भव है कि महावीर ने इन्हें सरलता से प्रभावित कर लिया हो। मैं तो तर्क का पण्डित हूँ। मेरे समक्ष महावीर या उनका अन्य कोई शिष्य नहीं ठहर सकता। मैं आज जाकर महावीर से अवश्य शास्त्रार्थ करूँगा और उन्हें पराजित कर अपनी यशः पताका फहराऊँगा। मण्डित अपने ही विचार में डूबता-उतरता अपने 350 शिष्यों सहित विपुलाचल पर स्थित महावीर के समवशरण में सम्मिलित हुआ। 50 वर्ष की अवस्था में मण्डित ने उद्बोधन प्राप्त किया और तीर्थंकर महावीर के पाद्मूल में स्थित होकर दीक्षा ग्रहण की। मण्डित ने छठे गणधर का पद प्राप्त किया।

4.2.7 मौर्यपुत्र

तीर्थंकर महावीर के सप्तम् गणधर का नाम मौर्यपुत्र है। ये मौर्यपुत्र काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य तथा माता का नाम विजयादेवी था। ये मौर्य-सन्निवेश ग्रामवासी थे। मौर्यपुत्र भी 350 छात्रों के अध्यापक थे और आर्य सोमिल के आमंत्रण पर मध्यमा पावा में पधारे थे। इन्हें परलोक, पुनर्जन्म आदि के सम्बन्ध में सन्देह था। अतएव इन्द्रभूति अग्निभूत आदि की दीक्षा का समाचार ज्ञात कर ये भी तीर्थंकर महावीर के समवशरण में सम्मिलित हुए।

महावीर के समवशरण के दर्शन करते ही इनकी आत्मा में सम्यक्त्व की लहर उत्पन्न हो गयी। ये सोचने लगे—"यह मानव जीवन क्या है? इस विश्व में तो मत्स्यन्याय चल रहा है। जैसे समुद्र में बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी शक्तिशाली मनुष्य निर्बल को आक्रान्त कर देता है। जाति-पाति का बन्धन भी कम नहीं है। ब्राह्मण को अपनी विद्या और जाति का अभिमान है। भजन-भोजन एवं पठन-पाठन पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है। वैश्य वाणिज्य पर अपना अधिकार मानता है और जैसे-तैसे धन संचय करना ही अपना अधिकार समझता है। क्षत्रिय-कुमार पर-पीड़ा देने में ही आनन्दानुभूति करते हैं। शुद्र जाति सब ओर से प्रताड़ित हो रही है। आत्मा में प्रज्वलित होती हुई ज्योति का कोई अनुभव नहीं करता है। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न करने पर परमात्मा बन सकती है। जन्म से व्यक्ति ऊंच-नीच नहीं होता, यह तो आचार पर निर्धारित है। अतः मैं तीर्थंकर महावीर की शरण में आकर आत्मोत्थान करूँगा। इससे बढ़कर मेरे लिये अन्य कोई श्रेयस्कर कार्य नहीं है। उसका रोम-रोम पुलकित होने लगा और भोगोपभोग का त्याग करने के लिये वह कृतसंकल्प हो गया। इस प्रकार चिन्तन करते हुए मौर्यपुत्र ने सम्यक्त्व लाभ कर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्यागकर 65 वर्ष की अवस्था में दीक्षा धारण की।

4.2.8 अकम्पित

अकम्पित मिथिला के निवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था। अकम्पित के चरणों में बैठकर 300 छात्र विद्याध्ययन करते थे। आर्य सोमिल के यज्ञ महोत्सव का निमंत्रण प्राप्त कर ये भी अपनी छात्र मण्डली के साथ मध्यमा पावा में पधारे थे। इनके हृदय में नरकलोक और नारकी जीवों के अस्तित्व का परिज्ञान हुआ तो वह भी उनके समवशरण की ओर चला। वह आत्मा की शाश्वत सत्ता के सम्बन्ध में विचारने लगा। "आत्मा के गुण निजी सम्पत्ति है। वे कहीं बाहर से नहीं आते। इनकी उपलब्धि का अर्थ इतना ही है कि मिथ्यात्वभाव के हटते ही इन गुणों की अनुभूति होने लगती है। जैसे सूर्य पर से मेघ का आवरण हटते ही सूर्य का भास्वर प्रकाश व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की विभावपरिणति के दूर होते ही स्वभाव-परिणति उत्पन्न हो जाती है। जब साधकके हृदय में संसार की आशा और तृष्णा का अन्त हो जाता है, तब साधक चित्त सविकल्प-समाधि से निकलकर निर्विकल्प समाधि में पहुँच जाता है और अपने पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर डालता है। यह निर्विकल्प-समाधि भाव कहीं से आता नहीं है, यह तो स्वभाव का रमण है। अतएव मैं भी इस अवसर का लाभ उठाकर महावीर के समक्ष दीक्षा ग्रहण कर लूं।" अतएव अकम्पित ने समस्त परिग्रह त्याग कर 47 वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की और अष्टम गणधर का पद प्राप्त किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2.9 अचल भ्राता

महावीर और उनके प्रमुख शिष्यों के अन्तरंग और बहिरंग-परिग्रह त्याग की चर्चा सर्वत्र व्याप्त थी। उनकी देशना जीवन के परत खोल रही थी। आत्मा की बद्धता और मुक्तता का कथन विचारशील व्यक्तियों को आकृष्ट कर रहा था। अतः अचल भ्राता भी तीर्थंकर महावीर के समवशरण में चलने की तैयारी करने लगे। कोशल निवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण थे। उनकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम वासु था। 300 छात्र उनके शिष्य थे। क्रियाकाण्ड, यज्ञ-विज्ञान आदि के ज्ञाता थे। अतः सोमिल आर्य के यज्ञोत्सव में सम्मिलित होने के लिये शिष्य परिवार सहित आये थे। उनके मन में पुण्य-पाप के अस्तित्व एवं उसके फलाफल के सम्बन्ध में आशंका थी। जीवन की दृष्टि उलझी हुई थी। वह शरीर इन्द्रियों और मन के विषय में ही आनन्दानुभूति करता था। अनेक परतों के नीचे दबे हुए जल स्त्रोत के समान उसकी चेतना का विशुद्ध अस्तित्व भी विकारों की परतों के नीचे दबा हुआ था। रूप, रस, गन्ध आदि भौतिक स्थितियों की अनुभूति को ही उसने सर्वस्व मान लिया था।

भगवान् महावीर का सान्निध्य पा उनके जीवन की धारा बदली और उन्होंने 47 वर्ष की आयु में दीक्षा ली। 72 वर्ष की आयु में मोक्षगमन किया।

4.2.10 मेतार्य गणधर

'वत्स' देश में तुंगिक नाम का एक नगर था। वहां कौडिल्य गोत्र के कुछ ब्राह्मण रहते थे। जिनमें एक ... नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम था 'वरुणादेवा'। वरुणादेवा ने एक सुकोमल सौभाग्यवान पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम रखा मेतार्य। मेतार्य अनेक शास्त्रों में पारंगत बने। वैदिक शास्त्रों के अधिकारी विद्वान बने। ये तीन सौ शिष्यों के अध्यापक थे पर मन में एक सन्देह था, परलोक है या नहीं? अनेक प्रयत्न करने पर भी यह सन्देह नहीं मिट रहा था। इसे मिटाया भगवान् महावीर ने। ये भी गौतम स्वामी के साथ 'सोमिल' के यहां मध्यमा पावा में यज्ञार्थ आये हुए थे। वहां से प्रभु के पास गये। अपनी शंका को मिटाकर प्रभु के पास अपने तीन सौ शिष्यों सहित संयमी बने। उस समय उनकी आयु 37 वर्ष की थी। भगवान् महावीर के दसवें गणधर कहलाये। दस वर्ष छद्मस्थ रहे। 47 वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया। 16 वर्ष केवल पर्याय में रहे। अपनी 62 वर्ष की आयु में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

4.2.11 प्रभास गणधर

राजगृह में रहने वाले बल ब्राह्मण की पत्नी का नाम था 'अतिभद्रा'। 'अतिभद्रा' के एक पुत्र हुआ। कर्क राशि और पुष्प नक्षत्र में पैदा होने के कारण पुत्र का नाम प्रभास रख दिया। युवावस्था प्राप्त करके 'प्रभास' वैदिक शास्त्रों के अधिकारी विद्वान बने। वे तीन सौ शिष्यों का अध्ययन-अध्यापन बहुत कुशलता से चलाते थे। अनेक विद्याओं में निष्णात होते हुए भी मन में यह सन्देह था कि मोक्ष है या नहीं? उनके हृदय की इस गुप्त शंका का निवारण किया भगवान् महावीर ने। शंका के मिटते ही अपनी 16 वर्ष की लघुवय में संयमी बन गये। 8 वर्ष छ्द्मस्थ रहे। 25 वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त किया। 16 वर्ष तक केवलपर्याय का पालन करके मात्र 40 वर्ष की वय में मोक्ष में विराजमान हो गये। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में ये ग्यारहवें गणधर थे।

4.3 आचार्य परम्परा

4.3.1 आचार्य जम्बू

सर्वज्ञ श्री सम्पन्न आचार्य जम्बू भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर थे। वे राजकुमार नहीं थे पर सुख-सुविधाओं के भोग में राजकुमार से कम नहीं थे। उनका जन्म वी. नि. 16 (वि. पू. 486) में राजगृह में हुआ। राजगृह मगध की राजधानी थी। सम्राट श्रेणिक के शासन में उसकी शोभा स्वर्ग को भी अभिभूत कर रही थी। श्रेष्ठीकुमार जम्बू 527 व्यक्तियों के साथ वी. नि. (वि. पू. 468) में आचार्य सुधर्मा के पास दीक्षित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुये। आगम की अधिकांश रचना जम्बू के प्रिय सम्बोधन से प्रारम्भ हुई। "जम्बू! सर्वज्ञ श्री वीतराग भगवान् महावीर से मैने ऐसा सुना है।" आचार्य सुधर्मा का यह वाक्य आगम साहित्य में अत्यन्त विश्रुत है। आचार्य जम्बू कुशाग्र बुद्धि के स्वामी थे। वे अपनी सर्वग्राही एवं सद्य:ग्राही प्रतिभा के द्वारा आचार्य सुधर्मा के अगाध ज्ञानसिन्धु को अगस्त्य ऋषि की तरह पी गए। समग्र सूत्रार्थज्ञाता, विश्रुतकीर्ति जम्बू को छत्तीस वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा सुधर्मा और जम्बू को समान सम्मान प्रदान करती है। इस युग के आचार्य जम्बू अन्तिम केवली थे और वी.नि. 64 में निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

आचार्य जम्बू 17 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। मुनि पर्याय के कुल 64 वर्षों में 44 वर्ष तक उन्होंने युगप्रधान के पद को सुशोभित किया। आचार्य जम्बू के शासन काल में मगध का शासनसूत्र नंदवंश के हाथों में चला गया। अवंति पर राजापालक के पुत्र अवन्तिवर्धन का शासन था तथा कौसम्बी का शासन नरेश अजितसेन तत्पश्चात् मणिभद्र ने संभाला।

ये तीनों ही अपने युग के प्रभावी राजवंश थे। आर्य जम्बू एवं उनके संघ में इन राजाओं की गहरी आस्था थी।

4.3.2 आचार्य प्रभव

प्रभव क्षत्रिय राजकुमार था। विन्ध्य प्रदेश के जयपुर नगर में वीर निर्वाण के 30 वर्ष (वि. पू. 500 वर्ष) में प्रभव का जन्म हुआ। वह विन्ध्य नरेश का ज्येष्ठ पुत्र था। कात्यायन उसका गोत्र था। किसी कारणवश विन्ध्यनरेश ने कनिष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। इससे बुद्धिबल और शरीरबल का स्वामी प्रभव कुपित हो गया और चोरों की पल्ली में पहुंच गया। वहाँ अपने शौर्य के कारण वह 500 चोरों का नेता बना।

यही चोरों का सम्राट प्रभव उच्चकोटि का परिव्राट् बना, श्रमण सम्राट बना। प्रभव के पास दो विद्याएं थी—अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा वह सबको निद्राधीन कर सकता था और तालोद्घाटिनी विद्या के द्वारा तालों को खोल सकता था। महाराजा श्रेणिक का सैन्य दल भी इस गिरोह से कांपता था। पल्लपति प्रभव ने पूरे दल के साथ वी. नि. (वि. पू. 468) में सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण की और जम्बू के बाद आचार्य पद का दायित्व संभाला। महान् जैनाचार्यों में आचार्य प्रभव का स्थान भी बहुत ऊंचा है। शय्यंभव जैसे महान् अहंकारी, निर्ग्रन्थ प्रवचन के घोर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् को भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित कर देना उनकी प्रभावकता का सबल उदाहरण है। श्रुतकेवली की परम्परा में आचार्य प्रभव प्रथम थे। आचार्य प्रभव 30 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। संयमी जीवन के 75 वर्ष के काल में 11 वर्ष तक आचार्य पद को संभाला। 105 वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वी. नि. 75 (वि. पू. 395) में अनशनपूर्वक स्वर्गवासी बने। प्रभव के शासनकाल में नन्दों का शासनकाल था। विद्वानों ने नन्दशासकों को जैन माना है। राजवंश जैन होने के कारण श्रुतधर प्रभव को अवश्य ही धर्मप्रचार के लिए राजकीय दृष्टि से अनुकूल वातावरण प्राप्त था।

4.3.3 आचार्य शय्यम्भव

श्रुत संपन्न आचार्य शय्यम्भव पहले अहंकारी विद्वान थे। राजगृह निवासी वत्सगोत्रीय ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म वी. नि. 36 (वि. पू. 434) में हुआ। वेद और वेदांग दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता थे। प्रभव के सम्पर्क में आकर शय्यम्भव वी. नि. 64 (वि. पू. 406) में जैन मुनि बने। जीवन के सन्ध्याकाल में आचार्य शय्यम्भव ने अपने पद पर श्रुतसागर पारीण यशोभद्र को नियुक्त किया। उनका जीवन ब्राह्मण और जैन संस्कृति का मिलन है। आचार्य शय्यम्भव अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में श्रमण दीक्षा ग्रहण कर उनचालीस वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरुढ हुए थे। संयमी जीवन के कुल 34 वर्षों में 23 वर्ष तक युग प्रधान पद के दायित्व को निपुणता से संचालन किया। वे बासठ वर्ष की अवस्था में वी. नि. 68 (वि. पू. 402) में स्वर्गगामी बने।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.4 आचार्य यशोभद्र

यशोभद्र जैन शासन के परम यशस्वी आचार्य थे। तीर्थंकर महावीर के वे पंचम पटधर थे। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में उनका क्रम तृतीय था। आचार्य यशोभद्र के गुरु शय्यम्भव थे। आचार्य यशोभद्र का दीक्षा-संस्कार आचार्य शय्यम्भव के द्वारा हुआ था। आगमों एवं पूर्वों का गम्भीर अध्ययन भी आचार्य यशोभद्र को अपने दीक्षा गुरु से प्राप्त हुआ।

आचार्य यशोभद्र का जन्म ब्राह्मण परिवार में वी. नि. 62 (वि. पू. 408) में हुआ था। तुंगीकायन इनका गोत्र था। यशोभद्र कर्मकाण्डी विद्वान थे। विशाल यज्ञों के आयोजनों का वे सफलतापूर्वक संचालन किया करते थे। ब्राह्मण समाज पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप थी। संयोग से उन्हें एकबार श्रुतधर आचार्य शय्यम्भव के प्रभावक प्रवचन को सुनने का अवसर मिला। महामंगलकारक अध्यात्मोपदेश से ब्राह्मण यशोभद्र की जीवन धारा बदल गई।

वैराग्य भावना से भावित होकर ब्राह्मण विद्वान यशोभद्र ने 22 वर्ष की युवावस्था में श्रमण नायक शय्यम्भव के पास वी. नि. 84 (वि. पू. 386) में जैन मुनि दीक्षा ग्रहण की।

आचार्य शय्यम्भव के बाद वी. नि. 98 (वि. पू. 372) में आचार्य पद पर आरुढ़ हुए। कुशलतापूर्वक उन्होंने वीर शासन के दायित्व को सम्भाला।

मगध पर यशोभद्र के आचार्य काल में नंदों का शासन था एवं पाटलिपुत्र इस समय तक मगध का राजधानी नगर बन गया था।

धर्म प्रचार के लिए यह उपयुक्त क्षेत्र था। आचार्य यशोभद्र का लम्बे समय तक इस धरा पर विहरण हुआ। जन सामान्य से लेकर शासक वर्ग तक को उनके उपदेशों ने प्रभावित किया। आचार्य शय्यम्भव तक एक आचार्य की परम्परा थी। युग प्रहरी आचार्य यशोभद्र ने अपने बाद संभूतविजय और भद्रबाहु इन दोनों की आचार्य पद पर नियुक्ति की। यह जैन शासन में नई प्रवृत्ति का जन्म था।

आचार्य यशोभद्र चतुर्दश पूर्व की विशाल ज्ञान राशि से सम्पन्न उत्तम चरित्र के धनी, सौम्य स्वभावी और अपने समय के युग प्रहरी आचार्य थे।

आचार्य यशोभद्र का स्वर्गवास वी. नि. 148 (वि. पू. 322) में 86 वर्ष की अवस्था में हुआ।

4.3.5 आचार्य सम्भूतविजय

संयम श्रुतनिधि आचार्य सम्भूत विजय महावीर के षष्ठ पट्टधर थे। श्रुतकेवली की परम्परा में वे चतुर्थ श्रुतकेवली थे। उनका जन्म माठर गोत्र में हुआ। आचार्य संभूतविजय का जन्म ब्राह्मण परिवार में होने के कारण उस धर्म और दर्शन के संस्कार उन्हें बाल्यकाल से ही प्राप्त थे। आचार्य यशोभद्र से उपदेशामृत का पान कर वे जैन संस्कारों में ढले।

उत्कृष्ट वैराग्य के साथ 42 वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उनका जन्म वी. नि. 66 (वि.पू. 404), दीक्षा वी. नि. 108 (362) है। सामान्य स्थिति में 40 वर्ष तक साधुचर्या का पालन किया। आठ वर्ष तक आचार्य पद को सम्भाला और वी. नि. 156 (वि.पू. 314) में स्वर्गवासी बने।

आचार्य सम्भूतविजय का श्रमणी वर्ग अत्यन्त प्रभावक था। यक्ष, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा सातों महामात्य शकडाल की प्रतिभासम्पन्न पुत्रियाँ आचार्य सम्भूत विजय के पास दीक्षित हुई थी।

संभूतविजय के आचार्यकाल में नंद राज्य उत्कर्ष पर था। भौतिक और अध्यात्म-संस्कारों से समृद्ध कराने का महान् कार्य आचार्य सम्भूत विजय ने किया था।

नंदों के 155 वर्ष के राज्यकाल में 9 नंद हुये। शकडाल नवमें नंद के समय महामात्य के पद पर नियुक्त था। शकडाल के पुत्र स्थूलभद्र ने श्रुतधर संभूतविजय के पास दीक्षा ग्रहण की। इस दृष्टि से संभूतविजय के समय में नवमें नंद का सत्ताकाल सिद्ध होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.6 आचार्य भद्रबाहु

श्रुतधर परम्परा में भद्रबाहु पांचवें श्रुतधर आचार्य थे। अर्थ की दृष्टि से वे अन्तिम श्रुतकेवली थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में उनको श्रुतधर आचार्य के रूप में आदरास्पद स्थान प्राप्त हुआ।

भद्रबाहु के गुरु यशोभद्र थे। नंदीसूत्र एवं दशाश्रुतस्कंध नियुक्ति के अनुसार उनका गोत्र 'प्राचीन' था। उनका जन्म वी. नि. 94 (वि. पू. 376) में हुआ। उन्होंने वि. नि. 139 में मुनि दीक्षा ली एवं अपने गुरु आचार्य यशोभद्र के पास 17 वर्ष तक रहकर उन्होंने आगमों का गम्भीर अध्ययन किया एवं पूर्वों की सम्पूर्ण श्रुतधारा को ग्रहण किया। उन्होंने वि. नि. 156 में आचार्य पद सम्भाला।

आचार्य भद्रबाहु का व्यक्तित्व विराट एवं प्रभावी था। नेपाल की गिरि कन्दराओं में उन्होंने महाप्राण ध्यान की विशिष्ट साधना की। संघ के अनुरोध पर उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को चौदहपूर्वों का ज्ञान देना स्वीकार किया। किन्तु कारणवश केवल दस पूर्वों का अर्थशः तथा चार पूर्वों का शब्दशः ज्ञान प्रदान किया।

भद्रबाहु आगम रचनाकार थे। उन्होंने दशाश्रुतस्कंध, वृहत्कल्प, व्यवहार एवं निशीथ नामक छेदसूत्रों की रचना की। जिनशासन को सफल नेतृत्व एवं श्रुतसम्पदा का अमूल्य वरदान देकर श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु वीर निर्वाण 170 (वि. पू. 300) में स्वर्ग को प्राप्त हुए।

4.3.7 आचार्य स्थूलभद्र

आचार्य स्थूलभद्र के गुरु सम्भूतविजय थे। सम्भूतिविजय श्रुतधर आचार्य थे एवं आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु सम्भूतविजय के गुरुबन्धु थे।श्रमण स्थूलभद्र ने आचार्य सम्भूतविजय से एकादशांगी का गम्भीर अध्ययन किया था। द्वादश वर्षीय दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद दृष्टिवाद आगम का प्रशिक्षण श्रमण स्थूलभद्र को श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु को प्राप्त हुआ। जिनशासन के संचालन के दायित्व का भार भी उनके कन्धों पर भद्रबाहु के बाद आया था। स्थूलभद्र के पिता का नाम शकडाल एवं माता का नाम लक्ष्मी था। आचार्य सम्भूतविजय के बाद उस युग का महत्त्वपूर्ण कार्य आगम वाचना का था। द्वादश वर्षीय दुष्काल के कारण श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो रही थी। उसे संकलित करने के लिए पाटलिपुत्र में महाश्रमण-सम्मेलन हुआ। इस आयोजन के व्यवस्थापक स्थूलभद्र स्वयं थे। दृष्टिवाद की अनुपलब्धि ने सबको चिन्तित कर दिया। ज्ञानसागर की इस महान् क्षतिपूर्ति के लिए संघ के निर्णयानुसार वे नेपाल में भद्रबाहु के पास विद्यार्थी बनकर रहें एवं उनसे समग्र चतुर्दश पूर्व की ज्ञान राशि को अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण कर उन्होंने श्रुतसागर से टूटती दृष्टिवाद की सुविशाल धारा को संरक्षण दिया। अर्थ-वाचना दस पूर्व तक ही वे उनसे ले पाए थे। अन्तिम चार पूर्व की उन्हें पाठ-वाचना मिली। वीर निर्वाण के 160 वर्ष के आसपास सम्पन्न यह सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण वाचना थी। भद्रबाहु के बाद वी. नि. 170 (वि. पू. 300) में स्थूलभद्र ने आचार्य पद का नेतृत्व संभाला। उनसे विविध रूपों में जैन शासन की प्रभावना हुई थी।

स्थूलभद्र दीर्घजीवी आचार्य थे। उनके काल में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त और राजनीति-दक्ष, महामेधावी जैन धर्म में आस्थाशील चाणक्य का अभ्युदय हुआ। मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। नन्द साम्राज्य के पतन की दर्दनाक घटना भी इस युग का मर्मान्तक इतिहास है। दुष्काल परिसमाप्ति के बाद आगम वाचना महत्त्वपूर्ण कार्य आर्य स्थूलभद्र की सन्निधि में हुआ था। स्थूलभद्र के जीवन का लगभग एक शतक आरोह और अवरोह से भरा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है। उनके जीवन की विशेषताओं से आचार्य पद स्वयं मण्डित हुआ। वैभारगिरि पर्वत पर 15 दिन अनशन के साथ वी. नि. 215 (वि. पू. 255) में आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हुआ।

4.3.8 आचार्य महागिरि

आर्य महागिरि मेधावी आचार्य थे। वे जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। उनका जन्म एलापत्य गोत्र में वी. नि. 145 (वि. पू. 325) में हुआ। तेजोदीप्त भाल आचार्य स्थूलभद्र की भांति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मेधासम्पन्न आचार्य महागिरि भी दीर्घजीवी थे। तीस वर्ष तक वे गृहस्थ में रहे। सामान्य मुनि पर्याय का उनका काल 40 वर्ष का एवं युगप्रधान आचार्य पद का काल 30 वर्ष का था। मालव प्रदेश के गजेन्द्रपुर में वी. नि. 245 (वि. पू. 225) में स्वर्गवासी बने।

4.3.9 आचार्य सुहस्ती

सम्राट सम्प्रति के प्रतिबोधक आचार्य सुहस्ती वशिष्ठ गोत्री थे। वे विविध अध्यात्म-आयामों के उद्‌घाटक थे। उनका जन्म वी. नि. 191 (वि. पू. 279) में हुआ।

आचार्य सुहस्ती के शासनकाल में गणधरवंश, वाचकवंश और युगप्रधान आचार्य की परम्परा प्रारम्भ हुई। गण का दायित्व संभालने वाले गणाचार्य, आगम वाचना प्रदान करने वाले वाचनाचार्य एवं प्रभावोत्पादक, सार्वजनीन अध्यात्म प्रवृत्तियों से युगचेतना को दिशाबोध देने वाले युगप्रधानाचार्य होते हैं।

आचार्य सुहस्ती से जैनधर्म अत्यधिक विस्तार को प्राप्त हुआ। मगध की भांति अवन्ति और सौराष्ट्र प्रदेश भी धर्म का प्रमुख केन्द्र उनके शासनकाल में बन गया था। तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर सत्तर वर्ष तक संयम धर्म की सम्यग् आराधना करने वाले आर्य सुहस्ती वी. नि. 291 (वि. पू. 179) में अवन्ति में स्वर्गवासी बने।

4.3.10 आचार्य समुद्र, मंगू, भद्रगुप्त

हिमवन्त स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली के अनुसार आचार्य षाण्डिल्य के उत्तराधिकारी समुद्र और समुद्र के उत्तराधिकारी मंगू थे। वालभी युग प्रधान पट्टावली के अनुसार मंगू रेवतीमित्र के उत्तराधिकारी थे।

आचार्य समुद्र की कीर्ति आसमुद्रान्त तक विस्तृत थी और वे प्रतिकूल परिस्थिति में भी अक्षुभित समुद्र की भांति गंभीर थे।

आचार्य मंगू आगम अध्येता, आचार-कुशल, सूत्रार्थ का मानसिक चिन्तन करने वाले, परवादी विजेता, प्रवचन, ज्ञान, दर्शन गुण सम्पन्न, श्रुत-सागर-पारगामी, धृतिधर आचार्य थे।

आचार्य भद्रगुप्त दस पूर्वधर थे वे ज्योतिष विद्या के प्रकाण्ड विद्वान थे। आचार्य वज्रस्वामी ने भी दस पूर्वों का ज्ञान आचार्य भद्रगुप्त से ग्रहण किया था।

4.3.11 आचार्य श्याम (प्रथम कालकाचार्य)

जैन इतिहास में कालकाचार्य नाम के कई आचार्य हुए हैं प्रथम कालकाचार्य श्यामाचार्य नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। ये द्रव्यानुयोग के विशिष्ट व्याख्याता थे। इनका निगोद सम्बन्धी ज्ञान तलस्पर्शी था। प्रज्ञापना सूत्र की रचना इनकी गहन विद्वत्ता का प्रमाण है। कहते हैं सीमंधर स्वामी के मुख से सौधर्मेन्द्र ने श्यामाचार्य के गहन ज्ञान की प्रशंसा सुनकर ब्राह्मण के रूप में आकर प्रश्नोत्तर किये। उनके उत्तरों से संतुष्ट होकर अपना परिचय दिया व सीमंधर स्वामी के मुख से सुनी प्रशंसा की बात कही। अपनी प्रशंसा सुनकर उनका अहंकार जाग उठा। और कहा—आपके आने की बात मेरे शिष्य कैसे जान सकेंगे? सौधर्मेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्व से पश्चिम की ओर कर दिया, किन्तु खिन्न हुआ कि वर्तमान समय में मनुष्यों में ज्ञान एवं यश के पचाने की क्षमता कम है, तभी से मूलरूप में देवों का आना बन्द हो गया। आचार्य श्याम का जन्म वी.नि. 280 (वि. पू. 190) में हुआ। निगोद व्याख्याता श्यामाचार्य का शासनकाल 41 वर्ष तक रहा। जैन शासन की श्रीवृद्धि में विशेष ख्याति प्राप्त कर वीर निर्वाण 376 (वि. पू. 94) में 96 वर्ष की अवस्था में स्वर्गगामी बने।

4.3.12 आचार्य कालक

द्वितीय कालकाचार्य महान् क्रान्तिकारी थे। अन्यायी राजा का प्रतिकार करने के लिए और उसे सबल सबक सिखाने के लिए भारत की सीमा को पार कर विदेश जाना, शाहों के साथ मैत्री स्थापित करना शक सामन्तों के विशाल दल के साथ नौका से सिन्धु को पारकर भारत पहुंचना, युद्ध का सबल मोर्चा बनाकर अवन्ति पर आक्रमण करना, गर्दभिल्ल जैसे शक्ति सामर्थ्य से युक्त शासक को पराभूत कर उसे देश से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निष्कासित कर देना तथा शकों को राजसिंहासन पर स्थापित कर भारतीय राजनीति की एक नई तस्वीर गढ़ देना आचार्य कालक के सुदृढ़ मनोबल एवं सशक्त व्यक्तित्व का परिचायक है। विदेश-यात्रा आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम द्वार आचार्य कालक ने खोला। आचार्य कालक का निमित्त एवं ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त विशद था। चतुर्थी को संवत्सरी मनाने के उनके निर्णय को संघ ने एक रूप में मान्य किया। इसमें प्रमुख हेतु आचार्य कालक का तेजस्वी व्यक्तित्व ही था। आचार्य कालक की परम्परा में षाण्डिल्य शाखा का निर्माण हुआ। गर्दभिल्ल की राजच्युति एवं शकों के अवन्ति राजसिंहासन पर आरोहण का समय वी. नि. 453 (वि. पू. 17) है। इस आधार पर आचार्य कालक वी. नि. की पांचवीं सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

4.3.13 आचार्य खपुट

आचार्य खपुट अपने युग के एक प्रभावी आचार्य थे। निशीथचूर्णि में आठ प्रकार के व्यक्तियों को धर्मप्रभावक माना है। वहाँ विद्याबल से संघ प्रभावकों में आर्य खपुट का नाम प्रस्तुत किया गया है। विविध विद्यासम्पन्नता के कारण उन्हें आचार्य सम्राट भी कहा गया है। खपुटाचार्य की अनेक चमत्कारिक घटनायें इधर-उधर प्रसिद्ध हैं। मलयगिरि जैसे टीकाकार ने उन्हें विद्या-चक्रवर्ती बताया। उनका समय वी. नि. 484 (वि. सं. 14) के लगभग का माना गया है। खपुट किस गच्छ के थे? इस सम्बन्ध का कोई संकेत ग्रन्थों में नहीं मिलता। समुदाय में भुवन एवं महेन्द्र नामक शिष्यों का उल्लेख मिलता है।

4.3.14 आचार्य पादलिप्त

आचार्य पादलिप्त चमत्कारिक विद्याओं के स्वामी थे। पैरों पर औषधियों का लेप लगाकर गगन से यथेच्छ विहरण की उनमें असाधारण क्षमता थी। वे सरस काव्यकार और शतवाहन वंशी राजा हाल की सभा के अलंकार थे। मंत्र-विद्या का प्रयोग कर पादलिप्तसूरि ने मुरूण्ड आदि राजाओं को धर्म प्रचार के कार्य में सहयोगी बनाया एवं आश्चर्यजनक कवित्व-शक्ति के द्वारा उन्होंने विद्वद्जनों में आदर पाया था। आर्य पादलिप्त को 10 वर्ष की अवस्था में नागहस्तीसूरि ने आचार्य पद पर नियुक्त किया था। अतः आर्य पादलिप्त के समय वी. नि. की 6वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध (वि. की तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध) सिद्ध होता है। प्रो. लॉयसन ने आचार्य पादलिप्त का समय ईस्वी सन् दूसरी, तीसरी शताब्दी माना है। इस आधार पर भी आचार्य पादलिप्त वी. नि. की 7वीं, 8वीं (वि. की तृतीय) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

4.3.15 आचार्य वज्रस्वामी

विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी का जन्म वी. नि. 496 (वि. 26) में हुआ। शैशवकाल में भी नका मानस विरक्ति के झुले में झूलता रहा। दुग्धपान के साथ एकादशांगी का अमृत पान कर वे अध्यात्म पोष को प्राप्त हुए। गृहस्थ जीवन में भी दीक्षा गुरु द्वारा उनका नामकरण हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में भी मातृवात्सल्य को ठुकराकर साधु-संगति से प्यार किया। आठ वर्ष की अवस्था में वे त्याग के पथ पर बढ़ चले। आचार्यों की परम्परा में अन्तिम दश पूर्वधर थे एवं गगन-गामिनी विद्या के उद्धारक थे। कुल 88 वर्ष की अपनी आयु में 36 वर्ष तक युगप्रधान पद को अलंकृत किया। आचार्य वज्रस्वामी जैन शासन के सबल आधार-स्तम्भ थे। उनके स्वर्गगमन के साथ ही दसवें पूर्व की ज्ञान-सम्पदा एवं चतुर्थ अर्धनाराच नामक संहनन की महान् क्षति जैन शासन में हुई। कालिक सूत्रों का अपृथकत्व व्याख्यान पद्धति भी आर्य वज्रस्वामी के बाद अवरूद्ध हो गई। वाज्रीशाखा का निर्माण आर्य वज्र स्वामी के नाम पर हुआ। अनशन की स्थिति में वज्रस्वामी का स्वर्गवास वी. नि. 584 (वि. सं. 114) में हुआ। पांच सौ श्रमणों सहित आर्य वज्रस्वामी की समाधिस्थली गिरि मण्डल के चारों ओर रथारूढ़ इन्द्र ने रथ को घुमाकर प्रदक्षिणा दी, अतः उस पर्वत का नाम रथावर्त पर्वत हो गया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.16 आचार्य कुन्दकुन्द

जैन साहित्य के अभ्युदय में दाक्षिणात्य प्रतिभाओं का महान् योगदान रहा। उनमें आचार्य कुन्दकुन्द को सर्वतोऽग्र स्थान प्राप्त है। आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभूतिपरक वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्त्वों को तर्कसंगत परिधान दिया। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने उनका समय ई. पू. 8 से 44 ईस्वी माना है। इस आधार पर वे वीर निर्वाण 518 से 571 (वि. 48 से 101) तक विद्यमान थे।

उन्होंने 84 प्राभृतों की रचना की, किन्तु आज केवल बारह प्राभृत ही उपलब्ध हैं। उनमें दर्शन प्राभृत, चारित्रप्राभृत, बोधप्राभृत आदि मुख्य हैं। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय आदि। आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी एवं वैश्यवंशज थे। उनका जन्म दक्षिण भारत के अन्तर्गत कौण्डकुन्दपुर में हुआ। उनके पिता का नाम करमण्डू और माता का नाम श्रीमती था। दर्शनसार में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य कुन्दकुन्द को महाविदेह में सीमंधरस्वामी से ज्ञानलब्धि प्राप्त हुई। टीकाकार जयसेन ने भी उनकी विदेह यात्रा का उल्लेख किया है। आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के यशस्वी आचार्य थे। उनकी रचनाओं को दिगम्बर आम्नाय में आगम सदृश महत्त्व प्राप्त है।

4.3.17 आचार्य आर्यरक्षित

आर्यरक्षित अनुयोग व्यवस्थापक आचार्य थे। अनुयोगद्वार आगम के निर्यूहक थे। युगप्रधान आचार्यों की परम्परा में भी उनको विशिष्ट स्थान प्राप्त था। मध्यप्रदेश के अन्तर्गत दशपुर में वी. नि. 522 (वि. 52) में उनका जन्म हुआ। आर्यरक्षित का प्रमुख विहार-क्षेत्र अवन्ति मथुरा एवं दशपुरा के आसपास का क्षेत्र था। उनके जीवन की विशेष घटनाएं इन्हीं नगरों से सम्बन्धित है। महाप्रभावी आचार्य रक्षित जी की सम्पूर्ण आयु 75 वर्ष की थी। उन्होंने 18 वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद का दायित्व संभाला। मन्दसौर में वी. नि. 587 (वि. सं. 127) में देवेन्द्र वन्दित अनुयोग व्यवस्थापक महानुभाव आर्यरक्षित स्वर्गवासी बने। कुछ इतिहासकार उनकी आयु 85 वर्ष की मानते हैं। उनके अनुसार आर्यरक्षित का जन्म वी.नि. 502 (वि.सं. 32) में और भद्रगुप्त से उसका मिलन वी. नि. 533 (वि. सं. 63) में हुआ था।

4.3.18 आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र स्वाध्याय योग एवं ध्यान योग के विशिष्ट साधक थे। वे अनुयोग व्यवस्थापक आर्यरक्षित के शिष्य थे। उनका जन्म वी. नि. 550 (वि. 80) में हुआ। संसार से विरक्त होकर वी. नि. 567 में उन्होंने मुनि दीक्षा स्वीकार की। आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र पूर्वधर आचार्यों की परम्परा में नौ पूर्व को धारण करने वाले अन्तिम आचार्य थे। संयम पर्याय 50 वर्षीय काल में 33 वर्ष तक उन्होंने आचार्य पद के दायित्व का कुशलतापूर्वक वहन किया। वी. नि. 617 (वि. 147) में वे स्वर्ग सम्पदा के स्वामी बने।

4.3.19 आचार्य वज्रसेन

आर्य वज्रसेन अपने युग के विलक्षण आचार्य थे। युगप्रधान आचार्यों की श्रृंखला में सवा सौ वर्ष से भी ऊपर उम्र पाने वाले एवं सवा सौ वर्ष की वृद्धावस्था में आचार्य पद को अलंकृत करने वाले वे प्रथम थे। उनका जन्म वी. नि. 472 (वि. 22) में हुआ। उम्र का एक दशक ही पूर्ण नहीं हो पाया वे त्याग के कुलिश-कठोर पथ पर बढ़ने को उत्सुक बने। पूर्ण वैराग्य के साथ वी. नि. 501 (वि. सं. 31) में उन्होंने मुनि जीवन में प्रवेश पाया। आगमों का गंभीर अध्ययन कर वे जैन दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता बने।

आचार्य वज्रसेन दीर्घजीवी आचार्य थे। वे नौ वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। अनुयोगधर आर्यरक्षित की अनुयोग व्यवस्था के समय आचार्य वज्रसेन वाचनाचार्य के रूप में उपस्थित थे। उन्होंने युगप्रधान के रूप में आचार्य पद का दायित्व ध्यानयोगी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के बाद वी. नि. 617 (वि. 147) में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संभाला। उनका आचार्यकाल मात्र तीन वर्ष का था। संयम पथ पर उनके चरण लगभग 120 वर्ष तक सोत्साह बढ़ते रहे। उनकी सर्वायु 128 वर्ष की थी। वे वी. नि. 620 (वि. 150) में स्वर्गवासी हुए।

4.3.20 आचार्य गुणधर

षट्खण्डागम की भांति प्राकृत भाषा में निबद्ध कषाय प्राभृत ग्रन्थ को दिगम्बर परम्परा में मौलिक स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य गुणधर थे। कषाय प्राभृत के रूप में साहित्य युग को अनुपम उपहार प्रदान करने वाले अतिशय गौरव लब्ध आचार्य गुणधर का समय आचार्य धरसेन के समकालीन होने के कारण वी. नि. की छठी शताब्दी है।

4.3.21 आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि महामेधा सम्पन्न आचार्य थे। षट्खण्डागम दिगम्बर साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सत्कर्म प्राभृत खण्ड सिद्धान्त तथा षट्खण्ड सिद्धान्त की संज्ञा से भी यह पहचाना जाता है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य पुष्पदन्त ने बीसदिसूत्र के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा के 17 सूत्रों का निर्माण कर उन्हें जिनपालित के द्वारा भूतबलि के पास प्रेषित किया था। आचार्य पुष्पदन्त द्वारा रचित 177 सूत्रों के आगे साठ सहस्त्र सूत्रों का निर्माण कर आचार्य भूतबलि ने अवशिष्ट ग्रन्थ को पूर्ण किया था। इस ग्रन्थ का नाम ही षट्खण्डागम है। महाबन्ध की प्रस्तावना में आचार्य भूतबलि का काल वी. नि. 663 के बाद माना है। इस आधार पर प्रबुद्धचेता आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि का कालमान वी. नि. की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं वि. की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

4.3.22 आचार्य उमास्वाति

प्रभावक आचार्यों की परम्परा में उमास्वाति एक ऐसे आचार्य हुए हैं जिनको दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों समान भाव से सम्मान देते हैं और इन्हें अपनी-अपनी परम्परा का मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति और उमास्वामि दोनों नाम प्रचलित है। श्वेताम्बर परम्परा में केवल उमास्वाति नाम ही प्रसिद्ध है।

आचार्य उमास्वाति पांच सौ ग्रन्थों के रचनाकार थे। यह उल्लेख प्रशमरति प्रकरण की हरिभद्रीया वृत्ति के उपोद्घात में है। पर वर्तमान में इन ग्रन्थों की पूर्णतः सूची भी उपलब्ध नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र की रचना कर आचार्य उमास्वाति ने जैनसंघ में दर्शनयुग का प्रारम्भ किया। उमास्वाति ऐसे युग में उत्पन्न हुए जब संस्कृत भाषा का बोलबाला था। संस्कृत में रचना कर उन्होंने जैन साहित्य को युग के बराबर ला खड़ा किया।

दिगम्बर विद्वान् आचार्य उमास्वाति को विक्रम की द्वितीय शताब्दी का विद्वान् मानते हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य की रचना की थी। यह रचना भाष्य युग की सूचना है।

मल्लवादी के नयचक्र और उसकी टीका में तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के उद्धरण है। मल्लवादी वी. नि. 884 (वि. 414) में विद्यमान थे अतः उमास्वाति का समय इनसे पूर्व का है।

पं. सुखलालजी ने तत्त्वार्थ प्रस्तावना में विविध शोध बिन्दुओं के आधार पर वाचक उमास्वाति को प्राचीन से प्राचीन समय वी. नि. की 5 वीं (वि. की प्रथम) और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय वी.नि. 8वीं (वि. 3-4) शताब्दी का प्रमाणित किया है।

4.3.23 आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन

अगाध ज्ञान के धनी, वाचक वंश परम्परा के परम प्रभावी आचार्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन को आगम वाचनाकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हैं। वे अनुयोगधर आचार्य थे। वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी में द्वादश वार्षिक दुष्काल का श्रुत विनाशकारी भीषण आघात पुनः जैन शासन को लगा। दुष्काल-परिसमाप्ति के बाद मथुरा में श्रमण सम्मेलन हुआ। सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने सम्भाला। इस द्वितीय आगम वाचना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का समय वी.नि. 827 से 840 (वि. सं. 357 से 360) का मध्य काल है। यह आगम वाचना मथुरा में होने के कारण माथुरी वाचना कहलाई। आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में होने के कारण इसे स्कन्दिली वाचना के नाम से अभिहित किया गया। इसी समय के आसपास एक आगम वाचना वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इसे वल्लभी वाचना एवं नागार्जुनीय वाचना की संज्ञा मिली है।

आचार्य मेरुतुंग ने आचार्य स्कन्दिल की काल-निर्णायकता के विषय में लिखा है—'श्री विक्रमात् 114 वर्षैर्वज्रस्वामी, तदनु 238 वर्षैः स्कन्दिलः।' विक्रम सं. 114 में वज्र स्वामी का स्वर्गवास हुआ। आचार्य स्कन्दिल का समय आर्य वज्र की स्वर्ग संवत् से 238 वर्ष बाद का है। विद्वान् मुनि कल्याण विजय जी के अभिमत से वज्र स्वामी एवं आचार्य स्कन्दिल दोनों का मध्यवर्ती समय 242 वर्ष है। वज्रस्वामी के बाद 13 वर्ष आर्य रक्षित के, 20 वर्ष पुष्यमित्र के, 3 वर्ष वज्रसेन के, 68 वर्ष नागहस्ती के, 58 वर्ष रेवतिमिश्र के, 78 वर्ष ब्रह्मदीपक सिंह के हैं। कुल जोड 242 वर्ष का है।इस 242 की संख्या में वज्र स्वामी के 114 वर्ष एवं अनुयोग प्रवर्तक प्रसिद्ध वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल के युगप्रधान-काल के 14 वर्ष मिला देने से उनका समय वी. नि. 827 से 840 तक प्रमाणित किया गया है। यही काल स्कन्दिली वाचना का प्रायः मान्य हुआ है।

4.4 सारांश

अस्तु यहाँ महावीर स्वामी की गणधर परम्परा एवं आचार्य परम्परा का सूक्ष्मतम से अध्ययन किया गया है।

4.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. गणधर परम्परा को सविस्तार समझाएं।
2. जैनधर्म और दर्शन के विकास में आचार्यों की क्या भूमिका रही है?
3. साहित्य के क्षेत्र में आचार्य उमास्वाति और आचार्य कुन्दकुन्द का क्या योगदान है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. इन्द्रभूति के मन में क्या शंका थी?
2. भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर कौन थे?
3. आचार्य जम्बू के शासनकाल में मगध का शासन किनके हाथों में था?
4. आचार्य यशोभद्र ने अपना उत्तराधिकार किनको दिया?
5. माथुरी आगम वाचना किसके सान्निध्य में हुई थी?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आचार्य खपुट के शिष्य थे—क. मुनि भुवन ख. आचार्य यशोविजय ग. आर्यरक्षित घ. स्थूलभद्र
2. आचार्य उमास्वाति की प्रसिद्ध रचना है—क. पञ्चास्तिकाय ख. अनुयोगद्वार ग. तत्त्वार्थसूत्र घ. भगवती
3. आचार्य शय्यम्भव का गोत्र था—क. प्राचीन ख. वत्स ग. गौतम घ. वैश्य
4. आचार्य सम्भूतविजय चौथे .... थे।
5. आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म .... में हुआ।
6. प्रज्ञापना सूत्र की रचना .... ने की।
7. आचार्य भद्रबाहु वी. नि. .... में स्वर्ग को प्राप्त हुए।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–5 : देश–विदेश में जैन–धर्म (उत्तर भारत, दक्षिण भारत और विदेशों में जैन–धर्म)

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 उत्तर भारत में जैन धर्म
5.2.1 बिहार
5.2.2 बंगाल
5.2.3 उड़ीसा
5.2.4 उत्तरप्रदेश
(क) मथुरा
5.2.5 राजस्थान
5.2.6 पंजाब और सिन्धु सौवीर
5.2.7 मध्य प्रदेश
5.2.8 सौराष्ट्र गुजरात
5.2.9 बम्बई–महाराष्ट्र
5.2.10 नर्मदा तट
5.3 दक्षिण भारत में जैन धर्म
5.3.1 तमिल में जैन धर्म
5.3.2 कर्नाटक में जैन धर्म
5.3.3 दक्षिण भारत के राजवंश और राज्य तथा जैन धर्म के प्रसार में उनका योगदान
5.3.3.1 गंगवंश
5.3.3.2 होयसल वंश
5.3.3.3 राष्ट्रकूट वंश
5.3.3.4 कदम्ब वंश
5.3.3.5 चालुक्य वंश
(क) पश्चिमी चालुक्य
5.3.3.6 कालाचूरि
5.3.3.7 विजयनगर राज्य
5.4 विदेशों में जैन धर्म
5.5 सारांश
5.6 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

जैन धर्म आत्मशुद्धि एवं आध्यात्मिक विकास का धर्म है । आत्मविकास के लिए उपवास, अनशन, व्रत आदि को यहां अधिक महत्त्व दिया गया है । आचरण की दृष्टि से इस धर्म को अपनाना आसान नहीं है। महत्ता एवं उपयोगिता की दृष्टि से इस धर्म का कोई सानी नहीं है । पर, आचारगत दुरूहता के कारण इस धर्म को अपेक्षित विस्तार नहीं मिल सका।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह सचाई स्वीकार करते हुए संकोच नहीं होना चाहिए। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि निर्जरा पर बल देने वाला यह धर्म भारतवर्ष के विविध अंचलों में फैला और भारत के बाहर के देशों में भी इसका जहां-तहां प्रवेश हुआ ।

5.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से जेन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं विस्तार का ज्ञान हो सकेगा।

5.2 उत्तर भारत में जैन धर्म

5.2.1 बिहार

भगवान् महावीर के समय उनका धर्म प्रजा के अतिरिक्त अनेक राजाओं द्वारा भी स्वीकृत था । वज्जियों के शक्तिशाली गणतंत्र के प्रमुख राजा चेटक भगवान् महावीर के श्रावक थे । वे पहले से ही जैन थे ।वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रावक थे । वज्जी गणतंत्र की राजधानी 'वैशाली' थी। जहाँ जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था।

मगध सम्राट श्रेणिक प्रारंभ में बुद्ध का अनुयायी था। अनाथी मुनि के संपर्क में आने के पश्चात वह निर्ग्रंथ धर्म का अनुयायी हो गया था । इसका विशद् वर्णन उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में हैं। श्रेणिक की रानी चेलणा चेटक की पुत्री थी । यह श्रेणिक को निर्ग्रन्थ-धर्म का अनुयायी बनाने का सतत् प्रयत्न करती थी और अन्त में उसका प्रयत्न सफल हो गया । मगध में भी जैन धर्म प्रभावशाली था । श्रेणिक का पुत्र कूणिक भी जैन था । जैन आगमों में महावीर और कूणिक के अनेक प्रसंग हैं ।

मगध में शिशु-नाग वंश के बाद नंद-वंश का प्रभुत्व बढ़ा । प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायचौधरी के अनुसार नन्द वंश का राज्य बम्बई के सुदूर दक्षिण गोदावरी तक फैला हुआ था । उस समय मगध और कलिंग में जैन धर्म का प्रभुत्व था ही, परन्तु अन्यान्य देशों में भी उसका प्रभुत्व बढ़ रहा था ।

डा॰ राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार जैन ग्रंथों में भी नौ नन्दों का परिचय है (आवश्यक सूत्र, पृ॰693 नवमे नन्द)। उनमें भी नन्द को वैश्या के गर्भ से उत्पन्न 'नापित पुत्र' कहा है (वही, पृ. 890- नापित दास....राजा जात:) परन्तु उदायि और नौ नन्दों के बीच के राजा उन्होने छोड़ दिये । संभवत: उन्हें नगण्य समझ कर नहीं लिया ।

जैन-धर्मो के प्रति नन्दों के झुकाव का कारण संभवत: उनकी जाति थी । पहले नन्द को छोड़ कर और नन्दों के विरूद्ध जैन धर्मो में कुछ नहीं कहा गया है । नन्द राजाओं के मंत्री जैन थे । उनमें पहला कल्पक था जिसे बलात् यह पद संभालना पड़ा । कहा जाता है कि इसी मंत्री की विशेष सहायता पा कर सम्राट नन्द ने तुल्यकालीन क्षत्रिय-वंशों के अंत करने के लिए अपनी सैनिक विजय की योजना की । उत्तरकालीन नन्दों के मंत्री उसी के वंशज थे (वही, 691-3) । नौ नन्द का मंत्री शकटाल था । उसके दो पुत्र थे- स्थूलभद्र और श्रीयक । पिता की मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मंत्री पद दिया गया, पर उसने स्वीकार नहीं किया । वह जिन से दीक्षा ले कर साधु हो गया(वही, 435-6; 693-5), तब वह पद उसके भाई श्रीयक को दिया गया ।

नंदों पर जैनों के प्रभाव की अनुश्रुति को बाद के संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' में भी माना गया हैं। वहां चाणक्य ने एक जैन को ही अपना प्रधान गुप्तचर चुना है। नाटक की सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर भी कुछ अंश में जैन-प्रभाव हैं ।

"खारवेल के हाथीगुंफा लेख से कलिंग पर नंद की प्रभुता ज्ञात होती है । एक वाक्य में उसे 'नंद राजा' कहा गया है जिसने एक प्रणाली या नहर बनाई थी, जो 300(या 103 ?) वर्षो तक काम में न आई । तब अपने राज्य के पांचवे वर्ष में खारवेल उसे अपने नगर लाया । दूसरे वाक्य में कहा गया है कि नंद राजा प्रथम जिनकी मूर्ति (या पादूका) जो कलिंग राजाओं के यहां वंश-परंपरा से चली आ रही थी, विजय के चिह्न के रूप में मगध उठा ले गया ।"

नंद वंश की समाप्ति हुई और मगध की साम्राज्यश्री मौर्य-वंश के हाथ में आ गई। उसका पहला सम्राट चंद्रगुप्त था। उसने उत्तर भारत में जैन धर्म का बहुत विस्तार किया । पूर्व और पश्चिम भी उससे काफी प्रभावित हुए । सम्राट चंद्रगुप्त अपने अंतिम जीवन में मुनि बने और श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ दक्षिण में गए थे ।चंद्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार और उसके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पुत्र अशोकश्री(सम्राट अशोक)हुए । ऐसा माना जाता है कि वे प्रारम्भ में जैन थे, अपने परम्परागत धर्म के अनुयायी थे और बाद में बौद्ध हो गए ।

कुछ विद्वान ऐसा मानते है कि वे अंत तक जैन ही थे । प्रो॰ कर्न के अनुसार "अहिंसा के विषय में अशोक के नियम बौद्ध-सिद्धान्तों की अपेक्षा जैन सिद्धान्तों से अधिक मिलते हैं ।" अशोक के उत्तराधिकारी उनके पौत्र सम्प्रति थे। कुछ इतिहासज्ञ उनका उत्तराधिकारी उनके पुत्र कुणाल (सम्प्रति के पिता) को ही मानते हैं ।

जिनप्रभ सूरि के अनुसार मौर्य-वंश की राज्यावली का क्रम इस प्रकार है -

चन्द्रगुप्त बिन्दुसार ♦ अशोकश्री कुणाल सम्प्रति

किन्तु कुछ जैन लेखकों के अनुसार कुणाल अन्धा हो गया था, इसलिए उसने अपने पुत्र सम्प्रति के लिए ही सम्राट अशोक से राज्य मांगा था ।

सम्राट सम्प्रति को 'परम आर्हत्' कहा गया है । उन्होंने अनार्य देशों में श्रमणों का विहार करवाया था। भगवान् महावीर के काल में विहार के लिए जो आर्यक्षेत्र की सीमा थी, वह सम्प्रति के काल में बहुत विस्तृत हो गई थी। साढ़े 25 देशों को आर्यक्षेत्र मानने की बात भी सम्भवत: सम्प्रति के बाद ही स्थिर हुई होगी ।

सम्राट सम्प्रति को भरत के तीन खण्डों का अधिपति कहा गया है । जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है - "सम्प्रति को उज्जैन में जैन आचार्य सुहस्ति ने अपने धर्म की दीक्षा दी । उसके बाद सम्प्रति ने जैन धर्म के लिए वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था । .....चाहे चन्द्रगुप्त के और चाहे सम्प्रति के समय में जैन धर्म की बुनियाद तामिल भारत के नए राज्यों में भी जा जमी, इसमें सन्देह नहीं । उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय में जैन प्रचारक भेजे गए और वहां जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किए गए । अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्य से आर्य संस्कृति एक विश्व शक्ति बन गई और आर्यावर्त का प्रभाव भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर तक पहुंच गया। अशोक की तरह उसके पौत्र ने भी अनेक इमारतें बनवाईं । राजपूताने की कई जैन रचनाएं उसके समय की कही जाती हैं।" कुछ विद्वानों का अभिमत है कि जो शिलालेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सम्राट सम्प्रति ने लिखवाए थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद श्री सूर्यनारायण व्यास ने एक बहुत खोजपूर्ण लेख द्वारा यह प्रमाणित किया है कि सम्राट अशोक के नाम के लेख सम्राट सम्प्रति के हैं ।

सम्राट अशोक ने शिलालेख लिखवाए हों और उन्हीं के पौत्र तथा उन्हीं के समान धर्म प्रचार प्रेमी सम्राट सम्प्रति ने शिलालेख न लिखवाए हों, यह कल्पना नहीं की जा सकती । एक बार फिर सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता है कि अशोक के नाम से प्रसिद्ध शिलालेखों में कितने अशोक के हैं और कितने सम्प्रति के ?

5.2.2 बंगाल

राजनैतिक दृष्टि से प्राचीनकाल में बंगाल का भाग्य मगध के साथ जुड़ा हुआ था । नन्दों और मौर्यों ने गंगा की उस निचली घाटी पर अपना स्वत्व जमाए रखा । कुशाणों के समय में बंगाल उनके शासन से बाहर रहा, परन्तु गुप्तों ने उस पर अपना अधिकार फिर स्थापित किया । गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् बंगाल में अनेक छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुए।

मुनि कल्याणविजयजी के अनुसार प्राचीन काल में बंग शब्द से दक्षिण बंगाल का ही बोध होता था, जिसकी राजधानी 'ताम्रलिप्ति' थी जो आजकल तामलुक नाम से प्रसिद्ध है । बाद में धीरे-धीरे बंगाल की सीमा बढ़ी और वह पांच भागों में भिन्न-भिन्न नामों से पहचाना जाने लगा - बंग (पूर्वी बंगाल), समतट (दक्षिणी बंगाल), राढ अथवा कर्ण-सुवर्ण (पश्चिम बंगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल), कामरूप (असम)।

भगवान् महावीर वज्रभूमि (वीरभूमि) में गए थे । उस समय वह अनार्य प्रदेश कहलाता था । इससे पूर्व बंगाल में भगवान् पार्श्व का धर्म ही प्रचलित था । वहां बौद्ध धर्म का प्रचार जैन धर्म के बाद में हुआ । वैदिक धर्म का प्रवेश तो वहां बहुत बाद में हुआ था । ई. स. 986 में राजा आदिसूर ने नैतिक धर्म के प्रचार के लिए पांच ब्राह्मण निमन्त्रित किए थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर श्री श्रुतकेवली भद्रबाहु पौण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) के प्रमुख नगर कोट्टपुर के सोमशर्मा पुरोहित के पुत्र थे ।

उनके शिष्य स्थविर गोदास से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ । उसकी चार शाखाएं थीं –

तामलित्तिया   कोडिवरिसिया ♦ पुण्डवद्धणिया (पोण्डवद्धणिया)   दासीखब्बडिया

तामलित्तिया का सम्बन्ध बंगाल की मुख्य राजधानी ताम्रलिप्ती से है। कोडिवरिसिया का सम्बन्ध राढ की राजधानी कोटिवर्ष से है। पोण्डवद्धणिया का सम्बन्ध पौण्ड्र – उत्तरी बंगाल से है। दासी खब्बडिया का सम्बन्ध खरवट से है। इन चारों बंगाली शाखाओं में बंगाल में जैन धर्म के सार्वजनिक प्रसार की सम्यक् जानकारी मिलती है।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'बंगाल और जैन धर्म' शीर्षक लेख में लिखा है – "भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व प्रदेशों अर्थात् अंग, बंग, कलिंग, मगध, काकट (मिथिला) आदि में वैदिक धर्म का प्रभाव कम तथा तीर्थिक धर्म का प्रभाव अधिक था। फलतः श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों में यह प्रदेश निन्दा के पात्र के रूप में उल्लिखित था। इसी प्रकार उस प्रदेश में तीर्थयात्रा करने से प्रायश्चित करना पड़ता था ।"

"श्रुति और स्मृति के शासन से बाहर पड़ जाने के कारण इस पूर्वी अंचल में प्रेम, मैत्री और स्वाधीन चिन्ता के लिए बहुत अवकाश प्राप्त हो गया था । इसी देश में महावीर, बुद्ध, आजीवक-धर्म-गुरू इत्यादि अनेक महापुरूषों ने जन्म लिया और इसी प्रदेश में जैन, बौद्ध प्रभृति अनेक महान् धर्मो का उदय तथा विकास हुआ। जैन और बौद्ध धर्म यद्यपि मगध में ही उत्पन्न हुए तथापि इनका प्रचार और विलक्षण प्रसार बंग देश में ही हुआ। इस दृष्टि से बंगाल और मगध एक ही स्थल पर अभिषिक्त माने जा सकते हैं ।

"बंगाल में कभी बौद्ध धर्म की बाढ़ आई थी, किन्तु उससे पूर्व यहां जैन धर्म का ही विशेष प्रचार था। हमारे प्राचीन धर्म के जो निदर्शन हमें मिलते हैं, वे सभी जैन हैं । इसके बाद आया बौद्ध युग । वैदिक धर्म के पुनरूत्थान की लहरें भी यहां आकर टकराईं, किन्तु इस मतवाद में भी कट्टर कुमारिलभट्ट को स्थान नहीं मिला। इस प्रदेश में वैदिक मत के अन्तर्गत प्रभाकर को ही प्रधानता मिली और प्रभाकर थे स्वाधीन विचारधारा के समर्थक तथा पोषक । जैनों के तीर्थंकरों के पश्चात् चार श्रुतकेवली आए । इनमें चौथे श्रुतकेवली थे भद्रबाहु ।

"ये भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के गुरू थे । उनके समय में एक बार बारह वर्ष व्यापी अकाल की सम्भावना दिखाई दी थी। उस समय वे बड़े संघ के साथ बंगाल को छोड़ कर दक्षिण चले गए और फिर वहीं रह गए । वहीं उन्होंने देह त्यागी। दक्षिण का यह प्रसिद्ध जैन-महातीर्थ 'श्रवणबेलगोला' के नाम से प्रसिद्ध है । दुर्भिक्ष के समय इतने बड़े संघ को लेकर देश में रहने से गृहस्थों पर बहुत बड़ा भार पड़ेगा, इसी विचार से भद्रबाहु ने देश परित्याग किया था ।

भद्रबाहु की जन्मभूमि थी बंगाल । यह कोई मनगढ़न्त कल्पना नहीं है । हरिसेन कृत वृहत्कथा में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। रत्ननन्दी गुजरात के निवासी थे, उन्होंने भी भद्रबाहु के सम्बन्ध में यही लिखा है । तत्कालीन बंग देश का जो वर्णन रत्ननन्दी ने किया है, इसकी तुलना नहीं मिलती ।

"इनके अनुसार भद्रबाहु का जन्म-स्थान पुण्ड्रवर्धन के अन्तर्गत कोटवर्ष नाम का गांव था । ये दोनों आज बांकुड़ा और दीनाजपुर जिलों में पड़ते हैं। इन सब स्थानों में जैन मत की कितनी प्रतिष्ठा हुई थी, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वहां से राढ और तामलुक तक सारा इलाका जैन धर्म से प्लावित था । उत्तर बंग, पूर्व बंग, मेदनीपुर, राढ और मानभूमि जिले में बहुत सी मूर्तियां मिलती हैं। मानभूम के अन्तर्गत पातकूम स्थान में भी जैन मूर्तियां मिली हैं, सुन्दरवन के जंगलों में भी धरती के नीचे से कई मूर्तियां संग्रहीत की गई हैं। बांकुड़ा जिले की सराक जाति उस समय जैन श्रावक के नाम से जानी जाती थी । इस प्रकार बंगाल किसी समय जैन धर्म का एक प्रधान क्षेत्र था। जब बौद्ध धर्म आया, तब उस युग के अनेक पण्डितों ने उसे जैन धर्म की एक शाखा के रूप में ही ग्रहण किया था ।

इन जैन साधुओं के अनेक संघ और गच्छ हैं । इन्हें हम साधक सम्प्रदाय या मण्डली कह सकते हैं। बंगाल में इस प्रकार की अनेक मण्डलियां थीं । पुण्ड्रवर्धन और कोटिवर्ष एक-दूसरे के निकट ही हैं, किन्तु वहां भी पुण्ड वर्धनीय और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कोटिवर्षीय नाम की दो स्वतन्त्र शाखाएं प्रचलित थीं । ताम्रलिप्ती में ताम्रलिप्ती शाखा का प्रचार था। खरवट भूभाग में खरवटिया शाखा का प्रचार था । इस प्रकार और भी बहुत सी शाखाएं पल्लवित हुई थीं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि बंगाल जैनों की एक प्राचीन भूमि है । यहीं जैनों के प्रथम शास्त्र रचयिता भद्रबाहु का उदय हुआ था। यहां की धरती के नीचे अनेक जैन मूर्तियां छिपी हुई हैं और धरती के ऊपर अनेक जैन धर्मावलम्बी आज भी निवास करते हैं ।" (जैन भारती, 10 अप्रैल 1955)

5.2.3 उड़ीसा

ई.पू. दूसरी शताब्दी में उड़ीसा में जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। सम्राट खारवेल का उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुम्फा का शिलालेख इसका स्वयं प्रमाण है। लेख का प्रारम्भ - 'नमो अरहंतानं, नमो सव-सिधानं' - इस वाक्य से होता है।

5.2.4 उत्तरप्रदेश

भगवान् पार्श्व वाराणसी के थे । काशी और कौशल - ये दो राज्य उनके धर्मोपदेश से बहुत प्रभावित थे। वाराणसी का अलक्ष्य राजा भी भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ था । उत्तराध्ययन में प्रव्रजित होने वाले राजाओं की सूची में काशीराज के प्रव्रजित होने का उल्लेख है, किन्तु उनका नाम यहां प्राप्त नहीं है । स्थानांग में भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित आठ राजाओं के नाम ये हैं -

वीराङ्गक	वीरयशा ♦ संजय	ऐणेयक (प्रदेशी का सामन्त राजा)
सेय (आत्मकष्या का स्वामी)	शिव (हस्तिनापुर का राजा)	उद्रायण (सिन्धु सौवीर का राजा)
शंख (काशीवर्धन)		

इसमें शंख को 'काशी का बढ़ाने वाला' कहा है । सम्भव है उत्तराध्ययन में यही काशीराज के नाम से उल्लिखित है। विपाक के अनुसार काशीराज अलक भगवान महावीर के पास प्रव्रजित हुए थे । सम्भव है, ये सब एक ही व्यक्ति के अनेक नाम हों । इस प्रकार और भी अनेक राजा भगवान महावीर के पास प्रव्रजित हुए । भगवान् महावीर के बाद मथुरा जैन धर्म का प्रमुख अंग बन गया था ।

(क) मथुरा

डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने उज्जैन के बाद जैन धर्म का दूसरा केन्द्र मथुरा को माना है । उन्होंने लिखा है - "जैनों का दूसरा केन्द्र मथुरा में बन रहा था जहां बहुसंख्यक अभिलेख मिले हैं, और फूलते-फलते जैन संघ के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है । इस संघ में महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिनों की मूर्तियां और चैत्यों की स्थापना दान द्वारा की गई थी। उनसे यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा संघ स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर था और छोटे-मोटे गण, कुल और शाखाओं में बंटा हुआ था । इनमें सबसे पुराना लेख कनिष्क के 9 वें वर्ष (लगभग 87 ई.) का है और इसमें कोटिक-गण के आचार्य नागनन्दी की प्रेरणा से जैन उपासिका विकटा द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है । स्थविरावली के अनुसार इस गण की स्थापना स्थविर सुस्थित ने की थी जो महावीर के 313 वर्ष बाद अर्थात् 154 ई. पू. में दिवंगत हुए । इस प्रकार इस लेख से श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता द्वितीय शती ई.पू. तक जाती है। मथुरा के कुछ लेखों में भिक्षुणियों का भी उल्लेख है। इससे भी श्वेताम्बरों का सम्बन्ध सूचित होता है, क्योंकि वे ही स्त्रियों को संघ-प्रवेश का अधिकार देते हैं ।"

डॉ. वासुदेव उपाध्याय के अनुसार - "ईस्वी सन् के आरम्भ से मथुरा के समीप इस मत का अधिक प्रचार हुआ था। यही कारण है कि कंकाली टीले की खुदाई से अनेक तीर्थंकर प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। उन पर दानकर्ता का नाम भी उल्लिखित है । वहां के आयागपट्ट पर भी अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें वर्णन है कि अमोहिनी ने पूजा निमित्त इसे दान में दिया था - **अमोहिनिये सहा पुत्रेहि पालघोषेन पोठघोषेन।**

धनघोषेन आर्यवती (आयागपट्ट) प्रतिथापिता ॥

"वह लेख 'नमो अरहतो वर्धमानस' जैन मत से उसका सम्बन्ध घोषित करता है ।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा के एक स्तूप, जो जैन आचार्यों द्वारा सुदूर अतीत में निर्मित माना जाता था, की प्राचीनता का समर्थन किया है । उन्होंने लिखा है – "तिब्बत के विद्वान बौद्ध इतिहास के लेखक तारानाथ ने अशोककालीन शिल्प के निर्माताओं को 'यक्ष' कहा है और लिखा है कि मौर्यकालीन शिल्पकला यक्षकला थी। उससे पूर्व युग की कला देवनिर्मित समझी जाती थी । अतएव 'देवनिर्मित' शब्द की यह ध्वनि स्वीकार की जा सकती है कि मथुरा का 'देवनिर्मित' जैन स्तूप मौर्यकाल से भी पहले लगभग पांचवीं या छठी शताब्दी ई. पू. में बना होगा। जैन विद्वान जिनप्रभ सूरि ने अपने विविधतीर्थकल्प ग्रन्थ में मथुरा के इस प्राचीन स्तूप के निर्माण ओर जीर्णोद्धार की परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह माना जाता था कि मथुरा का यह स्तूप आदि में सुवर्णमय था । उसे कुबेरा नाम की देवी ने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की स्मृति में बनवाया था । कालान्तर में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में इसका निर्माण ईंटों से किया गया। भगवान् महावीर की सम्बोधि के तेरह सौ वर्ष बाद वप्पमह सूरि ने इसका जीर्णोद्धार करवाया । इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि मथुरा के साथ जैन धर्म का सम्बन्ध सुपार्श्व तीर्थंकर के समय में ही हो गया था और जैन लोग उसे अपना तीर्थ मानने लगे थे । पहले यह स्तूप केवल मिट्टी का रहा होगा, जैसा कि मौर्यकाल से पहले के बौद्ध स्तूप हुआ करते थे। उसी प्रकार स्तूप का जब पहला जीर्णोद्धार हुआ तब इस पर ईंटों का आच्छादन चढ़ाया गया । जैन परम्परा के अनुसार यह परिवर्तन महावीर के भी जन्म के पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय हो चुका था । इसमें कोई अत्युक्ति नहीं जान पड़ती। इसी इष्टिका निर्मित स्तूप का दूसरा जीर्णोद्धार लगभग शुंगकाल में दूसरी शती ई.पू. में किया गया ।" (महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल 1962, पृ 17-18.)

इस विवरण से डॉ. वासुदेव उपाध्याय का यह अभिमत कि ई.पू. के आरम्भ से मथुरा के समीप इस मत का अधिक प्रसार हुआ था, बहुत मूल्यवान नहीं रह जाता ।

उत्तरप्रदेश में प्राप्त पुरातत्त्व और शिलालेखों के आधार से भी जैन धर्म के व्यापक प्रसार की जानकारी मिलती है।

ईसवी सन् के आरम्भ से जैन प्रतिमा के आधार-शिला पर (बौद्ध प्रतिमा की तरह) लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। लखनऊ के संग्रहालय में ऐसी अनेक तीर्थंकर की मूर्तियां सुरक्षित हैं, जिनके प्रस्तर पर कनिष्क के 79 या 84 वें वर्ष का लेख उत्कीर्ण है। गुप्त-युग में भी इस तरह की प्रतिमाओं का अभाव न था, जिनकी आधारशिला पर लेख उत्कीर्ण हैं। ध्यान मुद्रा में बैठी भगवान् महावीर की ऐसी ही मूर्ति मथुरा से प्राप्त हुई है। गु. सं. 133 (ई.स.423) के मथुरा वाले लेख में हरि स्वामिनी द्वारा जैन प्रतिमा के दान का वर्णन मिलता है। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में भद्र नामक व्यक्ति द्वारा आदिकर्तृन की प्रतिमा के साथ एक स्तम्भ का वर्णन कहौम (गोरखपुर, उत्तरप्रदेश) के लेख में है -

श्रेयोऽर्थ भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृन् ।

पहाड़पुर के लेख (गु.सं. 159) में जैन विहार में तीर्थंकर की पूजा निमित्त भूमिदान का विवरण है, जिसकी आय गंध, धूप, दीप, नेवैद्य के लिए व्यय की जाती थी ।

विहारे भगवतां अर्हतां गंधधूपसुमनदीपाद्यर्यम् ।" (प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ.125)

ईसा की चौथी शताब्दी में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में जैन आगमों की द्वितीय वाचना हुई थी।

5.2.5 राजस्थान

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् मरूस्थल (वर्तमान राजस्थान) में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ गया था। पंडित गौरीशंकर ओझा को अजमेर के पास वडली गांव में एक बहुत प्राचीन शिलालेख मिला था। वह वीर निर्वाण सम्वत् 84 (ई.पू.443) में लिखा हुआ था-

वीराय भगवत,चतुरसीति वसे,मामामिके...

आचार्य रत्नप्रभ सूरि वीर निर्वाण की पहली शताब्दी में उपकेश या ओसिया में आए थे। उन्होंने वहां ओसिया के सवा लाख नागरिकों को जैन धर्म में दीक्षित किया और उन्हें एक जैन जाति (ओसवाल)के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह घटना वीर निर्वाण के 70 वर्ष बाद के आस-पास की है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पूर्व मध्य युग में राजपूताना के विस्तृत क्षेत्र में भी जैन मत का पर्याप्त प्रभाव था, जिसका परिज्ञान अनेक प्रशस्तियों के अध्ययन से हो जाता है । चहमान लेख में राजा को जैन धर्म परायण कहा गया है तथा तीर्थंकर शान्तिनाथ की पूजा निमित्त 8 द्रम (सिक्के) के दान का वर्णन है । तेलप नामक राजा के पितामह द्वारा जैन मन्दिर के निर्माण का भी वर्णन मिलता है- **पितामहेनतस्येदं शमीयाट्यां जिनालये ।**

कारितं शांतिनाथस्य बिम्बं जनमनोहरं ॥

विझोली शिलालेख (ए.ई.26,पृ.89) का आरम्भ 'ओ नमो वीतरागाय' से किया गया है, जिसके पश्चात् पार्श्वनाथ की प्रार्थना मिलती है । जालोर के लेख में पार्श्वनाथ के 'ध्वज उत्सव' के लिए दान का वर्णन है-

श्री पार्श्वनाथ देवे तोरणादीनां प्रतिष्ठाकार्यो कृते।
ध्वजारोपण प्रतिष्ठायां कृतायां (ए.इ.11,पृ.55)

"मारवाड़ के शासक राजदेव के अभिलेख में महावीर मंदिर तथा विहार के निवासी जैन-साधु के लिए दान देने का विवरण मिलता है-

श्रीमहावीर चैत्ये साधु तपोधन निष्ठार्थे ।

लेखों के आधार पर कहा गया है कि राजपूताना में महावीर, पार्श्वनाथ तथा शांतिनाथ की पूजा प्रचलित थी। परमार लेख में ऋषभनाथ की पूजा का उल्लेख मिलता है और मन्दिर को अतीव सुन्दर तथा पृथ्वी का भूषण बतलाया गया है-

श्रीवृषभनाथनाम्नः प्रतिष्ठितं भूषणेन बिम्बमिदं ।
तेनाकारि मनोहरं जिनगृहं भूमेरिदं भूषणम् ॥ (प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन,पृ.125) 4क (6)

5.2.6 पंजाब और सिन्धु सौवीर

भगवान् महावीर ने साधुओं के विहार के लिए चारों दिशाओं की सीमा निर्धारित की, उसमें पश्चिमी सीमा 'स्थूणा' (कुरूक्षेत्र) है। इससे जान पड़ता है कि पंजाब का स्थूणा तक का भाग जैन-धर्म से प्रभावित था। साढ़े पच्चीस आर्य-देशों की सूची में भी कुरू का नाम है । सिन्धु-सौवीर सुदीर्घ-काल से श्रमण-संस्कृति से प्रभावित था ।भगवान् महावीर महाराज उद्रायण को दीक्षित करने वहाँ पधारे ही थे।

5.2.7 मध्य प्रदेश

बुन्देलखण्ड में ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के लगभग जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। आज भी वहाँ उसके अनेक चिह्न मिलते हैं।

राष्ट्रकूट नरेश जैन धर्म के अनुयायी थे। उनका कलचुरी नरेशों से गहरा सम्बन्ध था। कलचुरी की राजधानी त्रिपुरा और रत्नपुर में आज भी अनेक प्राचीन जैन मूर्तियां और खण्डहर प्राप्त हैं। चन्देल राज्य के प्रधान खुजराहो नगर में लेख तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से जैन मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओं की आधार-शिला पर खुदा लेख यह प्रमाणित करता है कि राजाओं के अतिरिक्त सामान्य जनता भी जैन-मत में विश्वास रखती थी। मालवा अनेक शताब्दियों तक जैन-धर्म का प्रमुख प्रचार क्षेत्र था। व्यवहार भाष्य में बताया गया है कि अन्य तीर्थिकों के साथ वाद-विवाद मालव आदि क्षेत्रों में करना चाहिए।इससे जाना जाता है कि अवन्तीपति चन्द्रप्रद्योत तथा विशेषतः सम्राट सम्प्रति से लेकर भाष्य-रचनाकाल तक वहां जैन-धर्म प्रभावशाली था।

5.2.8 सौराष्ट्र-गुजरात

सौराष्ट्र जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था । भगवान् अरिष्टनेमि से वहां जैन-परम्परा चल रही थी । सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल में वहां जैन धर्म को अधिक बल मिला था। सूत्रकृतांग चूर्णि में सौराष्ट्रवासी श्रावक का उल्लेख मगधवासी श्रावक की तुलना में किया गया है । जैन साहित्य में सौराष्ट्र का प्राचीन नाम सुराष्ट्र मिलता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वल्लभी में श्वेताम्बर जैनों की दो आगम-वाचनाएं हुईं थीं । ईसा की चौथी शताब्दी में जब आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में आगम-वाचना हो रही थी, उसी समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वह वल्लभी में हो रही थी ।

ईसा की पांचवीं शताब्दी (454) में फिर वहीं आगम-वाचना के लिए एक परिषद् आयोजित हुई । उसका नेतृत्व देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने किया । उन्होंने आचार्य स्कन्दिल की 'माथुरी वाचना' को मुख्यता दी और नागार्जुन की 'वल्लभी वाचना' को वाचनान्तर के रूप में स्वीकृत किया ।

गुजरात के चालुक्य, राष्ट्रकूट, चावड, सोलंकी आदि राजवंशी भी जैन धर्म के अनुयायी व समर्थक थे।

5.2.9 बम्बई-महाराष्ट्र

सम्राट सम्प्रति से पूर्व जैनों की दृष्टि में महाराष्ट्र अनार्य देश की गणना में था। उसके राज्यकाल में जैन साधु वहां विहार करने लगे। उत्तरवर्ती काल में वह जैनों का प्रमुख विहार-क्षेत्र बन गया था। जैन आगमों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत से बहुत प्रभावित है। कुछ विद्वानों ने प्राकृत भाषा के एक रूप का 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत' ऐसा नाम रखा है ।

ईसा की आठवीं-नौवीं शताब्दी में विदर्भ पर चालुक्य राजाओं का शासन था । दसवीं शताब्दी में वहां राष्ट्रकूट राजाओं का शासन था। ये दोनों राजवंश जैन धर्म के पोषक थे । उनके शासनकाल में वहां जैन धर्म खूब फला-फूला।

5.2.10 नर्मदा-तट

नर्मदा-तट पर जैन धर्म के अस्तित्व के उल्लेख पुराणों में मिलते हैं । वैदिक आर्यों से पराजित होकर जैन धर्म के उपासक असुर लोग नर्मदा के तट पर रहने लगे । कुछ काल बाद वे उत्तर भारत में फैल गए थे । हैहय-वंश की उत्पत्ति नर्मदा तट पर स्थित माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य से मानी जाती है । भगवान् महावीर का श्रमणोपासक चेटक हैहय वंश का ही था ।

इस तरह हम देखते हैं कि बंगाल से लेकर सौराष्ट्र और सिन्धु-सौवीर तक क्रमशः जैन धर्म का प्रसार हो गया ।

5.3 दक्षिण भारत में जैन धर्म

उत्तर भारत में जैनधर्म की स्थिति का दर्शन कर लेने के पश्चात् हम दक्षिण भारत में जैनधर्म के प्रसार पर दृष्टिपात करते हैं । चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उत्तर भारत में 12 वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर जैनाचार्य भद्रबाहु ने अपने विशाल जैनसंघ के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रयाण किया था । इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में उस समय भी जैनधर्म का अच्छा प्रसार था और भद्रबाहु को पूर्ण विश्वास था कि वहां उनके संघ को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा । यदि ऐसा न होता तो वे इतने बड़े संघ को दक्षिण की ओर ले जाने का साहस न करते । जैन संघ की इस यात्रा से दक्षिण भारत में जैनधर्म को और भी अधिक फलने और फूलने का अवसर मिला ।

श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से सदा उदार रही है, उसमें भाषा और अधिकार का वैसा बन्धन नहीं रहा जैसा वैदिक संस्कृति में पाया जाता है । जैन तीर्थंकरों ने सदा लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बनाया। जैन साधु जैनधर्म के चलते-फिरते प्रचारक होते हैं । वे जनता से अपनी शरीर-यात्रा के लिए दिन में एक बार जो रूखा-सूखा किन्तु शुद्ध भोजन लेते हैं, उसका कई गुना मूल्य वे सत्शिक्षा और सदुपदेश के रूप में जनता को चुका देते हैं और शेष समय में साहित्य को लिपिबद्ध करके उसे भावी सन्तान के लिए छोड़ जाते हैं । ऐसे कर्मठ और जनहित में रत साधुओं का समागम जिस देश में हो, उस देश में उनके प्रचार का कुछ प्रभाव न हो, यह सम्भव नहीं । फलतः उत्तर भारत के जैन संघ की दक्षिण यात्रा ने दक्षिण भारत के जीवन में एक क्रान्ति पैदा कर दी । उसका साहित्य खूब समृद्ध हुआ और वह तथा जैन संस्कृति का संरक्षक और संवर्द्धक बन गया ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.3.1 तमिल में जैनधर्म

जैनधर्म प्रसार की दृष्टि से दक्षिण भारत को दो भागों में बांटा जा सकता है – तमिल तथा कर्नाटक। तमिल प्रान्त में चोल और पांड्यनरेशों ने जैनधर्म को अच्छा आश्रय दिया । खारवेल के शिलालेख से पता चलता है कि सम्राट खारवेल के राज्याभिषेक के अवसर पर पांड्यनरेश ने कई जहाज उपहार भरकर भेजे थे । सम्राट खारवेल जैन था और पांड्यनरेश भी जैन थे। पांड्यनरेश ने जैनधर्म को न केवल आश्रय ही दिया किन्तु उसके आचार और विचारों को भी अपनाया । इससे उनकी राजधानी मदुराई दक्षिण भारत में जैनों का प्रमुख स्थान बन गई थी । तमिल ग्रन्थ 'नालिदियर' के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उत्तर भारत में दुष्काल पड़ने पर आठ हजार जैन साधु पांड्यदेश में आए थे । जब वे वहां से वापस जाने लगे तो पांड्यनरेश ने उन्हें वहीं रखना चाहा । तब उन्होंने एक रात्रि में पांड्यनरेश की राजधानी को छोड़ दिया किन्तु चलते समय प्रत्येक साधु ने एक-एक ताड़पत्र पर एक-एक पद्य लिख कर रख दिया । इन्हीं के समुदाय से नालिदियर ग्रन्थ बना। जैनाचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने पांड्यों की राजधानी मदुराई में एक विशाल जैनसंघ की स्थापना की थी। तमिल साहित्य में 'कुरल' नाम का नीतिग्रन्थ सबसे बढ़कर माना जाता है । यह तमिल वेद कहलाता है । इसके रचयिता भी एक जैनाचार्य कहे जाते हैं, जिनका एक नाम कुन्दकुन्द भी था। पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्मा महाराज उनके शिष्य थे। ईसा की दसवीं शताब्दी तक राज्य करने वाले महाप्रतापी पल्लव राजा भी जैनों पर कृपा-दृष्टि रखते थे। इनकी राजधानी कांची सभी धर्मों का स्थान थी । चीनी यात्री हुएनत्सांग सातवीं शताब्दी में कांची आया था। उसने इस नगरी में फलते- फूलते हुए जिन धर्मों को देखा, उनमें वह जैनों का नाम भी लेता है। इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि उस समय कांची जैनों का प्रमुख स्थान था। यहां जैन राजवंशों ने बहुत वर्षों तक राज्य किया। इस तरह तमिल देश के प्रत्येक अंग में जैनों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। सर वाल्टर ईलियट के मतानुसार दक्षिण की कला और कारीगरी पर जैनों का बड़ा प्रभाव है, परन्तु उससे भी अधिक प्रभाव तो उनका तमिल साहित्य के ऊपर पड़ा है। बिशप काल्डवेल का कहना है कि जैनों की उन्नति का युग ही तमिल साहित्य का महायुग है। जैनों ने तमिल, कन्नड़ और दूसरी लोकभाषाओं का उपयोग किया। इससे जनता के सम्पर्क में वे अधिक आए और जैनधर्म के सिद्धान्तों का भी जनसाधारण में खूब प्रचार हुआ ।

एक समय कन्नड़ और तेलगु प्रदेशों से लेकर उड़ीसा तक जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था। शेषगिरि राव ने अपने 'Andhra karna Jainism' में काव्य संग्रह किया है उससे पता चलता है कि आज के विजिगापट्टम, कृष्ण, नेल्लोर वगैरह प्रदेशों में प्राचीनकाल में जैनधर्म फैला हुआ था और उसके मन्दिर बने हुए थे ।

5.3.2 कर्नाटक में जैनधर्म

किन्तु जैनधर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान तो कर्नाटक प्रान्त के इतिहास में मिलता है। यह प्रान्त प्राचीनकाल से ही दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का मुख्य स्थान रहा है। इस प्रान्त में मौर्य साम्राज्य के बाद आन्ध्रवंश का राज्य हुआ, आन्ध्र राजा भी जैनधर्म के उन्नायक थे। आन्ध्रवंश के पश्चात् उत्तर-पश्चिम में कदम्बों ने और उत्तर-पूर्व में पल्लवों ने राज्य किया। कदम्बवंश के अनेक शिलालेख मिले हैं, जिनमें बहुत से लेखों में जैनों को दान देने का उल्लेख मिलता है। इस राजवंश का धर्म जैन था। सन् 1922-23 की एपिग्राफी रिपोर्ट में वर्णित है कि वनवासी के प्राचीन कदम्ब और चालुक्य, जिन्होंने पल्लवों के पश्चात् तुलुव देश में राज्य किया, निस्सन्देह जैन थे। तथा यह भी बहुत सम्भव है कि प्राचीन पल्लव भी जैन थे, क्योंकि संस्कृत में मत्तविलास नाम का एक प्रहसन है जो पल्लवराज महेन्द्रदेववर्मा का बनाया हुआ कहा जाता है। इस ग्रन्थ में उस समय के प्रचलित सम्प्रदायों की हंसी उड़ाई गई है, जिनमें पाशुपत, कापालिक और एक बौद्ध भिक्षु को हंसी का पात्र बनाया गया है । इसमें जैनों को सम्मिलित नहीं किया गया है। इससे पता चलता है कि जिस समय महेन्द्रवर्मा ने इस ग्रन्थ को रचा, उस समय वह जैन था तथा पीछे से शैव हो गया क्योंकि शैव परम्परा में ऐसी ख्याति है कि शैव साधु अप्पर ने महेन्द्रवर्मा को शैव बनाया था । अतः कदम्बों की तरह चालुक्य भी जैनधर्म के प्रमुख आश्रयदाता थे । चालुक्यों ने अनेक जैन मन्दिर बनवाए, उनका जीर्णोद्धार करवाया, उन्हें दान दिया और कन्नड़ के प्रसिद्ध जैन कवि आदि पम्प जैसे कवियों का सम्मान किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके सिवा इतिहास से यह भी पता चलता है कि कर्नाटक में महिलाओं ने भी जैनधर्म के प्रचार में भाग लिया है। इन महिलाओं में जहां राजघराने की महिलाएं स्मरणीय हैं वहां साधारण घराने की स्त्रियों की सेवाएं भी उल्लेखनीय है।

सबसे प्रथम परमगूल की पत्नी कंदाच्छि का नाम उल्लेखनीय है । उसने श्रीपुर नामक स्थान के उत्तरी भाग में एक जैन मन्दिर बनवाया था । परमगूल की प्रार्थना पर गंगनृपति श्रीपुरुष ने इस मन्दिर को एक ग्राम तथा कुछ अन्य भूभाग प्रदान किए थे । इस महिला का गंग राजपरिवार पर काफी प्रभाव था । दूसरी उल्लेखनीय महिला जक्कियब्बे है । यह सत्तरस नागार्जुन की पत्नी थी जो नागर खण्ड का शासक था । पति के मरने पर राजा ने उसकी जगह उसकी पत्नी को नियुक्त किया । पत्नी ने अपूर्व साहस और वीरता का परिचय दिया और संलेखनापूर्वक प्राणों का त्याग किया ।

ईसा की दसवीं शती में पश्चिमी चालुक्य राजा तैलप का सेनापति मल्लप्प था । उसकी पुत्री अत्तिमव्वे आदर्श धर्मचारिणी थी । उसने अपने व्यय से सोने और कीमती पत्थरों की डेढ़ हजार मूर्तियां बनवाई थीं। राजेन्द्र, कोंगाल्व की माता पोचव्वरासि ने ई. 1050 में एक 'वसदि' बनवाई थी ।

कदम्बराजा कीर्तिदेव की प्रथम पत्नी माललदेवी का स्थान भी धर्मप्रेमी महिलाओं में अत्यन्त ऊंचा है। इसने 1077 ई. में पद्मनन्दि सिद्धान्तदेव के द्वारा पार्श्वनाथ चैत्यालय बनवाया और प्रमुख ब्राह्मणों को आमन्त्रित करके उन्हीं के द्वारा उस जिनालय का नामकरण 'ब्रह्मजिनालय' करवाया ।

नागर खण्ड के धार्मिक इतिहास में चट्टलदेवी का खास स्थान है । यह सान्तर परिवार की थी । सान्तर परिवार जैन मतावलम्बी था और उसका धर्मप्रेम विख्यात है । इस महिला ने सान्तरों की राजधानी पोम्बुच्चपुर में जिनालयों का निर्माण कराया और अनेक परोपकार सम्बन्धी कार्य किए ।

5.3.3 दक्षिण भारत के राजवंश और राज्य तथा जैनधर्म के प्रसार में उनका योगदान

यहां दक्षिण भारत के राजनैतिक इतिहास के सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश डालना उचित होगा । गंग राजाओं ने मैसूर के एक बहुत बड़े भाग पर ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक राज्य किया। इसके पश्चात् वे चोलों के द्वारा पराजित हुए । किन्तु चोल लम्बे समय तक राज नहीं कर सके और शीघ्र ही होयसलों के द्वारा निकाल बाहर किए गए । होयसलों ने एक पृथक् राजवंश स्थापित किया जो ग्यारहवीं शती तक कायम रहा ।

प्राचीन चालुक्यों ने छठी शती के लगभग अपना राज्य स्थापित किया और प्रबल शासन के पश्चात् दो भागों में बंट गए- एक पूर्वीय चालुक्य और दूसरा पश्चिमीय चालुक्य। पूर्वीय चालुक्यों ने 750 ई. से 11 वीं शती तक राज्य किया। उसके पश्चात् उनके राज्य चोलों के द्वारा मिला लिए गए। पश्चिमीय चालुक्य 750 ई. के लगभग राष्ट्रकूटों से पराजित हुए।

राष्ट्रकूटों ने 973 ई. तक अपनी स्वतन्त्रता कायम रखी । उसके पश्चात् वे पश्चिमीय चालुक्यों से पराजित हुए। चालुक्यों ने लगभग दो सौ वर्षों तक राज्य किया । उसके पश्चात् कालाचूरियों से वे पराजित हुए । कालाचूरियों ने तीस वर्ष राज्य किया । अब प्रत्येक राजवंश के समय में जैनधर्म की स्थिति का दिग्दर्शन कराया जाता है ।

5.3.3.1 गंगवंश

इस वंश की स्थापना ईसा की दूसरी शती में जैनाचार्य सिंहनन्दि ने की थी । इसका प्रथम राजा माधव था, जिसे कोंगणीवर्मा कहते हैं । मुष्कार अथवा मुखार के समय में जैनधर्म राजधर्म बन गया था। तीसरे और चौथे राजाओं को छोड़कर उसके शेष पूर्वज निश्चय से जैनधर्म के सहायक थे । माधव का उत्तराधिकारी अवनीत जैन था । अवनीत का उत्तराधिकारी दुर्विनीत प्रसिद्ध वैयाकरण जैनाचार्य पूज्यपाद का शिष्य था ।

ईसा की चौथी से बारहवीं शताब्दी तक के अनेक शिलालेखों से यह बात प्रमाणित है कि गंगवंश के शासकों ने जैन मन्दिरों का निर्माण किया, जैन प्रतिमाओं की स्थापना की, जैन तपस्वियों के निमित्त गुफाएं तैयार कराईं और जैनाचार्यों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को दान दिया । इस वंश के एक राजा का नाम मारसिंह द्वितीय था । इसका शासनकाल चेर, चोल और पाण्ड्य वंशोंपर पूर्ण विजय प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध है । यह जैन सिद्धान्तों का सच्चा अनुयायी था । इसने अत्यन्त ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके राजपद त्याग दिया और धारवाड़ प्रान्त के वांकापुर नामक स्थान में अपने गुरु अजितसेन के सन्मुख समाधिपूर्वक प्राणत्याग किया । एक शिलालेख के आधार पर इसकी मृत्यु तिथि 975 ई. निश्चित की गई है ।

चामुण्डराय राजा मारसिंह द्वितीय का सुयोग्य मन्त्री था । उसके मरने पर वह उसके पुत्र राजा राचमल्ल का मन्त्री और सेनापति हुआ । इस मन्त्री के शौर्य के कारण ही मारसिंह अनेक विजय प्राप्त कर सका। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के एक शिलालेख में इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है, धरमधुरन्धर वीरमार्तण्ड, रणरंगसिंह, त्रिभुवनवीर, वैरीकुलकालदण्ड, सत्ययुधिष्ठिर, सुभटचूड़ामणि आदि उसकी अनेक उपाधियां थीं, जो उसकी शूरवीरता और धार्मिकता को बताती है। चामुण्डराय ने ही श्रवणबेलगोला (मैसूर) के विन्ध्यगिरि पर गोमटेश की विशाल मूर्ति स्थापित कराई थी, जो मूर्ति आज दुनिया की अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं में गिनी जाती है । वृद्धावस्था में चामुण्डराय ने अपना अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में बिताया । चामुण्डराय जैनधर्म के उपासक तो थे ही, मर्मज्ञ विद्वान भी थे । उनका कन्नड़ी भाषा का त्रिशष्ठि-लक्षण महापुराण प्रसिद्ध है । संस्कृत में भी उनका बनाया हुआ चारित्रसार नामक ग्रन्थ है । चामुण्डराय की गणना जैनधर्म के महान उन्नायकों में की जाती है । इनके समय में जैन साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई । सिद्धान्त ग्रन्थों का सारभूत श्रीगोम्टसार नामक महान जैनग्रन्थ इन्हीं के निमित्त से रचा गया था और उन्हीं के गोम्मटराय नाम पर इसका नामकरण किया गया । यह कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि रन्न के आश्रयदाता भी थे ।

गंगराज परिवार की महिलाएं भी अपनी धर्मशीलता के लिए प्रसिद्ध हैं। एक प्रशस्ति में गंग महादेवी को 'जिनेन्द्र के चरण-कमलों में लुब्ध भ्रमरी' कहा है। यह महिला भुजबल गंग हेम्माडि मान्धाता भूप की पत्नी थी। राजा मारसिंह की छोटी बहिन का नाम सुग्गिपव्वरसि था। यह जैन मुनियों की बड़ी भक्त थी और उन्हें सदा आहार दान दिया करती थी।

जब चोल राजा ने ई. स. 1004 में गंगनरेश की राजधानी तलकाद को जीत लिया, तब इस वंश का प्रताप मन्द हो गया । बाद में भी इस वंश के राजाओं ने राज किया किन्तु फिर वे उठ नहीं सके। इससे जैनधर्म को भी क्षति पहुंची ।

5.3.3.2 होयसल वंश

इस वंश की उन्नति में भी एक जैन मुनि का हाथ था । इस वंश का पूर्वज राजा सल था । एक बार यह राजा अपनी कुलदेवी के मन्दिर में सुदत्तनाम के जैन साधु से विद्या ग्रहण करता था । अचानक वन में से निकलकर एक बाघ सल पर टूट पड़ा । साधु ने एक दण्ड सल को देकर कहा - 'पोप सल' (मार सल)। सल ने बाघ को मार डाला । इस घटना को स्मरण रखने के लिए उसने अपना नाम 'पोपसल' रखा । पीछे से यही 'होयसल' हो गया ।

गंगवंश की तरह इस वंश के राजा भी विट्टिदेव तक बराबर जैनधर्मी रहे और उन्होंने जैनधर्म के लिए बहुत कुछ किया । दीवान बहादुर कृष्ण स्वामी आयंगर ने विष्णुवर्द्धन विट्टिदेव के समय में मैसूर राज्य की धार्मिक स्थिति बताते हुए लिखा है - 'उस समय मैसूर प्रायः जैन था । गंग राजा जैन धर्म के अनुयायी थे । किन्तु लगभग ई. 1000 में जैनों के विरुद्ध वातावरण ने जोर पकड़ा । उस समय चोलों ने मैसूर को जीतने का प्रयत्न किया । फलस्वरूप गंगवाड़ी और नोलम्बवाड़ी का एक बड़ा प्रदेश चोलों के अधिकार में चला गया, और इस तरह मैसूर देश में चोलों के शैवधर्म और चालुक्यों के जैनधर्म का आमना-सामना हो गया । जब विष्णुवर्द्धन ने मैसूर की राजनीति में भाग लिया उस समय मैसूर की धार्मिक स्थिति अनिश्चित थी । यद्यपि जैनधर्म प्रबल स्थिति में था फिर भी शैवधर्म और वैष्णवधर्म के अनुयायी भी थे। ई. 1116 के लगभग विट्टिदेव को रामानुजाचार्य ने वैष्णव बना लिया और उसने अपना नाम विष्णुवर्द्धन रखा। विष्णुवर्द्धन की पहली पत्नी शान्तलदेवी जैन थी । श्रवणबेलगोला तथा अन्य स्थानों से प्राप्त शिलालेखों में उसके धर्मकार्यों की बड़ी प्रशंसा की गई है। शान्तलदेवी का पिता कट्टर शैव और माता जैन थी । शान्तल देवी के मर जाने पर जब उसके माता-पिता भी मर गए तो उसका जामाता अपने धर्म से च्युत हो गया किन्तु फिर भी जैनधर्म से उसकी सहानुभूति बनी रही। उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में हलेवीड के जिनालय में स्थापित जैन मूर्ति का नाम 'विजय पार्श्वनाथ' रखा। उसके मन्त्री गंगराज तो जैनधर्म के एक भारी स्तम्भ थे। उनकी धार्मिकता और दानवीरता का विवरण अनेक शिलालेखों में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मिलता है। इनकी पत्नी का नाम भी जैनधर्म के प्रचार के सम्बन्ध में अति प्रसिद्ध है। उसने कई जिनमन्दिरों का निर्माण करवाया था जिनके लिए गंगराज ने उदारतापूर्वक भूमिदान दिया था। विट्टिदेव के पश्चात् नरसिंह प्रथम राजा हुआ। इसके मन्त्री हुल्लप्प ने जैनधर्म की बड़ी उन्नति की ।

उसने जैनों के खोए हुए प्रभाव को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। किन्तु होयसल राजाओं द्वारा संरक्षित वैष्णव धर्म की द्रुत अभ्युन्नति, रामानुज तथा कुछ शैव नेताओं का व्यवस्थित और क्रमबद्ध विरोध, और लिंगायतों के भयानक आक्रमण ने मैसूर प्रदेश में जैनधर्म का पतन कर दिया। किन्तु भूल कर भी यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि वहाँ से जैनधर्म की जड़ ही उखड़ गई। किन्तु वैष्णव तथा अन्य वैदिक सम्प्रदायों के क्रमिक अभ्युत्थान के कारण उसका चैतन्य जाता रहा। यों तो जैनधर्म के अनुयायियों की तब भी अच्छी संख्या थी किन्तु फिर वे कोई राजनैतिक प्रभाव नहीं प्राप्त कर सके। बाद में मैसूर राजाओं ने जैनों को कोई कष्ट नहीं दिया । इतना ही नहीं, किन्तु उनकी सहायता भी की। मुस्लिम शासक हैदर नायक तक ने भी जैनमन्दिरों को गाँव प्रदान किए थे यद्यपि उसने श्रवणवेलगोला तथा अन्य प्रदेशों के महोत्सव बन्द कर दिए थे।

5.3.3.3 राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूट राजा अपने समय के बड़े प्रतापी राजा थे । इनके आश्रय से जैनधर्म का अच्छा अभ्युत्थान हुआ। इनकी राजधानी पहले नासिक के पास में थी, पीछे मान्यखेट को इन्होंने अपनी राजधानी बनाया । इस वंश के जैनधर्मी राजाओं में अमोघवर्ष प्रथम का नाम उल्लेखनीय है । यह राजा दिगम्बर जैनधर्म का बड़ा प्रेमी था । अपनी अन्तिम अवस्था में इसने राजपाट छोड़कर जिनदीक्षा ले ली थी । इनके गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन थे । जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने अपनी उत्तरपुराण में लिखा है कि अमोघवर्ष अपने गुरु जिनसेन के चरणकमलों में वन्दना करते अपने को पवित्र हुआ मानता था । इसने जैन मन्दिरों को दान दिया, तथा इसके समय में जैन साहित्य की भी खूब उन्नति हुई । दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की धवला और जयधवला नाम की टीकाओं का नामकरण इसी के धवल और अतिशय धवल नाम के ऊपर हुआ समझा जाता है । शाकटायन वैयाकरण ने अपनी शाकटायन नामक जैन व्याकरण पर इसीके नाम से अमोघवृत्ति नाम की टीका बनाई । इसी के समय जैनाचार्य महावीर ने अपने गणितसारसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसके प्रारम्भ में अमोघवर्ष की महिमा का वर्णन विस्तार से किया गया है । अमोघवर्ष ने स्वयं भी 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' नाम की एक पुस्तिका रची । स्वामी जिनसेन ने भी अनेक ग्रन्थ रचे ।

अमोघवर्ष ने जिनसेन के शिष्य गुणभद्र को भी आश्रय दिया । गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेन के अधूरे ग्रन्थ आदिपुराण को पूर्ण किया और अन्य भी अनेक ग्रन्थ रचे । अमोघवर्ष का पुत्र अकालवर्ष भी जैनधर्म का प्रेमी था। इसके समय में गुणभद्र ने अपना उत्तरपुराण पूर्ण किया । इसने भी जैन मन्दिरों को दान दिया और जैन सिद्धान्तों का सम्मान किया । जब पश्चिम के चालुक्यों की सत्ता का अन्त कर दिया तो इस वंश के अन्तिम राजा इन्द्र ने अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने का यत्न किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली । अन्त में उसने जिनदीक्षा धारण करके श्रवणबेलगोला में समाधिपूर्वक प्राणों का त्याग किया। लोकादित्य इनका सामन्त और वनवास देश का राजा था । गुणभद्राचार्य ने इसे भी जैनधर्म की वृद्धि करने वाला और महान यशस्वी बताया है ।

5.3.3.4 कदम्ब वंश

यद्यपि यह वंश ब्राह्मण धर्मानुयायी था, किन्तु इसके कुछ नरेशों की धार्मिक नीति बड़ी उदार थी और कुछ तो जैनधर्म के प्रतिपालक भी थे। इस वंश के पांचवें राजा काकुत्स्थवर्मा ने एक जैन सेनापति श्रुतकीर्ति को अर्हन्तों के लिए भूमिदान किया था। काकुत्स्थवर्मा के पौत्र मृगेशवर्मा ने अपने राज्य के तीसरे वर्ष में अर्हन्तदेव के पूजनादि के लिए भूमिदान किया था तथा अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में एक गांव को तीन भागों में विभाजित करके एक भाग जिनेन्द्र के लिए, दूसरा भाग श्वेताम्बर श्रमण संघ को एवं तीसरा भाग दिगम्बर श्रमण संघ के लिए प्रदान किया था। आठवें वर्ष में उसने पलासिका नामक स्थान में एक जिनालय बनवा कर कुछ भूमि यापनीयों के तथा निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के कूर्चकों के लिए प्रदान की थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मृगेशवर्मा के तीन बेटों में से रविवर्मा उसका उत्तराधिकारी हुआ । सेनापति श्रुतकीर्ति के पौत्र जयकीर्ति ने कदम्ब राजाओं के द्वारा परम्परा से प्राप्त पुरुखेटक गांव रविवर्मा की आज्ञा से यापनीय संघ के कुमारदत्त प्रमुख आचार्यों को दान में दे दिया । रविवर्मा का राज्यकाल साधारणतः सन् 478 से 513 ई. के लगभग माना जाता है ।

रविवर्मा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र हरिवर्मा हुआ । उसने अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में अपने चाचा शिवरथ के उपदेश से पलाशिका में सिंहसेनापति के पुत्र मृगेश वर्मा के द्वारा निर्मार्पित जैन मन्दिर की अष्टाह्निका पूजा के लिए तथा सर्वसंघ के भोजन के हेतु कूर्चकों के वारिषेणाचार्य संघ के हाथ में वसुन्तवाटक ग्राम दान में दिया। तथा अपने राज्य के पांचवे वर्ष में राजा भानुवर्मा की प्रार्थना पर अहिरिष्ट नामक दूसरे श्रमण संघ के लिए मरदे नामक गांव दान में दिया। हरिवर्मा का राज्यकाल सन् 413 से 534 ई. में माना जाता है ।

5.3.3.5 चालुक्य वंश

इस वंश की एक शाखा, जिसे पश्चिमी चालुक्य कहा जाता है,वातापी(वादामी) नामक स्थान में छठी ई. से आठवीं ई. तक राज्य करती रही।पीछे दो शताब्दी बाद 10वीं से12वीं तक कल्याणी नामक स्थान से शासन करती रही। पूर्वी चालुक्य नाम से प्रसिद्ध दूसरी शाखा आंध्रप्रदेश के वेंगी नामक स्थान से 7 वीं शताब्दी से 11-12 वीं शताब्दी तक राज्य करती रही।

(क) पश्चिमी चालुक्य

इस वंश का सबसे प्राचीन दानपत्र शक सं. 411(481 ई.) का आड़ते से मिला है । यह सत्याश्रय पुलकेशी का है। उसके अनुसार राजा पुलकेशी ने चोल, चेर, केरल, सिंहल और कलिंग के राजाओं को अपना करद बना लिया था। तथा पाण्ड्य आदि राजाओं को दण्डित किया था। लेखक का मुख्य उद्देश्य यह है कि राजा पुलकेशी के शासनकाल में सेन्द्रकवंशी सामन्त सामियार ने अलक्तक नगर में एक जैन मन्दिर बनवाया था, और राजाज्ञा लेकर चन्द्रग्रहण के समय कुछ जमीन और गांव दान में दिए थे।

पुलकेशी प्रथम का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कीर्तिवर्मा था । उसने कुछ सरदारों के निवेदन पर जिनमन्दिर की पूजा के लिए कुछ भूमि दान दी थी । कीर्तिवर्मा प्रथम का पुत्र पुलकेशी द्वितीय हुआ । उसके काल का एक प्रसिद्ध लेख एहोल से प्राप्त हुआ है । उसे जैन कवि रविकीर्ति ने रचा है । भारतवर्ष का तत्कालीन राजनैतिक इतिहास जानने के लिए यह लेख बड़े महत्त्व का है । लेख के अनुसार पुलकेशी उत्तर भारत के सम्राट हर्षवर्धन का समकालीन था। उसने दक्षिण की ओर बढ़ते हुए हर्षवर्द्धन का हर्ष विगलित कर दिया था। रविकीर्ति पुलकेशी का आश्रित था और उसने शक सं. 556 में एक जैन मन्दिर बनवाया था। इसी वंश के विक्रमादित्य द्वितीय ने पुलिगेरे नगर में धवल जिनालय की मरम्मत तथा सजावट कराई थी तथा मूलसंघ देवगण के विजयदेव पण्डिताचार्य के लिए जिनपूजा प्रबन्ध के लिए भूमिदान दिया था।

विक्रमादित्य द्वितीय के बाद चालुक्य वंश के बुरे दिन आए। गंग और राष्ट्रकूट राजाओं ने उसका साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट कर डाला । लगभग 200 वर्षों तक यह फिर पनप न सका। इस काल में उसका स्थान राष्ट्रकूट वंश को मिला।

सन् 974 के लगभग तैलप द्वितीय ने इस वंश का पुनरुद्धार करके कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया। यह तैलप द्वितीय महान कन्नड़ जैन कवि रन्न का आश्रयदाता था । यह धारानरेश मुंज और भोज का समकालीन था। इसके हाथ से ही मुंज की मृत्यु हुई थी। इसके पुत्र और उत्तराधिकारी सत्याश्रय इरिववेडेंग के जैन गुरु द्रविड़संघ कुन्दकुन्दान्वय के विमलचन्द्र पण्डितदेव थे। इसने 997 ई. से 1009 ई. तक राज्य किया।

तैलप द्वितीय का पौत्र तथा सत्याश्रय का भतीजा जयसिंह तृतीय था । यह नरेश अनेक जैन विद्वानों का आश्रयदाता था। इसके समय के प्रमुख जैन विद्वान थे वादिराज, दयापाल एवं पुष्पषेण सिद्धान्तदेव । वादिराज की एक उपाधि जगदेकमल्लवादी थी। यह उपाधि जयसिंह तृतीय ने अपने दरबार में उन्हें दी थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस राजा का पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम था। इसकी उपाधियां आहवमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल थीं। इसने 1042 ई. से 1068 ई. तक राज्य किया। इसकी रानी केतलदेवी के अधीन चांकिराज ने त्रिभुवनतिलक जिनालय में तीन वेदियां बनाई। इस राजा ने अजितसेन भट्टारक को शब्द चतुर्मुख की उपाधि दी थी। अजितसेन भट्टारक की अन्य उपाधियां वादीभसिंह और तार्किक चक्रवर्ती थीं।

इस राजा के ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय ने भी जैन धर्म का संरक्षण किया था। इसने सन् 1074 में शान्तिनाथ मन्दिर के लिए मूलसंघान्वय तथा काणूरगण के कुलचन्द्रदेव को भूमिदान किया था।

सोमेश्वर द्वितीय के भाई विक्रमादित्य षष्ठ ने सन् 1076 से 1126 तक राज्य किया । यह बड़ा प्रतापी राजा था। इसीको लेकर कवि विल्हड ने विक्रमा देव चरित काव्य लिखा है, इसकी एक उपाधि गंगपेर्मानडि थी क्योंकि उसकी मां गंगवंश की राजकुमारी थी। उसने चालुक्य गंगपेर्मानडि चैत्यालय बनवाया था और उसके प्रबन्ध के लिए एक गांव मूलसंघ, सेनगण और पोगरिगच्छ के रामसेन मुनि को दान में दिया था । इस राजा ने बेलगोला प्रदेश में कई जिनालय बनवाए थे जिन्हें राजाधिराज चोल ने जला दिए।

पूर्वीय चालुक्य वंश की शाखा की परम्परा पुलकेशी द्वितीय के भाई कुब्ज विष्णुवर्द्धन से चलती है। इसने सन् 615 से 623 ई. तक राज्य किया । इस वंश के कुछ राजाओं ने जैनधर्म का अच्छी तरह संरक्षण किया था । अम्माराज विजयादित्य ने कटकाभरण जिनालय की पूजादि के लिए यापनीयसंघ नन्दीगच्छ के एक मुनि को ग्राम दान में दिया था तथा सर्वलोकाश्रय जिनभवन की मरम्मत आदि के लिए बलहारिगण, अडुकलि कच्छ के अर्हनन्दि मुनि को कलचुम्बरु नामक गांव दान में दिया था ।

5.3.3.6 कालाचूरि

चालुक्यों का राज्य बहुत थोड़े समय तक ही रहा क्योंकि उन्हें कालाचूरियों ने निकाल बाहर किया। यद्यपि कालाचूरियों का राज्य भी बहुत थोड़े समय तक ही रह सका किन्तु जैन धर्मावलम्बियों के उत्पीड़न की दृष्टि से वह स्मरणीय है ।

महान कालाचूरि नरेश विज्जल जैन था । किन्तु उसका समय लिंगायत सम्प्रदाय के उद्गम और शिवभक्ति के पुनरुज्जीवन की दृष्टि से उल्लेखनीय है । विज्जल के अत्याचारी मन्त्री बसव के नेतृत्व में इस सम्प्रदाय ने जैनों को बहुत कष्ट दिए ।

5.3.3.7 विजयनगर राज्य

इस तरह दक्षिण भारत में यद्यपि जैन धर्म राजाश्रय विहीन हो गया फिर भी गुणग्राही राजा जैन गुरुओं, विद्वानों और नेताओं का यथोचित आदर करते थे। ऐसे राजाओं में विजयनगर राज्य के शासकों का नाम उल्लेखनीय है। यह राज्य वैदिक धर्म का पोषक था किन्तु इसके राजा विभिन्न मतवालों के प्रति उदारता का व्यवहार करते थे तथा इस राज्य के उच्च पदस्थ कर्मचारियों में अधिकांश जैन धर्मावलम्बी थे इसलिए राजाओं को भी जैनधर्म का विशेष ख्याल रखना पड़ता था।

हरिहर द्वितीय के सेनापति इरुगप्प कट्टर जैन धर्मानुयायी थे । उन्होंने 59 वर्ष तक विजयनगर राज्य के ऊंचे पदों को योग्यतापूर्वक निभाया और जैनधर्म की उन्नति के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे। इरुगप्प के अन्य सहयोगियों ने भी जैनधर्म की पूरी सहायता की और उसके प्रचार में काफी योगदान किया।

विजयनगर की रानियां भी जैनधर्म पालती थीं। श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख से देवराय महाराज की रानी भीमादेवी का जैन होना प्रकट है ।

1368 के एक शिलालेख से पता चलता है कि जैनों ने वुक्काराय प्रथम से प्रार्थना की कि वैष्णव जैनों के साथ अन्याय करते हैं । राजा ने काफी जांच-पड़ताल के बाद जैनों और वैष्णवों में मेल करा दिया तथा यह आज्ञा प्रकाशित की-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"यह जैन दर्शन पहले की ही भांति महाशब्द और कलश का अधिकारी है । यदि कोई वैष्णव किसी भी प्रकार जैनियों को क्षति पहुंचावे तो वैष्णवों को उसे वैष्णव धर्म की क्षति समझना चाहिए । वैष्णव जगह-जगह इस बात की ताकीद के लिए शासन कायम करें । जब तक सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व है तब तक वैष्णव जैन दर्शन की रक्षा करेंगे । वैष्णव और जैन एक ही हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं समझना चाहिए । .....वैष्णवों और जैनों से जो कर लिया जाता है उससे श्रवणबेलगोला के लिए रक्षकों की नियुक्ति की जाए और यह नियुक्ति वैष्णवों द्वारा हो तथा उससे जो द्रव्य बचे उससे जिनालयों की मरम्मत कराई जाए और उन पर चूना पोता जाए। इस प्रकार वे प्रतिवर्ष धनदान देने से न चूकेंगे और यश तथा सम्मान प्राप्त करेंगे। जो इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह राजद्रोही और सम्प्रदायद्रोही होगा ।"

एक दूसरे शिलालेख से जैनों और वीर शैवों के विवाद का पता चलता है। यह लेख 1638 ई. का है। यह जैनधर्म की प्रशंसा से शुरू होता है और शिव की प्रशंसा से इसका अन्त होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों के प्रबल होने के फलस्वरूप दक्षिण में जैनधर्म को यदाकदा कुछ आघात पहुंचा तथापि उसका अस्तित्व और सातत्य अक्षुण्ण रहा।

5.4 विदेशों में जैनधर्म

जैन-साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य देशों में विहार किया था। सूत्रकृतांग के एक श्लोक से अनार्य का अर्थ 'भाषा-भेद' भी फलित होता है । इस अर्थ की छाया में हम कह सकते हैं कि चार तीर्थंकरों ने उन देशों में भी विहार किया, जिनकी भाषा उनके मुख्य विहार क्षेत्र की भाषा से भिन्न थी।

भगवान् ऋषभ ने बहली (बेक्ट्रिया, बलख), अडम्बइल्ला (अटक प्रदेश), यवन (यूनान), सुवर्णभूमि (सुमात्रा), पण्हव आदि देशों में विहार किया। पण्हव का सम्बन्ध प्राचीन पार्थिया (वर्तमान ईरान का एक भाग) से है या पल्हव से यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। भगवान् अरिष्टनेमि दक्षिणापथ के मलयदेश में गए थे । जब द्वारका दहन हुआ था तब अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्य देश में थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ति, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, कश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था। दक्षिण में कर्नाटक, कोंकण, पल्लव, द्रविड़ आदि उस समय अनार्य माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश था। इसकी पहचान शाक्यदेश या शाक्यद्वीप से हो सकती है। शाक्यभूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहां भगवान् पार्श्व के अनुयायी हैं। भगवान् बुद्ध का चाचा स्वयं भगवान् पार्श्व का श्रावक था। शाक्य प्रदेश में भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत सम्भव है। भारत और शाक्य प्रदेश का बहुत प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है।

भगवान् महावीर वज्रभूमि, सुम्ह भूमि, दृढ़ भूमि आदि अनेक अनार्य प्रदेशों में गए थे । वे बंगाल की पूर्वी सीमा तक भी गए थे ।

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त एवं अफगानिस्तान में विपुल संख्या में जैन श्रमण विहार करते थे ।

जैन-श्रावक समुद्र पार जाते थे । उनकी समुद्र यात्रा और विदेश व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन-श्रावक थे, इसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है । महावंश के अनुसार ई. पू. 430 में जब अनुराधापुर बसा, तब जैन श्रावक वहां विद्यमान थे । वहां अनुराधापुर के राजा पाण्डुकाभय ने ज्योतिय निग्गंठ के लिए घर बनवाया । उसी स्थान पर गिरि नामक निग्गंठ रहते थे । राजा पाण्डुकाभय ने कुम्भण्ड निग्गंठ के लिए एक देवालय बनवाया था (महावंश, परिच्छेद 10, पृष्ठ 55) ।

जैन-श्रमण भी सुदूर देशों तक विहार करते थे । ई. पू. 25 में पाण्ड्य राजा ने अगस्टस सीजर के दरबार में दूत भेजे थे । उनके साथ श्रमण भी यूनान गए थे (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग 2, पृष्ठ 293)।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जी० एफ० मूर के अनुसार ईसा से पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। ये साधु वस्त्रों तक का परित्याग किए हुए थे (हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 374) ।

इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैनधर्म का काफी प्रभाव पड़ा था । कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे – साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता । वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे ।

यूनानी लेखक मिस्र, अबीसीनिया, इथोपिया में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं (एशियाटिक रिसर्चेज, भाग 3, पृ. 6)। आर्द्र देश का राजकुमार आर्द्र भगवान् महावीर के संघ में प्रव्रजित हुआ था। अरबिस्तान के दक्षिण में 'अदन' बन्दर वाले प्रदेश को आर्द्र देश कहा जाता था। कुछ विद्वान इटली के एड्रियाटिक समुद्र के किनारे वाले प्रदेश को आर्द्र देश मानते हैं। बेबीलोनिया में जैन धर्म का प्रचार बौद्ध धर्म का प्रचार होने से पहले ही हो चुका था। इसकी सूचना बावेरु-जातक से मिलती है (जातक संख्या 339)।

इब्न-अन नजीम के अनुसार अरबों के शासनकाल में यहिया इब्न खालिद बरमकी ने खलीफा के दरबार और भारत के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बड़े अध्यवसाय और आदर के साथ भारत के हिन्दू, बौद्ध और जैन सिद्धान्तों को निमन्त्रित किया (हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 375)।

5.5 सारांश

इस प्रकार मध्य एशिया में जैनधर्म या श्रमण संस्कृति का काफी प्रभाव रहा था । उससे वहां के धर्म प्रभावित हुए थे । वानक्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व में प्रचलित समानिया सम्प्रदाय श्रमण शब्द का अपभ्रंश है ।

श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे ने लिखा है – "इन साधुओं के त्याग का प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियों पर विशेष रूप से पड़ा । इन आदर्शों का पालन करने वालों की यहूदियों में एक खास जमात बन गई, जो 'एस्सिनी' कहलाती थी। इन लोगों ने यहूदी धर्म के कर्मकाण्डों का पालन त्याग दिया। ये बस्ती से दूर जंगलों में या पहाड़ों पर कुटी बनाकर रहते थे। जैन मुनियों की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मांस खाने से उन्हें बेहद परहेज था। वे कठोर और संयमी जीवन व्यतीत करते थे। पैसा या धन को छूने तक से इनकार करते थे। रोगियों और दुर्बलों की सहायता को दिनचर्या का आवश्यक अंग मानते थे। प्रेम और सेवा को पूजा-पाठ से बढ़कर मानते थे। पशुबलि का तीव्र विरोध करते थे। शारीरिक परिश्रम से ही जीवन यापन करते थे । अपरिग्रह के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे। समस्त सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति समझते थे। मिस्र में इन्हीं तपस्वियों को 'थेरापूते' कहा जाता था। थेरापूते का अर्थ मौनी अपरिग्रही है (हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 374)।

कालकाचार्य सुवर्णभूमि (सुमात्रा) में गए थे । उनके शिष्य श्रमण सागर अपने गण सहित वहां पहले ही विद्यमान थे (उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा – 120) ।

कौंचद्वीप, सिंहल द्वीप (लंका) और हंस द्वीप में भगवान् सुमतिनाथ की पादुकाएं थीं। पारकर देश और कासश्द में भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा थी (विविध तीर्थकल्प पृ. 85)।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जैनधर्म का प्रसार हिन्दुस्तान के बाहर के देशों में भी हुआ था। उत्तरवर्ती श्रमणों की उपेक्षा व अन्यान्य परिस्थितियों के कारण वह स्थायी नहीं रह सका।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तर भारत में जैनधर्म के विस्तार पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो सौ शब्दों में दीजिए–
   क. विदेशों में जैनधर्म
   ख. दक्षिण भारत में जैनधर्म

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

सही विकल्प को ( ) इस चिन्ह से चिन्हित करें और खाली स्थान पर सही उत्तर लिखें–

1. जैन धर्म के विस्तार में बाधक रहे–
   अ. सांसारिक दृष्टिकोण	ब. आचारगत दुरूहता
   स. अनासक्तिपूर्ण चिन्तन	द. उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. कल्पक था–
   अ. नंद का राजा	ब. शिशुनाग वंशीय राजा
   स. नंदराजा का मंत्री	द. इनमें से कोई नहीं
3. परम आर्हत कहा गया है
   अ. सम्राट संप्रति को	ब. सम्राट अशोक को
   स. सम्राट कुणाल को	द. सम्राट बिन्दुसार
4. सम्राट चन्द्रगुप्त के गुरु थे–
   अ. प्रभाकर	ब. भद्रबाहु
   स. कुमारिल	द. सोमदेवसूरि
5. उड़ीसा राज्य में जैनधर्म के प्रसार के ज्ञान का स्रोत है–
   अ. हाथी गुम्फा शिलालेख	ब. लौह स्तम्भ
   स. प्रयाग स्तम्भ	द. इनमें से कोई नहीं
6. ईसा की चौथी शताब्दी में वल्लभी में श्वेताम्बर जैनों की आगमवाचना ...... के नेतृत्व में हुई।
7. भयंकर दुर्भिक्ष के कारण उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर प्रयाण करने वाले जैनाचार्य ... थे।
8. एक–एक ताड़पत्र पर एक–एक पद्य लिखने से ..... ग्रन्थ की रचना हुई।
9. होयसल वंश की उन्नति में...... के जैन साधु का योगदान था।
10. शाक्यभूमि नेपाल में....... के अनुयायी थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–2 : जैन संकृति एवं कला

इकाई–6 : जैन संस्कृति की विशेषताएँ

संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 परिभाषा और स्वरूप
6.3 उद्गम
6.4 अहिंसा और तप
6.5 अनेकान्त
6.6 साहित्य
6.7 कला
6.8 व्रत
6.9 सन्यास और श्रामण्य
6.10 समत्व की भावना व अहिंसा
6.11 व्रत–प्रतिरोध बंद का अप्रामाण्य और जाति की अतात्त्विकता
6.12 त्याग की विजय: अहंकार की पराजय
6.13 महावीर का क्रान्ति चिन्तन
    6.13.1 धर्म की दो धाराएं
    6.13.2 यज्ञ क्यों?
    6.13.3 यज्ञ और तीर्थ स्थान: आध्यात्मिक दृष्टि
    6.13.4 महावीर का दृष्टिकोण
6.14 गुणपूजा
6.15 सारांश
6.16 अभ्यास प्रश्नावली

6.0 प्रस्तावना

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास वर्तमान में जिस प्रकार से जाना जाता है, उसमें काफी अपूर्णता है। कुछ एक बातें तो इतनी भ्रांत रूप में प्रचलित हैं, जिनको देखकर आश्चर्य होता है। उसी संदर्भ में जब जैन संस्कृति की विशिष्टताओं को हम देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि किस प्रकार ये भ्रांतियां सचमुच अज्ञानमूलक हैं। कुछ इतिहासकारों की यह मान्यता रही है कि वैदिक संस्कृति ही एकमात्र भारत की प्राचीन संस्कृति थी। जिसकी शाखा के रूप में ही जैन, बौद्ध आदि धर्मों का उदय हुआ था। जबकि अनेक प्रमाणों से अब यह भली–भांति स्पष्ट हो गया है कि प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति की दो धाराएं स्वतंत्र रूप से प्रवाहित रही हैं—वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति का सम्बन्ध वेद एवं तत्संबद्ध साहित्य (उपनिषद्, ब्राह्मण–ग्रन्थ आदि) से रहा है जबकि श्रमण संस्कृति इससे बिलकुल स्वतंत्र रही है। श्रमण संस्कृति की एक धारा है—जैन। जैन संस्कृति प्राचीनतर श्रमण संस्कृति का ही एक विकसित रूप है। इसलिए श्रमण के जो मूलभूत तत्त्व हैं, वे सारे जैन संस्कृति में निहित ही हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृति की तुलना करने पर दोनों में जो गहरा अंतर है, वह स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है। जैन इतिहास के प्रारम्भ के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाठों में आपने ऋषभ-युगीन ऐतिहासिक स्थितियों का ज्ञान किया था। ऐतिहासिक शोध-कार्य ऋषभ को स्पष्ट रूप से श्रमण संस्कृति का आद्य प्रवर्तक प्रमाणित कर रहा है। ऋषभ से लेकर तीर्थंकरों की जो परम्परा चली, वह प्रागैतिहासिक काल में होने से उस समय की ऐतिहासिक स्थिति की जानकारी नहीं हो सकती, पर यह तो स्पष्ट है कि वह परम्परा श्रमण संस्कृति की वाहक थी, वैदिक संस्कृति का मूल स्रोत इससे नितान्त भिन्न था। वेदों का उद्‌गम ऐतिहासिक दृष्टि से ई. पू. 4000 वर्ष से प्राचीन नहीं है, वैसी स्थिति में श्रमण संस्कृति निश्चित रूप से वैदिक संस्कृति से प्राचीन सिद्ध होती है। वैदिक संस्कृति का उद्‌भव आर्यों के उद्‌भव से जुड़ा हुआ है, जिनका आगमन भारतवर्ष से बाहर हुआ ऐसी संभावना ऐतिहासिक दृष्टि से की गई है। किसी भी स्थिति में यह स्पष्ट है ही कि आर्यों का काल श्रमण-संस्कृति की तुलना में बहुत बाद का है। इस प्रकार श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति दोनों के मूल स्रोतों में बहुत बड़ा अंतर प्रतीत होता है।

सिद्धान्तों के आधार पर भी इन दोनों संस्कृतियों में बहुत बड़ा अंतर स्पष्ट हैं। सबसे प्रमुख अंतर है—श्रमण संस्कृति ने जहां चिन्तन के धरातल पर आत्मा, परमात्मा, कर्म आदि के स्वरूप को प्रधानता दी, वहां पर वैदिक संस्कृति में देवी-देवता, प्रकृति, गृह-संस्कृति आदि को प्रमुख माना गया है। यहीं से जैन संस्कृति की विशिष्टता का बिन्दु शुरू हो जाता है।

6.1 उद्देश्य-प्रस्तुत पाठ में हमें बहुत सूक्ष्मता से देखना है कि श्रमण-संस्कृति की एक सुविकसित धारा के रूप में पल्लवित होने वाली जैन संस्कृति (जिसे प्राचीनकाल में निर्ग्रन्थ-संस्कृति के रूप में पुकारा जाता था) की विशिष्टताएं क्या-क्या हैं? तथा वर्तमान युग के संदर्भ में इन विशिष्टताओं की कितनी अधिक प्रासंगिकता का ज्ञान होगा।

6.2 परिभाषा और स्वरूप

जो संस्कार अर्थात् निरन्तर अभ्यास द्वारा विकसित की जाए वह संस्कृति है। इसके लिए शिक्षा, नैतिकता, आचरण की पवित्रता, साहित्य, विज्ञान आदि का परिमार्जित ज्ञान तथा समाज में व्यवहार की विधि आदि की अपेक्षा रहती है। एफ. जे. ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशनल सोशियालोजी' में संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "संस्कृति मानव में सम्पूर्ण व्यवहार का ढांचा है जो अंशतः भौतिक परिवेश से प्रभावित होता है। यह परिवेश प्राकृतिक एवं मानव-निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है। किन्तु प्रमुख रूप से यह ढांचा सुनिश्चित विचारधाराओं, प्रवृत्तियों, मूल्यों तथा आदतों द्वारा प्रभावित होता है, जिसका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।" इसी आधार पर 'प्रिमिटिव कल्चर' के लेखक एडवर्ड टायलर ने संस्कृति को ज्ञान, विश्वास, कला, साहित्य, रीति-रिवाज का अर्जित ज्ञान ठहराया है और कहा है कि मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते सबके सम्मिश्रण से संस्कृति को प्राप्त करता है। जैन संस्कृति का हृदय है—निवर्तक तत्त्व। इच्छामात्र की निवृत्ति, जन्मचक्र का उच्छेद, आत्मोपलब्धि। सामाजिक जीवन में भी प्रवृत्ति को यथासंभव विशुद्ध बनाए रखने के लिए अन्तर्मुखता जरूरी है। एक सीमा तक निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति का सामञ्जस्य किया जा सकता है।

जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति और समाज को एक अहिंसक, शांतिप्रिय, निर्भीक, प्रीतिपूर्ण, सौहार्दपूर्ण, सृजनोन्मुख जीवन-शैली प्रदान करता है। जैनाचार्यों के समस्त शास्त्र और उपदेश-वचन विषमता में समता की स्थापना करने में प्रवृत्त रहे हैं। वैचारिक सहिष्णुता इस संस्कृति का जीवन-मूल्य है। अनेकान्त के सदुपदेश का फलित यही है। समाज में साथ रहते हुए हम एक-दूसरे के विचारों को समझें, अपने को पूर्ण न मानें, स्याद्वाद इसी का अनुमोदन करता है। इन सिद्धान्तों की स्वीकृति से जो संस्कृति निर्मित होगी वह विश्व में प्रेम, मैत्री और बंधुता की स्थापना कर सकेंगी। पारस्परिक विश्वास इस संस्कृति का आधार-स्तम्भ है, अतः जैनधर्म प्राचीन काल से आज तक समय के थपेड़ों को सहिष्णु होकर झेलता चला आ रहा है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और उसकी संस्कृति अक्षुण्ण बनी हुई है। भारतीय संस्कृति का यह एक सुदृढ़ आधार है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए इसे गहनता से समझना होगा। जैन संस्कृति का समग्र अवदान तो साहित्य, धर्म, दर्शन, कला, भाषा, इतिहास, पुरातत्त्व आदि भी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। समस्त भारत में जैनधर्म के करोड़ों अनुयायी हैं और प्राय: सभी भारतीय भाषाओं में इस प्राचीन धर्म के ग्रन्थ पाये जाते हैं जिनके आधार पर हम जैन संस्कृति के व्यापक महत्त्व को समझ सकते हैं।

जैनियों ने अपनी संस्कृति को जिस रूप में उदात्त एवं उदार बनाए रखा है, वह सचमुच जहां उनके लिए गौरव का विषय है वहां अन्य समाजों के लिए अनुकरणीय है। जैन समाज अपनी विचार व जीवन-सम्बन्धी व्यवस्थाओं के विकास में कभी किसी संकुचित दृष्टि का शिकार नहीं बना। उसका यदि कभी कहीं अन्य धर्मों से विरोध व संघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार नीति की रक्षा के लिये। जैनियों ने अपने देश के किसी एक भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। उसका कारण यह रहा है कि तीर्थंकरों के जन्म, स्थान, विहार प्रदेश और निर्वाण-स्थान पूर्व में बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश से लेकर पश्चिम में गुजरात (सौराष्ट्र) तक व्याप्त रहा। उत्तरवर्ती काल में आचार्यों ने दक्षिण भारत को भी अपनी विहार-भूमि बनाया। वहां तमिल के सुदूरवर्ती प्रदेश में भी जैनियों के अनेक बड़े-बड़े आचार्य व ग्रन्थकार हुए हैं और उनके स्थान, उनके प्राचीन मंदिर आदि के आज भी अवशेष हैं। कर्नाटक प्रान्त में श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर बाहुबलि की विशाल कलापूर्ण मूर्तियां आज भी इस देश की प्राचीन कला को गौरवान्वित कर रही हैं। तात्पर्य यह कि समस्त भारत देश, आज की राजनैतिक दृष्टिमात्र से ही नहीं, किन्तु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी, जैनियों के लिये एक इकाई और श्रद्धाभक्ति का भाजन बना है।

देशभक्ति केवलभूमिगत ही हो ऐसी बात नहीं है। जैनियों ने लोक-भावनाओं के सम्बन्ध में भी अपनी वही उदार नीति रखी है। भाषा के प्रश्न को ले लीजिये। वैदिक परम्परा में संस्कृत भाषा का बड़ा आदर रहा है और उसे ही 'दैवी वाक' मानकर सदैव उसी में साहित्य-रचना की है। जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से उस समय की सुबोध वाणी अर्द्धमागधी का उपयोग किया तथा उनके गणधरों ने उसी भाषा में उनके उपदेशों का संकलन किया। उस भाषा और उस साहित्य की ओर जैनियों का सदैव आदर भाव रहा है; तथापि उनकी वह भावना कभी भी लोक-भाषाओं के साथ न्याय करने में बाधक नहीं हुई। जैनाचार्य जब-जब धर्म प्रचारार्थ जहां-जहां गये, तब-तब उन्होंने उन्हीं प्रदेशों में प्रचलित लोक-भाषाओं को अपनी साहित्य रचना का माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य में ही भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भिन्न-भिन्न कालीन शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि प्राकृत भाषाओं का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व पाया जाता है। ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर आज तक हजारों ग्रन्थ जैनाचार्यों द्वारा संस्कृत में प्रणीत हैं, जिनमें आगमों का व्याख्या साहित्य प्रमुख है। हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि आधुनिक भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य जैनियों का ही मिलता है। यही नहीं, किन्तु दक्षिण की सुदूरवर्ती तामिल व कन्नड भाषाओं को प्राचीनकाल में साहित्य में उतारने का श्रेय संभवत: जैनियों को ही दिया जा सकता है। इस प्रकार जैनियों ने कभी भी किसी एक प्रान्तीय भाषा का पक्षपात नहीं किया, किन्तु सदैव देश भर की भाषाओं को समान आदर भाव से अपनाया है और इस बात के लिए उनका विशाल साहित्य साक्षी है।

धार्मिक लोक मान्यताओं की भी जैनधर्म में उपेक्षा नहीं की गई, किन्तु उनका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्परा में यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्य भाव रहा है व उन्हें अवतार पुरुष माना गया है। जैनियों ने तीर्थंकरों के साथ-साथ इन्हें भी त्रेसठ शलाका पुरुषों में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों में विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैनधर्म में जो अहिंसा पर जोर दिया गया है, वह भी उक्त तत्त्व चिन्तन का ही परिणाम है। संसार में एक नहीं, अनेक, अनन्त प्राणी हैं और उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान हैं। ये आत्माएं अपने-अपने कर्मबंध के बल से जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों तथा नाना ज्ञानात्मक अवस्थाओं में दिखाई देती हैं। किन्तु उन सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने की योग्यता है। इस प्रकार शक्तिरूप से सभी जीवात्माएं समान हैं। अतएव उनमें परस्पर समान सद्भाव और सहयोग का व्यवहार होना चाहिए। यही जैनधर्म की जनतंत्रात्मकता है। यदि आज की जनतंत्रात्मक विचारधारा से उसे पृथक् निर्दिष्ट करना चाहें, तो उसे प्राणीतंत्रात्मक कहना उचित होगा; क्योंकि जनतंत्रात्मक जो दृष्टिकोण मनुष्य-समाज तक सीमित है, उसे और अधिक विस्तृत व विशाल बनाकर जैनधर्म प्राणीमात्र को उसकी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है।

6.3 उद्गम

जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य का मूल शब्द व्रत है। उसका अर्थ है—संयम और संवर। वह आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के प्रति अनासक्ति का सूचक है। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। उसके उद्भव का मूल जीवन का समर्पण है।

जैन परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा के पालन में बाधा न आए उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है, जिनमें आत्मबल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द में जैन संस्कृति त्याग-मूलक है। जैन विचारधारा की बहुमूल्य देन संयम है। दु:ख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुंचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता।

संयमी थोड़ो का व्यावहारिक हित न साध सके फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियां चाहिए। जैसे—

1. आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढ़े।
2. मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।
3. लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढ़े।
4. क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढ़े।
5. शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढ़े।
6. सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढ़े।
7. माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, जिससे सत्य स्वीकार की शक्ति बढ़े।

किन्तु इन सबको संयम की अपेक्षा है। 'एक ही साधे सब सधै' संयम की साधना हो तो सब सध जाते हैं, इस कहावत को चरितार्थ करता है संयम।

जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य बिन्दु मानकर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है जो जैन विचारकों की सर्वोपरि देन मानी जाती है। अहिंसा और मुक्ति—श्रमण संस्कृति की ये दो ऐसी आलोक रेखाएं हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यों को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म अहिंसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य मुक्ति या स्वातन्त्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति स्वत: हो जाती है। सामान्य धारणा यह है कि जैन संस्कृति निराशावाद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

या पलायनवाद की प्रतीक है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नहीं है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद में कोरी आशा होती है; तत्त्ववाद में आशा और निराशा का यथार्थ अंकन होता है।

जैनाचार्य धार्मिक विचार में बहुत ही उदार रहे। उन्होंने अपने अनुयायियों को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया। उन्हें अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था में कभी नहीं बांधा। समाज-व्यवस्था को समाजशास्त्रियों के लिए सुरक्षित छोड़ दिया। धार्मिक विचारों के एकत्व की दृष्टि से जैन समाज का अपना पृथक् वैशिष्ट्य है। अन्यथा सामान्य भारतीय समाज की अपेक्षा से इसमें कोई वैचित्र्य नहीं है।

जैन-संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। उस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टिकोण में जैनों के सम्प्रदाय हैं पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदाय को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की आराधना।

6.4 अहिंसा और तप

सामान्य भारतीय संस्कृति की अपेक्षा से जैन संस्कृति में जो वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होते हैं वे प्रायः धर्म और दर्शन से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बद्ध है, संक्षेप में जैनधर्म का वैशिष्ट्य है—आचार में अहिंसा, संयम और तप तथा विचार में अनेकान्त। अहिंसा, संयम और तप का आचरण प्राग्वैदिक है। आधुनिक इतिहासवेत्ता इसे हड़प्पा-मोहन-जोदड़ो-संस्कृति से जोड़ने लगे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस धर्म को ईसा पूर्व छठी शती में महावीर ने संशोधित-परिवर्धित किया और जिसकी परम्परा ईसा पूर्व आठवीं-नौवीं शती में पार्श्वनाथ द्वारा और महाभारत-काल में नेमिनाथ द्वारा संपोषित होती हुई चली आ रही थी, वह हड़प्पा-मोहन-जोदड़ो-संस्कृति में वर्तमान रहा हो। महावीर से पूर्व जैनों के 23 तीर्थंकर हो चुके थे। तेईसवें, पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध हो चुकी है। बाईसवें, नेमिनाथ, कृष्ण के समकालिक थे। अतएव इनकी ऐतिहासिकता भी संभाव्य है। इनके पूर्व इक्कीस तीर्थंकर हो चुके थे। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा विष्णु-पुराण और भागवत-पुराण में आती है। यहां इन्हें महायोगी तथा योग और तप मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है। वेदों में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। कई विद्वान् मानते हैं कि वेदों के वातरसन मुनि ऋषभदेव की परम्परा के हो सकते हैं। वेदों में उल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव वेद परम्परा के प्रतिनिधि हैं। क्योंकि जिस अहिंसा और तप-मार्ग का वे नेतृत्व करते हैं, वे वेदोक्त नहीं है। क्योंकि अहिंसा और कृच्छ्र साधना का मेल ऋग्वेद के प्रवृत्ति मार्ग से नहीं बैठता है। आगे चलकर उपनिषदों में उसका समावेश अवश्य हुआ है। हो सकता है ऐसा ऋषभ और उनकी परम्परा के मुनियों के प्रभाव से हुआ हो।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए, उनमें दो बातें सामाजिक-राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थीः

1. अनाक्रमण, संकल्पी हिंसा का त्याग,
2. इच्छा-परिमाण, परिग्रह का सीमाकरण।

यह लोकतंत्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—'भारतीय जीवन में प्रज्ञा और चारित्र का समन्वय जैन और बौद्धों की विशेष देन है।' जैन दर्शन के अनुसार सत्यमार्ग परम्परा का अंधानुकरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियों से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से संतुलित दृष्टिकोण ही सत्यमार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तब संभव है, जब मिथ्या विश्वास पूर्णतः दूर हो जाए। इस बौद्धिक आधारशिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

"जैन धर्म का आचारशास्त्र भी जनतंत्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित है। जन्मतः सभी व्यक्ति समान है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रूचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि बन सकता है।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"अपरिग्रह सम्बन्धी जैन धारणा भी विशेषतः उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसाकि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। संभवतः भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारकों का यह प्रथम उद्घोष था।"

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारों का अनाग्रह आदि के बीज जैनधर्म ने ही बोये थे। महात्मा गांधी का निमित्त था, आज वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व की राजनीति के क्षेत्र में पल्लवित हो रहे हैं।

एक प्रश्न उठता है कि भारतवर्ष में जैन संस्कृति अति प्राचीन है और व्यापक भी। फिर भी जैनधर्म को मानने वालों की आबादी अत्यल्प है। इसका कारण यह हो सकता है कि वैष्णव धर्म में अहिंसा, संयम, आचार की पवित्रता आदि बहुमानित होने के कारण बहुत-से जैन मतावलम्बी उसमें पच गये हों और उनकी अलग पहचान न रही हो। आज के हिन्दू समाज में याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा वर्ण और आश्रय के आग्रह की अपेक्षा व्रत, उपवास, अहिंसक आचार-विचार का प्राबल्य है। इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि वैदिक कम, श्रामणिक अधिक है।

6.5 अनेकान्त

संस्कृति के दो पक्ष हैं—विचार और आचार। जैन संस्कृति अपने दोनों पक्षों में अहिंसात्मक है। आचार के क्षेत्र में जैसे अहिंसा, संयम और तप जैनधर्म की विशेषताएं हैं, उसी तरह विचार के क्षेत्र में अनेकान्त इस धर्म की विशेष देन है। अनेकान्त वैचारिक या बौद्धिक अहिंसा है। राष्ट्रों में तनातनी रहती है और युद्ध के खतरे दिखाई देते हैं। विश्व में आतंकवाद व्याप्त है। इसका मुख्य कारण है स्वपक्ष का आग्रह और परपक्ष की नितान्त उपेक्षा। सत्य यह है कि कोई भी विचार या मतवाद एकान्ततः सही या गलत नहीं होता है। वस्तु एक दृष्टिकोण से जैसी दिखाई देती है, दूसरे दृष्टिकोण से वैसी दिखाई नहीं देती। सत्य के अनेक पहलू होते हैं। किसी एक पहलू को देखते हुए उसके अन्य पहलूओं का भी ध्यान रखना अनेकान्त दृष्टि है। यह पारस्परिक समन्वय का मार्ग है। इस मार्ग का अनुगामी विरोध से उद्वेलित नहीं होता है, वरन् समन्वय का अन्वेषण करता है। इस तरह आज चतुर्दिक व्याप्त वैर-विरोध के वातावरण में अनेकान्त समन्वय और सह-अस्तित्व का मार्ग दिखाता है।

6.6 साहित्य

आचार-विचार के साथ-साथ साहित्य भी संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। साहित्य के क्षेत्र में भी जैनों का विशिष्ट योगदान रहा है। भगवान् महावीर ने और भगवान् बुद्ध ने भी यह देखा कि समाज का मार्गदर्शन करने वाले पढ़े-लिखे लोग जिस भाषा में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, वह संस्कृत भाषा जन-समुदाय की भाषा नहीं है। वे जन-समुदाय को संबोधित करना चाहते थे और उन्हें बाह्य कर्मकाण्ड से विमुख कर आचरणमूलक, कल्याणकारी धर्म की ओर प्रेरित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने उपदेशों में तत्कालीन जनभाषा प्राकृत (अर्धमागधी) का प्रयोग किया। उनके गणधरों और परवर्ती आचार्यों ने भी इस परम्परा को अपनाया। फलतः प्राकृत (अर्धमागधी और शौरसैनी) का एक विशाल धार्मिक साहित्य-भण्डार सांस्कृतिक धरोहर के रूप में अगली पीढ़ियों को मिली। इस साहित्य का संवर्धन टीकाओं या व्याख्याओं के द्वारा मध्यकाल तक होता रहा। प्राकृतों के काल के बाद अपभ्रंश काल में भी यह परम्परा चलती रही और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसका प्रभाव परवर्ती कवियों और विचारकों में संक्रमित होता रहा।

साहित्य-सर्जन के साथ-साथ साहित्य का संरक्षण जैन संस्कृति का बड़ा ही सबल पक्ष है। सुघड़ लिपियों में पुस्तकों का लेखन, हस्त प्रतियों के हासिये में सुन्दर चित्रकारी और हस्त प्रतियों का श्रद्धापूर्वक भण्डार और संरक्षण जैनों की विशेषता रही है। इस क्रम में उन्होंने न केवल धार्मिक साहित्य का अपितु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामान्य साहित्य का भी संरक्षण किया है। आज भी अनेक भण्डारों में हस्तप्रतियों के अम्बार लगे हुए हैं और उनमें बहुसंख्यक अपने उद्धार हेतु विद्वानों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

6.7 कला

साहित्य के साथ कला भी संस्कृति का अभिन्न अंग है। भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला में भी जैनों का विशिष्ट योगदान रहा है। जैन साहित्य में बहत्तर कलाओं की सूची मिलती है। इस सूची का प्रारम्भ लेख (लिपि कला) से और अवसान शकुनरुत (पक्षियों की बोली से शकुन-अपशकुन का विचार) से होता है। इस सूची में गणित भी है। संक्षेप में कलाओं का संकेत इस वाक्य से किया जाता है—'जिसका प्रारम्भ लेख से और अंत शकुनरुत से होता है और जिसमें गणित प्रधान है।'

जैन परम्परा में लिपियों का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से माना जाता है। सर्वप्रथम उन्होंने ही अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिज्ञान कराया। भगवती भाष्य में आचार्यश्री लिखते हैं—जैन साहित्य के प्राग्-ऐतिहासिक संदर्भों के अनुसार ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध भगवान् ऋषभ के साथ जुड़ता है। भगवान् ऋषभ ने दाएं हाथ से ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान कराया और बाएं हाथ से सुन्दरी को गणित-विद्या सिखाई। दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने भी इसका उल्लेख किया है। माना जाता है कि ब्राह्मी को लिपि का ज्ञान कराया, इसलिए इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' हो गया। किन्तु यह मत भी मीमांसनीय है। ब्राह्मी को अठारह लिपि का ज्ञान कराया गया। उनमें से केवल एक लिपि का नाम ब्राह्मी है, शेष सब के नाम स्वतंत्र हैं। समवाओ में ब्राह्मी लिपि के अठारह प्रकार बतलाए गए हैं। 1. ब्राह्मी, 2. यवनानी, 3. दोसउरिया, 4. खरोष्ट्रिका, 5. खरशाहिका, 6. प्रभाराजिका, 7. उच्चतरिका, 8. अक्षरपृष्टिका, 9. भागवतिका, 10. वैनतिकी, 11. निह्नविका, 12. अंकलिपि, 13. गणितलिपि, 14. गंधर्वलिपि, 15. आदर्शलिपि, 16. माहेश्वरी, 17. द्राविडी, 18. पोलिंदी।

इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्राह्मी प्रथम या प्राचीनतम लिपि है। अन्य लिपियों का उसके आधार पर विकास हुआ है। इसलिए शेष सतरह लिपियों को ब्राह्मी लिपि का परिवार कहा जा सकता है। भगवान् ऋषभ ने ब्राह्मी को लिपि सिखाई; इसलिए उसका नाम ब्राह्मी हो गया, यह बात संगत हो सकती है, किन्तु भगवान् ने ब्राह्मी को अठारह लिपियां सिखाई; इसलिए लिपि का नाम ब्राह्मी प्रचलित हो गया, यह बात तर्कसंगत नहीं लगती।

ब्राह्मी लिपि के नामकरण के विषय में अनेक कल्पनाएं मिलती हैं। किन्तु ऐतिहासिक आधार पर कुछ भी कहा जा सके, यह कठिन है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि परस्पर सम्बन्धित रही हैं। भाषा-आर्य वे होते हैं जो अर्धमागधी (प्राकृत) बोलते हैं और जिनकी लिपि ब्राह्मी होती है। जैन आचार्यों ने जैसे प्राकृत भाषा को माध्यम बनाया। इस मान्यता के मूल में लिपियों से और लेखन से जैन परम्परा का घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है। आज भी अनेक स्थानों पर गुरु जब बालक का अक्षरारम्भ कराते हैं तो उसका हाथ पकड़कर उससे 'ओ ना मा सी धं' लिखाते हैं। यह 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' का विकृत रूप हो सकता है। सिद्धों को नमस्कार कर आरम्भ करना—लिपियों और लेखन का जैन परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध करता है।

भित्तिचित्रों और फलकों पर विविध रंगों से हाव-भाव युक्त चित्र बनाने के उल्लेख आगमों में मिलते हैं। जैन चित्रकला का चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है—हस्तप्रतियों के हासिये में बारीक चित्रकारी। इस तरह की चित्रकारी ताड़पत्र और कागज पर हाथ से लिखी गई पुस्तकों के हासिये में और बीच में (ग्रन्थन हेतु) छोड़े गये स्थान पर भी मिलती है। फिर काष्ठ-फलकों और वस्त्रों पर भी चित्रकारी के नमूने मिलते हैं।

मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण भी जैन समाज ने प्रचुरता से किया है और आज भी कर रहा है। बौद्धों के समान जैनों में चैत्य और स्तूप निर्माण की परम्परा भी प्राचीन है। मथुरा में पाये जाने वाले जैन स्तूप अति प्राचीन हैं। मैसूर के श्रमणबेलगोला नामक स्थान पर 57 फुट ऊंची गोम्मटेश्वर की विशाल और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भव्य प्रतिमा है। जैनों ने पर्वत काटकर कंदराएं भी बनवायीं जिसका एक प्राचीन नमूना (ईसा पूर्व द्वितीय सदी) उड़ीसा के हाथीगुम्फा कंदरा में मिलता है। बिहार की बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में भी जैनों द्वारा निर्मापित गुफाएं हैं।

6.8 व्रत

श्रमण परम्परा में व्रत का बहुत महत्त्व रहा है। उसके आधार पर सभी मनुष्य तीन भागों में विभक्त किए गए हैं बाल, पंडित और बालपंडित। जिसके कोई व्रत नहीं होता, वह 'बाल' कहलाता है। जो महाव्रतों को स्वीकार करता है वह पंडित है। जो अणुव्रतों को स्वीकार करता है अर्थात् व्रती भी होता है और अव्रती भी, वह बालपंडित कहलाता है।

डॉ. हर्मन जेकोबी ने ऐसी संभावना की है कि जैनों ने अपने व्रत संन्यासी से उधार लिए हैं। ब्राह्मण संन्यासी मुख्यतया अहिंसा, सत्य, अचौर्य, संतोष और मुक्तता—इन पांच व्रतों का पालन करते थे। डॉ. जेकोबी का अभिमत है कि जैन-महाव्रतों की व्यवस्था के आधार पर उक्त पांच व्रत बने हैं। यह संभावना केवल कल्पना पर आधारित है। इसका कोई वास्तविक आधार नहीं है। यदि हम व्रतों की परम्परा का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो अहिंसा आदि व्रतों का मूल ब्राह्मण-परम्परा में नहीं पाएंगे। डॉ. जेकोबी ने बौधायन में उल्लिखित व्रतों के आधार पर यह संभावना की, किन्तु प्रश्न यह है कि उसमें व्रत कहां से आए?

इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व संन्यास आश्रम पर विचार करना आवश्यक है। क्योंकि व्रत और संन्यास का अविच्छन्न सम्बन्ध है। वैदिक साहित्य में सर्व प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। उनमें आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में भी आश्रमों की चर्चा नहीं है। उपनिषद्-काल में आश्रमों की चर्चा प्रारम्भ होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में संन्यास को आत्म-जिज्ञासा के बाद होने वाली स्थिति कहा है। वहां लिखा है—इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम-तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। इसी को जानकर मुनि होते हैं। इस आत्मलोक की इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर चले जाते हैं, संन्यासी हो जाते हैं। इस संन्यास का कारण यह है—पूर्ववर्ती विद्वान सन्तान (तथा सकाम कर्म आदि) की इच्छा नहीं करते थे। हमें प्रजा से क्या लेना है, जिनको आत्मालोक अभीष्ट है। अत: वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते थे।

इस उद्धरण में 'पूर्ववर्ती विद्वान संतान की इच्छा नहीं करते थे और लोकैषणा से व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते थे'—ये वाक्य निवर्तक परम्परा की ओर संकेत करते हैं। वैदिक परम्परा लोकैषणा से विमुख नहीं रही है। उसमें पुत्रैषणा की प्रधानता रही है और यहां बताया है कि जो भी पुत्रैषणा है, वह वित्तैषणा है ओर जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है।

श्रमण परम्परा का मुख्य सूत्र है—'लोकैषणा मत करो'—'नो लोगससेसणं चरे।' उत्तराध्ययन सूत्र में ब्राह्मण परम्परा के पोषक भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों से कहा—'पहले पुत्रों को उत्पन्न करो, फिर आरण्यक मुनि हो जाना।' उनके पुत्र श्रमण-परम्परा से परिचित हो चुके थे; अत: उन्होंने उत्तर की भाषा में कहा—पिता! पुत्र त्राण नहीं होते, इसलिए उन्हें उत्पन्न करना अनिवार्य धर्म नहीं है। वैदिक धारणा ठीक इस के विपरीत है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है—जन्म प्राप्त करने वाला ब्राह्मण तीन ऋणों के साथ ही जन्म लेता है। वे तीन ऋण हैं—ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण। ऋषियों का ऋण ब्रह्मचर्य से, देवों का ऋण यज्ञ से तथा पितरों का ऋण प्रजोत्पादन से चुकाया जा सकता है। पुत्रवान, यजनशील तथा ब्रह्मचर्य को पूर्ण करने वाला मानव उऋण होता है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है—इक्ष्वाकुवंश के वेधस राजा का पुत्र राजा हरिश्चन्द्र नि:संतान था। उसके सौ पत्नियां थी परन्तु उसके कोई पुत्र न हुआ। उसके घर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में पर्वत और नारद दो ऋषि रहते थे। उसने नारद से पूछा—"सभी पुत्र की इच्छा करते हैं, ज्ञानी हो या अज्ञानी। हे नारद! बताओ, पुत्र से क्या लाभ होता है?'

नारद ने इस एक प्रश्न का दस श्लोकों में उत्तर दिया। उनमें पहला श्लोक इस प्रकार है—

ऋणमस्मिन् सनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतोमुखम् ॥

अगर पिता जीते हुए पुत्र का मुख देख ले तो उसका ऋण छूट जाता है और वह अमर हो जाता है। (ऐतरेय ब्राह्मण, 7वीं पंचिका, अध्याय 3)

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि श्रमण-परम्परा में संन्यास की प्रधानता रही है और वैदिक-परम्परा में पुत्र उत्पन्न करने की। उस स्थिति में इस उपनिषद् का यह वाक्य—'तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजाः न कामयें'—बहुत ही अर्थसूचक है।

जैनदर्शन का संन्यास नितान्त आत्मवाद पर आधारित है। आचार की आराधना वही कर पाता है, जो आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होता है। आत्म-जिज्ञासा के बिना संन्यास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस धारणा के आलोक में हम सहज ही यह देख पाते हैं कि आत्म-जिज्ञासा पर आधारित संन्यास (जिसका संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् देता है) श्रमणों की दीर्घकालीन परम्परा है।

भगवान् पार्श्व के समय श्रमण-संघ बहुत सुसंगठित था। उपनिषद् का रचनाकाल उनसे पहले नहीं जाता। भगवान् पार्श्व का अस्तित्वकाल ई.पू. दसवीं, नवीं शताब्दी है और उपनिषदों का रचना-काल प्रायः ई. पू. 800 से 300 के बीच का है।

इस स्थिति में यह मान लेना कोई कठिन बात नहीं कि संन्यास और व्रतों की व्यवस्था के लिए श्रमण धर्म वैदिक धर्म का ऋणी नहीं है।

वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में महाव्रतों का उल्लेख नहीं है। जिन उपनिषदों, पुराणों और स्मृतियों में उनका उल्लेख है, वे सभी ग्रन्थ भगवान् पार्श्व के उत्तरकालीन हैं। अतः पूर्वकालीन व्रत व्यवस्था को उत्तरवर्ती व्रत-व्यवस्था ने प्रभावित किया—यह मानना स्वाभाविक नहीं है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के उत्तरवर्ती तीर्थंकर हैं। उन्होंने भगवान् पार्श्व के व्रतों का ही विकास किया था। उन्होंने इस विषय में किसी अन्य परम्परा का अनुसरण नहीं किया। उनके उत्तरकाल में महाव्रत इतने व्यापक हो गए कि उनका मूल स्रोत ढूंढना एक पहेली बन गया। इस दिशा में कभी-कभी प्रयत्न हुआ है। उनके अभिमत इस प्रकार हैं—पार्श्वनाथ का धर्म महावीर के पंच महाव्रतों में परिणत हुआ है। यही धर्म बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में और योग के यम-नियमों में प्रकट हुआ। गांधीजी के आश्रम-धर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम धर्म दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दुत्व और जैनधर्म आपस में घुल-मिलकर अब इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं।

6.9 संन्यास और श्रामण्य

संन्यास श्रमण परम्परा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। अजितकेशकम्बल जैसे उच्छेदवादी श्रमण भी संन्यासी थे। वैदिक परम्परा में संन्यास की व्यवस्था उपनिषदकाल में मान्य हुई है। वैदिक काल में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—ये दो ही व्यवस्था-क्रम थे। आरण्यक-काल में 'न्यास' (सन्यास) को मोक्ष का हेतु कहा गया है और वह सत्य, तप, दम, शम, दान, धर्म, पुत्रोत्पादन, अग्निहोत्र, यज्ञ और मासिक उपासना—इन सबसे उत्कृष्ट बतलाया गया है। (तैत्तिरीयारण्यक 1, अनुवाक् 62, पृ. 766—न्यास इति ब्रह्म हि परः परो हि ब्रह्म तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत् इति।) किन्तु वह किन लोगों द्वारा स्वीकृत था, इसका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उल्लेख नहीं है। आश्रम-व्यवस्था का अस्पष्ट वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है। वहां लिखा है—धर्म के तीन स्कन्ध (आधार-स्तम्भ) हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। यज्ञ पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देना तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोक के भागी होते हैं। ब्रह्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित संन्यासी अमृतत्व को प्राप्त होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में संन्यास का उल्लेख है। जाबालोपनिषद् में चार आश्रमों की स्पष्ट व्यवस्था प्राप्त होती है। वहां बताया है कि ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ, उसके बाद वानप्रस्थ और उसके बाद प्रव्रजित होना चाहिए। यह समुच्चय पक्ष है। यदि वैराग्य उत्कृष्ट हो तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी भी आश्रम से संन्यास स्वीकार किया जा सकता है। जिस समय वैराग्य हो, उसी समय प्रव्रजित हो जाना चाहिए। यह विकल्प-पक्ष है।

चार आश्रमों की व्यवस्था हो जाने पर भी धर्मशास्त्र और कल्पसूत्रकार गृहस्थाश्रम को ही महत्त्व देते रहे हैं। वशिष्ठ ने लिखा है—'आश्रम चार हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक।' (वाशिष्ट धर्मशास्त्र, 7/1/2) (वही, 8/14-15)

गृहस्थ एव यजते, गृहस्थप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमाणं तु, गृहस्थीश्च विशिष्यते ॥
यथा नदी नदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवामाश्रमिणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

वैदिक परम्परा के मूल में यह मान्यता स्थिर रही है कि वस्तुतः आश्रम एक ही है—गृहस्थाश्रम। बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है—'प्रह्लाद के पुत्र ने देवों के प्रति स्पर्धा के कारण आश्रम-भेदों की व्यवस्था की है, इसलिए मनीषी वर्ग को उसका स्वीकार नहीं करना चाहिए। उत्तराध्ययन, 9/42-44 में इन्द्र और नमि राजर्षि के संवाद में इन्द्र ब्राह्मण-परम्परा के पक्षधर तथा नमि श्रमण-परम्परा के प्रवक्ता हैं। इसी भूमिका के संदर्भ में ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा था—'राजर्षे! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड़ दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रहो और यहीं धर्म-पोषक कार्य करो। इसके उत्तर में नमि राजर्षि ने जो कहा वह श्रमण परम्परा का पक्ष है। उन्होंने कहा—'ब्राह्मण! मास-मास का उपवास करने वाला और पारणा में कुश की नोक पर टिके उतना स्वल्प आहार खाने वाला गृहस्थ मुनि-धर्म की सोलहवीं कला की तुलना में भी नहीं जाता।

श्रमण-परम्परा में जीवन के दो ही विकल्प मान्य रहे हैं—गृहस्थ और श्रमण। श्रमण कोई गृहस्थ ही बनता है। अतः जीवन का प्रारम्भिक रूप गृहस्थ ही है। श्रामण्य विवेक द्वारा लक्ष्य-पूर्ति के लिए स्वीकृत पक्ष है। वाशिष्ठ का यह अभिमत—'सभी आश्रमी गृहस्थी आश्रम में स्थित होते हैं'—यदि इस आश्रम पर आधारित हो कि सब आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम है तो वह श्रमण परम्परा में भी अमान्य नहीं है। वाशिष्ठ ने स्वयं आगे लिखा है—'जैसे माता के सहारे सब जीव जीते हैं, वैसे ही गृहस्थ के सहारे सब भिक्षु जीते हैं।' यह तथ्य उत्तराध्ययन में याचना परीषह के रूप में स्वीकृत है- 'अरे! अनगार भिक्षु की यह दैनिकचर्या कितनी कठिन है कि उसे सब कुछ याचना से मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता।'

किन्तु श्रमण परम्परा वैदिक परम्परा के अभिमत से सहमत नहीं कि गृहस्थ आश्रम संन्यास की तुलना में श्रेष्ठ है। इसीलिए उत्तराध्ययन (2/29) में कहा है—'गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है। अतः गृहवास ही श्रेय है—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।' जैनधर्म की मूल मान्यता यह है कि अव्रत प्रेय है—बन्धन है और व्रत श्रेय है—मुक्ति है। सुव्रती मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त होता है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भले फिर वह भिक्षु हो या गृहस्थ। (उत्तरा. 5/22) 'श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ-सामायिक के अंगों का आचरण करे। दोनों पक्षों में किए जाने वाले पौषध को एक दिन-रात के लिए भी न छोड़े।

'इस प्रकार शिक्षा से समापन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में होता हुआ भी औदारिक शरीर से युक्त होकर देवलोक में जाता है।'

'जो संवृत भिक्षु होता है, वह दोनों में से एक होता है—सब दुःखों से मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव (उत्तरा. 5/23-25)।

इन श्लोकों की स्पष्ट ध्वनि है कि सुव्रती गृहस्थ और व्रत-सम्पन्न भिक्षु की श्रेष्ठ गति होती है। जब तक व्रत का पूर्ण उत्कर्ष नहीं होता, तब तक वह मरने के बाद स्वर्ग में जाता है और जब व्रत का पूर्ण उत्कर्ष हो जाता है, तब मृत्यु के बाद मोक्ष को प्राप्त होता है।

भिक्षु की श्रेष्ठता जन्मना तो है ही नहीं, किन्तु वेश से भी नहीं है। उसकी श्रेष्ठता का एक मात्र हेतु व्रत या संयम हैं। इसी दृष्टि से कहा गया है—'कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है, किन्तु साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है।

चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, संघाटी (उत्तरीय वस्त्र) और सिर मुंडाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नहीं करते।

'भिक्षा से जीवन चलाने वाला भी यदि दुःशील हो तो वह नरक से नहीं छूटता।'

भिक्षु का अर्थ ही व्रती है। अपूर्ण व्रती या व्रत की परिपूर्ण आराधना तक न पहुंचने वाले को स्वर्ग ही प्राप्त होता है, मोक्ष नहीं। मोक्ष उसी को प्राप्त होता है, जो व्रत की चरम आराधना तक पहुंच जाता है। ऐसा गृहस्थ के वेश में भी हो सकता है। वेश भले ही गृहस्थ का हो, आत्मिक-शुद्धि से जो इस स्थिति तक पहुंच जाता है, वह वास्तविक अर्थ में भिक्षु ही होता है। इसीलिए 'सब दुःखों से मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव'—ये दो विकल्प केवल भिक्षु के लिए ही हैं।

गृहस्थ वही होता है, जो महाव्रत या उसके उत्कर्ष तक नहीं पहुंच पाता। श्रमण-परम्परा में श्रमण होने से पूर्व गृहवास करना आवश्यक नहीं माना गया, कोई व्यक्ति बाल्य अवस्था में भी 'श्रमण' हो सकता है, यौवन या बुढ़ापे में भी हो सकता है।

भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों से कहा—'पुत्रों! पहले हम सब एक साथ रहकर सम्यक्त्व और व्रतों का पालन करें, फिर तुम्हारा यौवन बीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे।' तब पुत्र बोले—'पिता! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुंह से बचकर पलायन कर सके और जो जानता हो मैं नहीं मरूंगा।

बौद्ध संघ में भिक्षु-जीवन की दो अवस्थाएं मान्य हैं—श्रामणेर अवस्था तथा उपसम्पन्न अवस्था। श्रामणेर अवस्था में केवल दस नियमों का पालन करना पड़ता है। उपसम्पन्न भिक्षु को भी प्रातिमोक्ष के अंतर्गत दो सौ सत्ताईस नियमों का पालन करना पड़ता है। बीस वर्ष की आयु के बाद ही कोई उपसम्पन्न हो सकता है।

इस प्रकार की मीमांसा का सारभाग यह है—

1. श्रमण परम्परा में गृहस्थ जीवन की अपेक्षा श्रमण जीवन श्रेष्ठ माना गया।
2. श्रमण होने के नाते तीन अवस्थाएं योग्य मानी गई।
3. श्रमण जीवन से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.10 समत्व की भावना व अहिंसा

समत्व श्रमण परम्परा की एकता या मौलिकता का संसूचकता है। श्रमण शब्द बहुत प्रचलित रहा है, इसीलिए इस समता-प्रधान संस्कृति को 'श्रमण संस्कृति' कहा जाता है। हमने भी स्थान-स्थान पर श्रमण शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु वास्तविक दृष्टि से इसका नाम 'समण संस्कृति' है। 'समण' शब्द 'सम' शब्द से व्युत्पन्न है—'सममणई तेण सो समणो'—जो सब जीवों को तुल्य मानता है, वह 'समण' है। 'जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं, उसी प्रकार सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं है'—इस समता की दृष्टि से जो किसी भी प्राणी का वध न करता है, न करवाता है, वह अपनी समगति के कारण 'समण' कहलाता है। दशवैकालिक निर्युक्ति (गाथा 1545-157) में बताया गया है—

जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥ (154)

जिसका मन सम होता है, वह समण है। जिसके लिए कोई भी जीव न द्वेषी होता है और न प्रिय, वह अपनी सम मनस्थिति के कारण 'समण' कहलाता है—

नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ (155)

जो विभिन्न विशेषताओं की दृष्टि से सर्प, पर्वत, अग्नि, समुद्र, आकाश, वृक्ष, भ्रमर, हरिण, भूमि, कमल, सूर्य और पवन के समान होता है, वह 'समण' है।

समण वह होता है, जो स्वजन वर्ग और अन्य लोगों में तथा मान और अपमान में सम होता है—

उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई।
भमरमिगधरणिजलरुहरविपवणसमो जओ समणो ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु ॥ (156)

इस समत्व के आधार पर ही यह कहा गया कि सिर मुण्डा लेने मात्र से कोई समण नहीं होता है। (उत्तरा. 25/29-30)

समण शब्द का अर्थ तपस्वी भी होता है। सूत्रकृतांग के एक ही श्लोक (1/2/16) में समण और तपस्वी का एक साथ प्रयोग है। यदि समण का अर्थ तपस्वी ही होता तो समण और तपस्वी—इन दोनों का एक साथ प्रयोग आवश्यक नहीं होता।

उसी सूत्र (1/2/23-25, 28) में समण के समभाव की विभिन्न रूपों में व्याख्या हुई है। विषमता का एक रूप मद है। इसीलिए कहा है—मुनि गोत्र, कुल आदि का मद न करे, दूसरों से घृणा न करे, किन्तु सम रहे।

जो दूसरों का तिरस्कार करता है, वह चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है, इसीलिए मुनि मद न करे, किन्तु सम रहे।

चक्रवर्ती भी दीक्षित होने पर पूर्व-दीक्षित अपने सेवक के सेवक को भी वंदना करने में संकोच न करे, किन्तु समता का आचरण करे।

प्रज्ञा-सम्पन्न मुनि क्रोध आदि कषायों पर विजय प्राप्त करे और समता धर्म का निरूपण करे।

इस प्रकार अनेक स्थलों में समण के साथ समता का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बौद्ध साहित्य में समता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किन्तु समण शब्द उससे व्युत्पन्न है, ऐसा कोई स्थल हमें उपलब्ध नहीं हुआ। फिर भी श्रमण शब्द की जो व्याख्या है, उससे उसकी समभावपूर्ण स्थिति का ही बोध होता है। सभिय परिव्राजक के प्रश्न पर भगवान् बुद्ध ने कहा—

समिताविपहाय पुञ्ञपापं, विरजो ञत्वा इमं परं च लोकं।
जातिमरणं उपातिवत्तो, समणो तादि पवुच्चते तथत्ता ॥ (सुत्तनिपात, 32/11)

जो पुण्य और पाप को दूर कर शान्त हो गया है, इस लोक और परलोक को जानकर रजरहित हो गया है, जो जन्म और मरण के परे हो गया है, स्थिर, स्थितात्मा वह 'श्रमण' कहलाता है।

समण का सम्बन्ध शम (उपशम) से भी है। धम्मपद (धम्मट्ठवग्ग 19) में बताया है—

यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं, समणो त्ति पवुच्चति ॥

जो छोटे-बड़े पापों का सर्वथा शमन करने वाला है, वह पाप के शामित होने के कारण श्रमण कहा जाता है।

समता के आधार पर ही भिक्षु-संघ में सब वर्णों के मनुष्य दीक्षित होते थे। भगवान् बुद्ध ने श्रमण की उत्पत्ति बतलाते हुए दीर्घनिकाय में कहा था—'वाशिष्ठ! एक समय था जब क्षत्रिय भी—'मैं श्रमण होऊंगा' (सोच) अपने गृहस्थधर्म को निंदते घर से बेघर हो प्रव्रजित हो जाता था। ब्राह्मण भी, वैश्य भी, शूद्र भी।

'वाशिष्ठ! इन्हीं चार मण्डलों से श्रमण-मण्डल की उत्पत्ति हुई। उन्हीं प्राणियों का दूसरों का नहीं, धर्म से अधर्म नहीं। धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में भी और पर जन्म में भी।

उत्तराध्ययन के प्रमुख पात्रों में चारों वर्णों से दीक्षित मुनि थे। नमि राजर्षि, संजय, मृगापुत्र आदि क्षत्रिय थे। कपिल, जयघोष, विजयघोष, भृगु आदि ब्राह्मण थे। अनाथी, समुद्रपाल आदि वैश्य थे। हरिकेशबल, चित्रसंभूत आदि चाण्डाल थे।

श्रमणों की यह समता अहिंसा पर आधारित थी। इस प्रकार समता-अहिंसा—ये दोनों तत्त्व समण (या श्रमण) संस्कृति के मूल बीज थे।

6.11 यज्ञ-प्रतिरोध, वेद का अप्रामाण्य और जाति की अतात्त्विकता

हमारे सांस्कृतिक अध्ययन की यह सहज उपलब्धि है कि वैदिक संस्कृति का केन्द्र यज्ञ और श्रमण संस्कृति का केन्द्र श्रामण्य रहा है। वैदिक धारणा है—यज्ञ की उत्पत्ति का मूल है—विश्व का आधार। पापों का नाश, शत्रुओं का संहार, विपत्तियों का निवारण, राक्षसों का विध्वंस, व्याधियों का परिहार सब यज्ञ से ही सम्पन्न होता है। दीर्घायु, समृद्धि और अमरत्व—सबका साधन यज्ञ ही माना गया है। वास्तव में वैदिकों के जीवन का सम्पूर्ण दर्शन यज्ञ में सुरक्षित है। यज्ञ के इस तत्त्व का स्वरूप ऋग्वेद में यों व्यक्त हुआ है—यज्ञ इस भुवन की, उत्पन्न होने वाले संसार की नाभि है, उत्पत्ति प्रधान है। देव तथा ऋषि यज्ञ से ही उत्पन्न हुए; यज्ञ से ही ग्राम और अरण्य के पशुओं की सृष्टि हुई; अश्व, गायें, अज, भेड़ें, वेद आदि का निर्माण भी यज्ञ के ही कारण हुआ। यज्ञ ही देवों का प्रथम धर्म था।

आर्यपूर्व जातियां (जो श्रमण परम्परा का अनुगमन करती थीं) का प्रथम धर्म था अहिंसा। इसीलिए वे यज्ञ-संस्था से कभी प्रभावित नहीं हुईं। जैन और बौद्ध साहित्य में यज्ञ के प्रति जो अनादर का भाव मिलता है, वह उनकी चिरकालीन यज्ञ-विरोधी धारणा का परिणाम है। ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—'राजर्षि! पहले तुम विपुल यज्ञ करो, फिर श्रमण बन जाना। इस पर राजर्षि ने कहा—'जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गाएं देता है, उसके लिए भी संयम श्रेष्ठ है, भले ही वह कुछ भी न दे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यज्ञ संस्था का प्रविरोध प्रारम्भ से ही होता रहा है। अग्नि-हीन व्यक्तियों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उन्हें देव-विरोधी और यज्ञ-विरोधी भी कहा गया है। यतिवर्ग यज्ञ-विरोधी था। इस प्रकार के और भी अनेक वर्ग थे। उन्होंने वैदिक धारा को प्रभावित किया था। लक्ष्मण शास्त्री के अनुसार—'इस अवैदिक और यज्ञ को न मानने वाली प्रवृत्ति ने वैदिक विचार-पद्धति को भी प्रभावित किया। बाह्य कर्म-काण्ड के बदले मानसिक कर्म रूप उपासना को प्रधानता देने वाली विचारधारा यजुर्वेद में प्रकट हुई। उसमें कहा गया है कि जिस तरह अश्वमेध के बल पर पाप और ब्रह्महत्या से मुक्त होना संभव है उसी तरह अश्वमेध की चिन्तात्मक उपासना के बल पर भी इन्हीं दोषों से मुक्त होना संभव है (तैत्तिरीय संहिता-5/3/12)। इस तरह की शुद्ध मानसिक उपासना का विधान करने वाले अनेकों वैदिक उल्लेख प्राप्त हैं।

यज्ञ-संस्थान का प्रतिरोध श्रमण ही नहीं कर रहे थे, किन्तु उनसे प्रभावित आरण्यक और औपनिषदिक ऋषि भी करने लगे थे। प्रतिरोध की थोड़ी रेखाएं ब्राह्मण-काल में भी खिंच चुकी थी। शतपथ ब्राह्मणकार ने कहा—'जिस स्थान पर कामनाएं पूर्ण होती हैं, वहां पहुंचना विद्या की सहायता से ही संभव है। वहां न दक्षिणा पहुंच पाती है और न विद्याहीन तपस्वी!

ऋषि कावषेय कहते हैं—'हम वेदों का अध्ययन किसलिए करें और यज्ञ भी किसलिए करें? क्योंकि वाणी का उपरम होने पर प्राणवृत्ति का विलय होता है और प्राण का उपरम होने पर वाणी की वृत्ति का उद्भव होता है, प्राण की प्रवृत्ति होने पर वाणी की वृत्ति विलीन हो जाती है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है—यज्ञ के अट्ठारह (सोलह ऋत्विक्, यजमान और पत्नी) साधन, जो ज्ञान-रहित कर्म के आश्रय होते हैं, विनाशी और अस्थिर हैं। जो मूढ 'यही श्रेय है' इस प्रकार अभिनन्दन करते हैं, वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं। इस विचारधारा के उपरान्त भी यज्ञ-संस्था निर्वीर्य नहीं हुई थी। भगवान् महावीर के काल में भी उसका प्रवाह चालू था। उत्तराध्ययन के चार अध्ययनों (9, 12, 14, 15) में उसकी चर्चा हुई है। भृगुपुत्रों ने जो कहा, वह लगभग वही है, जो ऋषि कावषेय ने कहा था। भृगु ने कहा—पुत्रो! पहले वेदों का अध्ययन करो, फिर आरण्यक मुनि हो जाना। तब वे बोले—'पिता! वेद पढ़ लेने पर भी—वे त्राण नहीं होते।' इस उत्तर के पीछे जो भावना है, उसका सम्बन्ध कामना और यज्ञ से है। वेद कामना-पूर्ति और यज्ञों के प्रतिपादक हैं, इसीलिए वे त्राण नहीं हैं। इस अत्राणता का विशद वर्णन प्रजापति मनु और बृहस्पति के संवाद में मिलता है। मनु ने कहा—'वेद में जो कर्मों के प्रयोग बताए गए हैं, वे प्रायः सकामभाव से युक्त हैं। जो इन कामनाओं से मुक्त होता है, वही परमात्मा को पा सकता है। नाना प्रकार के कर्म-मार्ग में सुख की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।

उत्तराध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण यज्ञ के बाड़ों में भिक्षा के लिए जाते थे और यज्ञ की व्यर्थता और आत्मिकयज्ञ की सफलता का प्रतिपादन करते थे।

महात्मा बुद्ध ने भी अल्प सामग्री के महान् यज्ञ का प्रतिपादन किया था और वे भिक्षु-संघ के भोजन के लिए यज्ञ-मण्डल में भी गए थे। कूटदंत ब्राह्मण के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने पांच महाफलदायी यज्ञों का उल्लेख किया था—1. दानयज्ञ, 2. त्रिशरणयज्ञ, 3. शिक्षापदयज्ञ, 4. शीलयज्ञ और 5. समाधियज्ञ।

सांख्य दर्शन को अवैदिक परम्परा या श्रमण परम्परा की श्रेणी में मानने का यह एक बहुत बड़ा आधार है कि वह यज्ञ का प्रतिरोधी था। यज्ञ का प्रतिरोधक वैदिकमार्ग नहीं हो सकता। अतः उपनिषद् की धारा में जो यज्ञ-प्रतिरोध हुआ, उसे अवैदिक परम्परा के विचारों की परिणति कहना अधिक संगत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वैदिक लोग जाति को तात्त्विक मानते थे। ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मण प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुआ, राजन्य उसकी बाहु से उत्पन्न हुआ, वैश्य उसके उरू से उत्पन्न हुआ और शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुआ। श्रमण परम्परा जाति को अतात्त्विक मानती थी। ब्राह्मण जन्मना जाति के समर्थक थे। उस स्थिति में श्रमण इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते कि जाति कर्मणा होती है। महात्मा बुद्ध मनुष्य जाति की एकता का प्रतिपादन बहुत प्रभावशाली पद्धति से करते थे।

न (कोई) जन्म से ब्राह्मण होता है और न जन्म से अब्राह्मण। ब्राह्मण कर्म से होता है और अब्राह्मण भी कर्म से।

कृषक कर्म से होता है, शिल्पी भी कर्म से होता है, वणिक् कर्म से होता है (और) सेवक भी कर्म से।

चोर भी कर्म से होता है, योद्धा भी कर्म से होता है, याजक भी कर्म से होता है (और) राजा भी कर्म से होता है।

उत्तराध्ययन में हरिकेशबल और जयघोष के जो ये दो प्रसंग हैं वे भगवान् महावीर के जातिवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण पर पूरा प्रकाश डालते हैं। हरिकेशबल जन्मना चाण्डाल जाति के थे और जयघोष जन्मना ब्राह्मण थे। वे दोनों यज्ञ-मण्डप में गए और उन्होंने जातिवाद की बहुत स्पष्ट आलोचना की। वे दोनों प्रसंग वाराणसी में ही घटित हुए।

आज से दो हजार वर्ष पहले एक संघर्ष चलता था। समाज में एक द्वन्द्व था। एक ओर जातिवाद का समर्थन किया जा रहा था, दूसरी ओर जातिवाद का खण्डन किया जा रहा था। श्रमण परम्परा के एक विद्वान् कहते हैं— **वेदः प्रामाण्य कस्यचित् कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।**
संतापारंभः पापहानाय चैते, ध्वस्तप्रज्ञानां पंचचिह्नानि जाड्ये ॥

वेद का प्रामाण्य स्वीकार करना, किसी (ईश्वर आदि) का कर्तृवाद स्वीकार करना, स्नान में धर्म मानना, जातिवाद का अहंकार तथा प्राणियों को संताप देने में अथवा आरंभ (हिंसा) में पाप की हानि मानना—'ये पांच लक्षण उनकी जड़ता के सूचक हैं जिनकी प्रज्ञा ध्वस्त हो चुकी है।'

जो जातिवाद की मान्यता बनी है, उसका एक आधार है अहंकार। व्यक्ति में अहंकार होता है और वह अपने अहंकार का प्रदर्शन करना चाहता है। अहंकार की अभिव्यक्ति का एक रूप बनता है—जातिवाद।

आज मानवाधिकार का प्रश्न बहुत शक्तिशाली बन गया है। स्वतंत्रता मानव का अधिकार है, शिक्षा मानव का अधिकार है, रोजगार मानव का अधिकार है। मानवाधिकार की जो आज व्याख्या हुई है, उस आधार पर अनेक मानवीय समस्याएं सुलझ रही हैं। कोई भी राष्ट्र चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, मानवाधिकारों का मनचाहा अतिक्रमण नहीं कर सकता।

एक आदमी दूसरे को घृणित माने, जातिभेद के कारण, रंगभेद के कारण या किसी अन्य सामाजिक कारण से व्यक्ति के अधिकार छीन लिए जाएं, क्या यह मानवाधिकार का अतिक्रमण नहीं है? आज यह बहुत स्पष्ट है। यह अतिक्रमण पहले भी चलता था, आज भी चलता है। प्रश्न भी होता है—यह क्यों चलता है? इसके पीछे जो प्रेरणा है, वह बुद्धि की नहीं है अहंकार की। अतिक्रमण की पृष्ठभूमि में मनुष्य का अहंकार काम कर रहा है और इसका जीवित निदर्शन हरिकेश मुनि का आख्यान।

6.12 त्याग की विजय: अहंकार की पराजय

हरिकेश मुनि जाति से चाण्डाल थे। बड़े तपस्वी थे। वे एक-एक मास का तप कर रहे थे। पारणे के दिन वे भिक्षा लिए घूमते-घूमते एक यज्ञ मण्डप के पास पहुंचे। यज्ञ का अनुष्ठान चल रहा था। बड़े-बड़े पंडित, पुरोहित, उपाध्याय और छात्र उस यज्ञ में लगे हुए थे। मुनि यज्ञशाला के पास खड़े हो गए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यज्ञ में उपस्थित ब्राह्मण कुमारों ने मुनि को देखा। वे मुनि की वेशभूषा को देखकर उनका उपहास करने लगे। मुनि के शरीर पर पूरे वस्त्र नहीं थे। उनके विचित्र रूप को देखकर ब्राह्मणों ने पूछा—

'तुम कौन हो?'

'मैं भिक्षु हूं।'

'यहां क्यों आए हो।?'

'भिक्षा लेने के लिए।'

'भिक्षा लोगे?'

'हां!'

जातिवाद का नाग फुफकार उठा। ब्राह्मण आवेश से भर गए। उन्होंने कहा—'चले जाओ यहां से। तुम यहां भिक्षा लेने आए हो? तुम्हें पता नहीं है, यहां ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं। यह भिक्षा जातिमान् ब्राह्मण के लिए है, तुम्हें भिक्षा नहीं मिलेगी।'

मुनि बोले—'मैंने देखा—तुम्हारे यहां बहुत रसोई बन रही है, सहज ही बहुत अन्न पकाया जा रहा है। उसमें से कुछ इस भिक्षु को मिल जाए और कोई लेना-देना नहीं है।

ब्राह्मण बोले—'नहीं! नहीं मिल सकता। जो जाति से उच्च हैं, उन्हें ही यह अन्न मिल सकता है। जो विद्या से उच्च हैं, उन्हीं के लिए यह भोजन है। तुम विद्या से हीन हो, वस्तुतः तुम महान् नहीं हो। तब हरिकेश मुनि बोले-तुम आवेश में हो, अभिमान से भरे हो और साथ-साथ हिंसा से जघन्य पाप का बन्ध कर रहे हो। तुम विद्या से भी महान् नहीं हो सकते। इस संसार में तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। 'शास्त्रं भारोऽविवेकिनां'—तुम्हारे लिए शास्त्र भार बन रहे हैं। तुम इसका हृदय नहीं समझ पाए हो।'

मुनि और ब्राह्मणों के बीच लंबा संवाद चला। एक ओर त्याग-तपस्या का बल था, दूसरी ओर जाति का अहंकार था। अन्ततः अहंकार हार गया, त्याग और तपस्या का बल विजयी बन गया। ब्राह्मण मुनि के चरणों में नत हो गए।

भगवान् महावीर ने आत्मतुला का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सब जीवों को अपने समान समझो। जातिवाद की अतात्त्विकता इसी सिद्धान्त का विस्तार है। उस समय सामाजिक परिस्थितियों के कारण यह स्वर प्रबल बना। महावीर के समय में समाज की क्या परिस्थितियां थी, क्या सामाजिक मान्यताएं थी, यदि इनका विश्लेषण किया जाए तो जातिवाद के समर्थन से परिस्थिति को समझा जा सकता है।

वैदिक विद्वानों द्वारा कर्म के आधार पर समाज को चार भागों में बांटा गया। ऋषभ ने समाज को तीन भागों में विभक्त किया। प्लेटो ने जिन तीन विभागों की कल्पना की है, वह जैन आचार्यों की कल्पना के काफी निकट है। असि-असि-कृषि के साथ बुद्धि, साहस और वासना की तुलना की जा सकती है। यह एक लचीला सिद्धान्त था, जिसका उद्देश्य था—समाज की अपेक्षाएं पूरी हों और परिवर्तन भी न हो। जब जैनदर्शन और बौद्धदर्शन का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा तब जन्मना जाति की बात गौण हो गई, चारों ओर कर्मणा जाति का स्वर उभरा। गीता में भी कहा गया—चातुवर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः।

व्यक्ति अपने गुण या कर्म से ब्राह्मण बनता है। ब्राह्मण जन्मना नहीं, कर्मणा होता है। केवल ॐ जपने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता। ब्रह्मविद्या को जानने वाला ब्राह्मण होता है। जैन और बौद्ध धर्म ने कर्मणा जाति का एक तीव्र आंदोलन चलाया और उसका समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। भागवत-पुराण और महाभारत में भी कहा गया—एक व्यक्ति एक जन्म में ब्राह्मण भी हो सकता है, वैश्य और क्षत्रिय भी हो सकता है, चाण्डाल भी हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.13 महावीर का क्रांत चिन्तन

महावीर ने इन आग्रहों को तोड़ने के लिए जो कार्य किया, वह एक बहुत बड़ी क्रांति थी। उन्होंने ग्रन्थों का प्रामाण्य न बतलाकर व्यक्ति का प्रामाण्य बतलाया। यदि ग्रन्थों का प्रामाण्य होता तो जातिवाद पर कभी प्रहार नहीं हो पाता। यदि हम ग्रन्थों की व्याख्या पर ही चलेंगे तो जातिवाद को कभी तोड़ा नहीं जा सकेगा। व्यक्ति का अनुभव प्रमाण होता है, वृत्तियां प्रमाण होती हैं, उसका चरित्र और अतीन्द्रिय दर्शन प्रमाण होता है। इस क्रान्त दृष्टिकोण ने एक नए दर्शन की स्थापना की और यह स्वर मुखर हो गया—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है।

महावीर ने जातिवाद की प्रचलित मान्यता को नया संदर्भ दिया और एक वैचारिक क्रांति घटित हो गई। यदि वह वैचारिक क्रांति मानवीय जीवन में संक्रान्त होती तो विश्व में जातिवाद और रंगभेद की समस्या का उद्भव ही नहीं होता। महावीर का यह स्वर जातीय समस्या के समाधान का आधार-सूत्र बन सकता है।

6.13.1 धर्म की दो धाराएं

धर्म की दो धाराएं रही हैं—प्रवृत्तिवादी धर्म और निवृत्तिवादी धर्म। प्रवर्तक धर्म का उद्देश्य था—स्वर्ग की प्राप्ति। मीमांसक दर्शन प्रवर्तक धर्म का अग्रणी दर्शन है। मीमांसक धर्म का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग-प्राप्ति रहा। आत्मा या मोक्ष की अवधारणा का विकास बाद में हुआ है। मीमांसक दर्शन ने मोक्ष को स्वीकार किया, उसे जीवन का परम लक्ष्य माना, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति का रहा। प्रश्न था—स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो? नरक कैसे टले? कहा गया—स्वर्ग के लिए यज्ञ करना चाहिए।

प्रवर्तक धर्म में कर्म की प्रधानता होती है। निवर्तक धर्म में ज्ञान की प्रधानता होती हैं। मीमांसा दर्शन के प्रमुख आचार्य प्रभाकर कर्मवादी है। उनकी सृष्टि में कर्म प्रधान है, ज्ञान गौण। वे ज्ञान को स्वतंत्र नहीं मानते। आचार्य शंकर ज्ञानवादी हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान का मूल्य अधिक है, कर्म का मूल्य नगण्य है। कर्म ज्ञान का ही अंग है। कुमारिल भट्ट ज्ञान और कर्म दोनों को स्वीकार करते हैं। मीमांसा के इन तीन आचार्यों की तीन प्रकार की चिन्तन धाराएं रही हैं। यज्ञ आदि का सबसे ज्यादा समर्थन आचार्य प्रभाकर ने किया। मीमांसा के पूर्व पक्ष में यज्ञ का समर्थन और विधान है, इसलिए मीमांसा का पूर्वपक्ष कर्मकाण्ड कहलाता है। उत्तरपक्ष में यज्ञ आदि का समर्थन नहीं किया गया। अत: वह ज्ञानकाण्ड कहलाता है।

6.13.2 यज्ञ क्यों?

एक मत रहा—यज्ञ करने से आदमी स्वर्ग में चला जाता है। इस मत का समर्थन करने वाले व्यक्तियों का परम धर्म यज्ञ बन गया। स्थान-स्थान पर यज्ञ के बड़े-बड़े समारोह होने लगे। आयोजन में हजारों व्यक्ति सम्मिलित होते। यज्ञ की परम्परा विस्तार पाती चली गई। जब भगवान् महावीर को कैवल्य उपलब्ध हुआ तब इंद्रभूति गौतम आदि ग्यारह दिग्गज विद्वान यज्ञ के निमित्त ही आ रहे थे। एक ही यज्ञ के लिए ग्यारह महापंडित आए। प्रत्येक पंडित के पांच सौ-पांच सौ शिष्य थे। उस समय हजारों लोग उस यज्ञ में उपस्थित थे। भगवान् महावीर का योग मिला, ग्यारह पंडितों की दिशा बदल गई। वे यज्ञ-कर्म से निवृत्ति पा भगवान् महावीर के शिष्य बन गए। मुनि हरिकेशबल ने याज्ञिक ब्राह्मणों से कहा—अग्नि का समारम्भ करते हुए जल से शुद्धि की मांग कर रहे हो? तुम जिस शुद्धि की बाहर से मांग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सुदृष्ट—सम्यग् दर्शन नहीं कहते।

किं माहणा जोइ समारंभता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा?
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति ॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मुनि ने कहा—तुम अग्नि का समारम्भ कर प्राणों और भूतों की हिंसा करते हुए बार-बार पाप करते हो। जहां अग्नि का समारम्भ है, वहां हिंसा है। हिंसा के साथ पाप-कर्म का बंधन जुड़ा हुआ है।

ब्राह्मण ने पूछा—हे भिक्षो! हम कैसे प्रवृत्त हों? यज्ञ कैसे करें? जिससे पाप कर्मों का नाश कर सकें? आप हमें बताए—कुशल पुरुषों ने सुइष्ट—श्रेष्ठ यज्ञ का विधान किस प्रकार किया है?

कह चरे? भिक्खु! वयं जयामो? पावाइ कम्माइ पणोल्लयामो?
अक्खहि णे संजय? जक्खपूइया! कहं सुअट्ठं कुसला वयन्ति?

मुनि हरिकेशबल ने इस प्रश्न का बहुत मार्मिक उत्तर देते हुए कहा—जो पांच संवरों से संसुवृत होता है, जो असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो, महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥

6.13.3 यज्ञ और तीर्थ-स्थान: आध्यात्मिक दृष्टि

ब्राह्मण सोमदेव की जिज्ञासा का स्रोत फूट पड़ा। उसने पूछा—भिक्षो! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है?

मुनि बोले—तप है ज्योति।

'तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सी है?'

'जीव ज्योति-स्थान है।'

'तुम्हारे घी डालने वाली करछियां कौन-सी हैं?

'योग—मन, वचन और शरीर की सत् प्रवृत्ति घी डालने की करछियां हैं।'

6.13.4 महावीर का दृष्टिकोण

भगवान् महावीर ने यज्ञ के संदर्भ में, तीर्थ-स्थान के संदर्भ में जिस दृष्टि का प्रयोग किया, वह अनेकान्त का निदर्शन है। महावीर ने अनेकान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वीतरागता, समता और अनेकान्त—तीनों एक बिन्दु पर पहुंच जाते हैं। भगवान् महावीर के समय में आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकार की समस्याएं थीं। अनेक दर्शनों ने इन पर विचार-मंथन प्रस्तुत किया। आधिदैविक और आधिभौतिक स्थितियों से ऊपर उठकर उनका आध्यात्मिकीकरण कर सारी समस्याओं का समाधान कर देना महावीर जैसे समर्थ व्यक्तित्व के लिए ही संभव था। महावीर सामायिक के प्रवर्तक थे, समता के प्रवक्ता थे; इसलिए यह बात संभव बन सकी। जातिवाद, यज्ञवाद और तीर्थस्थान—ये तीन उस समय के जटिल प्रश्न थे। हजारों लोग इन बातों को मानकर चल रहे थे। उस स्थिति में एक नया दर्शन और नया चिन्तन देना सचमुच साहस का काम था। उन्होंने प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल सिद्धान्त की प्रस्थापना की। उनके सामने वीतरागता का दृष्टिकोण था, अनेकान्त दर्शन था इसलिए आधिदैविक और आधिभौतिक प्रश्नों का आध्यात्मिकीकरण सहज संभव बन गया। यज्ञ और तीर्थस्थान के प्रश्न का आध्यात्मिकीकरण उसका एक निदर्शन हैं।

निर्ग्रन्थ जयघोष अपने भाई विजयघोष के यज्ञ-मण्डप में गए। यज्ञ-कर्त्ता ने वहां उपस्थित हुए मुनि को निषेध की भाषा में कहा—'भिक्षो! तुम्हें भिक्षा नहीं दूंगा और कहीं याचना करो।

'हे भिक्षो! यह सबके लिए अभिलषित भोजन नहीं है यह उन्हीं को देना है, जो वेदों को जानने वाले विप्र हैं, यज्ञ के लिए जो द्विज हैं, जो वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगों को जानने वाले हैं, जो धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं, जो अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं।

वह उत्तम अर्थ की गवेषणा करने वाला महामुनि वहां यज्ञ-कर्त्ता के द्वारा प्रतिषेध किए जाने पर न रूष्ट ही हुआ है और न तुष्ट ही।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी जीवन-निर्वाह के साधन के लिए, किन्तु उनकी विमुक्ति के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—'तू वेद के मुख को नहीं जानता है। यज्ञ का जो मुख है उसे नहीं जानता है। नक्षत्र का जो मुख है और धर्म का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता है। जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ है, उसे तू नहीं जानता। यदि तू जानता है तो बता।'

मुनि के प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाते हुए द्विज ने परिषद् सहित हाथ जोड़कर उस महामुनि से पूछा—'तुम कहो, वेदों का मुख क्या है? यज्ञ का जो मुख है, वह तुम्हीं बतलाओ। तुम कहो, नक्षत्रों का मुख क्या है? धर्मों का मुख क्या है, तुम्हीं बताओ।

'जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं (उनके विषय में तुम्हीं कहो)। हे साधु! यह मुझे सारा संशय है, तुम मेरे प्रश्नों का समाधान दो।

'वेदों का मुख अग्निहोत्र है। यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है। नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है और धर्मों का मुख काश्यप ऋषभदेव हैं।'

'जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोड़े हुए, वंदना-नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते ही रहते हैं उसी प्रकार भगवान् ऋषभ के सम्मुख सब लोग रहते थे।'

'जो यज्ञवादी हैं, वे ब्राह्मण की सम्पदा से अनभिज्ञ हैं। वे बाहर में स्वाध्याय और तपस्या से उसी प्रकार ढंके हुए हैं, जिस प्रकार अग्नि राख से ढंकी हुई होती है।'

'जिसे कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि की भांति सदा लोक में पूजित हैं, उन्हें हम कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो आने पर आसक्त नहीं होता, जाने के समय शोक नहीं करता, जो आर्य-वचन में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'अग्नि में तपा कर शुद्ध किए हुए और घिसे हुए सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो त्रस और स्थावर जीवों को भली-भांति जानकर, मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो सचित्त या अचित्त-कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक, कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल में लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार कामभोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उनसे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृहत्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जिनके शिक्षा-पद, पशुओं को बलि के लिए यज्ञ के खम्भे में बांधे जाने के हेतु बनते हैं, वे सब वेद और पशु-बलि आदि पाप-कर्म के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ दुराचार-सम्पन्न उस यज्ञकर्त्ता को त्राण नहीं देते, क्योंकि कर्म बलवान होते हैं।'

'केवल सिर मुंड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ॐ' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'समभाव की साधना करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना—मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।'

'मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।'

'इन तत्त्वों को अर्हत् ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है, जो सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं।'

'इस प्रकार संशय दूर होने पर विजयघोष की वाणी को भली-भांति समझा और संतुष्ट हो हाथ जोड़कर उसने महामुनि जयघोष से इस प्रकार कहा—'तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा अर्थ समझाया है।

'तुम यज्ञों के यज्ञकर्त्ता हो, इसलिए हे भिक्षुश्रेष्ठ! तुम हम पर भिक्षा लेने का अनुग्रह करो।'

(मुनि)—'मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज! तू तुरन्त ही निष्क्रमण कर—मुनि-जीवन को स्वीकार कर, जिससे भय के आवर्तों से आकीर्ण इस घोर संसार-सागर में तुझे चक्कर लगाना न पडे।' (उत्तराध्ययन, 12/5-37)

श्रमण संस्कृति के कर्मणा-जाति के सिद्धान्त ने वैदिक ऋषियों को भी प्रभावित किया और महाभारत एवं पुराण-काल में कर्मणा-जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन होने लगा। महाभारत (शान्तिपर्व, 245/11-14, 22-24) में ब्राह्मण के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं—

'जो सदा अपने सर्वव्यापी रूप से स्थित होने के कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाश में परिपूर्ण-सा हो रहा है तथा जो असंग होने के कारण लोगों से भरे हुए स्थान को भी सूना समझता है, उसे देवता लोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं।

'जो सब प्रकार की आसक्तियों से छूटकर मुनि-वृत्ति से रहता है, आकाश की भांति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्तभाव में रहता है, उसे देवता ब्राह्मवेत्ता मानते हैं।'

'जिसका जीवन धर्म के लिए भगवान् श्रीहरि के लिए होता है, जिसके दिन और रात धर्मपालन में ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता ब्रह्मवेत्ता मानते हैं।'

'जो कामनाओं से रहित तथा सब प्रकार के आरंभों से रहित है, नमस्कार और स्तुति से दूर रहता तथा सब प्रकार के बंधनों से मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं।'

ब्रह्मपुराण (223/32) के अनुसार शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और वैश्य क्षत्रिय हो जाता है। वज्रसूचिकोपनिषद् एवं भविष्यपुराण में भी जातिवाद की आलोचना मिलती है, किन्तु यह दृष्टिकोण वैदिक संस्कृति की आत्मा में परिपूर्ण रूप से व्याप्त न था।

6.14 गुणपूजा

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु, न च लिंगं न च वयः ॥

अर्थात्—किसी भी व्यक्ति की पूजा उसके गुणों के कारण होनी चाहिए, आयु और बाह्य चिह्नों के कारण नहीं। जैनधर्म इस उक्ति में अक्षरशः विश्वास करता है। वैदिक संस्कृति में मुख्य रूप से व्यक्ति पूजा में ही विश्वास किया जाता है। व्यक्ति पूजा में, जिसकी पूजा की जाती है उसे ही सर्वगुणसम्पन्न मान लिया जाता है। उसकी स्तुति में उसके व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, गुणों की नहीं। व्यक्ति अपने आप में पूज्य माना जाता है, गुणों के कारण नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण इसलिए पूज्य माना जाता है कि उसका जन्म ब्राह्मण के घर में हुआ है। वह सदाचारहीन हो तो भी पूजा का पात्र है। इसके विपरीत जैनधर्म सदा से गुण-पूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल, वर्ण और बाह्य वेष के कारण किसी भी व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया जाता। किसी भी दुराचारी, अत्याचारी और व्यभिचारी को उच्च कुल में जन्म लेने के कारण पूज्य समझ लिया जाय और नीच-कुल में जन्म लेने के कारण किसी सदाचारी, परोपकारी और दयाशील व्यक्ति को भी घृणित मान लिया जाय—यह बात जैन संस्कृति को मंजूर नहीं है। इसके अतिरिक्त गुण-शून्य, व्यक्ति-पूजा को अंगीकार करने से सदाचार की अपेक्षा दुराचार, ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान तथा सत्त्व-गुण की अपेक्षा तमोगुण प्रधान हो जाएंगे। 'संसार में पूज्य किसको मानना चाहिए'—इसका विवेचन करते हुए दशवैकालिक सूत्र (9/3/11) में बताया गया है—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू।
गिण्हाहि साहूगुण मुंच ऽसाहू ॥
विआणिय अप्पगमप्पएणं।
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

अर्थात्—कोई भी गुणों के कारण ही साधु माना जाता है एवं दुर्गुणों के कारण ही असाधु या दुष्ट समझा जाता है। आत्मा के द्वारा ही जो आत्मा के गुणों को पहचान लेता है तथा राग-द्वेष में जिसकी बुद्धि सम है, वही मानव पूजा के योग्य है।

गुणपूजा की मान्यता के कारण ही जैन संस्कृति में जो पंचपरमेष्ठि को नमस्कार किया गया है उसमें व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है, अपितु उन सभी महापुरुषों को नमस्कार किया गया है, जिन्होंने अपना सारा जीवन स्वात्म-कल्याण के लिए एवं प्राणीमात्र के कल्याण के लिए यापन किया है तथा कर रहे हैं।

जैन संस्कृति में 'देव' शब्द से दो प्रकार के व्यक्तियों का बोध होता है—भौतिक सम्पत्ति के धनी और आध्यात्मिक सम्पत्ति के धनी।

6.15 सारांश

वैदिक परम्परा में भौतिक संपत्तिवाले देव ही आराध्य हैं। यह आध्यात्मिक देवत्व भी किसी को जन्म से ही प्राप्त नहीं है जबकि जैन संस्कृति में तो आध्यात्मिक सम्पत्ति वाले देव ही आराध्य हैं। यह आध्यात्मिक देवत्व भी किसी को जन्म से ही प्राप्त नहीं हो जाता। ऐसी आत्मा जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रतों के पालन द्वारा, रागादि के त्याग द्वारा और तपस्या द्वारा पूर्ण आत्मविकास की दशा को प्राप्त हो जाती है, वही पूज्य माना जाता है। वैदिक धर्म की अपेक्षा जैनधर्म में पूज्य की पूजा का उद्देश्य भी भिन्न प्रकार का है। वैदिक संस्कृति में गुण-शून्य भक्त अपने आराध्य की पूजा इसलिए करता है कि आराध्य प्रसन्न होकर अपनी कृपा द्वारा उसे उस प्रकार के सुख-साधनों से सम्पन्न कर दे, किन्तु श्रमण संस्कृति का साधक अपने आराध्य को अपने हृदय में इसलिए उतारता है कि वह आराध्य के गुणों का आधान अपने में कर सके।

6.16 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन संस्कृति की विशेषताओं को स्पष्ट करें।

अथवा

2. जैन संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों का विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति में प्रमुख रूप से क्या भेद हैं?
2. समत्व की भावना के विकास के लिए कैसा वातावरण अपेक्षित है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जैन संस्कृति का जीवन मूल्य .... है।
2. भगवान् महावीर ने प्राकृत भाषा का प्रयोग .... की भावना से किया था।
3. निर्ग्रन्थ शब्द .... और जैन शब्द .... प्रतीक है।
4. भारतीय जीवन में .... जैन और बौद्धों की विशेष देन है।
5. संस्कृति के दो पक्ष .... हैं।
6. जैन साहित्य में बहत्तर/चौसठ/पचपन कलाओं की सूची मिलती है।
7. ओ ना मा सी धं यह .... मंत्र का विकृत रूप है।
8. जैनदर्शन का संन्यास .... आधारित है।
9. भिक्षु की श्रेष्ठता का एकमात्र हेतु .... है।
10. वैदिक संस्कृति का केन्द्र .... और श्रमण संस्कृति का केन्द्र ...... रहा है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–7 : अहिंसक जीवन शैली (आहार के संदर्भ में)

संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 आहार का अर्थ
7.3 आहार का उद्देश्य
7.4 आहार के प्रकार
7.5 आहार कैसा हो?
7.6 संतुलित भोजन
7.7 आहार और मानसिक स्वास्थ्य
7.8 आहार और अहिंसा
7.9 अनाहार का महत्व
7.10 आहार और अनाहार
7.11 हित, मित और सात्विक आहार
7.12 मांसाहार वर्जन
7.13 आहार और ब्रह्मचर्य
7.14 आहार और वृत्तियां
7.15 मनुष्य की प्राकृतिक शरीर–रचना शाकाहारी जीवों जैसी
7.16 मांसाहार रोगों का जन्मदाता
7.17 मांसाहार हृदय रोग व उच्च रक्तचार
7.18 मांसाहार पर महत्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य
7.19 शाकाहार अधिक पौष्टिक व गुणकारी
7.20 आहार और आदत–परिवर्तन
7.21 सारांश
7.22 अभ्यास प्रश्नावली

7.0 प्रस्तावना

जब हम जैन आचार के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं, तो यह स्वाभाविक है कि आहार के विषय में जैन दर्शन के दृष्टिकोण को हम जानें। आहार और आचार का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। उसमें भी अहिंसा, संयम, स्वास्थ्य, भाव, व्यवहार, आचरण आदि अनेक ऐसे बिन्दु है जिनका व्यक्ति के भोजन के साथ सीधा सम्बन्ध है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पाठ में हम इस बात की मीमांसा करेंगे कि जैन दर्शन की दृष्टि में एक विवेकशील व्यक्ति को अपनी भोजन–शैली को किस रूप में निर्धारित करना चाहिए तथा खाद्य–अखाद्य का विवेक किन आधारों पर किया जा सकता है। वर्तमान युग में मांसाहार–वर्जन के पक्ष में एक सबल चिन्तन न केवल धर्म, संस्कृति आदि के आधार पर वरन् वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर भी उभर रहा है। आएं, हम सर्वांगीण रूप में इस विषय का विश्लेषण करें।

रोटी का प्रश्न जीवन का पहला प्रश्न है, इसलिए सबसे बड़ा प्रश्न है। कोई भी मनुष्य खाये बिना जी नहीं सकता और जब जी नहीं सकता तब कुछ भी नहीं कर सकता। कुछ करने के लिए जीवन जरूरी है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और जीवन के लिए रोटी जरूरी है। विश्व की राजनीति का पहला प्रश्न है जनता को रोटी सुलभ कराई जाय। आवास और वस्त्र को सुलभ करना प्रथम प्रश्न नहीं। वह रोटी के बाद की समस्या है। जीवन होने पर ही वस्त्र, आवास, शिक्षा और चिकित्सा की जरूरत होती है, अन्यथा नहीं होती। धार्मिक चिन्तन में भी भोजन के प्रश्नों को प्राथमिकता मिली है। 'जैसे कपड़े का कारण धागा और धागे का कारण पक्ष्म (रोम) है, वैसे ही मोक्ष का कारण ज्ञान, दर्शन और आचारमय जीवन है और उस जीवन का कारण आहार है।'

7.1 उद्देश्य

आहार के बिना जीवन नहीं हो सकता, जीवन के बिना ज्ञान, दर्शन और आचार की आराधना नहीं हो सकती और उसके बिना बंधन मुक्ति नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य की पहली चिन्ता और पहली अपेक्षा है आहार। इसलिए आहार के प्रश्न को गौण नहीं किया जा सकता। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

7.2 आहार का अर्थ

आहार का अर्थ होता है—बाहर से लेना। पौद्गलिक जगत् की ऐसी व्यवस्था है कि बाहर से लेना होता है। केवल प्राणी ही नहीं, अचेतन वस्तुएं भी बाहर से लेती हैं।

प्रत्येक पदार्थ का, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, यह नियम बना हुआ है कि नया लेना और पुराने का विसर्जन करना, पुराने को छोड़ते चले जाना। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। प्राणी आहार लेता है और लेता रहेगा। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता कि कोई व्यक्ति निराहार हो सके। जब से गर्भाधान हुआ, तब से आहार कर रहा है। एक प्राणी मरने के बाद दूसरे जन्म में जाता है, बीच की स्थिति को कहते हैं अन्तराल गति। उस गति में भी पूरा अनाहार नहीं होता। वहां भी जब लम्बा समय होता है तो बीच में आहार ले लेता है। अनाहार होना, यह शरीर के लिए संभव नहीं है। हम शरीर के प्रत्येक कण से आहार लेते हैं। आंख से देखते हैं यह आंख का आहार है। कान से सुनते है। यह कान का आहार है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना आहार होता है। मन से विकल्प करते हैं, यह मन का आहार है। भाषा का आहार करते हैं, फिर बोलते हैं। हमारी एक भी वाणी ऐसी नहीं होती जो आहार के बिना चल सके। प्रत्येक शब्द का पहले आहरण, फिर परिणमन, फिर विसर्जन-यह बराबर चलता है। वाणी को आहार चाहिए, चिन्तन और मनन को आहार चाहिए।

7.3 आहार का उद्देश्य

आहार हमारे जीवन की अनिवार्य अपेक्षा है। आत्मा को कभी भोजन की आवश्यकता नहीं होती। भोजन की आवश्यकता होती है शरीर को, पुद्गल को। शरीर है इसलिए भूख है भूख है इसलिए भोजन है। भूख हमारी प्रतिदिन की बीमारी है। हम उसका उपचार करना जानते हैं, इसलिए हमने खाना खा लिया। बीमारी समाप्त हो गई। इस बीमारी का इलाज हमारे हाथ में है, इसलिए हम इस बीमारी को बीमारी नहीं समझते। एक आचार्य ने लिखा है-भूख के सामने कोई पीड़ा नहीं है। प्रश्न हुआ—क्यों खाना चाहिए? इसका उत्तर दिया भूख की पीड़ा को शांत करने के लिए यह खाने का स्वाभाविक उद्देश्य है। इसके सिवाय जितने उद्देश्य बतलाये गये हैं और बतलाये जाते हैं वे सब सैद्धान्तिक हैं, स्वाभाविक नही हैं। आदमी का जीवन भोजन से बहुत बंधा हुआ है। आतिथ्य सत्कार भी इससे प्रारम्भ होता है। दो आदमी या दो औरते जहां भी मिलती हैं, भोजन की चर्चा चल पड़ती है। भोजन की चर्चा जितनी व्यापक है उतनी व्यापक और कोई नहीं है।

जैन साहित्य में चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है- स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा। भक्तकथा अर्थात् भोजन की कथा। यह कथा अकारण नहीं होती। आदमी भोजन से इतना बंधा हुआ है, जितना वह किसी से बंधा हुआ नहीं है। भोजन से शरीर बनता है, रक्त बनता है, मांस बनता है, सारी धातुएं बनती है। सात धातुओं से परे जो ओज है वह भोजन से बनता है। ओज को आज की भाषा में विद्युत कहा जाता है। सारे रसायन भोजन से निष्पन्न होते हैं। जीवन का पूरा चक्र भोजन से संचालित होता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। हमारी सारी वृत्तियां भोजन से संचालित होती है। भोजन के आधार पर पूरे व्यक्तित्व का अंकन किया जा सकता है। जिस व्यक्ति ने भोजन का यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया वह अपने व्यक्तित्व को भी कैसे समझ सकता है? वह अपनी आदतों का विश्लेषण या रूपान्तरण कैसे कर सकता है?

7.4 आहार के प्रकार

आहार के तीन प्रकार हैं—ओज आहार, रोम आहार और प्रक्षेप आहार। जब हम पैदा होते हैं तब सबसे पहले जो आहार लेते हैं उसे कहते हैं—ओज आहार। ओज अर्थात् हमारे जीवन की मूलभूत शक्ति। जब तक यह सुरक्षित रहती है तब तक आदमी जीवित रहता है। बहुत बार हम आश्चर्य में डालने वाली घटनायें सुनते हैं कि एक आदमी खंदक में दब गया, मलबे के नीचे दब गया फिर भी मरा नहीं। वहां दस दिन तक जीता रहा, बीस दिन तक जीता रहा। इसका सीधा-सा समाधान है कि जब तक उसका ओज आहार बना रहता है, तब तक वह मरता नहीं। बड़ी दुर्घटना होने पर भी बच जाता है। ओज आहार के समाप्त होने पर साधारण-सी ठोकर लगने पर भी आदमी मर जाता है।

दूसरा है रोम आहार। हमारे शरीर का हर रोम-कूप आहार लेता है। हम मुंह से कभी-कभी आहार लेते हैं, किन्तु रोम-कूप से निरन्तर लेते रहते है। हमारा जीवन इन रोम-कूप पर बहुत निर्भर है। तीन घंटा यदि रोम-कूप बंद हो जाय तो आदमी जी नहीं सकता। नाटक दिखाने वाले कुछ लोग रंग आदि लगाते हैं। उससे रोम-कूप बंद हो जाते हैं। वे कभी-कभी उस रंग को साफ किए बिना सो जाते है, तो बहुत बड़ी दुर्घटना हो जाती है। कभी-कभी वे मौत के मुंह में चले जाते हैं। रोम-कूपों का बंद होना मौत को निमन्त्रण देना है।

हमारा तीसरा आहार है—प्रक्षेप आहार। यह कवल-आहार है, जो मुंह से खाया जाता है या अन्य किसी साधन से शरीर में पहुंचाया जाता है। इससे हम बहुत परिचित है। हम मुख्यत: इसी को आहार मानते है। प्राणवायु (ऑक्सीजन) हमारा आहार है। सूर्य का ताप हमारा श्रेष्ठ आहार है, यह कल्पना बहुत कम लोगों को है। अधिकांश लोग अनाज आदि को ही आहार मानते हैं।

एक चौथा आहार भी है जो मनोभक्षी है। मन में आया कि भोजन करना है और भोजन हो गया। भोजन के सब तत्त्व हमारे वायुमण्डल में भरे पड़े हैं। सूक्ष्म-जगत् में वह सब कुछ है जो स्थूल जगत् में उपलब्ध होता है। जो सूक्ष्म है, वही तो स्थूल बनता है। सूक्ष्म जगत् में जिसका स्रोत नहीं है वह स्थूल-जगत् में उपलब्ध नहीं हो सकता। शरीर की सुरक्षा के लिए जो चाहिए, वह सब हमारे आसपास मौजूद है। हमारी शक्ति इतनी विकसित नहीं है कि हम उस आहार को ले सकें।

ओज आहार स्वाभाविक है। उस पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। मनोभक्षी आहार की शक्ति विशेष साधना से उपलब्ध की जा सकती है। रोम आहार के लिए जरूरी है कि हम शुद्ध वातावरण में जीएं। प्रक्षेप आहार के विषय में विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है।

7.5 आहार कैसा हो?

जब आहार अनिवार्य है तो प्रश्न होता है कि किस प्रकार का आहार लें? एक प्रकार का आहार विचार को, भाषा को, मन को विकृत बनाता है। एक प्रकार का आहार इस तंत्र को स्वस्थ बनाता है। हमारा आहार कैसा होना चाहिए? इस प्रश्न पर समूचे विश्व में अनेक दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श हुआ है। उसका वर्गीकरण यह है—1. शारीरिक स्वास्थ्य, 2. मानसिक स्वास्थ्य, 3. अहिंसा, 4. ब्रह्मचर्य, 5. चित्तवृत्ति का परिमार्जन।

आहार के विमर्श का पहला दृष्टिकोण शारीरिक स्वास्थ्य है। भोजन स्वास्थ्य देता है और भोजन स्वास्थ्य बिगाड़ता है। रोग भी भोजन पैदा करता है और आरोग्य भी भोजन बनाता है। उसके लिए आयुर्वेद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में तीन सूत्र महत्त्वपूर्ण है—हितभुक्, मितभुक् और ऋतभुक्। इन तीनों का अपना महत्त्व है। हितभोजी वह होता है जो स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन करता है। मितभोजी वह होता है जो थोड़ा खाता है, डाक्टरों के लिए नहीं खाता। एक डाक्टर ने भोजन को चार भागों में बांटते हुए कहा—मनुष्य एक भाग तो अपने शरीर के लिए खाता है और तीन भाग हमारे लिए खाता है। अगर वह ऐसा न करें तो डाक्टरों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। यदि सब लोग मितभोजी बन जाये तो डाक्टरों को बोरिया-बिस्तर बांधना पडे। उनकी जीविका समाप्त हो जाय। ऋतभोजी वह होता है जो मुफ्त नहीं खाता, दूसरे का शोषण कर नहीं खाता, अपने श्रम का खाता है।

ऋत भोजन का सम्बन्ध जुड़ता है हमारी सूक्ष्म भावनाओं से। ऋत भोजन का सम्बन्ध जुड़ता है हमारी मानसिक विचारधाराओं के साथ। भोजन पकाते, पैदा करते या बनाते समय किस प्रकार की विचारधारा है, सबका प्रभाव उस पर पड़ता है। एक व्यक्ति ने बड़ी क्रूरता के साथ भोजन का अर्जन किया। एक व्यक्ति ने बड़ी क्रूरता के साथ भोजन बनाया। अब खाने वाला बेचारा उसे अच्छे भाव से ही खा रहा है, किन्तु उस भोजन में क्रूरता के भाव आ रहे हैं, तो कोमल व्यक्ति को भी क्रूर बना देगा। ऐसा होता है। भोजन कितना गजब ढा देता है, कितना अनर्थ कर देता है, इससे हम परिचित हैं।

एक संन्यासी के मन में अपराध की भावना जाग गई। ऐसा क्यों हुआ? कारण खोजा गया तो पता चला कि जो भोजन मिला, सारा उसी का दोष है। जब तक वह भोजन रहा तब तक भावना रही। जब भोजन निकला तो भावना भी समाप्त हो गई।

इस सारे सन्दर्भ में हम सोचते हैं कि 'ऋतभुक्' का कितना महत्त्व है? ऋतभुक् यानि वह भोजन जिसके साथ सच्चाई जुड़ी हुई है, जिसके साथ पवित्रता और चेतना की निर्मलता जुड़ी हुई है। इसीलिए भोजन बनाने वाला, भोजन पैदा करने वाला हर कोई व्यक्ति नहीं होना चाहिए। उसके लिए पवित्र भावनाओं वाला व्यक्ति अपेक्षित रहता है। यह ऋतभुक् का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि भोजन के समय हमारे चित्त की प्रसन्नता हो।

7.6 सन्तुलित भोजन

पोषणविदों और चिकित्साविदों ने बतलाया कि शारीरिक स्वास्थ्य का मूल आधार है—सन्तुलित भोजन। शारीरिक तत्त्वों से क्रिया संचालन के लिए जो-जो भोजन तत्त्व अपेक्षित है, उन सबका हमारे भोजन में होना सन्तुलित भोजन है। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह, लवण, क्षार, लोहा और विटामिन्स- ये उचित मात्रा में खाये जाते हैं, वह सन्तुलित भोजन माना जाता है, इससे शरीर स्वस्थ और क्रिया करने में सक्षम रहता है। सन्तुलित आहार के विषय में योगशास्त्रियों का अभिमत इससे भिन्न है। इनके अनुसार सन्तुलित आहार वह होता है जिसमें ये चार तत्त्व पाये जाते हैं- खाद्य, तेल, वायु और प्रकाश। शरीर-शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत सन्तुलित आहार की परिधि में खाद्य और तेल- ये दो ही आते हैं, शेष दो छूट जाते हैं। यथार्थ में वह आहार सन्तुलित नहीं हो सकता जिसमें वायु और प्रकाश (धूप) को स्थान न हो। आपका प्रश्न हो सकता है कि खाद्य और तेल से भूख शांत होती है, फिर भी वायु और धूप से प्रयोजन ही क्या? क्या उनसे भूख शांत होगी? क्या उससे भूखा पेट भर जाएगा? और यदि उनसे पेट भर जाता हो तो विश्व की बहुत बड़ी समस्या समाहित हो सकती है। आज का अभाव मिट सकता है। उनसे पेट भर जाता है।

धूप या प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है। हमारे शरीर को विटामिन 'डी' की आवश्यकता होती है। बहुत आवश्यकता है शरीर को इसकी। विटामिन 'डी' जितना अच्छा सूर्य की रश्मियों से प्राप्त होता है उतना किसी से भी प्राप्त नहीं होता। हमारे चमड़ी के आस-पास एक ऐसा द्रव्य है जिस पर सूर्य की रश्मियां पड़ती है और वहां विटामिन 'डी' स्वतः उत्पन्न हो जाता है। सूर्य की रश्मियां विटामिन 'डी' की पूर्ति करती है। शरीर पर पड़ने वाली सूर्य की किरणें कैल्शियम और फास्फोरस की भी पूर्ति करती है। शरीर को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन दोनों की आवश्यकता होती है। प्राकृत चिकित्सा का यह अभिमत है कि मनुष्य को जंगल में जाकर दिन में कुछ समय तक निर्वस्त्र रहना चाहिए, नग्न होकर घूमना चाहिए, धूप का पूरा सेवन करना चाहिए। इससे शरीर की अनेक कमियां पूरी होंगी। साधना के क्रम में जो नग्नता का क्रम था, वह अनावश्यक नहीं था, मूर्खतापूर्ण नहीं था। वह बहुत आवश्यक था और जो बहुत सोच-विचारपूर्वक निर्धारित किया गया था। शारीरिक और मानसिक साधना की दृष्टि से नग्न रहने के जितने लाभ है, उतने लाभ सवस्त्र में नहीं हैं।

शारीरिक और वैज्ञानिक दृष्टि से अब हम कुछ सोचें। निर्वस्त्र रहने से धूप हमारे समूचे शरीर पर पड़ती है। वह धूप हमारे आहार की पूर्ति करती है। विज्ञान का भी यही अभिमत है। धूप खाद्य का पूरक तत्त्व है। आतापना लेने वाले, धूप का सेवन करने वाले व्यक्ति के आहार की मात्रा कम हो जाती है। आतापना के विषय में जितने तथ्य जैन साहित्य में उपलब्ध हैं, वे अन्यत्र नहीं मिलते। वहां बहुत विस्तार से इसका विवेचन है। वहां उल्लेख मिलता है—जो आतापना लेता है उसके आहार की मात्रा कम हो जाती है। आवश्यकता कम हो जाती है। वह अधिक भोजन नहीं कर सकता, क्योंकि बहुत सारी आवश्यकता धूप से पूरी हो जाती है। आतापना का कितना मूल्य था कितना बड़ा अर्थ था उसे हमने भूला दिया। आज के आहार-शास्त्री भी यह मानने लगे हैं कि जो मनुष्य धूप और वायु से वंचित रहता है वह जान-बूझकर कठिनाइयां उत्पन्न करता है। वे कहते हैं- जंगल में चले जाओ। सारे कपड़े उतार दो। लंगोटी भी न रह पाए। भूमि पर लेट जाओ। शरीर धूप से जले तो जलने दो। कोई हानि नहीं होगी। यदि जलन से बचना चाहो तो शरीर पर पतला कपड़ा रख लो या मिट्टी रख लो। सीधा सम्पर्क बना रहे जमीन के साथ, सूर्य के साथ। यह है आतापना की क्रिया। इसे हठयोग की क्रिया समझना मूर्खतापूर्ण है। वह जीवन-धारण के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

अब हम वायु पर विचार करें। हम जो खाते हैं प्राण-वायु के बिना उसका अर्थ कम हो जाता है। जो पूरी मात्रा में प्राणवायु नहीं लेता, उसको अधिक मात्रा में आहार लेने की आवश्यकता होती है। जो पूरी मात्रा में प्राणवायु ग्रहण करता है, उसकी खाने की मात्रा कम हो जाती है।

इस विषय पर यदि हम गहराई में जाकर सोंचते हैं तो ऐसा लगता है कि हमारे शरीर में मुख्यतः चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु। शरीर में इन चारों की अपेक्षा होती है। इनको पूरा करना पड़ता है। खनिज के रूप में पृथ्वी तत्त्व की आवश्यकता है। हमारे शरीर के लिए लोहा आवश्यक है, शीशा आवश्यक है, चांदी आवश्यक है, सोना आवश्यक है। ये सारी धातुएं आवश्यक होती हैं। हम दूध पीते हैं दूध में अभ्रक होता है। हम जीरा खाते हैं, जीरे में लोहा होता है। मां के दूध में बहुत अच्छी चांदी होती है। हम साग खाते हैं। उसमें बहुत सारे खनिज होते हैं। मनुष्य स्वर्णभस्म, रजतभस्म, लौहभस्म औषधि के रूप में लेता है यह पूरी उपयोगी नहीं होती है। अधिकांश भाग व्यर्थ चला जाता है। इसलिए कहा गया है कि खनिजों के रूप में नहीं, किन्तु प्राकृतिक भोजन से प्राप्त करने का प्रयास करो।

इस आधार पर एक बात सूझती है कि खदानों से लिया जाने वाला खनिज हमारे शरीर में एकरस नहीं होता। इसकी अपेक्षा यदि हम मानसिक आहार के रूप में, मानसिक संकल्प के द्वारा कोई चीज विकसित कर सके तो वह हमारे साथ सुगमता से एकरस हो सकेगी। इस पर प्रयोग करना चाहिए। प्रयोग लम्बा हो सकता है। मनोभक्षी आहार की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह सूक्ष्म है। पर संकल्प के द्वारा उसे विकसित किया जाय तो बहुत सारे तत्त्वों की पूर्ति हम मन से कर सकेंगे। मन के द्वारा पूर्ति करने में कठिनाई है, उससे सरल मार्ग है वायु के द्वारा पूर्ति करने का।

भगवती सूत्र में बतलाया गया है कि प्राणी छः दिशाओं से आहार लेता है। वह पूर्व से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्षिण से, ऊर्ध्व दिशा से, अधो दिशा से—इन छः दिशाओं से आहार ग्रहण करता है। आज ये बातें केवल ग्रन्थों में रह गई है, पढ़ने मात्र को रह गई है। अनुसन्धान और खोज के अभाव में इनका हार्द

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समझा नहीं जा सकता। सब ओर से हम आहार लेते है। क्या हम पैरों से आहार नहीं लेते? लेते हैं। अवश्य लेते है। बताया गया है कि जब घूमना हो तो नंगे पैर घूमों। वह भी सड़क पर नहीं भूमि पर। जब बीच में जूते और सड़क आ जाती है - पक्की सड़क, तब पृथ्वी से साक्षात् मिलने वाला आहार प्राप्त नहीं होता। नंगे पैरों भूमि पर घूमने से पृथ्वी के सारे तत्त्व खींच लिये जाते हैं। हम अपने सिर को भी काम में लें। प्राणशक्ति को उत्तेजित करने वाले या सारे सौरमण्डल से विकीर्ण होने वाले तत्त्वों को हम मस्तिष्क के द्वारा ही अपने शरीर में ले जाते है। इसलिए किन-किन दिशाओं में सिर रखकर सोने से क्या-क्या लाभ होते हैं, यह इसी तथ्य को पुष्ट करता है। पहले तो यह तथ्य रूढ़ि और अन्धानुकरण समझा जाता था, किन्तु आज के वैज्ञानिक परीक्षणों के बाद यह तथ्य प्रतीत हो चुका है। अनेक डाक्टर सिरहाने की दिशाओं को बदलकर अनेक रोगों की चिकित्सा कर रहे हैं और उन्हें इस पद्धति से बीमारी मिटाने में आशातीत सफलताएं मिली। इसका भी वैज्ञानिक कारण है। सौरमण्डल से आने वाले जो प्रवाह हैं वे हमारे मस्तिष्क को आकर्षित करते है, अपनी ओर खींचते हैं। जिस प्रवाह की दिशा में मस्तिष्क होता है, उसके तत्त्व उसमें प्रवेश पा जाते हैं। इसलिए इस पद्धति का बहुत बड़ महत्त्व है।

आहार का अर्थ खाना ही नहीं है। उसका अर्थ है- लेना, खींचना, टानना। चाहे हम मुंह से, पैर से, नाक से, माथे से ले, चाहे पूरे शरीर से लें, हम जो भी बाहर से लेते हैं वह सारा आहार है। इस प्रकार ऊपर से भी आहार लेते हैं, नीचे से भी आहार लेते है, आस-पास से भी आहार लेते हैं, दायें-बायें से भी आहार लेते हैं। हम सभी दिशाओं और सभी विदिशाओं से आहार लेते हैं। वायु का आहार वायु के माध्यम से लेते हैं। वायु के आहार का अनुसन्धान किया जाय तो जो तत्त्व वनस्पति आहार के द्वारा हम ग्रहण करते हैं, वे सब वायु के द्वारा भी ले सकते हैं। क्योंकि वायुमण्डल में सब तत्त्वों के परमाणु भरे पड़े हैं।

हमारे आहार के चार मुख्य अंग है—खाद्य, तेल, वायु और धूप। साधना की दृष्टि से सन्तुलित आहार वह होता है जिसमें ये चारों तत्त्व हों। जिसमें केवल खाद्य और तेल हो, वायु और धूप का योग न हो वह सन्तुलित आहार नहीं हो सकता।

दो बातें और हैं जो सन्तुलित आहार की श्रेणी में तो नहीं है पर उनका पूरक रूप में उल्लेख करना जरूरी है। वे दो बातें है—उपवास और मानसिक प्रसन्नता। इन दोनों के बिना आहार अर्थ-शून्य हो जाता है। आप आहार करते हैं, परन्तु यदि उपवास करना नहीं जानते। अनाहार रहना नहीं जानते तो आपका आहार आपके लिए कठिनाइयां पैदा कर सकता है। आहार ही जटिलता पैदा करता है। हम आहार करते हैं भूख की समस्या को समाहित करने के लिए और वही आहार अनेक समस्याएं सामने प्रस्तुत कर देता है। जो लोग केवल आहार करते हैं, उपवास के मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे उपवास का मर्म नहीं जानते। वे समस्याओं को कम नहीं कर सकते। आहार के साथ अनाहार को जोड़ना, उपवास को जोड़ना भी बहुत जरूरी है। उपवास का अर्थ नहीं खाना भी है, कम खाना भी है, आहार की मात्रा को कम करना भी है।

खाते समय मन चिन्ता से मुक्त होता है तब भोजन का पाचन अच्छा होता है। प्रसन्नता का अर्थ हर्ष नहीं है। शोक जैसे एक आवेश है वैसे ही हर्ष भी एक आवेश है। प्रसन्नता एक आवेश नहीं है। वह चित्त की निर्मलता है। जैसे प्रसन्न आकाश का अर्थ होता है—निर्मल आकाश, वह आकाश जो बादलों से घिरा हुआ न हो। जो चित्त हर्ष, भय, शोक आदि आवेशों से आक्रान्त न हो वह प्रसन्न होता है। उसमें वृत्तियाँ शांत होती हैं। खाने वाला केवल खाने में ही लगा होता है, इसलिए चित्त की प्रसन्नता भी भोजन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

7.7 आहार और मानसिक स्वास्थ्य

भोजन के विमर्श का दूसरा दृष्टिकोण है—मानसिक स्वास्थ्य। मन स्वस्थ रहे—हमारे लिए बहुत मूल्यवान् है। भोजन का मन की क्रियाओं पर बहुत असर होता है। हमारा मस्तिष्क रासायनिक प्रक्रिया से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रभावित होता है और मस्तिष्क की रासायनिक प्रक्रिया भोजन से प्रभावित होती है। इस अर्थ में वह केवल शरीर को ही पोषण नहीं देता, मन को भी पोषण देता है। वह केवल शरीर की क्रियाओं का ही संचालन नहीं करता, उससे मन की क्रियायें भी संचालित होती हैं। क्योंकि वह शरीर से जुड़ा हुआ है। रासायनिक क्रिया की दृष्टि से वह शरीर का एक हिस्सा ही है। मन या मस्तिष्क पुष्ट हो, भोजन का केवल यही दृष्टिकोण नहीं है। उसका समग्र दृष्टिकोण यह है कि मन विकृत, उत्तेजित क्षुब्ध न हो।

भगवान् महावीर के जीवन का एक प्रसंग है। एक बार वे आदिवासी लोगों के बीच विहार कर रहे थे। उस प्रदेश के लोग बहुत क्रोधी और झगड़ालू थे। वे अकारण ही दूसरों को कष्ट देने में आनन्द का अनुभव करते थे। एक व्यक्ति ने जिज्ञासा की कि उस प्रदेश के सभी लोग क्रोधी और झगड़ालू क्यों है? उन्हें दूसरों को सताने में रस क्यों आता है? इस जिज्ञासा का उत्तर मिला कि वे रूखा खाते हैं और जो लोग सदा रूखा भोजन करते है वे स्वभाव से क्रोधी और झगड़ालू हो जाते हैं। प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता तो स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। अनेक मानसिक विकृतियों के लिए भोजन उत्तरदायी होता है।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से भोजन पर पर्याप्त विमर्श हुआ है। आहारशास्त्र और चिकित्साशास्त्र में इस विषय की पर्याप्त जानकारी मिलती है। भोजन की जो मानीकृत तालिकाएं है, वे शरीर और मन के स्वास्थ्य को लक्ष्य कर निर्धारित की गई हैं। उन्हीं के आधार पर आहारशास्त्री और चिकित्साशास्त्री भोजन के तत्त्व और मात्रा का निर्देश देते हैं।

7.8 आहार और अहिंसा

आहार के विमर्श का दूसरा दृष्टिकोण भी है। वह है अहिंसा। अहिंसा की दृष्टि से हमारा भोजन कैसा होना चाहिए- इस विमर्श में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं है किन्तु इस बात की सूचना है कि स्वास्थ्य हमारी अन्तिम सच्चाई नहीं है। उससे परे भी कुछ है और उसका सम्बन्ध समूचे प्राणी-जगत् से है। वह मनुष्य जाति की समानता का बहुत बड़ा आधार बनता है। अहिंसा की दृष्टि से भोजन के विवेक का पहला सूत्र है—अनिवार्यता का सिद्धान्त। हमें वह भोजन लेना चाहिए जो जीवन-धारण के लिए अनिवार्य हो। जिसकी अनिवार्यता न हो उसे नहीं लेना चाहिए। स्वाद की दृष्टि से भोजन नहीं लेना चाहिए।

हम सर्वांगीण दृष्टि से जीवन का निरीक्षण करें और जीवन को सर्वांगीण सन्दर्भो में देखें। हमारा जीवन केवल शरीर और मन का ही जीवन नहीं है। वह उससे बहुत आगे और बहुत व्यापक है, इसीलिए शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ही भोजन का निर्धारण न करें। उसके निर्धारण में अहिंसा (प्रेम, मैत्री या करुणा), ब्रह्मचर्य (अनासक्त भाव) और अन्तरवृत्तियों के परिष्कार का जो हिस्सा है, उसे बराबर ध्यान में रखें।

7.9 अनाहार का महत्त्व

भोजन का एक दूसरा पहलू भी है। उस पर भी हमें ध्यान देना चाहिए। हमारे लिए खाना जितना महत्त्वपूर्ण है, 'नहीं खाना' भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। खाने का जितना मूल्य है 'नहीं खाने' का भी उससे कम मूल्य नहीं है। जब तक हम 'नहीं खाने' पर विचार नहीं करते तब तक भोजन का विषय पूर्ण दृष्टि से चर्चित नहीं होता। स्वास्थ्य के लिए यदि सन्तुलित भोजन जरूरी है तो उसके लिए भोजन को छोड़ना भी जरूरी है, बहुत जरूरी है। भोजन को छोड़ने की तीन प्रकार भगवान महावीर ने बतलाए हैं- अनशन, ऊनोदरी और रस-परित्याग। ये आहार के अनिवार्य सिद्धान्त है, इसलिए ये आहार से भिन्न नहीं है। अनाहार को छोड़कर आहार को देखना वास्तव में आहार के प्रति भ्रान्त होना है और अपने स्वास्थ्य के प्रति भी अन्याय करना है, जो लोग केवल भोजन का ही महत्त्व समझते हैं, उसे छोड़ने का महत्त्व नहीं समझते, वे न केवल मोटापे की बीमारी से ग्रस्त होते जा रहे हैं, किन्तु अन्य बीमारियां भी उन्हें अक्रान्त कर रही हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

महावीर ने कहा 'अनशन करो, मत खाओ'। प्रश्न हुआ- कब तक न खायें? उन्होंने कहा- 'एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, जब तक मन स्वस्थ बना रहे, तब तक न खाओ। हो सके तो छः मास तक भी मत खाओ।' संभव है यह सबके लिए न हो सके। कोई-कोई आदमी इतने लम्बे समय तक खाए बिना जी सकता है फिर भी खाना तो पड़ेगा। तब महावीर ने कहा, कुछ ऐसा अभ्यास करो, जिससे यह अनुभव हो कि खाने पर भी पूरा नहीं खाया। ऊनोदरी का सिद्धान्त कम खाने का सिद्धान्त है। यही परिमित भोजन है। स्वयं द्वारा स्वयं की चिकित्सा है। एक आचार्य ने लिखा है—

'हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥'

जो हित, मित और अल्प मात्रा में भोजन करते हैं, उनकी चिकित्सा वैद्य नहीं करते, वे स्वयं अपने चिकित्सक हैं।

बीमारियां पैदा होने का बहुत बड़ा कारण है अहितकर और अपरिमित भोजन। जो हितकर और परिमित खाता है, उसे बीमारी क्यों सताएगी? कम खाना, कम वस्तुएं खाना और कम बार खाना - यह अल्पाहार का स्वरूप है? कम खाने का अर्थ है- भोजन के एक घंटा बाद भी पेट में भार महसूस न हो। अपने भोजन की मात्रा का निर्धारण व्यक्ति अपने अनुभवों के आधार पर स्वयं कर सकता है। एकसाथ बहुत वस्तुएं नहीं खानी चाहिए। भोजन का पाचक रस (पित्त-स्राव) सीमित होता है। उसमें जितने भोजन को पचाने की क्षमता होती है, उनसे अतिरिक्त वस्तुएं खाई जाती है, तब आहार स्वयं स्वास्थ्य को चुनौती देने लग जाता है। तीन बार से ज्यादा खाना, बहुत खाना है। भगवान् महावीर स्वयं अल्पाहार करते थे। इसलिए कहा गया है कि दूसरे व्यक्ति भी बीमार होने के बाद कम खाते थे। महावीर बीमार नहीं थे, फिर भी कम खाते थे। वे कम खाते थे, इसलिए बीमार नहीं होते। भोजन के प्रति आसक्ति उतनी तीव्र न हो जाय कि रस मनुष्य को पराजित कर दे, अभिभूत कर दे। इस दृष्टि से रस-परित्याग के सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

7.10 आहार और अनाहार

आहार का सिद्धान्त अनाहार के सिद्धान्त से जुड़ा रहे तभी आध्यात्मिक दृष्टि से भोजन का अर्थ समझ सकते हैं। आहार को हमने सर्वाधिक महत्त्व इसलिए दिया है कि वह हमारे जीवन की पहली आवश्यकता है। वह पहली आवश्यकता इसलिए है कि वह हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

7.11 हित, मित और सात्विक आहार

जो भोजन हित, मित और सात्विक होता है, वह आहार-शुद्धि है। जो आहार हितकारी होता है, परिमित होता है और सात्विक होता है, वही आहार शुद्ध होता है। यही आहारशुद्धि है।

हित क्या है, इसकी व्याख्या बहुत लम्बी है। हमारे शरीर के महत्त्वपूर्ण अंग हैं—मस्तिष्क, हृदय, लीवर, फेफड़े, तिल्ली और गुर्दे। इन्द्रियां- आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये भी मुख्य हैं। पूरा नाड़ी-संस्थान का भी अपना महत्त्व है। इनकी सबकी दृष्टि से एकसाथ हितकर की व्याख्या नहीं की जा सकती। मस्तिष्क के लिए कुछेक पदार्थ हितकर होते हैं। नाड़ी-संस्थान के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थ हितकर होते हैं। जो ज्ञानवाही नाड़ियों के लिए हितकर हैं वे क्रियावाही नाड़ियों के लिए हितकर नहीं भी होते। ह्रदय के लिए कोई एक पदार्थ हितकर होता है तो आंख के लिए कोई दूसरा ही पदार्थ हितकर होता है। बहुत विशाल ज्ञान करना होता है कि किस अवयव के लिए कौन-सा पदार्थ हितकर है?

कुछेक व्यक्ति एकांकी दृष्टि से 'हित' की बात को पकड़ लेते हैं। कई वैद्य कहते हैं—पिप्पल बहुत हितकर होती है। मंदाग्नि हो, पाचन की कमी हो तो पिप्पल का सेवन भी हितकर होता है। बात ठीक है। पर इसकी भी सीमा है। मंदाग्नि के समय पिप्पल का सेवन हितकर हो सकता है, परन्तु जब वह बीमारी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मिट गई और व्यक्ति प्रतिदिन उसका सेवन करता ही रहे तो पिप्पल भी दोष-संग्रहकारक हो जाएगी। हित की बात देश, काल और मात्रा के साथ जुड़ी हुई होती है। देश, काल और मात्रा की उपेक्षा कर हित की बात नहीं सोंची जा सकती।

हितकर या अहितकर की व्याख्या एकांगी दृष्टि से नहीं की जा सकती। अनेक दृष्टियों से उनकी व्याख्या करनी होती है। देश की दृष्टि से हितकर, काल की दृष्टि से हितकर, सार की दृष्टि से हितकर, अवस्था से हितकर। बच्चे के लिए प्रोटीन की आवश्यकता होती है। दूध की भी आवश्यकता होती है। पर कोई व्यक्ति बचपन पार कर युवा अवस्था मे चला जाता है और प्रोटीन का अत्यधिक सेवन करता है तो वह अनेक रोगों को निमन्त्रित करता है। अवस्था, काल तथा अन्यान्य स्थितियों को ध्यान में रखकर जब मात्रा सहित किसी पदार्थ का उपयोग करते हैं तो भोजन हितकर होता है। दूध अच्छा भोजन है। परन्तु उसको कब, कितनी मात्रा में लेने का सापेक्ष दृष्टिकोण नहीं होता है तो वह अच्छा भी बुरा बन जाता है। अमृत भी विष बन जाता है।

दूसरा प्रश्न है मित भोजन क्या है? हित के साथ मित जुड़ा हुआ है। यह मात्रा-बोध का सूचक है। कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा में लेनी चाहिए, इसका पूरा ज्ञान आवश्यक है। मुनि के लिए भोजन का एक दोष है- प्रमाणातिक्रांत। मुनि प्रमाण से अतिरिक्त भोजन करता है तो वह इस दोष से स्पृष्ट होता है। आयुर्वेद के अनुसार 'अधिक खाना' भोजन का एक दोष है। अधिक खाने वाला अनायास ही अनेक रोगों को निमंत्रित कर लेता है।

भोजन के दो प्रकार हैं—हल्का या लघु भोजन और गरिष्ठ भोजन। लघु भोजन वायु प्रधान होता है। उसमें अग्नि तत्त्व अधिक होता है, इसलिए वह सुपाच्य होता है। गरिष्ठ भोजन या भारी भोजन जल-प्रधान होता है। वह न वायु प्रधान होता है और न अग्नि तत्त्व प्रधान होता है इसलिए वह दुष्पाच्य होता है। अधिक खाने पर यह विकृतियां पैदा करता है। राजस्थान प्रान्त के कुछ लोग बहुत मिठाइयां खाते हैं। भोजन और मिठाई जैसे पर्यायवाची बन गये हैं। एक भी आतिथ्य नहीं जहां मिठाई का भोजन न हो। बिना मिठाई के निमंत्रण ही कैसे? वे अत्यधिक मिठाई खाते, दूध, दही-मक्खन खाते। सारी चीजें गरिष्ठ ही गरिष्ठ। परिणाम यह हुआ कि वे लोग जब तीस-चालीस के बीच वर्ष के होते तो बुढ़े जैसे लगने लग जाते। बुढ़ापे का अनुभव होने लग जाता। शक्तिहीनता के वे शिकार हो जाते। चालीस वर्ष के बाद किसी की मृत्यु होती तो माना जाता तो कोई बात नहीं, अवस्था-प्राप्त था। आज यह मान्यता बदल चुकी है। आज चालीस से साठ वर्ष तक का आदमी युवा माना जाता है। गरिष्ठ भोजन आदमी को बुढ़ा बना देता है। गरिष्ठ भोजन देखने में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होता है, पर उसमें अग्नि तत्त्व पर्याप्त मात्रा में नहीं होते, अतः वह पूरा पचता नहीं। अर्धपक्व भोजन विकृति पैदा करता है, और असमय में ही आदमी काल-कवलित हो जाता है।

भोजन-विज्ञान में मात्रा का विवेक बहुत जरूरी है। हल्का या लघु भोजन की मात्रा भी अधिक नहीं चाहिए। गरिष्ठ भोजन की मात्रा तो और भी कम होनी चाहिए। पर सामाजिक व्यवहार भी अजीब होता है। दस-बीस मित्र मिलते हैं। एक साथ भोजन करने बैठते हैं तो फिर मात्रा का विवेक रहता ही नहीं। कौर देने वाले का दौर चलता है और उदरकूप जो भर चुका है, उसको ठूंस-ठूंसकर भरा जाता है। जब आदमी गले तक भर जाता है तब खाने से हाथ खींचता है। यह इसीलिए चलता है कि आदमी को आहार की मात्रा का पूरा ज्ञान नहीं है। हम जाने-अनजाने इस प्रक्रिया से अपने प्रिय व्यक्ति के प्रति भी इतनी शत्रुता का व्यवहार कर देते हैं कि जितना शत्रु के साथ भी नहीं करते। शत्रु इतना अनिष्ट कर ही नहीं पाता, क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया को सन्देह की दृष्टि से ही देखा जाता है। परन्तु मित्र या प्रिय व्यक्ति की क्रिया में यह सन्देह नहीं होता, उसका सब कुछ अच्छा लगता है। वह एक ओर बीमारी को निमंत्रण देता है और दूसरी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ओर प्रियता की अनुभूति होती है। वह सोचता है, आज जैसा स्वागत पीछे कभी नहीं हुआ। बड़ा मजा आया। कितना स्वादिष्ट था भोजन? कितने प्रकार थे खाद्य सामग्री के! वह भूल जाता है कि भोजन के माध्यम से उसने अनेक बीमारियों को निमंत्रण दिया है। मात्रा-विवेक बहुत आवश्यक होता है।

तीसरी बात है कि भोजन सात्विक होना चाहिए। यह तथ्य गहरे अनुसन्धान के बाद प्रगट हुआ है। जो भोजन चित्तवृत्तियों में विकृति पैदा न करे, वह होता है सात्विक भोजन। जिस भोजन से शुक्ल लेश्या के विचार जागे, पद्म लेश्या के प्रकम्पन उठे, वह होता है सात्विक भोजन। जिस भोजन के खा लेने पर मन दूषित हो, बुरे विचार आयें, उत्तजना और वासना उभरे, क्रोध और लालच की भावना उग्र हो, हिंसा के भाव जगे, वह भोजन तामसिक या राजसिक होता है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को उभारने वाला भोजन सात्विक नहीं होता। वह होता है तामसिक। वह शरीर के नीचे के केन्द्रों को सक्रिय करता है। सात्विक भोजन शरीर के नाभि के ऊपर के केन्द्रों को जगाता है, सक्रिय करता है। इस भोजन से आनन्द-केन्द्र, विशुद्धि-केन्द्र, ज्ञान-केन्द्र, दर्शन-केन्द्र और ज्योति-केन्द्र सक्रिय होते हैं। भोजन के साथ शरीर का, चैतन्य-केन्द्र का, वृत्तियों का कितना गहरा सम्बन्ध है, इसे जानना आवश्यक है।

रूपान्तरण के लिए आहार-शुद्धि का अभ्यास आवश्यक है। हित आहार, मित आहार और सात्विक आहार के अभ्यास से रूपान्तरण घटित होने लगता है। जैसे-जैसे यह अभ्यास बढ़ता है, शरीर की विद्युत बदलती है, रसायन बदलते हैं, चैतन्य-केन्द्रों की सक्रियता बढ़ती है। जो केन्द्र सोने योग्य होते हैं, वे सो जाते हैं और जागने योग्य होते हैं, वे जाग जाते हैं। नीचे के केन्द्र सो जाते हैं और ऊपर के केन्द्र जाग जाते हैं। जिस दिन यह जागृति होती है, उस दिन नई दुनिया का अनुभव होता है, नये जीवन की अनुभूति होती है और तब आदमी इस स्वर में कह सकता है- जो सम्पदा आज तक नहीं मिली वह आज हस्तगत हो गई। जो जागृति आज तक नहीं आई, वह आज घटित हो गई।

7.12 मांसाहार-वर्जन

अहिंसा की दृष्टि से भोजन के विमर्श का दूसरा सूत्र है—हिंसा का अल्पीकरण। हमारा जीवन आहार से शुरू होता है। आहार होता है, तब दूसरी प्रवृत्तियां चलती हैं। जैसी प्रवृत्ति वैसा संस्कार; जितनी प्रवृत्ति उतना संस्कार; जैसा संस्कार, वैसा विचार; जैसा विचार वैसा व्यवहार। व्यवहार हमारी कसौटी है। भीतरी जगत् में कौन कैसा है, हम नहीं जान पाते। मनुष्य की जो प्रतिमा व्यवहार में बनती है उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है। अच्छा व्यवहार, अच्छे विचार, अच्छा संस्कार अच्छे आहार के बिना नहीं हो सकता। इसलिए हमारे धर्माचार्यो ने आहार-शुद्धि को प्राथमिकता दी है। हम अच्छाई का प्रारम्भ आहार-शुद्धि के व्रत से करें। हम न खाए, यह सबसे अच्छा है, पर यह संभव नहीं है। आहार हमारे जीवन की अनिवार्यता है। हम वह न खाएं जिसकी अनिवार्यता नहीं है। वनस्पति को आहार की अनिवार्यता के रूप में स्वीकृत किया गया है। इसके पीछे हिंसा का अल्पीकरण, स्वास्थ्य और सात्त्विक संस्कार एवं विचार का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। ये तीनों दृष्टिकोण मांसाहार का समर्थन नहीं करते। इसलिए इन दृष्टिकोणों से मांसाहार अनिवार्यता की कोटि में नहीं आता। आधुनिक शरीरशास्त्री, आहार-शास्त्री और स्वास्थ्य-शास्त्री भी अपने अन्वेषणों के आधार पर मांसाहार को शारीरिक और मानसिक, दोनों दृष्टियों से दोषपूर्ण बतलाते हैं। मांसाहार अप्राकृतिक उत्तेजना उत्पन्न करता है, सहनशीलता को कम करता है, धमनियों और शरीर के तंतुओं को नष्ट कर आयु को कम करता है।

क्रूरता, क्षणिक आवेश, अधैर्य—ये मांसाहार के सहज परिणाम हैं। आदमी मांस खाकर भी जीता है और अनाज खाकर भी जीता है। इन दोनों में हम चयन करें और सोंचे- मांस की अनिवार्यता है या अनाज की अनिवार्यता। हिंसा की संभावना मांस खाने में ज्यादा है या अनाज खाने में है? इस चयन का फलित होगा कि मांस खाना अनिवार्य नहीं है, अनाज खाना अनिवार्य है। क्योंकि शाकाहार का कोई विकल्प नहीं है जो मनुष्य को जीवित रख सके। मांसाहार का विकल्प है- शाकाहार। मांस को छोड़ने वाला शाकाहार के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बल पर जी सकता है। शाकाहारी माँस नहीं खाता, पर मांसाहारी अनाज और फल, साग-सब्जी खाते हैं। क्योंकि मांसाहार करने पर भी शाकाहार की अनिवार्यता का वे अतिक्रमण नहीं कर पाते। शाकाहार की न्यूनतम अपेक्षा है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। उसके बिना काम नहीं चल सकता। यह अनिवार्यता का सिद्धान्त है। अनाज और मांस दोनों की तुलना में मांस का भोजन मनुष्य को अधिक क्रूर बनाता है। मांस को प्राप्त करने में मनुष्य को जितना क्रूर बनना पड़ता है, उतना अनाज को प्राप्त करने में नहीं बनना पड़ता है। जो लोग मांसाहारी हैं, वे भी बुचड़खाने में नहीं जाते। जहां जीवों का वध होता है, पशु-पक्षी मारे जाते हैं, वहां नहीं जाते। यदि वे वहां चले जाएं तो संभव है उनके लिए भी मांस खाना मुश्किल हो जाए। अनाज खाने में भी हिंसा है, आन्तरिक क्रूरता की दृष्टि से मांस भोजन की कोटि में नहीं आता। अनिवार्यता और हिंसा का अल्पीकरण- इन दोनों दृष्टियों से मांस-भोजन स्वीकार्य नहीं हो सकता। जिन लोगों ने करुणा से आर्द्र होकर देखा उन सबने एक स्वर से कहा- मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह विकल्पों का चयन करता है। इसलिये उसे मांस नहीं खाना चाहिए। हिंसा की दृष्टि से भोजन का विमर्श करते समय हम केवल मांस को ही निषिद्ध नहीं मान सकते, किन्तु वे सब वस्तुएं निषिद्ध हैं, जिन्हें प्राप्त करने में हिंसा अधिक और आवश्यकता की पूर्ति कम होती है।

7.13 आहार और ब्रह्मचर्य

भोजन के विमर्श का चौथा दृष्टिकोण है—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचारी को कैसा भोजन करना चाहिए- यह दृष्टिकोण अहिंसा से भी आगे का दृष्टिकोण है। अहिंसक के लिए जो आहार विहित है, वह भी कभी और कहीं ब्रह्मचारी के लिए अविहित हो जाता है। उसके लिए संतुलित भोजन करने का विधान है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी संतुलित भोजन का विधान है। किन्तु इन दोनों का तात्पर्य एक नहीं है। ब्रह्मचारी को स्निग्ध और पुष्टिकारक भोजन लेना चाहिए किन्तु साथ-साथ रूखा भोजन भी लेना चाहिए। दोनों का संतुलन बनाए रखना चाहिए। यदि वह केवल रूखा भोजन लेता है तो उससे क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और बौद्धिक कार्य की क्षमता कम हो जाती है। यदि वह स्निग्ध, पोषक भोजन लेता है तो उससे वासना उत्तेजित होती है। इसलिए ब्रह्मचारी को दोनों में समझौता करके चलना चाहिए। वह स्निग्ध भोजन ले किन्तु इसके प्रति जागरूक रहे कि अतिरिक्त मात्रा में बढ़ा हुआ रक्त और मांस वासना की वृत्ति को न उभार पाए। वह रूक्ष भोजन भी ले किन्तु इसके प्रति जागरूक रहे कि वह उसकी आवेशवृत्ति को न उभार पाए। वह दोनों का इस प्रकार संतुलन रखे, जिससे बौद्धिक क्षमता भी न घटे और वासना भी उत्तेजित न हो। वह उच्छृंखल न बने। इस संतुलन में व्यक्ति के अपने विवेक और अपनी जागरूकता का ही अधिक उपयोग हो सकता है।

7.14 आहार और वृत्तियाँ

भोजन के विमर्श का पांचवा दृष्टिकोण है—आन्तरिक वृत्तियों का शोधन। भोजन का प्रभाव केवल शरीर के बाहरी तत्त्वों तक ही सीमित नहीं है, उसका प्रभाव हमारी आंतरिक वृत्तियों पर, शरीर के सूक्ष्म तत्त्वों पर और सूक्ष्म-शरीर पर भी होता है। इसलिए भोजन के विषय में हमें बहुत सावधान होना चाहिए। मादक वस्तुओं के निषेध का यह मुख्य आधार है। कुछ लोग मानते हैं कि सीमित मात्रा में मदिरा पीना हानिकारक नहीं है। वह पाचन को ठीक रखती है, शरीर को स्फूर्ति देती है। किन्तु मदिरा का निषेध शारीरिक दृष्टि से ही नहीं किया गया। उसके निषेध के पीछे दूसरी दृष्टियाँ भी हैं और मुख्य दृष्टियाँ दूसरी ही हैं। यह ठीक है कि अतिमात्रा में कोई भी चीज खायी जाती है तो उससे नुकसान होता है। मदिरा भी अतिमात्रा में ली जाएगी तो नुकसान होगा। किन्तु उसके निषेध के लिए अतिमात्रा का प्रश्न नहीं है। मूलभूत प्रश्न है हमारी चेतना सतत् जागरूक रहनी चाहिए, सतत् सावधान और अप्रमत्त रहनी चाहिए। मदिरा तथा सभी मादक वस्तुएं हमारी जागरूकता को खंडित करती हैं, चेतना को मूर्च्छित करती हैं, प्रमाद पैदा करती हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसलिए मदिरा का और सभी मादक वस्तुओं का निषेध किया गया। हमें अपने ज्ञान-तंतुओं को विकृत बनाने वाली और वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली किसी भी वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिए। मादक वस्तु के प्रयोग से मनुष्य बेभान हो जाता है और बेभान मनुष्य कैसा आचरण करता है, उसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। दुनिया के जितने नियम है, वे सब जागृत व्यक्ति के लिए हैं, मूर्च्छित बनाने वाली वस्तुएं हमारे लिए निषिद्ध हैं, यही मूलभूत आधार है मदिरा तथा अन्य मादक वस्तुओं के अप्रयोग का। मांसाहार भी हमारी अन्तर्वृत्तियों को उत्तेजित और विकृत करता है।

जिन पशुओं, पक्षियों और जलचर जीवों का मांस खाया जाता है, उनमें तामसिक वृत्तियां प्रबल होती हैं। मांस पशु के शरीर का अभिन्न भाग होता है, जिसके कण-कण में तामसिक वृत्तियाँ उभरती हैं। उस मांस को खाने वाला क्या पाशविकता के संस्कारों से बच पाएगा? कभी नहीं। मनुष्य में पाशविकता, अज्ञान, प्रमाद और क्रूरता के बढ़ने का बहुत बड़ा कारण है—मांसाहार। मांसाहार ने निश्चय ही मनुष्य को कुछ अंशों में पशु बनाया है। और उसमें पाशविक वृत्तियाँ पैदा की हैं, अन्यथा मनुष्य कुछ ऐसे आचरण नहीं करता जो पशु के लिए ही उचित हो सकते हैं, मनुष्य के लिए नहीं।

मांसाहार के निषेध की चर्चा पहले अहिंसा के दृष्टिकोण से ही थी, अब यह अन्तर्वृत्तियों के दृष्टिकोण से की जा रही है। सभी चाहते हैं कि हमारे समाज में अपराध की बाढ़ न आए, किन्तु अन्तर्वृत्तियों को परिष्कृत किए बिना अपराध की बाढ़ को रोका नहीं जा सकता। अन्तर्वृत्तियों को विकृत बनाने वाली वस्तुओं के प्रयोग को छोड़े बिना उन्हें परिष्कृत नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से मांसाहार का प्रश्न मनुष्य के लिए बहुत चिन्तनीय है। यह एक ऐसी समस्या है, जिसे दूसरी समस्याएं उपस्थित कर, मनुष्य अपनी दृष्टि से ओझल करना चाहता है, किन्तु वह दृष्टि से ओझल होकर भी अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहती और स्वयं समाहित नहीं होती।

मन शांत और पवित्र रहे, उत्तेजनाएं कम हों—यह अनिवार्य अपेक्षा है। इसके लिए आहार का विवेक होना जरूरी है। अपने स्वार्थ के लिए बिलखते हुए मूक प्राणी की निर्मम हत्या करना क्रूर कर्म है। मांसाहार इसका बहुत बड़ा निमित्त है। इसलिए अनिवार्यता, अन्तर्वृत्ति और करुणा- इन सब दृष्टियों से मांसाहार का वर्जन आहार-विवेक का महत्त्वपूर्ण अंग है। विश्व के हर कोने से वैज्ञानिक व डॉक्टर यह चेतावनी दे रहे हैं कि मांसाहार कैंसर आदि असाध्य रोगों का निमित्त बनकर आयु क्षीण करता है और शाकाहार अधिक पौष्टिकता व रोगों से लड़ने की क्षमता प्रदान करता है।

पशुओं के मारने से पूर्व उनके शरीर में पल रहे जीवों की उचित जांच नहीं की जाती और उनके शरीर में पल रहे रोग मांस खाने वाले के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं; फिर जिस त्रास व यन्त्रणापूर्ण वातावरण में इनकी हत्या की जाती है उस वातावरण से उत्पन्न हुआ तनाव, भय, छटपटाहट, क्रोध आदि पशुओं के मांस को जहरीला बना देता है। वह जहरीला एवं रोग-ग्रस्त मांस मांसाहारी के उदर में जाकर उसे असाध्य रोगों का शिकार बनाता है।

7.15 मनुष्य की प्राकृतिक शरीर-रचना शाकाहारी जीवों जैसी

इस सृष्टि में शाकाहारी व मांसाहारी जीवों की अनेकों जातियां हैं और बहुत छोटे से लेकर बड़े आकार तक के विभिन्न प्रकार के जीव हैं, किन्तु सभी शाकाहारी जीवों की शरीर रचना, हाथ, पांव, दांत, आतों आदि की बनावट व उनको देखने, सूंघने की शक्ति व खाने-पीने का ढंग मांसाहारी जीवों से भिन्न है। जैसे—

क्र.	शरीर का अंग	मांसाहारी	शाकाहारी
1.	दांत	नुकीले	चपटी दाढ़ वाले
2.	पंजे	तेज नाखुन वाले	नाखुन तेज नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.	जबड़े की गति	केवल ऊपर नीचे हिलते हैं	ऊपर, नीचे, दाएं-बाएं, सब ओर हिलते हैं
4.	चबाने की क्रिया	बगैर चबाए भोजन निगलते हैं	भोजन चबाने के बाद निगलते हैं
5.	जीभ	खुरदरी (rough)	चिकनी (smooth)
6.	पानी पीने की क्रिया	जीभ बाहर निकाल कर	जीभ बिना बाहर निकाले, होठों से
7.	आंतें	लंबाई कम, शरीर की लम्बाई के बराबर; धड़ की लंबाई से 6 गुनी; आंतें छोटी होने के कारण वे मांस के सड़ने व विषाक्त होने से पहले ही उसे बाहर फेंक देती हैं	लंबाई अधिक; शरीर की लंबाई से 4 गुनी; धड़ की लंबाई से 12 गुनी; इसके कारण मांस को जल्दी बाहर नहीं फेंक पाती
8.	लीवर, गुर्दे	अनुपात में बड़े; ताकि मांस का व्यर्थ मादा आसानी से बाहर निकाल सके	अनुपात में छोटे, ताकि मांस का व्यर्थ मादा आसानी से बाहर नही निकाल सकते
9.	पाचक अंग में हाइड्रोक्लोराइड एसिड	मनुष्य की अपेक्षा दस गुना अधिक, जिससे मांस आसानी से पच सकता है	कम, मांस को आसानी से नहीं पचा सकता
10.	लार (सलाइवा)	अम्लीय (acidic)	क्षारीय (alkaline) लार में टायलिन ptyaline
11.	ब्लड-पीएच.	कम; झुकाव अम्लीय की ओर	अधिक; झुकाव क्षारीय की ओर
12.	सूंघने की शक्ति	अत्यन्त तीव्र	उतनी तीव्र नहीं
13.	आखें	रात में चमकती है; रात में भी देख सकती हैं	रात में देख नहीं सकती
14.	शब्द	कर्कश	कर्कश नहीं
15.	बच्चे	जन्म के बाद एक सप्ताह तक दृष्टि शून्य	जन्म से ही दृष्टि वाले

1. जौन्स हौपकीन्स यूनिवर्सिटी के डॉ. एलन वाकर ने दांतों के माइक्रोस्कोपिक एनेलिसिस से यह पता लगाया है कि मनुष्य फल खाने वाले प्राणियों का वंशज है न कि मांस खाने वालों का।

उपर्युक्त तथ्यों से यह पता चलता है कि प्रकृति ने मनुष्य की बनावट गाय, घोड़ा, ऊंट, जिराफ, सांड आदि शाकाहारी पशुओं के समान ही की है, उसे शाकाहारी पदार्थों को ही सुगमता व सरलता से प्राप्त कर सकने व पचाने की क्षमता दी है। मनुष्य के अलावा संसार का कोई भी जीव प्रकृति द्वारा प्रदान की हुई शरीर-रचना व स्वभाव के विपरीत आचरण नहीं करता। शेर भूखा होने पर भी शाकाहारी पदार्थ नहीं खाता और गाय भूखी होने पर भी मांसाहार नहीं करती क्योंकि वह उनका स्वाभाविक व प्रकृति के अनुकूल आहार नहीं है। मांसाहारी पशु अपनी पूरी उम्र मांसाहार कर व्यतीत करते हैं; उनके लिये यही पूर्ण आहार है किन्तु कोई भी मनुष्य केवल मांसाहार पर दो-तीन सप्ताह से अधिक जीवित नहीं रह सकता। केवल मांस का आहार इतने अधिक तेजाब व विष (Acid and Toxins) उत्पन्न कर देगा कि उसके शरीर की संचालन-क्रिया ही बिगड़ जाएगी। जो मनुष्य प्रकृति विपरीत मांसाहार करते हैं उन्हें भी कुछ-न-कुछ शाकाहारी पदार्थ लेने ही पड़ते हैं क्योंकि मनुष्य के लिए मांसाहार अपूर्ण व आयु क्षीण करने वाला आहार है। ऐसकीमों जो परिस्थितिवश प्रायः मांसाहार पर ही रहते हैं उनकी औसत आयु सिर्फ 30 वर्ष ही है। जबकि केवल शाकाहार पर मनुष्य पूरी व लम्बी उम्र सरलता से जी सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त सभी तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि प्रकृति ने मनुष्य की रचना शाकाहारी और केवल शाकाहारी भोजन के अनुकूल ही की है।

7.16 मांसाहार रोगों का जन्मदाता

मांसाहार पर भगवान् महावीर ने बहुत तीव्रता से प्रहार किया है। जैन धर्म ने तो मांसाहार को हिंसा की दृष्टि से तथा भाव एवं लेश्या की मलिनता की दृष्टि से हेय माना ही है, पर विश्व के अन्य धर्म-शास्त्रों व महापुरूषों ने हर प्राणी मात्र में उस परम पिता परमात्मा की झलक देखने को कहा है व अहिंसा को परम धर्म माना है। अधिकांश धर्मो ने तो विस्तार पूर्वक मांसाहार के दोष बताए हैं और उसे आयु क्षीण करने वाला व पतन की ओर ले जाने वाला कहा है। किसी भी निरीह प्राणी की हत्या का निषेध तो सभी धर्मो ने किया है। अपने स्वाद व इन्द्रिय-सुख को ही जीवन का परम ध्येय समझने वाले कुछ लोग अपने स्वार्थवश यह प्रकट करते हैं कि उनके धर्म में मांसाहार का निषेध नहीं है, किन्तु यह असत्य है।[1] शरीर और मन की दृष्टि से भी मांसाहार पर आज बहुत विचार हो चुका है। वैज्ञानिक खोजों से यह प्रमाणित हो चुका है कि मांसाहार शरीर की दृष्टि से अनेक प्रकार से हानिप्रद है। शाकाहार में तंतुमय पदार्थ अधिक होते हैं। उनसे पेट को साफ रखने में मदद मिलती है। शरीर के विषाक्त पदार्थ उनके सहारे बाहर निकल आते हैं। जब भी आहार में तंतुमय पदार्थो की कमी होती है, बड़ी आंत का कैंसर तथा दूसरी बीमारियाँ होने की शक्यता है।

मांसाहार हमारे लिए कितना घातक व असाध्य रोगों को निमंत्रण देने वाला है इस पर ठोस निष्कर्ष बड़े-बड़े डॉक्टरों, वैज्ञानिकों आदि ने निकाले हैं।

स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क, बफैलो में की गई शोध से यह प्रकाश में आया कि अमेरिका में 47,000 से भी अधिक बच्चे हर वर्ष ऐसे जन्म लेते हैं जिन्हें माता-पिता के मांसाहारी होने के कारण कई बीमारियाँ जन्म से ही लगी होती है और ये बच्चे बड़े होने पर भी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो पाते।[2]

7.17 मांसाहारः हृदय रोग व उच्च्व रक्तचाप

रक्त-वाहिनियों की भीतरी दीवारों पर कोलेस्टेरोल की तहों का जमना इसका मुख्य कारण है। 1985 के नोबेल पुरस्कार विजेता अमरीकी डॉ. माइकल एस. ब्राउन व डॉ. एल. गोल्डस्टीन ने यह प्रमाणित किया है कि हृदय-रोग से बचाव के लिए कोलेस्टेरोल नामक तत्त्व को जमने से रोकना अति आवश्यक है, यह तत्त्व वनस्पति में नहीं के बराबर होता है। अण्डों में सबसे अधिक व मांस, अण्डों व जानवरों से प्राप्त वसा में काफी मात्रा में होता है। 100 ग्राम अण्डा प्रतिदिन लेने का अर्थ जरूरत से ढाई गुना अधिक कोलेस्टेरोल लेना है। जो व्यक्ति मांस या अण्डे खाते हैं उनके शरीर में 'रिस्पटरों' की संख्या में कमी हो जाती है जिससे रक्त के अन्दर कोलेस्टेरोल की मात्रा अधिक हो जाती है। इससे हृदय-रोग, गुर्दे के रोग एवं पथरी जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है। इससे आंतों, स्तनों तथा गर्भाशय के रोग होने की संभावना अधिक रहती है।

ब्रिटेन के डॉ.एम. रॉक ने एक सर्वेक्षण अभियान के बाद यह प्रतिपादित किया कि "शाकाहारियों में संक्रामक और घातक बीमारियां मांसाहारियों की अपेक्षा कम पाई जाती हैं। वे मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, छरहरे बदन, शांत प्रकृति और चिन्तनशील होते हैं।"

बी.बी.सी. के टेलीविजन विभाग द्वारा शाकाहार पर एक साप्ताहिक कार्यक्रम द्वारा मांसाहारियों को स्पष्ट चेतावनी दी जाती रही है कि इससे आपको घातक बीमारियों का सामना करना पड़ सकता है।

---

[1] विस्तार के लिए देखें-गोपीनाथ अग्रवाल, शाकाहार या मांसाहार पृष्ठ 25-28

[2] अहिंसा संदेश, जून 89, रांची

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पश्चिमी देशों में जहां मांसाहार का प्रचलन अधिक है वहां दिल का दौरा, कैंसर, ब्लड-प्रेशर, मोटापा, गुर्दे के रोग, कब्ज, संक्रामक रोग, पथरी, जिगर की बीमारी आदि घातक बीमारियां अधिक होती हैं जबकि भारत, जापान व दक्षिण अफ्रीका में जहां मांसाहार का प्रचलन कुछ कम है, कम होती हैं।[1]

मांसाहार से कैंसर

सभी प्राणियों के शरीर में विषैले पदार्थ तैयार होते हैं। वे केवल मल-मूत्र द्वारा ही शरीर से बाहर निकल सकते हैं। जब कोई जानवर मारा जाता है और उसके मांस में से ऐसे पदार्थ रह जायें तो उनके बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं रह जाता। हृदय की क्रिया बंद होने के बाद शरीर के सारे अवयव पूर्णरूप से निष्क्रिय हो जाते हैं। अतः मृत जानवरों के मांस में विषैले पदार्थ भारी मात्रा में जमा रह जाते हैं। जो व्यक्ति उसे खाता है, सहज ही वह सारा विषैला तत्त्व उसके शरीर में पहुंच जाता है।

जिन जानवरों को मारा जाता है उन्हें हार्मोन्स, एन्टीबॉडीज और इसी प्रकार की अन्य औषधियां तथा जन्तुनाशक दवाइयां निश्चय रूप से दी जाती हैं। जो व्यक्ति मांसाहार करता है उसके शरीर में ये जहरीले पदार्थ जमा हो जाते हैं। गायों आदि जानवरों को मोटा-ताजा बनाने के लिए भी बी.इ.एस. नाम की दवाई दी जाती है। इससे उनके मांस को खाने से कैंसर की संभावना बताई गयी है। जिन स्त्रियों को आज से पचीस वर्ष पूर्व बी.इ.एस. की औषधि दी गयी थी उनमें तथा उनकी पुत्रियों तक में कैंसर का प्रमाण अधिक पाया गया है। मांसाहारियों में कैंसर का बढ़ना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। एक सर्वेक्षण से पता चला है कि 'मांसाहार करने वाले 25 देशों में से 19 देशों की मृत्यु-संख्या दर बहुत ऊंची है। 5 देशों की मृत्यु-दर नीची है।'

उन देशों में जहां लोग शाकाहार करते हैं वहां कैंसर बहुत कम पाया जाता है। 1975 में बम्बई में कैंसर के पाने वालों की संख्या दस हजार में एक थी जबकि इंग्लैण्ड में 5.5 प्रतिशत थी। इजिप्त में काले रंगवाली शाकाहारी जातियों में कैंसर नहीं के बराबर है जबकि मांसाहार जाति में अंग्रेजों जितनी ही है। कोप्ट मठ में जहां लोग चाय कॉफी तथा मांसाहार नहीं करते हैं, पिछले 27 वर्षो में कैंसर की एक घटना भी नहीं हुई।

अमेरिकन सिनेटरों की समिति ने 'आहार-विषयक अमेरिका का ध्येय' विषय पर अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए यही कहा है—मांसाहार से हृदय विकार तथा कैंसर की संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आस्ट्रेलिया, जहां सर्वाधिक मांस भोजन खाया जाता है और जहां प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष 130 किलो गोमाँस (Beaf) की खपत है वहां (Bowel) आतों का कैंसर सबसे अधिक है। क्तण।दकतमू ळवसक ने अपनी पुस्तक 'Diabetes: Its Causes and Treatment' में शाकाहारी भोजन की सलाह दी है।[1]

आंतों का अल्सर, अपैन्डिसाइटिस, आंतों और मलद्वार का कैंसर (Ulcreative colitis, Appendicitis, Cartinema of colon and rectum) ये रोग शाकाहारियों की अपेक्षा मांसाहारियों में अधिक पाए जाते हैं।[2]

मांसाहार व अन्य बीमारियाँ

मांसाहारी लोगों का पेशाब प्रायः तेजाबयुक्त होता है। इस कारण शरीर में से रक्त का पेशाब और क्षार का अनुपात ठीक रखने के लिए हड्डियों में से क्षार के नमक खून में मिलते रहते है। इसके विपरीत शाकाहारियों का पेशाब क्षार वाला होता है। इसलिए उनकी हड्डियों का क्षार खून में नहीं आता और

---

[1] कल्याण, गोरखपुर, पृष्ठ 571 व हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, 1.10.86 Human onchogene: Work done by Prof. R.A. Weinberg from Massachutts Hospital U.S.A. and others.

[1] Role of Vegetarian Diet in Health and Disease, Bombay.

[2] Medical Basis of Vegetarian Nutrition, New Delhi.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हड्डियां मजबूत रहती है। डॉ. ए. वॉचमैन और डॉ. डी.एस. बर्नसीन ने हार्वर्ड मेडिकल स्कूल रिपोर्ट, 1969, पृ.458 में लिखा है। मांसाहार जिन असाध्य रोगों को जन्म देता है, उनमें से कुछ इस प्रकार है [3]—

1. मिर्गी (Epilepsy) इन्फेक्टेड मांस से होने की संभावना है।
2. गुर्दे की बीमारियां (Kidney Diseases) - मांसाहार अधिक प्रोटीनयुक्त होने से गुर्दे खराब करता है।
3. संधिवात, गठिया आदि (Rheumatoid artheritis, gout etc.) - मांसाहार खून में यूरिक एसिड की मात्रा बढ़ाता है। इससे ये बीमारियां हो सकती है।
4. एथेरोस्केलेरोसिस—रक्त-धमनियों का मोटा होना। यह बीमारी मांसाहार में विद्यमान पोलीसेचुरेटेड फेट्स, कोलेस्टेरोल आदि से होती है।
5. आंतों का सड़ना—अण्डा, मांस आदि खाने से पेचिस, मंदाग्नि आदि बीमारियां घर कर जाती है, आमाशय कमजोर होता है व आंते सड़ जाती हैं।
6. विषावरोधी शक्ति का क्षय—मांस, अण्डा खाने से शरीर की विषावरोधी शक्ति नष्ट होती है और शरीर साधारण-सी बीमारी का भी मुकाबला नहीं कर पाता, बुद्धि व स्मरण शक्ति कमजोर पड़ती है। विकास मंद हो जाता है। कुछ अमेरिकी व इंग्लैंड के डॉक्टरों ने तो अण्डे को मनुष्य के लिए जहर कहा है।
7. त्वचा के रोग, एग्जीमा, मुहांसे आदि—त्वचा की रक्षा के लिए विटामिन ए का सर्वाधिक महत्त्व है जो गाजर, हरी सब्जियों आदि में ही बहुतायत में होता है। यह शाकाहारी पदार्थ जहां त्वचा की रक्षा करते हैं वहीं मांस, अण्डे, शराब इत्यादि त्वचा-रोगों को बढ़ावा देते हैं। त्वचा में जलन महसूस होने वाले रोग के अधिकांश रोगी मांसाहारी ही पाए गए।

अन्य रोगों जैसे माइग्रेन, इन्फैक्शन से होने वाले रोग, स्त्रियों के मासिक धर्म सम्बन्धी रोग आदि भी मांसाहारियों में ही अधिक पाये जाते हैं।

सारांश में जहां शाकाहारी भोजन प्रायः प्रत्येक रोग को रोकता है वहीं मांसाहारी भोजन प्रत्येक रोग को बढ़ावा देता है। शाकाहारी भोजन आयु बढ़ाता है तो मांसाहारी भोजन आयु घटाता है।

7.18 मांसाहार पर महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य

1. ग्वालियर के दो शोधकर्ताओं डॉ. जसराज सिंह और श्री सी.के. डवास ने ग्वालियर जेल के 400 बन्दियों पर शोध कर यह बताया कि 250 मांसाहारी बन्दियों में से 85 प्रतिशत चिड़चिडे स्वभाव के व झगड़ालू टाइप के निकले जबकि बाकी 150 शाकाहारी बन्दियों में से 90 प्रतिशत शांत स्वभाव के और खुशमिजाज थे।
2. अमेरिकी विशेषज्ञ डॉ. विलियम, सी. राबर्टस का कहना है कि अमेरिका में मांसाहारी लोगों में दिल के मरीज ज्यादा हैं। उनके मुकाबले शाकाहारी लोगों में दिल के मरीज कम होते हैं।[4]
3. एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार एक कीड़ा जिसे अंग्रेजी में ब्रेन बग (Brain Bug) कहते हैं। ऐसा होता है जिसके काटने से पशु पागल हो जाता है किन्तु पागलपन का यह रोग पूरी तरह विकसित होने में 10 वर्ष तक का समय लग जाता है। इस बीच यदि कोई इस कीड़े द्वारा काटे हुए पशु का मांस खा लेता है तो उस पशु में पलने वाले यह रोग मांस खाने वाले के शरीर में प्रवेश कर जाता है।[1ए]

   यह तो सर्वविदित है कि हत्या से पहले पशु, पक्षी, मछलियों आदि के स्वास्थ्य की पूरी जांच नहीं की जाती और उनके शरीर में छुपी हुई बीमारियों का पता नहीं लगाया जाता। अण्डे, पशु, मछलियां भी

---

[3] Medical Basis of Vegetarian Nutrition, New Delhi; डॉ. नेमीचन्द जैन, अण्डा जहर ही जहर, इन्दौर

[4] अहिंसा सन्देश, जून 89, रांची

[1.] अहिंसा सन्देश, जून 89, रांची

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कैंसर ट्यूमर आदि अनेक रोगों से ग्रस्त होते हैं और उनके मांस के सेवन से वे रोग मनुष्य में प्रवेश कर जाते हैं।

4. अकेले अमेरिका में 40,000 से अधिक केस प्रतिवर्ष ऐसे आते हैं जो रोग-ग्रस्त अण्डे व मांस खाने से होते हैं।[2]
5. हैल्थ एजूकेशन काउंसिल के अनुसार विषाक्त भोजन (Food Poisoning) से होने वाली 90 प्रतिशत मौतों का कारण मांसाहार है।[3]
6. जब पशु बूचड़खाने में कसाई के द्वारा अपनी मौत को पास आते देखता है तो वह डर, दहशत से कांप उठता है। मृत्यु को समीप भांपकर वह एक-दो दिन पहले से ही खाना-पीना छोड़ देता है। डर व घबराहट में उसका कुछ मल बाहर निकल जाता है। मांस में रक्त, वीर्य, मूत्र, मल आदि अन्य कितनी ही चीजों का अंश होता है। मौत से पूर्व निःसहाय पशु आत्मरक्षा के लिये पुरुषार्थ करता है, छटपटाता है। पुरुषार्थ बेकार होने पर उसका डर, आवेश बढ़ जाता है, गुस्से से आंखें लाल हो जाती है मुंह में झाग आ जाते हैं। ऐसी अवस्था में उसके अन्दर रक्त-चाप को बढ़ा देता है व उसके मांस को जहरीला बना देता है। जब मनुष्य वह मांस खाता है तो उसमें भी एड्रीनालिन प्रवेश कर उसे घातक रोगों की ओर धकेल देता है। एड्रीनालिन के साथ जब क्लोरिनेटेड हाइड्रोकार्बन लिया जाता है तब तो यह हार्ट-अटेक का गंभीरतम खतरा उत्पन्न कर देता है।[4]
7. मछली, अण्डे आदि को (प्रिजर्व करने) ठीक रखने के लिए एक एसिड व विभिन्न बोरेट्स का प्रयोग होता है, ये कम्पाउण्ड Cerebral Tissues में एकत्र होकर गंभीर खतरा उत्पन्न कर देते हैं। बूचड़खानों से प्राप्त मांस कितना हानिकारक, दूषित, गंदा व रोग-ग्रस्त होता है इसका अनुमान इससे ही लगा सकते हैं कि यूरोप के अत्याधुनिक, नवीन उपकरणों व नई टैक्नीक द्वारा संचालित बूचड़खानों को भी स्वास्थ्य की दृष्टि से आदर्श नहीं कहा जाता तब भारत के बूचड़खानों के मांस की तो बात ही क्या।
8. अमेरिका के डॉ. ई.बी. एमारी तथा इंग्लैंड के डॉ. इन्हान ने अपनी विश्व विख्यात पुस्तकों 'पोषण का नवीनतम ज्ञान' और 'रोगियों की प्रकृति' में साफ-साफ माना है कि अण्डा मनुष्य के लिए जहर है।
9. इंग्लैंड के डॉ.आर.जे. विलियम का निष्कर्ष है—संभव है अण्डा खाने वाला शुरू में अधिक चुस्ती अनुभव करे किन्तु बाद में उन्हें हृदय रोग, एग्जिमा, लकवा जैसे भयानक रोगों का शिकार हो जाना पड़ता है।

7.19 शाकाहार अधिक पौष्टिक व गुणकारी

शाकाहारी भोजन से उचित मात्रा में प्रोटीन अथवा शक्तिवर्द्धक उचित आहार प्राप्त नहीं होता। यह मात्र भ्रांति है। आधुनिक शोधकर्ताओं व वैज्ञानिकों की खोजों से यह साफ पता लगता है कि शाकाहारी भोजन से न केवल उच्च कोटि के प्रोटीन प्राप्त होते हैं। सोयाबीन व मूंगफली में मांस व अण्डे से अधिक प्रोटीन होता है। सामान्य दालों में भी प्रोटीन की मात्रा कम नहीं होती। गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि के साथ यदि उचित मात्रा में दालें एवं हरी सब्जियों का सेवन किया जाए तो न केवल प्रोटीन की आवश्यकता पूर्ण होती है अपितु अधिक संतुलित आहार प्राप्त होता है, जो शाकाहारी व्यक्ति को मांसाहारी की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, सबल व दीर्घायु प्रदान करता है।

अनेक शोधकर्ताओं ने यह पता लगाया है कि शाकाहारी अधिक शक्तिशाली, परिश्रमी, अधिक वजन उठा सकने वाले, शांत स्वभाव के व खुशमिजाज होते हैं। जापान में किए गए अध्ययनों से यह पता चला

---

[2] अहिंसा सन्देश, जून 89, रांची

[3] Food for a Future, Published by Akhil Bhartiya Hinsa Nivaran Sangh, Ahmedabad.

[4] Hindustan Times, New Delhi] 1.10.86.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है कि शाकाहारी न केवल स्वस्थ व निरोग रहते हैं अपितु दीर्घजीवी भी होते हैं व उनकी बुद्धि भी अपेक्षाकृत तेज होती है।

अतः यह कहना कि मांसाहार शाकाहार की तुलना में अधिक शक्तिवर्धक है, एक गलत धारणा है। नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ न्यूट्रीशन, हैदराबाद द्वारा प्रकाशित पत्र (Nutritive Value of Indian Foods) में विभिन्न खाद्य-पदार्थों की जो तुलनात्मक तालिका दी गई है, उससे यह स्पष्ट होता है कि शाकाहारी पदार्थों में प्रोटीन व अन्य स्वास्थ्यवर्धक तत्त्वों की कमी नहीं है।

उक्त तालिका से यह भी पता चलता है कि मांसाहारी पदार्थों में (Fibre) फाइबर (दालों, अनाज आदि का ऊपरी भाग) की मात्रा बिल्कुल नहीं है और यह निश्चित हो चुका है कि फाइबर रोगों को रोकने में अत्यधिक महत्त्व रखता है। हमारे स्वास्थ्य के लिए विटामिन्स भी अत्यावश्यक है। इन विटामिन्स के स्रोत भी शाकाहारी पदार्थ ही हैं।[1]

शाकाहारी भोजन के गुणों को जानकर अब पाश्चात्य देशों में शाकाहार आंदोलन तेज हो रहा है।[2] ब्रिटेन के दस लाख से अधिक लोग अब पूर्णतः शाकाहारी हैं और इस संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है।

आर्थिक दृष्टि

आर्थिक दृष्टि से भी शाकाहार की अपेक्षा मांसाहार ज्यादा महंगा होता है। एक बकरा 7 पौंड अनाज खाता है, तब एक पौंड माल तैयार होता है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अण्डों से बहुत कम खर्च में प्रोटीन व पौष्टिकता प्राप्त होती है लेकिन यह एक मिथ्या प्रचार है। विभिन्न पदार्थों में प्रोटीन की प्रतिशत की जो तालिका है उसके अनुसार एक ग्राम प्रोटीन की कीमत इस प्रकार है।[3]

पदार्थ	**1 ग्राम प्रोटीन की कीमत**
अण्डे से	14 पैसे
गेहूं से	04 पैसे
दालों से	03 पैसे
सोयाबीन से	02 पैसे

यदि ऊर्जा (कैलोरीज) की दृष्टि से देखें तो 100 कैलोरीज पर व्यय इस प्रकार आता है :-

पदार्थ	**100 कैलोरीज पर व्यय**
अण्डे से	90 पैसे
गेहूं से	09 पैसे
दालों से	08 पैसे
सोयाबीन से	05 पैसे

अतः यह स्पष्ट है कि अण्डों की अपेक्षा दालों व अनाज से बहुत कम खर्च में प्रोटीन प्राप्त होती है, इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण पदार्थ विटामिन्स, खनिज, फाइवर, कार्बोहाइड्रेट इत्यादि अलग प्राप्त होते हैं जो मांसाहारी पदार्थों में प्रायः नहीं के बराबर हैं।

आर्थिक दृष्टि से यह भी सारांश निकाला गया है कि मांस द्वारा एक किलोग्राम प्रोटीन प्राप्त करने के लिए पशु को 7 से 8 किलोग्राम तक प्रोटीन खिलाना पड़ता है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि 1

[1] Medical Basis of Vegetarian Nutrition, published by Kishore Charitable Trust, Delhi.
[2] अहिंसा सन्देश, जून 89, पो.बा. नं. 85, रांची
[3] डॉ. नेमीचंद जैन, अंडा जहर ही जहर, इन्दौर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पशु-मांस-कैलोरी प्राप्त करने के लिए 7 वनस्पति-कैलोरी खर्च होती है। अमेरिका के कृषि विभाग ने जो आंकड़े बनाए हैं उससे पता लगता है कि जितनी भूमि एक औसत पशु को चराने के लिए चाहिए उतनी से औसत दर्जे के पांच परिवारों का काम चल सकता है।

एक अमरीकी औसत करीब 120 किलो मांस प्रतिवर्ष खाता है; इसे प्राप्त करने के लिए करीब एक टन अनाज खर्च होता है। यदि वह सीधा 120 किलो अनाज खाए तो वर्ष भर आठ व्यक्तियों का कार्य चल सकता है। प्रोफेसर जार्ज बौर्गस्टौर्म के अनुमान के अनुसार केवल अमेरिका में पशु-जगत् जितनी वनस्पति-फूड खर्च करता है, उतनी में विश्व की आधी आबादी पेट भर सकती है।

गाय, बैल आदि पशुओं के गोबर से खाद, गैस ऊर्जा आदि की जो अतिरिक्त प्राप्ति होती है उन सबका यदि हिसाब लगाया जाए तो यह प्रकट होता है कि ऐसे पशुओं का वधकर हम उतना ही लाभ प्राप्त करते हैं जितना कोई चाय बनाने के लिए नोट जलाकर लाभ प्राप्त करे। नित्य एक सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी का पेट काटना समझदारी कभी नहीं है।

बोम्बे ह्यूमैनिटेरियन लीग के आनरेरी सेक्रेटरी दशरथ भाई ठक्कर के अनुसार पशु-जगत् हमारी राष्ट्रीय सम्पदा में प्रतिवर्ष 25,500 करोड़ रुपये दूध, खाद, ऊर्जा व भार उठाने की सेवा से अपना पसीना बहाकर हमारे राष्ट्र को देते हैं, इसके अतिरिक्त इनके मरने के उपरांत, इनका चमड़ा व हड्डियां अलग उपयोग में आती हैं। हमें तो इन पशुओं का कृतज्ञ होना चाहिए जो हमें इतनी सम्पदा देते हैं व हमारी सेवा करते हैं। यदि हम इनके उपकार का बदला इन्हें बूचड़खाने भेज कर चुकाएं तो यह हमारी कृतघ्नता ही है।

पशुओं का वध रोकने से उपर्युक्त प्रत्यक्ष लाभ के अतिरिक्त जो अप्रत्यक्ष लाभ हैं वे भी कम नहीं है। सस्ती खाद मिलने पर अनाज सस्ता होने से गरीब को भी भरपेट भोजन मिलेगा, जिससे कुपोषण से होने वाले रोग घटेंगे व उनकी दवाइयों पर होने वाला खर्च बचेगा। अनाज सस्ता होने से महंगाई सूचकांक गिरेगा, मंहगाई भत्तों की बचत होगी। मजदूर आंदोलन, हड़तालें आदि कम होंगी जिससे उत्पादन बढ़ेगा व कीमतें कम होंगी। उत्पादन बढ़ने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और राष्ट्र को विदेशी कर्जों के लिए हाथ नहीं फैलाना पड़ेगा। अतः पशु-वध रोकना केवल एक धार्मिक, नैतिक या दया की बात ही नहीं है बल्कि राष्ट्र की आर्थिक व स्वास्थ्य-रक्षा की परम आवश्यकता भी है।

7.20 आहार और आदत-परिवर्तन

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त आदत को बदलने के लिए भी आहारशुद्धि करनी होती है। जिस व्यक्ति ने आहार-शुद्धि नहीं की, वह कभी अपनी आदत को नहीं बदल सकता। गहरा सम्बन्ध है आहार का और आदतों का। आदतें बनती हैं चैतन्य-केन्द्रों के द्वारा। हमारे मस्तिष्क में अनेक बिन्दु हैं, केन्द्र हैं। वे हमारी प्रवृत्तियों का संचालन करते हैं। आदमी नींद लेता है। नींद का नियामक केन्द्र है मस्तिष्क में। आदमी हंसता है, रोता है, चिन्तन करता है इन सबके अलग-अलग केन्द्र हैं। स्मृति का केन्द्र है, कल्पना का केन्द्र है मस्तिष्क में। जो केन्द्र सक्रिय हो जाता है, जाग जाता है, आदमी वैसा ही बन जाता है। सारे जीवन का संचालन इन मस्तिष्कीय केन्द्रों के द्वारा होता है। ये सारे केन्द्र विद्युतीय आवेशों के द्वारा और रसायनों के द्वारा जागते हैं। मस्तिष्क के अपने रसायन हैं। जैसे शरीर को भोजन की अपेक्षा होती है वैसे ही मस्तिष्क को भी भोजन की अपेक्षा होती है। शरीर को टॉनिक चाहिए तो मस्तिष्क को भी टॉनिक चाहिए। आज के वैज्ञानिक मस्तिष्क के टॉनिकों की खोज में लगे हुए हैं। प्राचीन काल में अतीन्द्रिय-ज्ञानियों ने भी इस विषय में अनेक खोजें की थी। आयुर्वेद के ग्रन्थ इन खोजों से भरे पड़े हैं। इन ग्रन्थों में मस्तिष्कीय टॉनिक और नाड़ी-संस्थान को बल-अबल देने वाले पदार्थों के विषय में बहुत लम्बी चर्चा उपलब्ध होती है। मस्तिष्क का गहरा सम्बन्ध है विद्युत के आवेशों से और रसायन से। रसायन बनते हैं आहार से। इस प्रकार आहार का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सम्बन्ध जुड़ गया। जैसा आहार वैसा रसायन, जैसा रसायन वैसी मस्तिष्कीय क्रिया और जैसी मस्तिष्कीय क्रिया वैसा हमारा आचार-व्यवहार, विचार और आदतें। यह एक पूरा चक्र है।

आहार को समझे बिना आदतों को नहीं बदल सकते। आहार-शुद्धि किए बिना स्वभाव का परिवर्तन नहीं हो सकता। आदमी दूसरे-दूसरे कितने ही परिवर्तन करे, स्वभाव नहीं बदलेगा जब तक कि वह अपने आहार के क्रम को नहीं बदल देता। दोनों का गहरा सम्बन्ध है। सबसे पहले हमारा ध्यान आहार पर केन्द्रित होना चाहिए। आहार का अर्थ बहुत व्यापक है। केवल मुंह से खाना ही आहार नहीं है। हम जो कुछ बाहर से ग्रहण करते हैं वह सारा आहार है। नथूनों से जो श्वास लेते हैं वह भी आहार है। बोलने के लिए बाह्य वातावरण से भाषा योग्य परमाणु लेते हैं, वह भी आहार है। चिन्तन के लिए मानसिक परमाणुओं को संगृहीत करते हैं वह भी आहार है। प्राण का आकर्षण, भाषा का आकर्षण, चिन्तन के परमाणुओं का आकर्षण आदि-आदि सभी आहार हैं। इस व्यापक अर्थ में हम आहार को समझें। इसको समझ लेने पर सारी समस्याएं सुलझ जाएंगी। अशुद्ध आहार से मस्तिष्क का नियन्त्रण ढीला हो गया। वह पागल बन गया। पागल किसने बनाया? भोजन ने उसे पागल बना दिया। शराब भी एक तरह का भोजन है, आहार है। भांग पी, आकाश-पाताल एक हो गए। सारा संसार घूमने लगा। यह भी आहार के कारण ही हुआ। भांग भी एक तरह का भोजन है, आहार है। मादक द्रव्यों के परिणाम से हम परिचित हैं। किसी व्यक्ति की स्मृति कमजोर है। वह ब्राह्मी का प्रयोग करता है, स्मृति बढ़ जाती है। आज के वैज्ञानिक स्मृति को बढ़ाने वाले अनेक रसायनों की खोज भी कर रहे हैं और साथ-साथ स्मृति को घटाने वाले रसायनों की खोज भी कर रहे हैं। उनका मानना है कि बुद्धि और स्मृति सबके लिए जरूरी नहीं होती। जो चोर हैं, लुटेरे हैं, हत्यारे हैं, खूंखार हैं, उनकी स्मृति को कम कर दिया जाए, जिससे अपराध कम हो सकें। इस स्थिति को घटित करने के लिए वे स्मृति घटाने वाले रसायनों की खोज कर रहे हैं। इसी प्रकार स्मृति को वृद्धिगत करने वाले रसायनों की खोज भी चल रही है। आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के अनुसार स्मृति बढ़ाने वाले ये द्रव्य हैं—गोरखमुडी, सतावरी, ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि-आदि। आज के वैज्ञानिक इस खोज में पूरी तन्मयता से लगे हुए हैं कि कौन-सा रसायन क्या कार्य करता है? इसके आधार पर वे विभिन्न रसायनों का निर्माण कर रहे हैं। आयुर्वेद के आचार्यो ने पदार्थ की खोज की और उन पदार्थो के द्वारा रसायनों को पैदा करने का उपाय बताया। प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है, मूल बात एक ही है कि उन खोजों के द्वारा, उन पदार्थो के द्वारा मस्तिष्क में विशेष प्रकार के रसायनों का निर्माण करना और मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाना या घटाना। दोनों कार्य हो सकते है, मस्तिष्कीय शक्ति का विकास भी हो सकता है और ह्रास भी हो सकता है।

शारीरिक दृष्टि से भोजन के प्रभावों की जितनी खोजें हुई हैं, उतनी खोजें मनुष्य के स्वभाव को रूपान्तरित करने की दिशा में कम हुई हैं। आयुर्वेद में भी कम हुई हैं और एलोपैथिक में भी कम हुई हैं। आयुर्वेद के आचार्यो ने भोजन के अनेक प्रकार बतलाए हैं—जीवनीय, बृंहणीय, दीपनीय, बल्य आदि-आदि।

एक प्रकार का भोजन वह होता है जो जीवनी-शक्ति को बढ़ाता है, उसको बनाए रखता है। एक प्रकार का भोजन वह होता है जो बृंहणीय होता है, शरीर को पुष्ट करने वाला होता है। दीपनीय भोजन अग्नि का दीपन करता है। एक प्रकार का भोजन वह होता है जो बल की वृद्धि करता है। भोजन के और भी अनेक प्रकार हैं।

7.21 सारांश

द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—शमन करने वाले, कुपित करने वाले और संतुलित रखने वाले। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जो वात, पित्त और कफ को कुपित करते हैं। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जो वात, पित्त और कफ को सम-अवस्था में रखते हैं, संतुलित रखते हैं। इनके संतुलन को बिगड़ने नहीं देते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पित्त को कुपित करने वाले द्रव्य क्रोध को कुपित करते हैं। पित्त और क्रोध का गहरा सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति का पित्त कुपित होता है, उसका क्रोध भी कुपित होता है। जिस व्यक्ति का कफ कुपित होता है, उसका लोभ भी कुपित होता है। कफ को कुपित करने वाले द्रव्य लोभ को भी कुपित करते हैं। कुछ व्यक्ति लालची होते हैं। हजार बार उपदेश सुन लेने पर भी उनकी लालची मनोवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता। वे बेचारे क्या करें? उनके कफ का प्रकोप बना रहता है, तब वे लालची मनोवृत्ति से कैसे छुटकारा पा सकते हैं? कफ का प्रकोप शांत होते ही लालच की वृत्ति में अन्तर आ जाएगा। कफ और लालच का गहरा सम्बन्ध है। वायु को कुपित करने वाले द्रव्य व्यक्ति में निराशा को जन्म देते हैं। जिस व्यक्ति में वायु कुपित रहता है वह व्यक्ति निराश, डिप्रेशन से ग्रस्त, मानसिक अवसाद से युक्त होता है। वायु का और इन सब दोषों का गहरा सम्बन्ध है।

7.22 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आहार-विवेक और मांसाहार वर्जन पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आहार किस प्रकार का होना चाहिए?
2. आहार का उद्देश्य क्या है?
3. अनाहार का क्या महत्त्व है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जीवन का प्रथम प्रश्न क्या है?
2. भोजन की आवश्यकता किसे है?
3. जैन-साहित्य में कितनी प्रकार की कथाएं है?
4. आहार के कितने प्रकार हैं?
5. आहार के विमर्श का पहला दृष्टिकोण क्या है?
6. ऋत भोजन का सम्बन्ध किससे जुड़ता है?
7. हमारे शरीर को किस विटामिन की आवश्यकता है?
8. धूप किसका पूरक तत्त्व है?
9. सन्तुलित आहार के पूरक कौन है?
10. ब्रह्मचारी के लिए किस भोजन का विधान है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–8 : जैन तीर्थस्थान

संरचना

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 शत्रुंजय

8.2.1 सम्मेदशिखर

8.2.3 चंपापुरी

8.2.4 गिरनारजी

8.2.5 राजगृह (राजगिरि)

8.2.6 पावापुरी

8.2.7 श्रवणवेलगोला (गोम्म्टेश्वर)

8.2.9 आनू पर्वत

8.2.10 श्री महावीर जी

8.2.11 ऋषभदेवजी

8.3 सारांश

8.4 अभ्यास प्रश्नावली

8.0 प्रस्तावना

तीर्थ हमारी धार्मिक परम्परा की अहिंसामूलक संस्कृति के द्योतक हैं। हमारी आस्था को आधार देने वाले ऐसे पवित्र स्थान हैं, जहां हमारा मस्तक स्वयं झुक जाता है और हम अपने आपको प्रफुल्लित एवं प्रमुदित पाते हैं। वस्तुतः तीर्थ वह स्थान विशेष है जहां कोई साधक साधना करते हुए आत्मसिद्ध हुआ हो और उस स्थान को भी अपनी भवतारण शक्ति से संस्कारित कर गया हो। पूर्वकाल में तो 'तीर्थ' शब्द मौलिक रूप से जैन प्रवचन अथवा चतुर्विध संघ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, ऐसा जैनागमों से ज्ञात होता है। तीर्थ शब्द का अर्थ नदी से सुरक्षित बाहर निकलना भी होता है। इस कारण से संसार समुद्र को पार कराने वाले जिनागम को और जैन-श्रमण संघ को भावतीर्थ भी कहा गया है और व्युत्पत्ति भी **'तीर्यते संसार सागरो येन तत् तीर्थम्'** इस प्रकार की गयी है तथा संसार रूपी नदी, समुद्रों को पार कराने वाले तीर्थों को द्रव्य तीर्थ माना गया है।

8.1 उद्देश्य – इसके अध्ययन से जैन तीर्थो का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा।

8.2 जैन आगमों में तीर्थ

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैनागमों में कुछ और भी तीर्थ माने गये हैं जिन्हें स्थावर तीर्थों के नाम से निर्दिष्ट किया है और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गये हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचारांग, आवश्यक आदि सूत्रों की निर्युक्तियों में मिलता है, जो मौर्यकालीन ग्रन्थ हैं। जैन स्थावर तीर्थों में अष्टापद, उज्जयंत, गजाग्रपद, धर्मचक्र, अहिच्छत्र, पार्श्वनाथ, रथावर्त पर्वत, चमरोत्पात, शत्रुंजय, सम्मेद शिखर, मथुरा का देव निर्मित स्तूप इत्यादि प्रसिद्ध हैं। प्राचीन तीर्थों में हस्तिनापुर, शौरीपुर, मथुरा, अयोध्या, काम्पिल्यपुर, वाराणसी (काशी), श्रावस्ती, क्षत्रियकुंड, मिथिला, राजगृह, पावापुरी, भद्दिलपुर, चंपापुरी, कौशाम्बी, रत्नपुर,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चन्द्रपुरी आदि स्थान भी तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण की भूमियां होने के कारण प्रसिद्ध थे, परन्तु वर्तमान समय में अधिकांश विलुप्त हो चुके हैं। इन तीर्थों को 'कल्याणक भूमि' कहते हैं। कुछ और भी प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्रभास पाटन-चन्द्रप्रभ, स्तम्भ तीर्थ स्तम्भनक पार्श्वनाथ, भृगुकच्छ अश्वावबोध शकुनिका विहार—मुनिसुव्रत, सूरपार्क, शंखपुर-शंखेश्वर पार्श्वनाथ, चारूप-पार्श्वनाथ तारंगाहिल-अजितनाथ, अर्बुदगिरि (माउण्ट आबू), सत्यपुरीय-महावीर, स्वर्णगिरि-महावीर, करहेटक-पार्श्वनाथ, विदिशा (भिलसा), नासिक्य-चन्द्रप्रभ, अन्तरिक्ष-पार्श्वनाथ, कुल्पाक-आदिनाथ, खण्डगिरि (भुवनेश्वर), श्रवणबेलगोला। इन तीर्थों को पौराणिक तीर्थ भी कहा जाता है। इनका प्राचीन जैन साहित्य में वर्णन न होने पर भी जैन चरित्रग्रन्थों तथा प्राचीन स्तुति, स्तोत्रों में इनकी महिमा गायी गई हैं। इनमें से अधिकांश के आज नाम शेष हो चुके हैं, कुछ ही विद्यमान हैं।

आचारांग निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन जैन तीर्थों का उल्लेख मिलता है—

"दंसण नाण चरिते तववेरग्गे य होई उ पसत्था।
जाय तहा ता य तहा लक्खणं वुच्छं सलक्खणओ।।329।।
तित्थगराण भगवओ पवयण पावयणि अइसइड्ढीणं।
अभिगमण नमण दरिसण कित्तण सूंपअणा थुणणा।।330।।
जम्माभिसेय निक्खमण चरण नाणुप्पया य निव्वाणे।
दिय लोअभवण मंदर नंदीसर भोम नगरेसुं।।331।।
अट्ठावय मुज्जिंते गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पास रहावत्तगं चमरूप्पायं च वंदामि।।332।।

अर्थात् दर्शन, सम्यक्ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य, भावनाएं जिन कारणों से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूंगा।329।

तीर्थंकर भगवन्तों, उनके प्रवचन, प्रवचन-प्रचारक प्रभावक आचार्यों, केवल ज्ञानी, मन-पर्यव ज्ञानी, अवधिज्ञानी, वैक्रयादि अतिशय लब्धिधारी मुनियों के सन्मुख जाने, नमस्कार करने, उनका दर्शन करने, उनके गुणों का कीर्तन करने, उनकी अन्न-वस्त्रादि से पूजा करने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य सम्बन्धी गुणों से शुद्धि होती है।330।

जन्म कल्याणक स्थान, जन्माभिषेक स्थान, दीक्षा स्थान, श्रमणावस्था की विहारभूमि, केवल ज्ञानोत्पत्ति का स्थान, निर्वाण कल्याणक भूमि, देवलोक के भवन, मेरूपर्वत, नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तरदेवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिन प्रतिमाओं को मैं वंदन करता हूं।331।

अष्टापद, उज्जयंत, गजाग्रपद, धर्मचक्र, अहिच्छन्नवस्थित पार्श्वनाथ, रथावर्त-पदतीर्थ, चमरोत्पात तीर्थों को वंदन करता हूं।332।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जैन तीर्थों की प्राचीनता असंदिग्ध है। यद्यपि आज बहुत ही कम संख्या में प्राचीन तीर्थ मिलते हैं, बहुत से तो काल के कराल गाल में समा गये पर प्राचीन साहित्यों से उनका महत्त्व आज भी उजागर होता है। प्राचीन और आधुनिक जैन तीर्थों की संख्या बहुत है, जिनका एक पाठ में उल्लेख कर पाना संभव नहीं है। अतः यहां पर प्रमुख तीर्थों का ही उल्लेख किया जा रहा है—

8.2.1 शत्रुंजय

इसकी पहचान सौराष्ट्र में पालीताना स्टेशन से दो मील की दूरी पर स्थित शत्रुंजय नामक पहाड़ी से की जाती है। इस पहाड़ी पर भगवान् ऋषभ का भव्यमंदिर है। वर्तमान जैनतीर्थों में इसे आदितीर्थ माना जाता है। शत्रुंजय पर्वत भगवान् ऋषभदेव का मुख्य विहार-क्षेत्र और भरत चक्रवर्ती का सुवर्णमय चैत्य निर्माण का स्थान माना गया है। परन्तु हमारे प्राचीन साहित्य, सूत्रादि में इसका विशेष विवरण नहीं मिलता। **ज्ञाताधर्म कथांग** के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सोलहवें अध्ययन में पांच पाण्डवों के शत्रुंजय पर अनशन कर निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त **अन्तकृद्दशांग सूत्र** में भगवान् नेमिनाथ के अनेक साधुओं के शत्रुंजय पर्वत पर तपस्या द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध है कि यह पर्वत हजारों वर्षों से जैनों का सिद्ध क्षेत्र बना हुआ है। इसका कई बार जीर्णोद्धार हुआ है। जैन स्रोतों के अनुसार इसके कई जीर्णोद्धार पौराणिक राजाओं द्वारा भी किये गये थे। इनमें भरतचक्रवर्ती, दण्डवीर्य, ईशान इन्द्र, सागर चक्रवर्ती, पाण्डव आदि उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक काल में इसका जीर्णोद्धार जावड़शाह, शीलादित्य, जावड़मंत्री समराशाह (वि. सं.1371) एवं कर्मशाह (वि. सं. 1587) ने कराया था। शत्रुंजय तीर्थोद्धार कल्प एवं नाभिनंदन जिनोद्धार प्रबंध नामक प्राचीन ग्रन्थों में भरतचक्रवर्ती, सगर, पांडवों एवं जावड़शाह और वाग्भट्ट द्वारा कराया गया उद्धार ही मुख्य माना है। इसी प्रकार से शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबन्ध में वि. सं. 1587 में कराया गया उद्धार सातवां माना गया है।

विभिन्न स्रोतों की जानकारी के अनुसार शत्रुंजय पर मुसलमानों के दो भीषण आक्रमण हुये और काफी क्षति पहुंचायी गयी। कई मंदिर भी ध्वस्त कर दिये गये। गुजरात से प्राप्त ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्रोतों में इस तीर्थ का विशद वर्णन है। इनमें प्रबन्ध चिंतामणि, प्रबन्ध कोश, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, विविध तीर्थकल्प, कुमारपाल प्रबन्ध आदि उल्लेखनीय हैं। इनसे ज्ञात होता है कि इस तीर्थ की गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश आदि क्षेत्रों में बड़ी मान्यता थी। कुमारपाल के समय तक यह काष्ठ का बना हुआ था। इसे उदयन मंत्री के पुत्र वाग्भट्ट ने जीर्णोद्धार करके ठीक कराया। वस्तुपाल और तेजपाल ने कई देव मंदिर बनवाये। अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के समय ये सारे मंदिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। उसने चित्तौड़, जालौर आदि स्थानों में भी इसी प्रकार से मंदिरों को क्षति पहुंचायी थी। इन अनेक कारणों से अब यहां प्राचीन सामग्री बहुत ही कम दृष्टिगोचर होती है।

यहां इस समय सबसे प्राचीन प्रतिमा समीन्धर स्वामी की है जिस पर वि.सं. 1064 का शिलालेख लगा हुआ है। इस प्रतिमा पर कांच लगा दिया है और इस पर काले रंग से पोता गया है। अतः सामान्य लोगों को इसकी तिथि की जानकारी नहीं होती है। इस पर लगे लेख पर संगम सिद्ध नामक एक जैन मुनि का उल्लेख है। वह विद्याधर आम्नाय के थे। इन्होंने शत्रुंजय पर स्थित पुंडरीक आदिनाथ की प्रतिमाओं को नमस्कार करके आमरण अनशन किया। इस समाधिमरण के बाद इस प्रतिमा का निर्माण राधेयक के पुत्र श्रेष्ठि आम्नेयक ने करवाया।

पालिताना नगर से शत्रुंजय पहाड़ी की तलहटी के डेढ़ कि.मी. लम्बे मार्ग पर लगभग 150 धर्मशालाएं हैं। फिर पर्वत की चढ़ाई लगभग 4 कि. मी. है, पक्की सड़क और 3700 सीढ़ियां हैं। श्वेताम्बर आम्नाय में शत्रुंजय की मान्यता अन्य सभी तीर्थों से अधिक है। लगभग 3500 कलात्मक मंदिरों का यह पर्वत एक प्रकार से जैन मंदिरों का गढ़ है। कई मंदिर तो शिल्प व स्थापत्य के अनूठे उदाहरण हैं। इस पर्वत शिखर पर दो मुख्य टोंक हैं। प्रथम पर केवल श्वेताम्बर मंदिर है। दूसरी टोंक पर श्वेताम्बर मंदिर के केन्द्र में परकोटे के भीतर नौ वेदियों का भगवान् शांतिनाथ का प्राचीन मंदिर है। पर्वत पर श्वेताम्बर मंदिरों में आदीश्वर जी, कुमारपाल, विमलशाह, संप्रति नरेश के मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय एवं प्रसिद्ध हैं। प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया के दिन यहां 'बरसीतप' का पारणा करने के लिए हजारों तपस्वी उपासक, उपासिकाएं आते हैं। इस दिन अन्य पर्यटक भी बहुत बड़ी संख्या में यहां आते हैं। इस अवसर विशेष का दृश्य बड़ा ही सुहावना होता है। मान्यता एवं कलात्मक दोनों ही दृष्टियों से यह तीर्थक्षेत्र बेजोड़ है।

8.2.2 सम्मेदशिखर

श्री सम्मेदशिखर महापवित्र तथा अत्यन्त प्राचीन सिद्ध क्षेत्र है। यह विहार के 'पारसनाथ' में स्थित है। इस स्थान को ईसरी के नाम से भी जाना जाता है। यह गया से 152 कि.मी. दूर स्थित है। इस तीर्थ की यात्रा के लिए 'पारसनाथ' स्टेशन पर ही उतरना चाहिए, जो पूर्वी रेलवे के हजारी बाग एवं धनवाद रेल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लाईन पर स्थित है। इस स्टेशन के पास ही दो जैन मंदिर हैं और यहां से सम्मेदशिखर पर्वत साफ दिखाई देता है।

संपूर्ण तीर्थ क्षेत्रों में सर्व प्रमुख इस तीर्थ क्षेत्र को तीर्थराज व अनादि तीर्थ कहा जाता है। इसकी वंदना करना प्रत्येक जैन अपना अहोभाग्य समझता है। ऐसी अनुश्रुति है कि श्री सम्मेदशिखर और अयोध्या दो तीर्थ अनादि एवं शाश्वत हैं। अयोध्या से सभी तीर्थंकरों का जन्म और सम्मेदशिखर से सभी तीर्थंकरों का निर्वाण निश्चित है किन्तु हुण्डावसर्पिणी काल दोष से इस शाश्वत नियम में व्यतिक्रम हो गया तथा अयोध्या से केवल पांच तीर्थंकरों का जन्म व सम्मेदशिखर से केवल बीस तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ। फिर भी अनेक तीर्थंकर भगवान् अपनी अमृतवाणी एवं दिव्य दर्शन से इस तीर्थ को पवित्र बना चुके हैं। अनेक मुनिगण यहां से मुक्त हुए हैं। मधुकैटभ जैसे दुराचारी प्राणी भी यहां के पवित्र वातावरण में आकर पवित्र हो गये और स्वर्ग सिधारे। निस्संदेह इस तीर्थराज की महिमा अपार है। एक मान्यता के अनुसार यदि कोई भव्य जीव इस तीर्थ की यात्रा वंदना भाव सहित कर ले तो उसे पूरे पचास भव भी धारण नहीं करने पड़ते। इस क्षेत्र का इतना प्रबल प्रभाव है कि 49 भवों में ही संसार भ्रमण से मुक्त होकर मोक्ष महालक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।

एक परम्परा के अनुसार तीर्थंकर भगवान् जिस स्थान से मुक्त होते हैं उस स्थान पर सौधमेन्द्र, चिह्न स्वरूप स्वस्तिक बना देते थे जिनका इस शिखर पर भव्यजन कष्ट उठाकर भी पुण्योदय से दर्शन कर उनका स्मरण करते थे। कालान्तर में उन स्थानों पर चरणचिह्न सहित सुन्दर टोंकें निर्मित भी करवायी गयी, किन्तु काल के साथ वे नष्ट भी हुई और उनका जीर्णोद्धार भी कराया गया। राजा श्रेणिक के समय उनके जीर्णोद्धार का उल्लेख मिलता है। मुसलमानों के आक्रमण से यहां के मंदिरों को काफी क्षति पहुंची। पर दानवीरों ने यथा समय जीर्णोद्धार कराकर इस क्षेत्र की गरिमा को कायम रखा और प्राचीन काल से आज तक इस तीर्थक्षेत्र की महिमा बनी हुई है। बीस तीर्थंकरों के जीवन चरित्रों में अपना मन लगाये रखने के पवित्र उद्देश्य से सम्मेदशिखर की यात्रा भक्तगण करते हैं।

8.2.3 चंपापुरी

भागलपुर से 5 कि.मी. दूर प्राचीन चंपापुरी जो वर्तमान में नाथनगर के नाम से जानी जाती है, स्थित है। यहां बारहवें तीर्थंकर भगवान् वासुपूज्यजी के पांचों कल्याणक हुए थे। यही एकमात्र ऐसा क्षेत्र है जहां किसी भी तीर्थंकर के पांचों कल्याणक संपन्न हुए, इसलिए इस तीर्थ क्षेत्र की अपनी अलग प्रतिष्ठा है। यहां स्थित प्राचीन जैन मंदिर में दो प्राचीन एवं भव्य दर्शनीय स्तम्भ बने हैं।

कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित 52 जनपदों में से अंग जनपद की यह राजधानी अतीत में भारत का अति प्रसिद्ध सांस्कृतिक नगर रहा है। बौद्ध युग में भी इसकी गणना 6 महानगरों में की जाती थी। कहा जाता है कि कभी यहीं पर हरिवंश पुराण की स्थापना भी हुई थी। यह नगर गंगातट पर बसा था, जहां धर्मघोष मुनि ने समाधिमरण किया था। गंगा नदी के चंपा नाले पर एक प्राचीन दर्शनीय जैन मंदिर है। यह सिद्ध क्षेत्र है, यहां से पद्मस्थ, अंचल, अशोक आदि अनेक मुनि भी मुक्त हुए। यहां भाद्रपद शुक्ला 14 को वासुपूज्य जी के निर्वाण के उपलक्ष में बहुत अधिक संख्या में भक्तों का आगमन होता है।

अस्तु हम यह कह सकते हैं कि चूंकि येतीर्थस्थान योगियों की योगनिष्ठा, ज्ञान, ध्यान, तप साधना एवं समाधिमरण से पवित्र हो चुके हैं, अतः उनके समागम में जाकर मानव संसार से तरने का उद्योग उपक्रम करता है। इसलिए तीर्थस्थलों का महत्त्व प्राचीन काल से रहा है।

8.2.4 गिरनारजी

आचार्य वीरसेन ने अपनी धवला टीका में इसे मंगलक्षेत्र माना है। बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा, केवलज्ञान व निर्वाण तीन कल्याणकों की स्थली के रूप में यह तीर्थक्षेत्र प्रसिद्ध है। इस सिद्ध क्षेत्र से तीर्थंकर नेमिनाथ एवं उनके गणधर श्री वरदत्तजी के अतिरिक्त अनेक मुनियों ने भी निर्वाण प्राप्त किया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह तीर्थ क्षेत्र शत्रुंजय (पालीताना) से 170 कि.मी. और सोनगढ़ से 149 कि.मी. दूर स्थित है। गिरनारजी जाने के लिए यहां से 51 कि.मी. दूर जूनागढ़ पहुंचना पड़ता है और यहीं से पर्वत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां आरम्भ हो जाती है। 4400 सीढ़ियां चढ़ने के बाद पहली टोंक पर पहुंचा जाता है। यहां जैन मंदिरों के अतिरिक्त एक अंधेरी गुफा है जिसमें से बैठकर जाना पड़ता है। यह गुफा 'राजुलगुफा' के नाम से प्रसिद्ध है यहीं पर राजीमती ने तपस्या की थी। इसके बाद 109 सीढ़ियां चढ़कर गोमुख कुण्ड पहुंचते हैं। यहां एक दीवार में 24 चरण बने हुए हैं। गोमुख से आगे खंगार का किला व अनेक जैन मंदिर हैं। इसके बाद कुछ सीढ़ियां चढ़कर अनिरूद्ध कुमार के टोंक पर पहुंचते हैं। इसके पास ही हिन्दुओं का तीर्थ क्षेत्र अम्बा देवी का मंदिर है। इसके पश्चात् 700 सीढ़ियां चढ़कर तीसरी टोंक (शंभू कुमार) पर पहुंचा जा सकता है। चौथी टोंक प्रद्युम्न कुमार की है। यहां कोई सीढ़ी आदि नहीं है, अतः चढ़ाई बहुत कठिन है, फिर 2500 सीढ़ी चढ़ने के बाद पांचवीं टोंक पर पहुंचा जाता है। यही वह स्थान है जहां नेमिनाथ भगवान् को मोक्ष प्राप्त हुआ था। यहां तक कुल 9999 सीढ़ियों की चढ़ाई तय करनी पड़ती है। जैन तीर्थ क्षेत्रों में इसे सबसे दुर्गम तीर्थ क्षेत्र के रूप में माना जा सकता है।

8.2.5 राजगृह (राजगिरि)

यह बिहारशरीफ से दक्षिण की ओर 13-14 मील की दूरी पर स्थित है। इसे गिरिव्रज भी कहा जाता है क्योंकि यह पांच पहाड़ियों से घिरा हुआ है। यह स्थल जैन, हिन्दू व बौद्ध आदि सभी का प्राचीन काल से ही प्रिय रहा है। जैन साहित्य में इसके अनेक नाम मिलते हैं, यथा—वसुमती, चणकपुर, ऋषभपुर, गिरिव्रज, क्षितिप्रतिष्ठत, राजगृह, राजगीर, पंचशैल आदि।

तीर्थ के रूप में इसकी मान्यता महावीर स्वामी से पूर्व की रही है। यहां बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा व केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। यहां स्थित विपुलाचल, रत्नागिरि, उदयगिरि, अरुणगिरि (स्वर्णगिरि) व वैभवगिरि आदि पांच पहाड़ियों से मुनिराज जीवंधर, श्वेत सुदार्व, वैशाख, विद्युच्चर, गंधमादन, प्रीतिकर, धनदत्त आदि अनेक मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की है, इसीलिए राजगृह सिद्ध क्षेत्र माना जाता है। यहां कई बार महावीर स्वामी का समवसरण स्थापित हुआ और यहीं राजा श्रेणिक की शंकाओं का निवारण हुआ, इस कारण से भी इसका महत्त्व है। यहीं कालसौकरिक पुत्र जैसा कसाई पुत्र भी महावीर की शरण में आकर उनका अनन्य भक्त बन गया। पतितोद्धारक के रूप में भी इस स्थान की महत्ता है। कहते हैं कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में सोपारा(सूरत) से एक आर्यिका संघ यहां वंदना करने आया था। इसी संघ की धीवरी पूतिगंधा जो कालान्तर में छुल्लिका हो गयी थी, यहां 'नील गुफा' में तप करते हुए समाधिमरण किया था।

यहां स्थित पांचों पहाड़ों में सबसे पहले विपुलाचल पर्वत आता है। इस पर चार जैन मंदिर प्रतिष्ठित हैं। यहीं पर भगवान् मुनि सुव्रतनाथ के चार कल्याणकों का एक स्मारक है। यहां सन् 1986 ई. में प्रतिष्ठित विशाल समवसरण मंदिर भी प्रमुख रूप से दर्शनीय है। यह समवसरण एक प्राचीन छोटे स्तूप के स्थान पर बना है। दूसरे पर्वत को रत्नगिरि के नाम से पुकारा जाता है। यहां मंदिर में मुनि सुव्रतनाथ की कृष्ण प्रतिमा विराजमान है। इसी पर्वत पर सुमंदर मेघरथ और धनदत्त केवली के युगल चरण विराजमान हैं। इन तीनों ने यहीं निर्वाण प्राप्त किया था। पर्वत पर जाने के लिए 1300 सीढ़ियां निर्मित हैं।

उत्तम एवं मनोहर तीसरा पर्वत उदयगिरि है। लगभग 786 सीढ़ियां चढ़कर इस पर्वत पर पहुंचा जा सकता है। इस पर्वत एक अति प्राचीन मंदिर है, जो भग्नावशेष अवस्था में है और लगभग 50 वर्ष पूर्व खुदाई में निकला था। इसकी मूर्तियां नीचे लाल मंदिर में सुप्रतिष्ठित हैं। स्वर्णगिरि नाम का चौथा पर्वत है जिसे अरुणगिरि तथा श्रमणगिरि के नाम से भी जाना जाता है। लगभग 1061 सीढ़ियां चढ़कर इस मंदिर पर पहुंचा जा सकता है। पांचवें पहाड़ का नाम वैभवगिरि है। इस पर्वत पर पहुंचने के लिए लगभग 565

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सीढ़ियां चढ़नी पड़ती है। पहाड़ पर जाते समय मार्ग में सोनभंडार गुफा मिलती है, इसकी दीवारों पर अनेक प्रतिमाएं बनी हुई हैं। पर्वत शिखर पर पांच मंदिर हैं। यहां लगभग 1200 वर्ष प्राचीन 24 कमरों वाला एक विशाल मंदिर निकला है। वर्तमान में इसमें अनेक मूर्तियां विराजमान हैं तथा कुछ वेदियां खाली पड़ी है जिनमें प्राचीनकाल में मूर्तियां होने के प्रमाण मिलते हैं।

वैभार पर्वत के नीचे गरम पानी का एक कुंड है। इसका वर्णन जैन आगम भगवती में भी आया है। आज भी वहां गरम पानी का स्रोत विद्यमान है। मान्यता है कि इस पानी से चर्मरोगों से मुक्ति मिलती है जिसके कारण हजारों लोग यहां स्नान करने के लिए आते हैं। इस पहाड़ी के नीचे स्थानक वासी संत उपाध्याय अमरमुनि की प्रेरणा से 'वीरायतन' नामक एक जैन सांस्कृतिक संस्था की स्थापना भी की गई है जिसमें भगवान् महावीर के जीवन प्रसंगों पर कलापूर्ण चित्रांकन दर्शनीय है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने राजगृह में अनेक चातुर्मास बिताए थे। महावीर प्रायः वहां के गुणशील चैत्य में ठहरते थे। वर्तमान में नबादा स्टेशन से लगभग तीन मील दूर स्थित 'गुणवा' को प्राचीन गुणशील माना जा सकता है।

8.2.6 पावापुरी

अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाण भूमि सिद्ध क्षेत्र 'पावापुरी' बिहारशरीफ से 11 कि. मी. दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित हैं। इसका प्राचीन नाम 'अपापापुर' अर्थात्(पापरहित) पुण्यभूमि है। जिस स्थान पर महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त हुआ था, वहां पर 'पद्म सरोवर' नामक एक विशाल एवं सुन्दर सरोवर है। पहले चौरासी बीघे में फैला यह सरोवर अब केवल दो फर्लांग लम्बा व लगभग इतना ही चौड़ा रह गया है। एक किंवदन्ती के अनुसार भगवान् के निर्वाण के समय यह समतल क्षेत्र था और यहां कल्याणक मनाने असंख्य देव-देवियां एवं नर-नारी एकत्र हुए थे। भगवान् का निर्वाण होने पर उपस्थित जनसमूह ने भक्तिभाव से विह्वल हो उस स्थान की धूल मस्तक पर धारण की। हर एक ने केवल एक चुटकी धूल ली, पर भीड़ इतनी अधिक थी कि एक-एक चुटकी धूल लेने से ही यह सरोवर बन गया। इस सरोवर के मध्य श्वेत संगमरमर का एक जैन मंदिर है, जो जलमंदिर कहलाता है। अनुमानतः इस मंदिर का निर्माण दो-ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व 'नंदीवर्धन' नामक राजा ने करवाया था। उन्होंने श्रद्धा वश इसकी नींव स्वर्ण ईटों की रखी थी। कुछ वर्ष पूर्व मंदिर के जीर्णोद्धार के समय प्रकाश में आई बड़ी-बड़ी ईटें इसके दो-ढ़ाई हजार वर्ष प्राचीन होने के प्रमाण देती हैं। सुन्दरता हेतु इन पर संगमरमर के पाषाण बाद में लगाये प्रतीत होते हैं। मंदिर तक पहुंचने हेतु लाल पत्थर का एक सुन्दर पुल बना हुआ है। मंदिर के गर्भगृह में विराजमान तीन युगल चरणचिह्नों में, मध्य में भगवान् महावीर के, बाई ओर गौतम स्वामी के, ऊपर दाई ओर सुधर्मा स्वामी के हैं। गर्भगृह के चारों ओर बरामदा है। जलमंदिर के सामने समवसरण मंदिर बना हुआ है।

भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव के अवसर पर कार्तिक कृष्णा 13 से कार्तिक शुक्ला तक यहां मेला लगता है। अमावस्या को प्रातः साढ़े तीन बजे कार्यालय से रथ यात्रा जलमंदिर जाती है। वहां पूजन होकर एक निर्वाण लड्डू चढ़ाया जाता है। इस अवसर पर श्रद्धालुओं की भीड़ देखते ही बनती हैं।

8.2.7 श्रवणबेलगोला (गोम्मटेश्वर)

जैन साधुओं की तपोभूमि श्रवणबेलगोला कर्नाटक राज्य के हासन जिले में बंगलोर से 140 कि.मी., मैसूर से 83 कि.मी. व हासन से 52 कि.मी. दूरी पर है। यह चन्द्रगिरि और विंध्य गिरि इन दो पर्वतों की तलहटी में एक सरोवर पर स्थित है। इसे दक्षिण भारत का जैन बद्री और जैन काशी भी कहा जाता है। यह जैनों का प्राचीन, रमणीक एवं परमपावन तीर्थ है। यहां के शिलालेख भव्य तथा पवित्र पावन मंदिर, प्राचीन गुफाएं और विशाल मूर्तियां न केवल जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं वरन् भारत की आध्यात्मिकता का एक अनमोल केन्द्र है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऐसा उल्लेख मिलता है कि श्रवणबेलगोला में ही अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने तपस्या की थी। वे बारह वर्ष के दुष्काल से जैनसंघ की रक्षा करने के लिए दक्षिण भारत आये थे। श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर 'भद्रबाहु गुफा' में जहां उन्होंने समाधि ग्रहण किया था, उनके चरणचिह्न अंकित हैं। यहां रहकर सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने जो उनके साथ मुनि होकर यहां आये थे, उनकी वैयावृत्ति (सेवा) की थी। सम्राट चन्द्रगुप्त की स्मृति में यहां जैनमंदिर और चित्रावली बनी हुई है।

श्रवणबेलगोला तीन शब्दों से बना है। श्रमण का अर्थ है जैनमुनि, बेल का अर्थ है श्वेत और गोल का अर्थ है सरोवर अर्थात् श्रवणबेलगोला से तात्पर्य जैन मुनियों का धवल सरोवर। कहते हैं कि जब उत्तर भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था तो भद्रबाहु स्वामी के नेतृत्व में मुनियों का एक गण ने इसी सरोवर के किनारे तपस्या की थी। संभवतः यही इस नाम की सार्थकता है। निस्संदेह यह एक महापवित्र तपोभूमि है। यहां की जैनाचार्य परम्परा भी विख्यात है। यहां के आचार्यों ने बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं को जैन धर्म की शिक्षा एवं दीक्षा दी थी। यहां समाज के प्रत्येक वर्ग ने आकर धर्माराधना की तथा आत्मबल प्रकट करने हेतु संल्लेखनाव्रत धारण किया। यहां लगभग 500 ऐतिहासिक शिलालेख जैनों की गौरव गाथा गाते हैं। इसका महत्त्व प्रत्येक जैन को आत्मवीरता का संदेश देता है।

यह गोम्मट तीर्थ के रूप में भी प्रसिद्ध है। यहां गोमटेश्वर बाहुबली की 57 फीट ऊंची अद्वितीय एवं अतिशय संपन्न विशाल प्रतिमा है। लगभग 15-20 कि.मी. दूर से ऐसी दिव्य दृष्टिगोचर होती मूर्ति संसार में अन्यत्र कहीं नहीं है। मूर्ति पर दृष्टि पड़ते ही यात्री अपूर्व शांति का अनुभव करने लगता है। गोम्मटेश्वर, गोम्मट+ईश्वर से बना है। गोम्मट शब्द संस्कृत में सौन्दर्य का द्योतक है और ईश्वर सर्वश्रेष्ठ का। गोम्मटेश्वर से तात्पर्य है सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य पुरुष। अतः प्रथम कामदेव बाहुबली गोम्मटेश्वर भी कहलाते हैं। इसकी स्थापना राजमहल नरेश के प्रधानमंत्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र के सान्निध्य में कराई थी। चामुण्डराय कर्नाटक राज्य के महामात्य थे तथा अपने गुणों एवं पराक्रम के कारण महाबलाधिपति, समरधुरन्धर, सत्ययुधिष्ठिर आदि अनेक उपाधियों से सम्मानित थे। चामुण्डराय का घरेलू नाम 'गोम्मट' था। संभव है कि इसलिए उनके द्वारा निर्मित और स्थापित मूर्ति को भी 'गोम्मटेश्वर' कहा गया। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से किया है और पंचसंग्रह ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' रखा। उत्तराभिमुखी, ध्यानस्थ प्रतिमा में स्थित यह मूर्ति संसार के आठवें आश्चर्य के रूप में माना जा सकता है। एक ही पत्थर में उत्कीर्ण यह नयनाभिराम मूर्ति पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बनती है। सिर पर केशों के छोटे-छोटे कुन्तल, बड़े-बड़े कान, चौड़ा वक्षःस्थल, नीचे तक लटकती हुई विशाल भुजाएं। मूर्ति की आंखें, ओष्ठ, ठुड्डी, आंखों की भौंहें सभी कुछ अनुपम एवं लावण्यपूर्ण हैं। निःसंदेह मूर्ति की शांत मुद्रा भुवनमोहिनी है। इस विशाल व भव्य मूर्ति का महामस्ताभिषेक 12 वर्षों के अंतराल के बाद होता है। इस अवसर पर दूर-दूर से समागत श्रद्धालुओं की भीड़ इस गौरवमय तीर्थ की महत्ता को स्वतः सिद्ध करती है।

8.2.8 आबू पर्वत

दक्षिणी राजस्थान के सिरोही जिले के अन्तर्गत आबू की रमणीय पहाड़ियां हैं। इसका प्राचीन नाम अर्बुद है। पश्चिमी रेलवे की छोटी लाइन के दिल्ली-अहमदाबाद मार्ग पर अहमदाबाद से 186 कि.मी. पूर्व आबूरोड स्टेशन है। यहां से समुद्रतल से 600 मीटर ऊंचा आबू पर्वत 28 कि.मी. दूर स्थित है। अरावली पर्वत मालाओं के दक्षिण-पश्चिम में स्थित आबू पर्वत चारों ओर से जंगली तथा विचित्र आकृतियों की विशाल चट्टानों से घिरा हुआ है। सुरम्य प्राकृतिक छटा एवं हिन्दू, जैन तीर्थों के कारण ही संभवतः राजस्थान सरकार के पर्यटक केन्द्रों में यह एक अद्वितीय केन्द्र है।

राजस्थान का एकमात्र पर्वतीय स्थल आबू पर्वत विश्वविख्यात दिलवाड़ा जैनमंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। विश्वप्रसिद्ध दिलवाड़ा श्वेताम्बर जैन मंदिरों का समूह है। पांच मंदिरों के इस समूह में दो मंदिर लूण वसही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व विमल वसही अपनी सूक्ष्म कलात्मक कारीगरी के लिए बेजोड़ है और अत्यन्त आकर्षक है। इनकी दीवारों छतों, स्तम्भों की कला बेजोड़ व अद्‌भुत है। विमलवसही में भगवान् ऋषभदेव का मंदिर है। यह मंदिर 1032 ई. में 18 करोड़ 53 लाख रुपये की लागत से सोलंकी नरेश के मंत्री विमलशाह द्वारा बनवाया गया है। इसमें 52 देहरियां हैं। लूणवसही में भगवान् नेमिनाथ का मंदिर है जिसे वस्तुपाल और तेजपाल नामक दो भाइयों ने 1232 ई. में 12 करोड़ 53 लाख रुपये खर्चकर बनवाये। कहते हैं कि इन्होंने पत्थर को उत्कीर्ण करने वाले करीगरों को, पत्थर के निकलने वाले टुकड़ों के बराबर चांदी देकर उनका उत्साह बढ़ाया। कारीगर पत्थर में जीवन उड़ेलने में तत्पर हुए और आज भी यह मंदिर अपनी उत्कीर्ण-कला का उत्कृष्ट नमूना है। इसमें 48 आकर्षक देहरियां हैं। इसके अलावा ऋषभदेव, पार्श्वनाथ व महावीर स्वामी मंदिर भी दर्शनीय है। इन मंदिरों के बगल में सड़क के दाईं ओर स्थित भगवान् कुंथुनाथ दिगम्बर जैन मंदिर भी आस्था एवं श्रद्धा की दृष्टि से प्रसिद्ध है।

दिलवाड़ा से 6 कि.मी. दूर एक छोटी सी पहाड़ी पर अचलगढ़ के श्वेताम्बर जैन मंदिर स्थित हैं। अचलगढ़ में महादेव मंदिर तक यातायात की दृष्टि से बस की सुविधा है आगे पैदल की चढ़ाई चढ़ने के बाद जैनमंदिरों के समूह में चौमुखजी का मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् आदिनाथ की अष्ट धातु निर्मित 1444 मन वजन की 14 प्रतिमाएं 500 से भी अधिक वर्ष पुरानी बताई जाती हैं। आबू पर्वत पर जाने वाला कोई भी पर्यटक दिलवाड़ा के मंदिरों का दर्शन अवश्य करता है। दर्शन के उपरान्त बारीक कलाकारी की मुक्त कंठ से प्रशंसा भी करता है।

8.2.9 रणकपुर

अरावली पर्वत श्रृखंलाओं के मध्य राणकपुर (रणकपुर) नाम का गांव है। यह राजस्थान के पाली जिले के अन्तर्गत है। यह फालना स्टेशन से 22 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। उदयपुर से सड़कमार्ग द्वारा 96 कि.मी. दूर एवं रेल द्वारा सादड़ी से 10 कि.मी. दूर स्थित यह एक कलातीर्थ है।

माना जाता है कि नंदीपुर गांव में जिनेश्वर उपासक धरणाशाह को एक रात्रि में स्वप्न आया। उसमें उन्होंने 'नलिनी गुल्म' विमान देखा। उस विमान की आकृति से प्रभावित होकर उन्होंने उसी आकृति का जिनालय बनवाने की प्रतिज्ञा ली। दूर-दूर से शिल्पी आमंत्रित किये गये। प्रारम्भिक रेखाचित्र बने। इनमें से मुंडारा गांव के 'देपाक' नामक शिल्पी का रेखाचित्र पसन्द किया गया और उसी के अनुसार विक्रम संवत 1495 में जिनालय की नींव डाली गयी और 1498 में वह मंदिर तैयार हो गया। इसमें लगभग एक करोड़ रुपया व्यय हुआ। यह मंदिर कला सौष्ठव की दृष्टि से बेजोड़ है। इसमें 24 रंगमंडप, 184 भूगृह, 85 शिखर और 1444 स्तम्भ हैं। आदिनाथ की मूर्ति की स्थापना इस प्रकार की गई है कि व्यक्ति मंदिर में किसी भी स्थान पर किसी भी कोण में खड़ा रहे, उसे प्रतिमा के दर्शन होते हैं। इसका प्रस्तर शिल्प बहुत ही अनोखा और हृदयग्राही है।

इस मंदिर के निर्माता धरणशाह के सम्बन्ध में एक किवदंती प्रचलित है कि एक दिन धरणाशाह मंदिर का निर्माण देखने गये। एक दीपक जल रहा था। उसके तेल में एक मक्खी गिर गई। धरणाशाह ने तैल से सनी मक्खी को निकालकर अपनी जूती पर रख लिया, जिससे कि मक्खी के शरीर पर लगा तेल जूती पर जाए, व्यर्थ न चला जाए। शिल्पियों ने यह देखा और वे आश्चर्यचकित रह गये। उनका मन संदेह से भर गया कि ऐसा कंजूस व्यक्ति इतना बड़ा जिनालय कैसे बनवा सकेगा? परीक्षा करने के लिए उन्होंने एक दिन धरणशाह से कहा— नींवों में सर्वधातुओं का प्रयोग करना होगा क्योंकि इतना विशाल जिन-भवन पत्थर की नींव पर टिक नहीं पायेगा। शिल्पियों की बात सुनकर धरणशाह ने विपुल मात्रा में सर्वधातु जुटाकर उन्हें विस्मित कर दिया। धरणशाह यह मानता था कि व्यर्थ एक पैसा भी खर्चा न हो और आवश्यक खर्च में तनिक भी कमी न आए। इस प्रकार निर्मित 1444 स्तम्भों पर खड़ा हुआ और 29 हॉल वाला यह मंदिर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मूर्तिकला का अद्‌भुत नमूना है। इन स्तम्भों की विचित्रता यह है कि इनमें से कोई भी दो स्तम्भ एक समान नहीं है। इतने स्तम्भों के बावजूद कहीं से भी देखो प्रतिमा में कोई भी स्तम्भ बाधक नहीं बनता।

8.2.10 श्री महावीर जी

विश्व प्रसिद्ध अतिशय तीर्थ क्षेत्र श्री महावीर जी 'चांदनपुर ग्राम' में स्थित है, जो अब श्री महावीर जी के नाम से प्रसिद्ध है। पश्चिम रेलवे के भरतपुर और गंगापुर स्टेशनों के मध्य 'श्री महावीर जी' स्टेशन मंदिर से 7 कि.मी. दूर स्थित है। सवाई-माधोपुर जिले में स्थित यह तीर्थ क्षेत्र जयपुर से 175 कि.मी. और आगरा से 170 कि.मी. दूर स्थित है।

इस तीर्थक्षेत्र की मान्यता भी बहुत अधिक है। बड़ी संख्या में प्रायः वर्षभर यात्रियों का आगमन यहां रहता है। एक जनश्रुती के अनुसार बसवानगर के श्री अमरचंद विनाला ने 17 वीं शताब्दी के लगभग इस मंदिर का निर्माण करवाया था। कटले के मध्य में गगनस्पर्शी तीन शिखरों से अलंकृत एक विशाल एवं भव्य जैन मंदिर है। मंदिर में वेदियां हैं। पीछे के वेदी के मध्य में भगवान् महावीर स्वामी की गेहुआं रंग के पाषाण से निर्मित पद्‌मासन में अति मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा समीपस्थ टीले से प्राप्त हुई थी जहां एक ग्वाले की गाय प्रतिदिन स्वयं दूध गिरा देती थी। एक रात आये स्वप्न के अनुसार उस ग्वाले ने वहां से उस भव्य एवं मनोज्ञ प्रतिमा को निकाला। जिस स्थान पर यह प्रतिमा प्राप्त हुई थी, वहां छतरी के नीचे प्राचीन चरण युगल विराजमान है जिन पर आज भी दूध आदि चढ़ाया जाता है।

मुख्य मंदिर के पास ही एक अन्य मंदिर में महावीर स्वामी की श्वेत वर्ण की भव्यप्रतिमा नंदीश्वर स्थित है। मुख्य मंदिर के पूर्व में पार्श्वनाथजी का मंदिर है जिसमें सुन्दर कांच का काम दर्शनीय है। यहां यात्रियों को अद्‌भुत शांति मिलती है। इस मंदिर से कुछ दूर एक नदी पड़ती है जिसके पूर्वी तट पर शांतिवीर नगर स्थित है, यहां भी एक विशाल मंदिर है जिसमें शांतिनाथजी की लगभग 9 मीटर ऊंची प्रतिमा और चौबीसी विशेष रूप से दर्शनीय है। यहां सहस्त्र कूट चैत्यालय भी है। मंदिर के सामने भी एक चैत्यालय है। क्षेत्र के उद्‌भव काल से ही महावीर जयन्ती पर यहां आयोजित होने वाला मेला राजस्थान का महान मेला माना जाता है। चैत्र शुक्ला 13 से बैशाख कृष्ण 2 तक चलने वाले इस वार्षिक मेले में श्रद्धालुओं की भीड़ का आकलन करना बहुत कठिन होता है। यहां होली के अवसर पर भी मेला लगता है। भगवान् महावीर निर्वाणोत्सव(दीपावली) को बड़ी संख्या में जैन यात्री निर्वाण लड्‌डू चढ़ाने आते हैं। यहां जैनों के अलावा मीणा, गूजर, जाट आदि भी बड़ी संख्या में भगवान् के दर्शन करने आते हैं।

8.2.11 ऋषभदेवजी

राजस्थान के दक्षिणी अंचल में धुलेव नाम का कस्बा है। यह उदयपुर से 64 कि.मी. दूर उपत्यकाओं से घिरा हुआ है। यहां 'कोयल' नाम की नदी बहती है। यहीं ऋषभदेव का विशाल मंदिर है। यह एक कि. मी. के घेरे में स्थित पक्के पाषाण का मंदिर है। माना जाता है कि पहले यहां ईंटों का बना हुआ मंदिर था। वह टूट गया फिर 14 वीं-15 वीं शताब्दी में यह पाषाणमय मंदिर बना। इस मंदिर के गर्भगृह में भगवान् ऋषभदेव की पद्‌मासन में स्थित श्यामवर्णी भव्य प्रतिमा है। इसकी ऊंचाई साढ़े तीन फुट की है। इस मूर्ति पर केसर अधिक चढ़ाई जाती है, इसलिए इसे 'केसरियाजी' या 'केसरियानाथजी' भी कहते हैं। यह प्रतिमा बहुत ही चमत्कारी है। इसलिए जैन, अजैन, भील तथा अन्य जाति के लोग यहां हजारों की संख्या में आते हैं और मनौती मानते हैं। भील लोग इस मूर्ति को 'कालाजी' कहकर पुकारते हैं और उनके मन में इसके प्रति इतनी श्रद्धा और विश्वास है कि 'कालाजी' की आण को वे सर्वोपरि मानते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8.3 सारांश

अस्त जैन तीर्थों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्राय: सभी तीर्थ अध्यात्मिक चेतना के संवाहक हैं ।

8.4 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. तीर्थ से क्या तात्पर्य है? जैन सिद्ध तीर्थस्थानों का सांगोपांग विवेचन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जैन संस्कृति में तीर्थ स्थानों का महत्त्व प्रतिपादित करें।
2. राजस्थान के प्रमुख तीन तीर्थस्थलों का परिचय प्रस्तुत करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. चंपापुरी तीर्थ का सम्बन्ध किस तीर्थंकर से है?
2. शत्रुंजय तीर्थ कहां स्थित है?
3. दिलवाड़ा में स्थित भगवान् नेमिनाथ का मंदिर किसने बनवाया था?
4. 'भद्रबाहु' गुफा' कहां है?
5. रणकपुर मंदिर में कितने स्तम्भ हैं?
6. केसरियानाथजी के नाम से कौन तीर्थ क्षेत्र प्रसिद्ध है?
7. पांच पहाड़ियों से घिरा हुआ तीर्थ क्षेत्र कौन है?
8. 'पद्‌म सरोवर' का सम्बन्ध किस तीर्थ से है?
9. किस तीर्थ क्षेत्र में 20 तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ?
10. धवला टीका में किस क्षेत्र को मंगल क्षेत्र कहा है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–9 : कर्मकाण्ड

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 कृतिकर्म–देवपूजा
9.3 गृहस्थ का कृतिकर्म
9.4 पूजा के भेद
9.5 अष्ट द्रव्य का स्वरूप
9.6 पूजा विधि
9.7 चतुर्मुख
9.8 कल्पद्रुम पूजा
9.9 अष्टाह्निका पूजा
9.10 इन्द्रध्वज पूजा
9.11 सारांश
9.12 अभ्यास प्रश्नावली

9.0 प्रस्तावना

जैनधर्म में वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक होने के कारण इसमें प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया गया है। जैनधर्म प्रत्येक द्रव्य के स्वचतुष्टय (स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) रूप स्वतंत्रता को स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक द्रव्य शुद्ध पारमार्थिक दृष्टिकोण से परावलम्बन से रहित है। इसलिए आचार्यों ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया कि समस्त जीव निश्चय नय से शुद्ध–बुद्ध, नित्य, निरंजन, निर्विकार, परम स्वतंत्रता वाले स्वचतुष्टय के धनी हैं। सभी जीव समान हैं। न कोई छोटा है न बड़ा। इसीलिए परम शुद्ध निश्चय नय से पूज्य और पूजक भाव नहीं है क्योंकि पूज्य-पूजक भाव की संभावना तब रहती है जब प्रभु जीव में एवं सेवक का भेद हो। परन्तु व्यवहारदृष्टि से कर्म संयोग के कारण जीव में अनेक प्रकार की विषमतायें दृष्टिगोचर होती हैं। कर्म परतन्त्रता में रहने के कारण जीव पराधीन है तथा कर्मबंधन से रहित जीव स्वतंत्र है। संसारी प्राणी प्रभु के आदर्शमय गुणों की प्राप्ति हेतु अनेक विधि–विधानों का अवलम्बन लेता है। श्रावक के दैनिक कार्यों में देवपूजा का विशेष स्थान है। आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम्॥

9.1 उद्देश्य

पुण्यमय आदर्श गुणों के कीर्तन (अर्चना, प्रार्थना, पूजा) कहते हैं। आदर्श गुणानुरागी भव्य प्रसन्न मन वाला स्तोता (स्तुति करने वाला, पूजक) होता है। जिसने कृतकृत्य होकर परम पुरुषार्थ रूप अमृत स्वरूप पूर्णावस्था को प्राप्त कर लिया है ऐसे परम ब्रह्मस्वरूप शुद्धात्मा स्तुत्य (पूजनीय) हैं। स्तुति, पूजा, प्रार्थना का फल निश्रेयस सुख की प्राप्ति है।

9.2 कृतिकर्म–देवपूजा

कृतिकर्म साधु और गृहस्थ दोनों के आवश्यक कार्यों में मुख्य है। यद्यपि साधु सांसारिक प्रयोजनों से मुक्त हो जाता है फिर भी उसका चित्त भूलकर भी लौकिक समृद्धि, यश और अपनी पूजा आदि की ओर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आकृष्ट न हो और गमनागमन, आहारग्रहण आदि प्रवृत्ति करते समय दोषों का परिमार्जन होता रहे, इसलिए साधु कृतिकर्म को स्वीकार करता है। गृहस्थ की जीवनचर्या ही ऐसी होती है जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति निरन्तर सदोष बनी रहती है इसलिए उसे भी कृतिकर्म करने का उपदेश दिया गया है।

कृतिकर्म के मूलाचार में चार पर्यायवाची नाम दिये हैं—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म। इसकी व्याख्या करते हुए वहां कहा गया है कि जिस अक्षरोच्चाररूप वाचनिक क्रिया के परिणामों की विशुद्धि रूप मानसिक क्रिया के और नमस्कारादि रूप कायिक क्रिया करने से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों का 'कृत्यते छिद्यते' छेद होता है उसे कृतिकर्म कहते हैं। यह पुण्य संचय का कारण है, इसलिए उसे चितिकर्म भी कहते हैं। इसमें चौबीस तीर्थंकरों और पंचपरमेष्ठी आदि की पूजा की जाती है, इसलिए उसे पूजाकर्म भी कहते हैं तथा इसके द्वारा उत्कृष्ट विनय प्रकाशित होती है, इसलिए इसे विनयकर्म भी कहते हैं। यहां विनय की 'विनीयते निराक्रियते' ऐसी व्युत्पत्ति करके इसका फल कर्मों की उदय और उदीरणा आदि करके उनका नाश करना भी बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि कृतिकर्म जहां कर्मों की निर्जरा का कारण है वहां वह उत्कृष्ट पुण्य संचय में हेतु है। विनय समस्त गुण का मूल है, इसलिए उसे प्रमादरहित होकर साधुओं और गृहस्थों को यथाविधि करना चाहिए।

9.3 गृहस्थ का कृतिकर्म

मूलाचार में कृतिकर्म के व्याख्यान के प्रसंग से विनय की व्याख्या करते हुए उसके पांच भेद किये हैं—लोकानुवृत्ति विनय, अर्थ विनय, काम विनय और भयविनय—ये संसार के प्रयोजक हैं। लोकानुवृत्ति विनय दो प्रकार का है। एक वह जिसमें यथावसर सबका उचित आदर-सत्कार किया जाता है और दूसरा वह जो देवपूजा आदि के समय किया जाता है। गृहस्थ कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि सामग्री का उपभोग करता है वह सामग्री कैसी हो इसके सम्बन्ध में आचार्य वसुनन्दि कहते हैं जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए गन्ध, पुष्प और धूप आदि जिस सामग्री का उपयोग किया जाय वह प्रासुक और निर्दोष होनी चाहिए।

9.4 पूजा के भेद

याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजा विधि के पर्यायवाची शब्द हैं। महापुराण में पूजा के भेद बताते हुए लिखा है—**प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्।**
चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टान्तिकोऽपि च ॥

अर्थात् पूजा चार प्रकार की है—

1. सदार्चन (नित्यमह), 2. चतुर्मुख (सर्वतोभद्र), 3. कल्पद्रुम, 4. अष्टाह्निका।

इसके अतिरिक्त ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है तथा और भी जो पूजा के प्रकार हैं वे इन्हीं भेदों के अन्तर्भूत हैं। पूज्य पुरुष के प्रति आदर-सत्कार, बहुमान, विनय, समर्पण, भाव ही पूजा है तथापि विभिन्न अपेक्षा-दृष्टि नय निक्षेपों की अपेक्षा इसमें भेद-प्रभेद परिलक्षित होता है जैसे नाम पूजा, स्थापना पूजा, द्रव्य पूजा, क्षेत्रपूजा, काल पूजा, भाव पूजा। पूजा विधान सामान्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है—1. भावपूजा, 2. द्रव्य पूजा। भाव पूजा श्रमण साधुजनों अथवा ज्ञानवंत श्रेष्ठ श्रावक द्वारा ही सम्पन्न किया जाना होता है। सरागी श्रावक के लिए द्रव्य पूजा करने के लिए पूजक को सामग्री तैयार करनी होती है।

9.5 अष्ट द्रव्य का स्वरूप

अष्ट कर्मों को क्षय करने के लिए जिन पूजन में अष्ट द्रव्यों का ही विधान है। इन सभी द्रव्यों को एक बड़े थाल में क्रमशः व्यवस्थित करना चाहिए। यथा—

1. जल—स्वच्छ जल को जलपात्र में भर लेना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. चन्दन—स्वच्छ जलमें चन्दन केशर मिलाकर एक पात्र में भर लेना है।
3. अक्षत—श्वेत पखारे हुए चावलों को थाल में रखना चाहिए।
4. पुष्प—श्वेत पखारे हुए चावलों को चन्दन केसर में रंगकर अक्षत को रखना होता है।
5. नैवेद्य—गिरी की चिटें अथवा टुकड़ियों को पखारकर अथवा शुद्ध खांड में पाग कर रखना चाहिए।
6. दीप—गिरी की चिटें अथवा टुकड़ियों को केशर चन्दर में रंग कर अथवा यदि संभव हो तो घृत और कपूर का जला हुआ दीप रखा जाता है।
7. धूप—चंदन चूरा तथा धूप चूरा, कभी-कभी यदि चंदन चूरा पर्याप्त न हो तो अक्षत में उसे ही मिलाकर व्यवस्थित कर लिया जाता है।
8. फल—बादाम, लौंग, बड़ी इलायची, काली मिर्च, कमल-घटक आदि शुष्क फलों का प्रक्षालन कर थाल में रखना चाहिए।

महार्घ—थाल के बीच में इन अष्ट द्रव्यों का मिश्रण महार्घ का रूप ग्रहण करता है। इन उपरिलिखित अष्ट द्रव्यों से पूजा विधि का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित है।

9.6 पूजा विधि

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू में लिखा है—

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥ (कल्प 36)

देवपूजा छह प्रकार की है—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, संनिधापन, पूजा और पूजाफल। इन छहों कर्मों का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं जिनेन्द्रदेव का गुणानुवाद करते हुए अभिषेक विधि करने की प्रस्तावना करना प्रस्तावना है। पीठ के चारों कोणों पर जल से भरे हुए चार कलशों की स्थापना करना पुराकर्म है, पीठ पर यथाविध जिनेन्द्रदेव को स्थापित करना स्थापनाकर्म है। ये जिनेन्द्रदेव हैं, यह पीठ मेरु पर्वत है, जलपूर्ण ये कलश क्षीरोदधि के जल से पूर्ण कलश हैं और मैं इन्द्र हूँ जो इस प्रकार अभिषेक के लिए उद्यत हुआ हूँ—ऐसा विचार करना संनिधापन है। अभिषेकपूर्वक पूजा करना पूजा है और सबके कल्याण की भावना करना पूजाफल है। नित्यमह पूजा के अतिरिक्त अन्य भी पूजा के प्रकार हैं जैसा ऊपर वर्णन किया गया है वह इस प्रकार है।

9.7 चतुर्मुख पूजा

जिसमें मुकुटबद्ध राजाओं की तरह भगवान् के चारों ओर खड़े होकर पूजा की जाती है उसे 'चतुर्मुख' पूजा कहते हैं। इसे सर्वतोभद्र महापूजा भी कहते हैं।

9.8 कल्पद्रुम पूजा

यह पूजा चक्रवर्ती के द्वारा की जाती है, इसमें चक्रवर्ती 'किमिच्छकदान' देता है अर्थात् जो याचक मांगते हैं वही दान देता है। इसमें याचकों की इच्छापूर्ति रूप रत्न, निधि आदि दान विशेष है। यह 'कल्पद्रुम' नाक का यज्ञ कहलाता है।

9.9 अष्टाह्निका पूजा

यह वर्ष में तीन बार होती है। देव बड़ी भक्ति से इस पूजा को करते हैं। आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन के महिनों के देव नन्दीश्वर द्वीप पूजा करने जाते हैं। यह आठवां द्वीप कहलाता है। देव नन्दन वनों से पुष्प, फलादि ले जाकर बड़ी भक्ति से पूजा करते हैं। चारों प्रकार के देव यह पूजा करते हैं। अपने चित्त को भक्ति में लगाकर तल्लीनतापूर्वक अष्टमी से पूर्णिमा तक पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्व रात्रि और पश्चिम रात्रि में दो-दो प्रहर तक ये देव पूजा करते हैं। मेरु की इसी प्रकार पूजा करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर नहीं जा सकते। विद्याधर तथा ऋद्धिधारी मुनि भी नहीं जा सकते। मनुष्य की शक्ति नन्दीश्वर द्वीप जाने की नहीं है इसलिए वर्ष के तीनों अष्टाह्निका पर्वों में मनुष्य इस मनुष्य लोक में ही भावों से नन्दीश्वर द्वीप की स्थापना करके पूजन करते हैं।

9.10 इन्द्रध्वज पूजा

इस पूजा को स्वर्ग के देव करते हैं। कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय में इन्द्र जाकर पूजा करता है तथा ध्वज चढ़ाता है। इस पूजा में वे पाँचों मेरु में विराजमान जिन बिम्बों की पूजा करते हैं तथा बक्षार आदि पर विराजमान जिन बिम्ब की पूजा करते हैं, रुचकगिरि आदि तेरह द्वीपों में जो जिन बिम्ब हैं उनकी पूजा की जाती है। पंच कल्याणकों में जो पूजा की जाती है, वह भी इसी के अन्तर्गत आती है। विशेष अनुष्ठानों की सम्पन्नता के बाद हवन आदि की विधि करने का वर्णन प्राप्त होता है जिसके माध्यम से विश्वशान्ति की भावना की जाती है।

9.11 सारांश

अत: यह कहना उचित होगा कि जैन धर्म में कर्मकाण्ड का स्वरूप आध्यात्मिक है।

9.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन परम्परा में व्रत पालन का उद्देश्य बताते हुए कुछ प्रमुख व्रतों का वर्णन करें।
2. जैनधर्म में उपासना पद्धति की विशेषताओं एवं प्रकारों का निरूपण करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. व्रत किसे कहते हैं और व्यावहारिक जगत् में उसका क्या महत्त्व है?
2. क्या स्तुति-पूजा प्रार्थना से निश्रेयस सुख की प्राप्ति सम्भव है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सप्त परम स्थान व्रत .... मास में किया जाता है।
2. समवसरण व्रत में .... को ही व्रत किया जाता है।
3. कृतिकर्म .... दोनों के आवश्यक कार्यों में मुख्य है।
4. पूजा के सामान्य रूप से .... ये भेद हैं।
5. इन्द्रध्वज पूजा .... करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–10 : जैन पर्व

संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 पर्व शब्द का अर्थ
10.3 जैन पर्वो की सामान्य विशेषताएँ
10.4 आत्मशुद्धि
10.5 आचरण
10.6 स्वभाव की ओर अभिमुख होना
10.7 विरक्ति की राह दिखाना
10.8 भेद-विज्ञान का उपदेश
10.9 आत्मा का विजय
10.10 नित्य पर्व
  10.10.1 दशलक्षण-पर्युषण पर्व
  10.10.2 उभय परम्परा का पर्व
  10.10.3 महापर्व की संज्ञा और सार्थकता
  10.10.4 अषह्निका पर्व
10.11 नैमित्तिक पर्व
  10.11.1 महावीर जयन्ती
  10.11.2 वीर शासन जयन्ती
  10.11.3 अक्षय तृतीया पर्व
  10.11.4 श्रुत पंचमी पर्व
  10.11.5 दीपावली
  10.11.6 सलूनो या रक्षाबन्धन
10.12 सारांश
10.13 अभ्यास प्रश्नावली

10.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में पर्वों का मानव समाज से अभिन्न सम्बन्ध रहा है। प्रारम्भ से ही जैन तीर्थंकरों ने सामाजिक व्यवस्था के लिए मार्गदर्शन दिया है। चाहे कृषि हो चाहे सुरक्षा अथवा भाषा इन सबके लिए तीर्थंकरों ने मूल्यात्मक दिशा प्रदान की है। समाज में प्राणि-सहयोग के महत्त्व को उद्घाटित करने के लिए अहिंसा के मूल्य को सर्वोपरि माना गया है। इस तरह से मूल्यात्मक व्यवस्था व्यक्ति के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है। 'पर्व' मूल्यात्मक सामाजिक व्यवस्था का एक आयाम है। किसी जाति, धर्म या समाज के पर्व को देखकर उसकी संस्कृति, सभ्यता, जीवन-स्तर और वैशिष्ट्य को भली प्रकार जाना जा सकता है। जिस प्रकार किसी अंग के अभाव में अंगी अधूरा रहता है उसी प्रकार पर्व के बिना समाज और जीवन अधूरा रहता है।

10.1 उद्देश्य – पर्व आत्मविकास का एक सुअवसर है। कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से पर्व दो प्रकार के होते हैं। जो पर्व किसी व्यक्ति या घटना विशेष के निमित्त से प्रवर्तित होते हैं वे कृत्रिम पर्व हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैसे—अक्षयतृतीया, रक्षा-बन्धन, दीपावली, महावीर जयन्ती, ऋषभ जयन्ती, ऋषभ निर्वाणोत्सव इत्यादि। अकृत्रिम पर्व अनादि हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे जैसे अष्टाह्निका पर्व, रत्नत्रय पर्व, पर्यूषण या दशलक्षण पर्व।

10.2 पर्व शब्द का अर्थ

पर्व शब्द का अर्थ है उत्सव, अवसर। पर्व एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर जाने का संकेत देता है। इस अवस्था में एक नवीन दिशा, नवीन जागृति और नई प्रेरणा मिलती है। पर्व मार्गदर्शक है, दिशा-सूचक है, संकेत है, एक मोड़ तक ले जाने में निमित्त हैं। जैन पर्व का सन्देश है कि चौरासी लाख योनियों में अनेक बार जीव ने यात्राायें की हैं, अब उसके जीवन में मोड़ की आवश्यकता है। मिथ्यात्व भाव की यात्रा को छोड़कर सम्यक्त्व भाव की यात्रा करनी है, एक भिन्न मोड़ पर आना है। अभी तक मिथ्यात्व में जो यात्रा की थी वह कोल्हू के बैल की तरह यही संसार में ही भ्रमण कराने वाली थी, मोक्ष के अनुपम सुख से उसका कोई प्रयोजन नहीं था, अब प्रयोजन बदल गया है, अब मोड़ दूसरी ओर हो गया है, वहां से हटकर वह चेतना की ओर उन्मुख होती है, वह पूर्णता का क्षण ही पर्व होता है।

यथार्थ में पर्व का सम्बन्ध लौकिक जगत् से न होकर आत्मा से है। आत्मा के स्वरूप को जानने, समझने और अनुभव करने में ही पर्व की सार्थकता है। इसके लिए क्रमिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार पुस्तक को पढ़ने वाला एक-एक पंक्ति को पढ़कर पूरा पृष्ठ पढ़ लेता है, पुनः वह दूसरा पृष्ठ निकालकर पढ़ता है, इस प्रक्रिया को करते हुए एक दिन वह पूरी पुस्तक पढ़ लेता है, उसी प्रकार पर्व के दिनों में किये हुए अभ्यास क्रमशः पूर्णता की ओर ले जाते हैं। सीढ़ियों को क्रम से पार करते हुए हम मंजिल पर पहुंचते हैं, उसी प्रकार पर्व में अनेक प्रकार की साधनाओं को अपनाते हुए हम आत्मत्व की उपलब्धिरूपी मंजिल पर पहुंचने की चेष्टा करते हैं।

10.3 जैन पर्वों की सामान्य विशेषतायें

पर्व की अनेक विशेषतायें है। पर्व विशेष रूप से मनुष्य के उत्साह, आनन्द और स्फूर्ति का द्योतन कराता है। अपने आनन्द को व्यक्त करने और अनुभव करने के लिए विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं के आयोजन, मनोरंजन, स्वादिष्ट सुन्दर भोजन का ग्रहण करना, अच्छे-अच्छे स्थान पर भ्रमण करना, मनोज्ञ वस्तुओं को देखना, अच्छी-अच्छी बातों को सुनाना, कथा-वार्तालाप वगैरह करना, अनेक प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन करना इत्यादि अनेक मार्ग अपनाता है। प्रायः कर मनुष्य की ये प्रवृत्तियां सांसारिकता से सम्बद्ध हैं। जैनधर्म आत्मवादी धर्म है, उसके सारे प्रयत्न मनुष्य को लोककल्याण और आत्मोत्थान की ओर ले जाने वाले हैं, अतः जैन पर्वों की अपनी विशेषतायें हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

10.4 आत्मशुद्धि

आत्मशुद्धि जैन पर्वों की प्रमुख विशेषता है। इसके लिए क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायों को हटाकर सम्यक्, श्रद्धा, ज्ञान और आचरण को जीवन में उतारा जाता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के द्वारा अपनी शुद्धि की जाती है। वाणी में स्याद्वाद, विचारों में अनेकान्तवाद और आचार में अहिंसा की प्रतिष्ठापना की जाती है। आत्मसाधना करते समय उत्तम क्षमा, मार्दव आदि सद्‌गुणों के विकास तथा क्रोधादि विकारों के शमन हेतु व्रत, उपवास, एकाशन, दर्शन, पूजन, भक्ति, स्वाध्याय, उपदेश श्रवण आदि प्रधान कार्य किये जाते हैं। इन्हीं के द्वारा आत्मा के राग-द्वेष आदि विकारों को शान्त कर उत्तरोत्तर समता की ही अभिवृद्धि की जाती है।

10.5 आचरण की शिक्षा

धार्मिक पर्व संसार के प्राणियों को सद् आचरण की शिक्षा प्रदान करते हैं। चाहे गृहस्थ हो या साधु हो, प्रत्येक के आचरण के मापदण्ड और नियम जैनधर्म में निर्धारित हैं। चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है। अंकुशरहित क्रियायें मन को भटकाने वाली हैं। जो व्यक्ति अनैतिक है उसे आत्मिक शान्ति की उपलब्धि नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हो सकती। जिस व्यक्ति ने अपने तन और मन को संयम की डोरी से बांधा है उस व्यक्ति का जीवन सफल है।

10.6 स्वभाव की ओर अभिमुख होना

मनुष्य इस संसार में भ्रमण करता हुआ दु:ख उठा रहा है, इसका मूल कारण स्वभाव की ओर उन्मुख न होना है। जिस प्रकार हरिण जंगल में खुशबू के लिए इधर-उधर दौड़ता फिरता है, उसे यह भान नहीं है कि सुगन्ध उसकी नाभि में ही है, उसी प्रकार सांसारिक प्राणी पर पदार्थों में सुख मानता हुआ उन्हें ही चाहता है। आत्मा के अनन्त सुख का उसे भान नहीं है। जैन पर्व मनुष्य को पर परिणति से विमुख कर स्वभाव की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं।

10.7 विरक्ति की राह दिखाना

जैन पर्व खाने-पीने, मौज उड़ाने और मनोरंजन का साधन नहीं है। ये सांसारिक विषयभोगों से मनुष्य के मन को हटाकर विराग की ओर से जाते हैं। वीतरागता इनका आदर्श है। वीतरागी सन्तों से सम्बद्ध तिथियों में ही प्राय: ये पर्व आया करते हैं। जिस प्रकार राग-द्वेष को त्याग कर तीर्थंकरादि मोक्ष गये उसी प्रकार हमें भी सांसारिकता से विरक्त होकर विरक्ति का मार्ग अपनाकर मोक्ष-प्राप्ति की सतत चेष्टा करनी चाहिए, यही इन पर्वों का सन्देश है।

10.8 भेद-विज्ञान का उपदेश

आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं वे भेद-विज्ञान से ही हुए हैं। संसार में जो बद्ध प्राणी हैं वे भेद-विज्ञान के अभाव के कारण ही बंधे हुए हैं। जिनके हृदय में भेद-विज्ञान जाग्रत होता है उनका चित्त चंदन के समान शीतल हो जाता है। उनका सत्य स्वरूप प्रगट होता है, मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है तथा शान्त दशा उत्पन्न हो जाती है। पर्व के दिनों में बाह्य आडम्बर को दूर कर आत्मा और पर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करने से हमारा भेद-विज्ञान पुष्ट होता है।

10.9 आत्मा पर विजय

भगवान् महावीर ने कहा था कि संग्राम में लाखों दुर्जेय व्यक्तियों को जीतने की अपेक्षा अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करना परम जय है। जैन पर्व हमें आत्मजयी बनने की प्रेरणा देते हैं। आत्मजयी जीव समभाव का आचरण कर मोक्ष की प्राप्ति में सफल होते हैं। मोक्ष और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणमन हो सकता है, यह आत्मजयी को ही प्राप्त हो सकता है। जैन परम्परा में मनाये जाने वाले प्रमुख पर्वों का वर्णन इस प्रकार है—

10.10 नित्य पर्व

10.10.1 दशलक्षण-पर्युषण पर्व

दशलक्षण-पर्युषण पर्व समस्त जैन समाज का सर्वाधिक पवित्र पर्व है। यद्यपि ये पर्व वर्ष में तीन बार आते हैं पर भाद्रपद के पर्व की विशेष महत्ता है। ये धर्माराधना के श्रेष्ठ दिन होते हैं। पर्युषण पर्व का सम्बन्ध तो अनादि परिवर्तनशील कालचक्र के साथ है। कालचक्र के साथ इस महापर्व का आवश्यक सम्बन्ध है।

अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल इस प्रकार कल्पकाल के दो विभाग हैं। दोनों के 6-6 विभाग हैं। उनमें अवसर्पिणीकाल का तृतीय भाग सुषम दु:षमाकाल भोग युग का समय था। जब उसका पल्य का अष्टम भाग बराबर काल शेष रह गया, तब भोग-भूमि की सभ्यता क्षीण होकर कर्मयुग की सभ्यता का प्रारम्भिक विकास होने लगा था। भोगयुग के कल्पवृक्षों की कान्ति क्षीण हो जाने से आषाढ़-शुक्ल पूर्णिमा की सन्ध्याकाल में सर्वप्रथम मानव समाज ने एक साथ लाल-सूर्यास्त का पूर्णगोल दृश्य पश्चिम दिशा में और चन्द्रोदय का काल पूर्ण गोल दृश्य पूर्व दिशा में देखा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस विचित्र दशा से सहसा भयभीत मानवों को प्रथम कुलकर या मनुमहाराज ने इस प्राकृतिक दृश्य का अभिप्राय समझाया। इस कारण मानव शान्त हो गया। उस पूर्णिमा का अग्रिम दिन श्रावणकृष्ण प्रतिपदा (एकम) कर्मयुग का प्रथम दिन, प्रथम सप्ताह, प्रथम पक्ष, प्रथम मास, प्रथम अयन, प्रथम वर्ष, प्रथम युग और प्रथम शताब्दी का प्रथम दिन था। इसी दिन से कर्मयुग का व्यवहारकाल एवं सभ्यता का प्रारम्भ हुआ।

दूसरा कथन इस प्रकार भी प्राप्त है कि अवसर्पिणीकाल (ह्रासकाल) के समाप्त होने पर ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी से आषाढ़-शुक्ल पूर्णिमा तक भरत और ऐरावत क्षेत्रों में प्रलयक्रान्ति तीव्रता से होती है जिसमें अग्नि आदि पदार्थों की वर्षा होती है जिससे सर्वप्राणी प्रायः नष्ट हो जाते हैं मात्र विजयार्द्ध की गुफा में 72 युगल सुरक्षित रहते हैं। तत्पश्चात्, उत्सर्पिणीकाल (उन्नतिकाल) के प्रारंभ में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से भाद्र-शुक्ल चतुर्थी तक 49 दिन घृत, दुग्ध, दधि आदि की वर्षा से प्रलयकाल की अग्नि शान्त हो जाती है, पृथ्वी पर शीतलता होने से वनस्पति आदि शाक फल, फूल उत्पन्न हो जाते हैं। छिपे हुए मनुष्य युगल अपने-अपने स्थानों से निकलकर पृथ्वी पर बसने लगते हैं। इस तरह सृष्टि का पुनर्निर्माण होता है। मानव जाति ने सृष्टि की सुखद स्मृति के प्रतीक रूप में पर्यूषण मनाना प्रारम्भ किया।

10.10.2 उभय परम्परा का पर्व

यह पर्व श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में अनन्त उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तीनों सम्प्रदाय (श्वे. मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी) भाद्रवदी बारस से भाद्र-शुक्ल चौथ तक 8 दिन के अष्टाह्निक पर्व के रूप से मनाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय भाद्रपद शुक्ल पंचमी से अनन्त चतुर्दशी तक दश दिन के दशलक्षण पर्व के रूप में मनाते हैं। दोनों का इस संदर्भ में अपना-अपना मत है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार दुखमा-दुखमा के प्रलय के शेष 8 दिनों में पर्वाराधना करने से वातावरण पवित्र धर्ममय बनता है। जबकि दिगम्बर की मान्यता है कि दुखमा-दुखमा के समाप्त होने पर नई सृष्टि का वातावरण बनता है। वास्तव में दोनों का उद्देश्य तो धर्ममय वातावरण बने, सृष्टि में सुख-समृद्धि-पवित्रता बढ़े यही है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्थानकवासी इसका प्रारम्भ तेरस से पंचमी तक मूर्तिपूजकों के एक दिन बाद प्रारंभ करते हैं।

10.10.3 महापर्व की संज्ञा और सार्थकता

जैन शास्त्रों में इस पर्व सम्बन्धी अनेक सार्थक नाम प्रसिद्ध हैं, जो विश्व में धार्मिक महत्त्व दर्शाते हैं—

1. **पर्वराज**—अन्य पर्वों से विशेष महत्त्व, समय साध्य और क्रान्ति का कर्त्ता है।
2. **महापर्व**—अति प्राचीन तथा सर्व पर्वों में प्रधान पर्व है।
3. **दशलक्षण पर्व**—इसमें आत्मधर्म के क्षमा आदि दश धर्मों की साधना होती है।
4. **पर्युषण पर्व**—जिस पर्व में विषय कषायों का उषण-दहन किया जाये मनसा-वाचा-कर्मणा।
5. **पर्युपासना पर्व**—जिसमें आत्मशुद्धि के लिए योग्यता से क्षमा आदि की उपासना की जाये।
6. **पर्युपवास**—जिसमें मन, वचन, काय से आत्मा के गुणों का ध्यान किया जाये अथवा आत्म शान्ति को प्राप्त किया जाये।
7. **पर्युपशमना**—जिसमें अनेक प्रकाश के साधनों द्वारा विषय कषायों का त्याग कर शान्ति को धारण किया जाये। स्वाध्याय से आत्मा में समता धारण करना।
8. **पर्युषण पर्व**—इस अपभ्रंश शब्द का अर्थ है परि-समन्तात् उष्यन्ते, दह्यन्ते, रागद्वेषमोहादि कर्माणि यस्मिन् पर्वाणि इति पर्युषण पर्व।
9. **सम्वत्सरी पर्व**—जो विषय कषायों को शान्ति के साथ एक वर्ष (सम्वत्सर) के प्रतिक्रमण पूर्वक समाप्त किया जाता है।

इस प्रकार के प्रचलित शब्द स्वयं ही इस पर्व की गरिमा का द्योतन कराने वाले हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उभय परम्परा में पर्व के मनाने के विशिष्ट प्रकार हैं परन्तु लक्ष्य दोनों का ही आत्म शुद्धि का है। इनमें आत्मवीर का जीवन प्रस्तुत किया जाता है। चैत्य वंदन, प्रतिक्रमण आदि की विशेष महत्ता होती है। व्रत-उपशम आदि का श्रावक पालन करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में दश दिन **'दशलक्षण पर्व'** के दिनों में **तत्त्वार्थसूत्र** में दस अध्यायों का स्वाध्याय एवं आत्मा के दशलक्षण क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य धर्मों की महत्ता होती है। मंदिरों में विशाल जनसमुदाय पूजन प्रक्षाल करता है।

इन दिनों व्रत-उपवास बड़ी श्रद्धा से आबाल वृद्ध करते हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, प्रवचन, चैत्य वन्दन के कार्यक्रमों के साथ सुगंधदशमी, अनन्तचतुर्दशी व्रत के साथ तेरस से पूनम तक रत्नत्रय व्रत की आराधना करते हैं। मंदिरों में प्रायः प्रतिदिन अनेक विधि विधानों का आयोजन होता है। कुछ लोग पूरे भाद्रपद मास में आराधना करते हैं जो सोलह कारण व्रताराधना कहलाता है। यह पर्व विश्व मैत्री का पर्व है। जो सर्वत्र शान्ति एवं भ्रातृभाव की भावना का विकास करता है।

10.10.4 अष्टाह्निका पर्व

दिगम्बर परम्परा में प्रतिवर्ष कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ में शुक्ल पक्ष की अष्टमी से पूर्णिमा तक अष्टाह्निका पर्व बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। जैन मान्यता के अनुसार इस पृथ्वी पर आठवां नन्दीश्वर द्वीप है। उसका व्यास 163 करोड़ योजन है। नन्दीश्वर द्वीप में 52 अकृत्रिम चैत्यालयों में 5616 जिनबिम्ब विराजमान हैं।

कल्पवासी इन्द्र एवं सम्यग्दृष्टि देव ही नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं और वहां आठ दिन रहकर भक्तिभाव पूर्वक अष्टाह्निका पर्व मनाकर सातिशय पुण्य का बन्ध करते हैं। मनुष्य अपनी शक्ति की लघुता को ध्यान में रखकर यहीं जिनमंदिर में नन्दीश्वर द्वीप तथा उसमें स्थित जिनमंदिर एवं जिनबिम्ब इत्यादि की कल्पनाकर श्रद्धाभक्ति पूर्वक अष्टाह्निका पर्व के दिनों में उनकी पूजा करता है, क्योंकि देवगण इन्हीं दिनों नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं। इन दिनों प्रायः लोग सिद्धचक्र विधान करते हैं। श्वेताम्बरों में भी पर्यूषण के बाद सबसे महत्त्व का जैन पर्व सिद्धचक्र पूजा विधान ही है किन्तु उनमें यह पूजा वर्ष में दो बार चैत्र और आसौज में होती है और सप्तमी से पूनम तक 9 दिन चलती है।

अष्टाह्निका पर्व के दिनों में विशेष रूप से व्रत, नियम एवं संयम का पालन करना चाहिए तथा अपनी शक्ति के अनुसार त्याग एवं तपस्या द्वारा आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

10.11 नैमित्तिक पर्व

नैमित्तिक पर्व वे कहलाते हैं, जो किसी घटना विशेष के कारण समाज में प्रचलित हो गये अथवा तीर्थंकरों के कल्याणक दिवस नैमित्तिक पर्व कहलाते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के पांच कल्याणक होते हैं, किन्तु समाज में सभी तीर्थंकरों के सभी कल्याणक मनाने का प्रचलन नहीं है। प्रायः ऋषभदेव के जन्म और निर्वाणकल्याणक, पार्श्वनाथ के ज्ञान और निर्वाण कल्याणक एवं भगवान् महावीर के जन्म और निर्वाण कल्याणक विशेष आयोजन पूर्वक मनाये जाते हैं। यहां प्रमुख नैमित्तिक पर्वों का वर्णन किया जा रहा है।

10.11.1 महावीर जयन्ती

तीर्थंकर महावीर का जन्म-दिन महावीर जयन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। उनका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को बैशाली के गणनायक सिद्धार्थ के घर हुआ था। महावीर का तीर्थंकर के रूप में जन्म उनके पिछले अनेक जन्मों की सतत साधना का परिणाम था। उनके वर्द्धमान, वीर, सन्मति, महावीर आदि नाम थे।

आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ कहा है। व्यष्टि के हित के साथ-साथ महावीर के उपदेश में समष्टि के हित की बात भी निहित थी। उनका उपदेश प्राणीमात्र के कल्याण के लिए था। उन्होंने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त जैसे सिद्धान्तों द्वारा मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित कर समाज में समता का साम्राज्य स्थापित किया। उनके उपदेश आज भी जगत् के लिए कल्याणकारी हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान् महावीर के महान् सिद्धान्तों पर इस दिन स्थान-स्थान पर गोष्ठियां, प्रभात जागरिका आदि के कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं।

10.11.2 वीर शासन जयन्ती

भगवान् महावीर की दिव्य-देशना सर्वप्रथम श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को ही खिरी थी। ऋषभादि पार्श्व तेईस तीर्थंकरों में से प्रत्येक के केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त अपने-अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन करके अपनी धर्म व्यवस्था, धर्मशासन या जिनशासन की स्थापना की थी और सच्चे सुख के साधन मोक्ष मार्ग का पुनः-पुनः उद्घाटन किया था। एक तीर्थंकर द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन से लेकर अगले तीर्थंकर के धर्मचक्र प्रवर्तन पर्यन्त उक्त पूर्ववर्ती तीर्थंकर का ही शासन चला और लोक प्रसिद्ध रहा। इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ (ई. पू. 877-777) का धर्मशासन ई. पू. 846 से लेकर 557 तक चला जिसके उपरान्त अन्तिम तीर्थंकर निर्ग्रंन्थ ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान महावीर का शासन प्रवर्तित हुआ।

तीर्थंकर भगवान् महावीर की विपुलाचल पर हुई सबसे पहली धर्मशासन के कारण श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को वीर शासन जयन्ती के रूप में जैन समाज अत्यन्त उल्लास पूर्वक मनाता है।

10.11.3 अक्षय तृतीया पर्व

प्रतिवर्ष बैशाख शुक्ला तृतीया को अक्षय तृतीया पर्व मनाया जाता है। यह जैनों का ऐतिहासिक पर्व है। इस दिन प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने हस्तिनागपुर के राजा श्रेयांस के यहां इक्षुरस का आहार लिया था, तभी से उनके पारणा के निमित्त से यह पर्व प्रारंभ हुआ। भगवान् ऋषभदेव मानव संस्कृति के आदि संस्कर्त्ता हैं। भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि षट्कर्मों की शिक्षा दी थी। जब उन्होंने विरक्त होकर दीक्षा ली थी वह दिन चैत्र बदी नवमी का था। मौन साधना के बाद जब वे आहार को निकले उस समय चूंकि लोग साधुओं के आचार-विचार से अनभिज्ञ थे, अतः भावुक मनुष्य भगवान् के दर्शन कर भक्ति-भावना से विभोर होकर अपनी रूपवती कन्यायें, सुन्दर वस्त्र, अमूल्य आभूषण, हाथी, घोड़े, रथ, सिंहासन आदि वस्तुयें भेंट करने लगे। किसी को भी आहार देने की विधि ज्ञात नहीं थी। इस प्रकार पुनः उन्होंने छह माह निराहार रहकर योग-साधना की। छह माह बाद पुनः आहार के लिए हस्तिनापुर आये। राजा श्रेयांस को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो गया उन्होंने विधिपूर्वक भगवान् ऋषभ को इक्षुरस का आहार कराया। राजा श्रेयांस के यहां उस दिन रसोई गृह में भोजन अक्षीण (जो क्षीण न हो, समाप्त न होने वाला) हो गया। अतः इसे आज भी लोग 'अक्षय तृतीया पर्व' कहते हैं। उक्त दिन से दानतीर्थ की परम्परा प्रारंभ हुई थी, इसलिए इस तिथि में दान देना, पूजा करना, अतिथि सत्कार करना आदि कृत्य करना चाहिए।

श्वेताम्बर परम्परा में यह पर्व एक वर्ष तक एकान्तर तप (एक दिन के बाद एक दिन उपवास) के रूप से यह मनाया जा रहा है। इस तप का समापन उल्लास पूर्ण वातावरण में होता है। कुछ व्यक्ति शत्रुञ्जय आदि जैन तीर्थ स्थानों में आकर तपस्या पूरी करते हैं तो कुछ व्यक्ति अपने धर्माचार्यों की सन्निधि में इसका समापन करते हैं।

10.11.4 श्रुत पञ्चमी पर्व

दिगम्बर सम्प्रदाय में धीरे-धीरे जब अंग ज्ञान लुप्त हो गया तो अंगों और पूर्वों के एक देश के ज्ञाता आचार्य धरसेन हुए। वे सोरठ देश के गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे। उन्हें इस बात की चिन्ता हुई कि उनके बाद श्रुतज्ञान का लोप हो जायेगा, अतः उन्होंने महिमा नगरी में होने वाले मुनि सम्मेलन को पत्र लिखा, जिसके फलस्वरूप वहां से दो मुनि उनके पास पहुंचे। उन दोनों मुनियों का नाम था पुष्पदन्त और भूतबली। दोनों की परीक्षा लेकर शुभ मुहूर्त्त में आचार्य महाराज ने उन्हें पढ़ाया। अध्ययन समाप्ति के तुरन्त बाद आचार्य महाराज ने उन दोनों को तत्काल विदा कर दिया क्योंकि आचार्य को ज्ञात हो गया कि मेरी आयु अब समाप्त होने वाली है। दोनों शिष्य आचार्य महाराज को नमस्कार करके विहार कर गये और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अकंलेश्वर में वर्षावास किया। वर्षायोग समाप्त होने पर पुष्पदन्त जिनपालित के साथ विहार करके वनवास चले गये, बीस प्ररूपणा (अधिकार) गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र बनाकर और जिनपालित को पढ़ाकर उन्हें भूतबली आचार्य के पास भेज दिया। भूतबलि ने अपने गुरुबन्धु की अल्पायु जानकर द्रव्यप्रमाण उनमें से लेकर षट्खण्डागम की रचना की और उसे पुस्तकारूढ़ करके चतुर्विध संघ के साथ उसकी (श्रुतज्ञान) की पूजा की। फिर उसे जिन पालित के हाथ पुष्पदन्त के पास भेज दिया। उन्होंने भी चतुर्विध संघ के साथ सिद्धान्त ग्रंथ की पूजा की। सिद्धान्त ग्रंथों की पूजा ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को की गयी थी, अतः उस स्मृति में यह पावन दिवस श्रुतपंचमी पर्व के रूप में मनाया जाने लगा।

10.11.5 दीपावली

ऊपर जो जैन पर्व बतलाये गये हैं वे ऐसे हैं जिन्हें केवल जैन धर्मानुयायी ही मनाते हैं। इनके सिवा कुछ पर्व ऐसे भी हैं जिन्हें जैनों के सिवा हिन्दू जनता भी मनाती है। ऐसे पर्वों में सबसे अधिक उल्लेखनीय दीपावली या दिवालीका पर्व है। यह पर्व कार्तिक मास की अमावस्या को मनाया जाता है। साफ-सुथरे मकान कार्तिक अमावस्या की सन्ध्या को दीपों के प्रकाश से जगमगा उठते हैं। घर-घर लक्ष्मी का पूजन होता है। सदियों से यह त्यौहार मनाया जाता है, किन्तु किसी को इसका पता नहीं है कि त्यौहार कब चला, क्यों चला और किसने चलाया? कोई इसका सम्बन्ध रामचन्द्रजी के अयोध्या लौटने से लगाते हैं। कोई इसे सम्राट अशोक की दिग्विजय का सूचक बतलाते हैं। किन्तु रामायण में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता हैं, इतना ही नहीं, किन्तु किसी हिन्दू पुराण, वगैरह में भी इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध धर्म में तो यह त्यौहार मनाया नहीं जाता है। रह जाता है जैन सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय में शक सं. 705 (वि.सं. 840) का रचा हुआ हरिवंश पुराण है। उसमें भगवान् महावीर के निर्वाण का वर्णन करते हुए लिखा है—"महावीर भगवान् भव्य जीवों को उपदेश देते हुए पावा नगरी पधारे, और वहां के एक मनोहर उद्यान में, चतुर्थकाल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर कार्तिकी अमावस्या के प्रभातकालीन संध्या के समय, योग का निरोध करके, कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए। चारों प्रकार के देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से पावानगरी का आकाश प्रदीपित हो रहा था। उसी समय से भक्त लोग जिनेश्वर की पूजा करने के लिए भारतवर्ष में प्रति वर्ष उनके निर्वाण दिवस के उपलक्ष में दीपावली मनाते हैं।"

जैन धर्म की आज की स्थिति को देखते हुए कोई इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि महावीर निर्वाण के उपलक्ष में दीपावली मनाई जा सकती है। किन्तु उस समय के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजघरानों के साथ महावीर का जो कुलक्रमागत सम्बन्ध था तथा उन पर जो प्रभाव था उसे देखते हुए ऐसा हो सकना असंभव तो नहीं कहा जा सकता। मझिमनिकाय के सामगामसुत्त के अनुसार जब चन्द्र, महात्मा बुद्ध के प्रियशिष्य आनन्द को महावीर के निर्वाण का समाचार देता है तो आयुष्यमान् आनन्द कहते हैं—'आवुस चुन्द! भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिए यह बात भेंट स्वरूप है।' इस घटना से ही स्पष्ट हो जाता है कि अपने समय में महावीर भगवान् का कितना प्रभाव था।

इसके सिवा दीपावली के पूजन की जो पद्धति प्रचलित है, उससे भी इस समस्या पर प्रकाश पड़ता है। दीपावली के दिन क्यों लक्ष्मीपूजन होता है इसका सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता। दूसरी ओर, जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी समय उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई। यह गौतम ब्राह्मण थे। मुक्ति और ज्ञान को जैन धर्म में सबसे बड़ी लक्ष्मी माना है और प्रायः मुक्तिलक्ष्मी और ज्ञानलक्ष्मी के नाम से ही शास्त्रों में उनका उल्लेख किया गया है। अतः सम्भव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मी के पूजन की प्रथा ने धीरे-धीरे जनसमुदाय में बाह्य लक्ष्मी का रूप ले लिया हो। बाह्य दृष्टि प्रधान मनष्य समाज में ऐसा प्रायः देखा जाता है। लक्ष्मीपूजन के समय मिट्टी का घरौंदा और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खेल-खिलौने भी रखे जाते हैं। हमारे बड़े कहा करते थे कि यह घरौंदा भगवान् महावीर अथवा उनके शिष्य गौतम गणधर की उपदेश सभा (समवसरण) की यादगार में है और चूंकि उनका उपदेश सुनने के लिये मनुष्य, पशु सभी जाते थे अतः उनकी यादगार में उनकी मूर्तियां (खिलौने) रखे जाते हैं। इस तरह दीपावली के प्रकाश में हम प्रतिवर्ष भगवान् की निर्वाण लक्ष्मी का पूजन करते हैं। और जिस रूप में उनकी उपदेश सभा लगती थी उसका साज सजाते हैं।

दीपावली के प्रातःकाल में सभी जैन मन्दिरों में महावीर निर्वाण की स्मृति में बड़ा उत्सव मनाया जाता है और नैवेद्य (लाडू) से भगवान् की पूजा की जाती है। इस ढंग की पूजा का आयोजन केवल इसी दिन होता है। इससे घर-घर में उस दिन जो मिष्टान्न बनता है उसका उद्देश्य भी समझ में आ जाता है।

10.11.6 सलूनो या रक्षाबन्धन

दूसरा उल्लेखनीय सार्वजनिक त्यौहार, जिसे जैनी मनाते हैं, सलूनो या रक्षाबन्धन पर्व है। साधारणतः इस त्यौहार के दिन घरों में सीमियां बनती हैं और ब्राह्मण लोग लोगों के हाथों में राखियां, जिन्हें रक्षाबन्धन कहते हैं, बांधकर दक्षिणा लेते हैं। राखी बांधते समय वे एक श्लोक पढ़ते हैं—

येन् बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्ष मा चल मा चल ॥

अर्थात् दानवों का इन्द्र महाबली बलि राजा बांधा गया उससे मैं तुम्हें भी बांधता हूं। मेरी रक्षा करो और उससे डिगना नहीं।'

साथ ही साथ उत्तर भारत में एक प्रथा और है। उस दिन हिन्दू मात्र के द्वार पर दोनों ओर मनष्य के चित्र बनाये जाते हैं उन्हें 'सौन' कहते हैं। पहले उन्हें जिमाकर उनके राखी बांधी जाती है तब घर के लोग भोजन करते हैं। हमने अनेकों विद्वानों और पौराणिकों से इस त्यौहार के बारे में जानना चाहा कि यह कब कैसे चला किन्तु किसी से भी कोई ज्ञात नहीं हो सकी। बलि राजा की कथा वामनावतार के सिलसिले में आती है, किन्तु उससे इस पर्व के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। जैन पुराणों में अवश्य एक कथा मिलती है जो संक्षेप में इस प्रकार है—

किसी समय उज्जैनी नगरी में श्रीधर्म नाम का राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे—बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद। एक बार जैन मुनि अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियों के संघ के साथ उज्जैनी में पधारे। मंत्रियों के मना करने पर भी राजा मुनियों के दर्शन के लिये गया। उस समय सब मुनि ध्यानस्थ थे। लौटते हुए मार्ग में एक मुनि से मंत्रियों का शास्त्रार्थ हो गया। मंत्री पराजित हो गये। क्रुद्ध मंत्री रात्रि में तलवार लेकर मुनियों को मारने के लिये निकले। मार्ग में गुरु की आज्ञा से उसी शास्त्रार्थ के स्थान पर ध्यान में मग्न अपने प्रतिद्वन्द्वी मुनि को देखकर मंत्रियों ने उन पर वार करने के लिये जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, उनके हाथ ज्यों के त्यों रह गये। दिन निकलने पर राजा ने मंत्रियों को देश से निकाल दिया। चारों मंत्री अपमानित होकर हस्तिनापुर के राजा पद्म की शरण में आये। वहां बलि ने कौशल से पद्म राजा के एक शत्रु को पकड़ कर उसके सुपुर्द कर दिया। पद्म ने प्रसन्न होकर मुंहमांगा वरदान दिया। बलि ने समय पर वरदान मांगने के लिये कह दिया।

कुछ समय बाद मुनि अकम्पनाचार्य का संघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आया और उसने वहीं वर्षावास करना तय किया। जब बलि वगैरह को इस बात का पता चला तो पहले तो वे बहुत घबराये, पीछे उन्हें अपने अपमान का बदला चुकाने की युक्ति सूझ गई। उन्होंने वरदान का स्मरण दिलाकर राजा पद्म से सात दिन का राज्य मांग लिया। राज्य पाकर बलि ने मुनि संघ के चारों ओर एक बाड़ा खड़ा करा दिया और उसके अन्दर पुरुषमेध यज्ञ करने का प्रबन्ध किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इधर मुनियों पर यह उपसर्ग प्रारम्भ हुआ उधर मिथिला नगरी में वर्तमान एक निमित्तज्ञानी मुनि को इस उपसर्ग का पता लग गया। उनके मुंह से 'हा हा' निकला। पास में वर्तमान एक क्षुल्लक ने इसका कारण पुछा तो उन्होंने सब हाल बतलाया और कहा कि विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई है। वे इस संकट को दूर कर सकते हैं। क्षुल्लक तत्काल मुनि विष्णुकुमार के पास गये और उनको सब समाचार सुनाया। विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुर के राजा पद्म के भाई थे। वे तुरन्त अपने भाई पद्म के पास पहुंचे और बोले—पद्मराज! तुमने यह क्या कर रखा है? कुरुवंश में ऐसा अनर्थ कभी नहीं हुआ। यदि राजा ही तपस्वियों पर अनर्थ करने लगे तो उसे कौन दूर कर सकेगा? यदि जल ही आग को भड़काने लगे तो फिर उसे कौन बुझा सकेगा।' उत्तर में पद्म ने बलि को राज्य दे देने का सब समाचार सुनाया और कुछ कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब विष्णुकुमार मुनि वामनरूप धारण करके बलि के यज्ञ में पहुंचे और बलि के प्रार्थना करने पर तीन पैर धरती उससे मांगी। जब बलि ने दान का संकल्प कर दिया तो विष्णुकुमार ने विक्रिया ऋद्धि के द्वारा अपने शरीर को बढ़ाया। उन्होंने अपना पहला पैर सुमेरु पर्वत पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा, और तीसरा पैर स्थान न होने से आकाश में डोलने लगा। तब सर्वत्र हाहाकार मच गया, देवता दौड़ पड़े और उन्होंने विष्णुकुमार मुनि से प्रार्थना की 'भगवन्! अपनी इस विक्रिया को समेटिये। तप के प्रभाव से तीनों लोक चंचल हो उठे हैं।' तब उन्होंने अपनी विक्रिया को समेटा। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और बलि को देश से निकाल दिया गया।

10.12 सारांश

बलि के अत्याचार से सर्वत्र हाहाकार मच गया था और लोगों ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब मुनियों का संकट दूर होगा तो उन्हें आहार कराकर ही भोजन ग्रहण करेंगे। संकट दूर होने पर सब लोगों ने दूध की सीमियों का हल्का भोजन तैयार किया; क्योंकि मुनि कई दिन के उपवासी थे। मुनि केवल सात सौ थे अत: वे केवल सात सौ घरों पर ही पहुंच सकते थे। इसलिये शेष घरों में उनकी प्रतिकृति बनाकर और उसे आहार देकर प्रतिज्ञा पूरी की गई। सबने परस्पर में रक्षा करने का बन्धन बांधा, जिसकी स्मृति त्यौहार के रूप में अब तक चली आती है। दीवारों पर जो चित्र रचना की जाती उसे 'सौन' कहा जाता है, सो यह 'सौन' शब्द 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। प्राचीनकाल में जैन साधु श्रमण कहलाते थे। इस प्रकार से सलूनो या रक्षाबन्धन का त्यौहार जैन त्यौहार के रूप में जैनों में आज भी मनाया जाता है। उस दिन विष्णुकुमार और सात सौ मुनियों की पूजा की जाती है। उसके बाद परस्पर में राखी बांधकर दीवारों पर चित्रित 'सौनों' को आहार दान दिया जाता है। तब सब भोजन करते हैं और गरीबों तथा ब्राह्मणों को दान भी देते हैं।

10.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन पर्वों की सामान्य विशेषताएँ बताते हुए किन्हीं दो प्रमुख पर्वों का वर्णन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पर्यूषण आत्म शुद्धि का पर्व कैसे हैं? वर्णन करें।
2. रक्षाबन्धन त्यौहार का महत्त्व बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. तीर्थंकर महावीर का जन्म ..... को हुआ था।
2. भगवान् महावीर की सर्वप्रथम देशना ...... को हुई थी।
3. श्रुतपंचमी पर्व ..... परम्परा में मनाया जाता है।
4. भगवान् ऋषभ ने प्रथम पारणा में ..... का आहार लिया था।
5. रक्षाबन्धन ...... पर्व है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग-3 : जैन संस्कृति एवं कला

इकाई-11 (अ) : मूर्तिकला

संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 कुछ मूर्तियों का परिचय
11.3 कुषाणकालीन जैन मूर्तियां
11.4 गुप्तकालीन जैन मूर्तियां
11.5 मध्यकालीन तीर्थंकर मूर्ति
11.6 धातु की मूर्तियां
11.7 बाहुबलि की मूर्तियां
11.8 चक्रेश्वरी पद्मावती आदि की मूर्तियां
11.9 अम्बिका देवी की मूर्ति
11.10 सरस्वती की मूर्ति
11.11 अच्युता या अच्छप्ता देवी की मूर्ति
11.12 सारांश
11.13 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

जैन धर्म में मूर्तिपूजा सम्बन्धी उल्लेख प्राचीनतम काल से पाए जाते हैं। जैनागमों में जैन तीर्थंकरों व यक्षों की मूर्तियों सम्बन्धी उल्लेखों के साथ ही कलिंग नरेश खारवेल के ई.पू. द्वितीय शती के हाथीगुफा वाले शिलालेख से प्रमाणित है कि नन्दवंश के राज्यकाल अर्थात् ई.पू. चौथी-पांचवी शती में जिन-मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाती थीं। ऐसी ही एक जिनमूर्ति को नन्दराज कलिंग से अपहरण कर ले गए थे और उसे खारवेल कोई दो-तीन शती पश्चात् वापस लाए थे। कुषाण काल की तो अनेक जिन-मूर्तियां मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। एक प्राचीन मस्तकहीन जिन-प्रतिमा पटना संग्रहालय में सुरक्षित है, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति पर चमकदार पालिश होने से उसके मौर्यकालीन होने का अनुमान किया जाता है। इनसे प्राचीन जैन मूर्तियां भारतवर्ष में कहीं प्राप्त नहीं होती थीं, किन्तु सिन्धुघाटी की खुदाई में मोहेनजोदड़ो व हड़प्पा से जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनसे भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है, और उसकी परम्परा उक्तकाल से सहस्रों वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर प्राप्त लेखों की लिपि अभी तक अज्ञात होने के कारण वहां की संस्कृति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि जहां तक मूर्ति-निर्माण, आकृति व भावाभिव्यंजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, उस पर से उक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति व हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति में बड़ा साम्य पाया जाता है, और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से हड़प्पा की मूर्ति वैदिक व बौद्ध मूर्ति-प्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन-प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है।

11.1 उद्देश्य

ऋग्वेद में शिश्न देवों अर्थात् नग्न देवों के जो उल्लेख हैं, उनमें इन देवों अथवा उनके अनुयायियों को यज्ञ से दूर रखने व उनका घात करने की इन्द्र से प्रार्थना की गई है । (ऋग्वेद 7, 21, 5 व 10, 99, 3)। जिस प्रकार यह मूर्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खड्गासन की दृष्टि से समता रखती है, उसी प्रकार अनेक मुद्राओं पर की ध्यानस्थ व मस्तिष्क पर त्रिशृंगयुक्त मूर्ति जैन पद्मासन मूर्ति से तुलनीय है। एक मुद्रा में इस मूर्ति के आसपास हाथी, बैल, सिंह व मृग आदि वनचर जीव दिखाए गए हैं, जिन पर से उसके पशुपतिनाथ की पूर्वगामी मूर्ति होने की कल्पना की जाती है। जो हो, इस मूर्ति में हमें जैन, बौद्ध व शैव ध्यानस्थ मूर्तियों का पूर्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थतः इस प्रकार के आसन से ध्यान का सम्बन्ध जितना श्रमण परम्परा से है, उतना वैदिक परम्परा से नहीं; और श्रमण-परम्परा की जितनी प्राचीनता जैन धर्म में पाई जाती है, उतनी बौद्ध धर्म में नहीं। मूर्ति के सिर पर स्थापित त्रिशूल उस त्रिशूल से तुलनीय है जो अतिप्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्तियों के हस्त व चरण तलों पर पाया जाता है, जिस पर धर्मचक्र स्थापित देखा जाता है, और विशेषतः जो रानी-गुफा के एक तोरण के ऊपर चित्रित है। इस विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पश्चिम भारत से जैन-धर्म का अतिप्राचीन सम्बन्ध पाया जाता है एवं जिस असुर जाति से सम्बद्ध सिन्धुघाटी की सभ्यता अनुमानित की जाती है, उन असुरों, नागों और यक्षों द्वारा जैनधर्म व मुनियों की नाना संकटों की अवस्था में रक्षा किए जाने के उल्लेख पाए जाते हैं।

11.2 कुछ मूर्तियों का परिचय

(1) महाराज वासुदेवकालीन सम्वत्सर 84 की आदिनाथ की मूर्ति (बी 4)- मूर्ति ध्यानस्थ पद्मासन है। यद्यपि मस्तक और बाहु खण्डित हैं, तथापि खरौंचा हुआ किनारीदार प्रभावल बहुत कुछ सुरक्षित है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स एवं हाथों और चरणों के तलों पर चक्रचिह्न विद्यमान है। आसन पर एक स्तम्भ के ऊपर धर्मचक्र है।उसकी 10 स्त्री-पुरुष पूजा कर रहे हैं,जिनमें से दो धर्मचक्र स्तम्भ के समीप घुटना टेके हुए हैं, और शेष खड़े हैं। कुछ के हाथों में पुष्प है, और कुछ हाथ जोड़े हुए हैं। सभी की मुखमुद्रा वन्दना के भाव को लिए हुए है। इस मूर्ति को लेख में स्पष्टतः भगवान् अर्हन्त ऋषभ की प्रतिमा कहा है।

(2) पार्श्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति (बी 62) का सिर और उस पर नागफण मात्र सुरक्षित मिला है। फणों के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीनयुगल, इन मंगल द्रव्यों के चिह्न बने हुए हैं। सिर पर घुंघराले बाल हैं। कान कुछ लम्बे, आंखों की भौंहें ऊर्णा से जुड़ी हुईं व कपोल भरे हुए हैं।

(3) पाषाण-स्तम्भ (बी 68) 3 फुट 3 इंच ऊंचा है, और उसके चारों ओर चार नग्न जिन-मूर्तियां हैं। श्रीवत्स सभी के वक्षस्थल पर है, और तीन मूर्तियों के साथ भामण्डल भी है, व उनमें से एक के सिर की जटाएं कंधों पर बिखरी हुई हैं। चतुर्थ मूर्ति के सिर पर सप्तफणी नाग की छाया है। इनमें से अन्तिम दो स्पष्टतः आदिनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तियां हैं।

(4) इतिहास की दृष्टि से एक स्तम्भ का पीठ उल्लेखनीय है। इसके ऊपर का भाग जिसमें चारों ओर जिनप्रतिमाएं रही हैं, टूट गया है, किन्तु उनके चरणों के चिह्न बचे हुए हैं। इस पीठ के एक भाग पर धर्मचक्र खुदा हुआ है, जिसकी दो पुरुष व दो स्त्रियां पूजा कर रहे हैं, तथा दो बालक हाथों में पुष्पमालाएं लिए खड़े हैं। इस पाषाण पर लेख भी खुदा है, जिसके अनुसार यह अभिसार-निवासी भट्टिदाम का आर्य ऋषिदास के उपदेश से किया हुआ दान है। डॉ. अग्रवाल का मत है कि यह धार्मिक पुरुष उसी अभिसार प्रदेश का निवासी रहा होगा जिसका यूनानी लेखकों ने भी उल्लेख किया है, और जो वर्तमान पेशावर विभाग के पश्चिमोत्तर का हजारा जिला सिद्ध होता है। उसने मथुरा में आकर जैन धर्म स्वीकार किया होगा। किन्तु इससे अधिक उचित यह प्रतीत होता है कि हजारा निवासी वह व्यक्ति पहले से जैन धर्मावलम्बी रहा होगा और मथुरा के स्तूपों और मन्दिरों की तीर्थयात्रा के लिए आया होगा, तभी वह सर्वतोभद्र प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई। प्रथम शती में पश्चिमोत्तर प्रदेश में जैन धर्म का अस्तित्व असम्भव नहीं है।

(5) एक और ध्यान देने योग्य प्रतिमा (2502) है, तीर्थंकर नेमिनाथ की। इसकी दाहिनी ओर चार भुजाओं व सप्त फणों से युक्त नागराज की प्रतिमा है, जिसके ऊपर के बाएं हाथ में हल का चिह्न होने से वह बलराम की मानी गई है। बायीं ओर चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है, जिनके ऊपर के दाहिने हाथ में गदा व बाएं हाथ में चक्र है। तीर्थंकर की मूर्ति के ऊपर वेतस-पत्रों का खुदाव है। समवायांग सूत्र के अनुसार वेतस नेमिनाथ का बोधिवृक्ष है। हिन्दू पुराणानुसार बलराम शेषनाग के अवतार माने गए हैं। इस प्रकार की, ऐसे ही बलराम और वासुदेव की प्रतिमाओं से अंकित, और भी अनेक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मूर्तियां पाई गई हैं, (जैन एण्टी. भाग 2, पृष्ठ 91)। ऐसी ही एक और प्रतिमा (2488) है, जिसमें तीर्थंकर के दाहिनी ओर फणयुक्त नाग हाथ जोड़े खड़ा है। यह भी बलराम उपासक सहित नेमिनाथ की मूर्ति मानी गई है।

11.3 कुषाणकालीन जैन मूर्तियां

इतिहास-कालीन जैन मूर्तियों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमें मथुरा के संग्रहालय में एकत्रित उन 47 मूर्तियों से प्राप्त होती है, जिनका व्यवस्थित परिचय डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने वहां की सूची के तृतीय भाग में कराया है। इनमें से अनेक मूर्तियों के आसनों पर लेख भी खुदे मिले हैं, जिनसे उनका काल-विभाजन भी सुलभ हो जाता है। कुषाण-कालीन मूर्तियों पर पांचवें से लेकर 90 वें वर्ष तक का उल्लेख है। अनेक लेखों में ये वर्ष शक संवत् के अनुमान किए जाते हैं। कुछ लेखों में कुषाणवंशी कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव राजाओं का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थंकरों की समस्त मूर्तियां दो प्रकार की पाई जाती हैं- एक खड़ी हुई, जिसे कायोत्सर्ग या खड्गासन कहते हैं, और दूसरी बैठी हुई पद्मासन में। समस्त मूर्तियां नग्न व नासाग्र-दृष्टि ध्यानमुद्रा में ही हैं। नाना तीर्थंकरों में भेद सूचित करने वाले वे बैल आदि चिह्न इन पर नहीं पाए जाते, जो परवर्ती काल की प्रतिमाओं में पाए जाते हैं। अधिकांश मूर्तियों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न पाया जाता है, तथा हस्ततल व चरणतल एवं सिंहासन पर धर्मचक्र, उष्णीय तथा ऊर्णा (भौहों के बीच रोमगुच्छ) के चिह्न भी बहुत-सी मूर्तियों में पाए जाते हैं। अन्य परिकरों में प्रभावल (भामण्डल), दोनों पार्श्वों में चमरवाहक तथा सिंहासन के दोनों ओर सिंह भी उत्कीर्ण रहते हैं। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किए हुए दिखाए गए हैं। कुछ मूर्तियों का सिंहासन उठे हुए पद्म (उत्थित पद्मासन) के रूप में दिखाया गया है। कुछ में तीर्थंकर की मूर्ति पर छत्र भी अंकित है, और एक के सिंहासन पर बालक को गोद में बैठाए भद्रासन अम्बिका की प्रतिमा भी है। ये उस काल की जिन-मूर्तियों के सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। केवल दो तीर्थंकरों की मूर्तियां अपने किसी विशेष लक्षण से युक्त पाई जाती हैं, वे हैं आदिनाथ, जिनका केशकलाप पीछे की ओर कंधों से नीचे तक बिखरा हुआ दिखाया गया है, और जिनके सिर पर सप्तफणी नाग छाया किए हुए है। आदिनाथ के तपस्याकाल में उनकी जटाओं का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। उदाहरणार्थ रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण (676 ई.) में कहा गया है-

वातोद्धूता वटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः ।
धूमालय इव ध्यानवह्निसक्तस्य कर्मणः ॥ (3, 288)

तथा -

स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहुतांशुमान् ॥ (4, 5)

उसी प्रकार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के नागफण-रूपी छत्र का भी एक इतिहास है, जिसका सुन्दर संक्षिप्त वर्णन समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र में इस प्रकार मिलता है -

तमालनीलैः सघनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनि-वायुवृष्टिभिः।
वलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रतो महामना यो न चचाल योगतः ॥ 131 ॥

बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिंगरुचोपसर्गिणाम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥ 132 ॥

जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या में निश्चल भाव से ध्यानारूढ़ थे तब उनका पूर्वजन्म का बैरी कमठासुर नाना प्रकार के उपद्रवों द्वारा उनको ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रचण्ड वायु चलाई, घनघोर वृष्टि की, मेघों से वज्रपात कराया, तथापि भगवान् ध्यान से विचलित नहीं हुए। उनकी ऐसी तपस्या से प्रभावित होकर धरणेन्द्र नाग ने आकर अपने विशाल फण-मण्डल को उनके ऊपर तान कर, उनकी उपद्रव से रक्षा की। इसी घटना का प्रतीक हम पार्श्वनाथ के नाग-फण चिह्न में पाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.4 गुप्तकालीन जैन मूर्तियां –

कुषाणकाल के पश्चात् अब हम गुप्तकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की ओर ध्यान दें। यह युग ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। इस युग की 37 प्रतिमाओं का परिचय उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में कराया गया है। उससे इस युग की निम्नलिखित विशेषताएं ज्ञात होती हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के सामान्य लक्षण तो वे ही पाए जाते हैं जो कुषाणकाल में विकसित हो चुके थे, किन्तु उनके परिकरों में अब कुछ वैशिष्ट्य दिखाई देता है। प्रतिमाओं का उष्णीष कुछ अधिक सौन्दर्य व घुंघरालेपन को लिए हुए पाया जाता है। प्रभावल में विशेष सजावट दिखाई देती है (बी 1, बी 6 आदि), धर्मचक्र व उसके उपासकों का चित्रण पूर्ववत् होते हुए भी कहीं-कहीं उसके पाश्वों में मृग भी उत्कीर्ण दिखाई देते हैं । बौद्ध मूर्तियों में इस प्रकार मृगों का चित्रण बुद्ध भगवान् के सारनाथ के मृगदाव में प्रथम बार धर्मोपदेश का प्रतीक माना गया है। सम्भव है, यहां भी उसी अलंकरण शैली ने स्थान पा लिया हो। आगे चलकर हम मृग को शान्तिनाथ भगवान का विशेष चिह्न स्वीकृत पाते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा (बी 75) के सिंहासन पर एक पार्श्व में अपनी थैली सहित धनपति कुबेर और दूसरे पार्श्व में अपनी बाईं जंघा पर बालक को बैठाए हुए मातृदेवी (अम्बिका) की प्रतिमा दिखाई देती है। इनके ऊपर दोनों ओर चार-चार कमलासीन प्रतिमाएं दिखाई गई हैं, जो सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और राहु, इन आठ ग्रहों का प्रतीक मानी गई हैं। इस अलंकरण के आधार पर यह प्रतिमा मध्य-युग के सन्धिकाल की मानी गई है, क्योंकि यह प्रतिमाशैली उस काल में अधिक विकसित हुई थी (बी 65, 66)। नवग्रह और अष्ट-प्रातिहार्य युक्त एक जिन-प्रतिमा मध यप्रदेश में जबलपुर के समीप सलीमानाबाद से भी एक वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी, जो वहां की जनता द्वारा खैरामाई के नाम से पूजी जाती है (देखो – खण्डहरों का वैभव, पृ. 180)। इसी प्रकार की सन्धिकालीन एक प्रतिमा (1388) है जिसके सिंहासन पर पार्श्वस्थ सिंहों के बीच मीन-युगल दिखलाया गया है जिनके मुख खुले हुए हैं, और उनसे सूत्र लटक रहा है। आगे चलकर मीन अरनाथ तीर्थंकर का चिह्न पाया जाता है। आदिनाथ की प्रतिमा अभी तक कन्धों पर बिखरे हुए केशों सहित दिखाई देती है। उसका वृषभ, तथा अन्य तीर्थंकरों के अलग-अलग चिह्न इस समय तक अधिक प्रचार में आए नहीं पाए जाते; तथापि उनका उपयोग प्रारम्भ हुआ प्रमाणित होता है। इस सम्बन्ध में राजगिरी के वैभार पर्वत की नेमिनाथ की वह मूर्ति ध्यान देने योग्य है जिसके सिंहासन के मध्य में धर्मचक्र को पीठ पर धारण किए हुए एक पुरुष और उसके दोनों पार्श्वों में शंखों की आकृतियां पाई जाती हैं। इस मूर्ति पर के खण्डित लेख में चन्द्रगुप्त का नाम पाया जाता है, जो लिपि के आधार पर गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त- द्वितीय का वाची अनुमान किया जाता है। गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम के काल में गुप्त सं. 106 की बनी हुई विदिशा के समीप की उदयगिरि की गुफा में उत्कीर्ण वह पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यतः मूर्ति खण्डित हो चुकी है, तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयंकर दांतों से बड़ा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिए तत्पर दिखाई देता है। उत्तरप्रदेश के कहाऊं नामक स्थान से प्राप्त गुप्त सं. 141 के लेख सहित वह स्तम्भ भी यहां उल्लेखनीय है जिसमें पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इसी काल की अनेक जैन प्रतिमाएं ग्वालियर के पास के किले, बेसनगर, बूढ़ी चन्देरी व देवगढ़ आदि अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। देवगढ़ की कुछ मूर्तियों का वहां के मन्दिरों के साथ उल्लेख किया जा चुका है। यहां की मूर्तियों में गुप्त व गुप्तोत्तर कालीन जैन मूर्तिकला के अध्ययन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है।

दो-चार मूर्तियों की बनावट की ओर ध्यान देने से वहां की शैलियों की विविधता स्पष्ट की जा सकती है। वहां के 12वें मन्दिर के मण्डप में आसनस्थ जिनप्रतिमा को देखिए, जिसका मस्तक विशाल, अधर स्थूल व खूब सटे हुए तथा भृकुटियां कुछ अधिक ऊपर को उठी हुई दिखाई देती हैं। यहां ध्यान व एकाग्रता का भाव खूब पुष्ट है, किन्तु लावण्य एवं परिकरात्मक साज-सज्जा का अभाव है। उसी मन्दिर के गर्भगृह में शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिए, जो अपने कलात्मक गुणों के कारण विशेष गौरवशाली है। भामण्डल की सजावट तथा पार्श्वस्थ द्वारपालों का लावण्य व भावभंगिमा गुप्तकाल की कला के अनुकूल है, फिर भी परिकरों के साथ मूर्ति का तादात्म्य नहीं हो पाया है। दर्शक के ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्तिभाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन में भयमिश्रित पूज्यभाव उत्पन्न करती है। उक्त दोनों मूर्तियों से सर्वथा भिन्न शैली की वह पद्मासन प्रतिमा है जो 15 वें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मन्दिर के गर्भगृह में विराजमान है। इस मूर्ति में लावण्य, प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्‌गुण उतने ही सुस्पष्ट हैं, जितने ध्यान और विरक्ति के भाव। ज्ञान, ध्यान और लोक कल्याण की भावना इस मूर्ति के अंग-अंग से फूट-फूट कर निकल रही है। परिकरों की सजावट भी अनुकूल ही है। प्रभावल खूब अलंकृत है । दोनों पार्श्वों के द्वारपाल, ऊपर छत्र-त्रय व गज-लक्ष्मी आदि की आकृतियां भी सुन्दर और आकर्षक हैं। ये गुण 21 वें मन्दिर के दक्षिण-कक्ष के देवकुल में स्थित प्रतिमा में और भी अधिक विकसित दिखाई देते हैं। यहां चारों ओर की आकृतियां व अलंकरण इतने समृद्ध हुए हैं कि दर्शक को उनका आकर्षण मुख्य प्रतिमा से कम नहीं रहता। इस कारण मुख्य प्रतिमा समस्त दृश्य का एक अंग मात्र बन गई है। यह अलंकरण की समृद्धि मध्य-गुप्त काल की विशेषता है।

11.5 मध्यकालीन तीर्थंकर मूर्ति :

विशालता की दृष्टि से मध्यप्रदेश में बड़वानी नगर के समीप चूलगिरि नामक पर्वतश्रेणी के तलभाग में उत्कीर्ण 84 फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा है जो 'बावनगजा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षिणी भी उत्कीर्ण है। चूलगिरि के शिखर पर दो मन्दिरों में तीन-चार मूर्तियों पर संवत् 1380 का उल्लेख है जिससे इस तीर्थक्षेत्र की प्रतिष्ठा कम से कम 14वीं शती से सिद्ध है। देश के प्राय: समस्त भागों के दिगम्बर जैन मन्दिरों में ऐसी जिन-प्रतिमाएं विराजमान पाई जाती हैं, जिनमें उनके शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा सं. 1548 (1490 ई.) में प्रतिष्ठित कराए जाने का, तथा भट्टारक जिनचन्द्र या भानुचन्द्र का स्थान मुड़ासा का, व राजा या रावल शिवसिंह का उल्लेख मिलता है। मुड़ासा पश्चिम राजस्थान में ईडर से पांच-छह मील दूर एक गांव है। एक किंवदन्ती प्रचलित है कि सेठ जीवराज पापड़ीवाल ने एक लाख मूर्तियां प्रतिष्ठित कराकर उनका सर्वत्र पूजानिमित्त वितरण कराया था।

11.6 धातु की मूर्तियां -

यहां तक जिन मूर्तियों का परिचय कराया गया वे पाषाण निर्मित हैं। धातुनिर्मित प्रतिमाएं भी अतिप्राचीन काल से प्रचार में पाई जाती हैं। ब्रोन्ज (ताम्र व शीशा मिश्रित धातु) की बनी हुई एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय में है। दुर्भाग्य से इसका पादपीठ नष्ट हो गया है, और यह भी पता नहीं कि यह कहां से प्राप्त हुई थी। प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है और उसका दाहिना हाथ व नागफण खण्डित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड़ पृष्ठ-भाग में पैरों से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसकी आकृति पूर्वोक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति से तथा हड़प्पा के लाल-पाषाण की सिर-हीन मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। विद्वानों का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिए, और वह ई. पू. 100 वर्ष से बाद की तो हो ही नहीं सकती।

इसी प्रकार की दूसरी धातु-प्रतिमा आदिनाथ तीर्थंकर की है, जो बिहार में आरा के चौसा नामक स्थान से प्राप्त हुई है, और पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। यह भी खड्गासन मुद्रा में है, और रूप-रेखा में उपर्युक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति से साम्य रखती है। तथापि अंगों की आकृति, केश-विन्यास एवं प्रभावल की शोभा के आधार पर यह गुप्त-कालीन अनुमान की जाती है। इसी के साथ प्राप्त हुई अन्य प्रतिमाएं पटना संग्रहालय में हैं, जो अपनी बनावट की शैली द्वारा मौर्य व गुप्त काल के बीच की शृंखला को प्रकट करती है।

धातु की सवस्त्र जिन-प्रतिमा राजपूताने में सिरोही जनपद के अन्तर्गत वसन्तगढ़ नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर सं. 744 (ई. 687) का लेख है। इसमें धोती का पहनावा दिखाया गया है। उसकी धोती की सिकुड़न बाएं पैर पर विशेष रूप से दिखाई गई हैं। इससे सम्भवत: कुछ पूर्व की वे पांच धातु प्रतिमाएं हैं जो वलभी से प्राप्त हुई हैं, और प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये प्रतिमाएं भी सवस्त्र हैं, किन्तु इनमें धोती का प्रदर्शन वैसे उग्र रूप से नहीं पाया जाता, जैसा वसन्तगढ़ की प्रतिमा में। इस प्रकार से धोती का प्रदर्शन पाषाण मूर्तियों में भी किया गया पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण रोहतक (पंजाब) में पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय की चाहरडी (खानदेश) से प्राप्त हुई आदिनाथ की प्रतिमा 10वीं शती की धातुमय मूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी प्रकार की धातु-प्रतिमाओं में वे मूर्तियां भी उल्लेखनीय हैं जो जीवन्त स्वामी की कही जाती हैं। आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि व वसुदेवहिंडी में उल्लेख मिलता है कि महावीर तीर्थंकर के कुमारकाल में जब वे अपने राज-प्रासाद में ही धर्म-ध्यान किया करते थे, तभी उनकी एक चन्दन की प्रतिमा निर्माण कराई गई थी, जो वीतिभय पट्टन (सिन्धु-सौवीर) के नरेश उदयन के हाथ पड़ी। वहां से उज्जैन के राजा प्रद्योत उसकी अन्य काष्ठ-घटित प्रतिकृति (प्रतिमा) को उसके स्थान पर छोड़कर मूल प्रतिमा को अपने राज्य में ले आए, और उसे विदिशा में प्रतिष्ठित करा दिया, जहां वह दीर्घकाल तक पूजी जाती रही। इस साहित्य कथानक को हाल ही अकोटा (बड़ौदा जनपद) से प्राप्त दो जीवन्तस्वामी ब्रोञ्ज धातु निर्मित प्रतिमाओं से ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त हुआ है। इनमें से एक पर लेख है, जिसमें उसे जीवन्त-सामि-प्रतिमा कहा है, और यह उल्लेख है कि उसे चन्द्रकुलकी नागेश्वरी श्राविका ने दान दिया था। लिपि पर से यह छठी शती के मध्यभाग की अनुमान की गई है। ये मूर्तियां कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में हैं, किन्तु शरीर पर अलंकरण खूब राजकुमारोचित हैं। मस्तक पर ऊंचा मुकुट है, जिसके नीचे केशकलाप दोनों कन्धों के नीचे झूल रहे हैं। गले में हारादि आभरण, कानों में कुण्डल, दोनों बाहुओं पर चौड़े भुजबन्ध व हाथों में कड़े और कटिबन्ध आदि आभूषणहैं। मुंह पर स्मित व प्रसाद भाव झलक रहा है। इनकी भावाभिव्यक्ति व अलंकरण में गुप्तकालीन व तदुत्तर शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

लगभग 14वीं शती से पीतल की जिनमूर्तियों का भी प्रचार हुआ पाया जाता है। कहीं-कहीं तो पीतल की बड़ी विशाल भारी ठोस मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। आबू के पित्तलहर मन्दिर में विराजमान आदिनाथ की पीतल की मूर्ति लेखानुसार 108 मन की है, और वह वि. सं. 1525 में प्रतिष्ठित की गई थी। मूर्ति अपने परिकर सहित 8 फुट ऊंची पद्मासन में है, और वह मेहसाना (उत्तर गुजरात) के सूत्रधार मण्डन के पुत्र देवा द्वारा निर्माण की गई थी।

11.7 बाहुबलि की मूर्तियां

ब्रोञ्ज की प्रतिमाओं में विशेष उल्लेखनीय है बाहुबलि की वह प्रतिमा जो अभी कुछ वर्ष पूर्व ही बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय में आई है। बाहुबलि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र व भरत चक्रवर्ती के भ्राता थे और उन्हें तक्षशिला का राज्य दिया गया था। पिता के तपस्या धारण कर लेने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती हुए और उन्होंने बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश करना चाहा। इस पर दोनों भाइयों में युद्ध हुआ। जिस समय युद्ध के बीच विजयश्री संशयावस्था में पड़ी हुई थी, उसी समय बाहुबलि को इस सांसारिक मोह और आसक्ति से वैराग्य हो गया और उन्होंने अपने लिए केवल एक पैर भर पृथ्वी रख कर शेष समस्त राज्य-वैभव, भूमि व परिग्रह का परित्याग कर दिया। उन्होंने पोतनपुर में निश्चल खड़े होकर ऐसी घोर तपस्या की कि उनके पैरों के समीप वल्मीक चढ़ गए व शरीर के अंग-प्रत्यंगों से महासर्प व लताएं लिपट गईं। बाहुबलि की इस घोर तपस्या का वर्णन जिनसेन कृत महापुराण (36, 104-185) में किया गया है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण में संक्षेपतः कहा है -

> **संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः ।**
> **वर्षं प्रतिमया तस्यौ मेरुवन्निष्प्रकम्पकः ।**
> **वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगै : ।**
> **श्यामादीनां च वल्लीभिः वेष्टितः प्रापकेवलम् ॥** **(प. पु. 4, 76-77)**

इस वर्णन में जो वमीठों व लता के शरीर पर लिपटने का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सम्मुख बाहुबलि की इन लक्षणों से युक्त कोई मूर्तिमान् प्रतिमा थी। काल की दृष्टि से उस समय बादामी की गुफा की बाहुबलि मूर्ति बन चुकी सिद्ध होती है। रविषेणाचार्य उससे परिचित रहे हों तो आश्चर्य नहीं। बादामी की यह मूर्ति लगभग सातवीं शती में निर्मित साढ़े सात फुट ऊंची है। दूसरी प्रतिमा एलोरा के छोटे कैलास नामक जैन-शिलामन्दिर की इन्द्रसभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण काल लगभग 8वीं शती माना जाता है। तीसरी मूर्ति देवगढ़ के शान्तिनाथ मन्दिर (862 ई.) में है, जिसकी उपर्युक्त मूर्तियों से विशेषता यह है कि उसमें वामी, कुक्कुट, सर्प व लताओं के साथ ही मूर्ति पर रेंगते हुए बिच्छू, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अंकित किए गए हैं, और इन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपसर्गकारी जीवों का निवारण करते हुए एक देव-युगल भी दिखाया गया है। किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर विराजमान वह मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री चामुण्डराय ने 10-11वीं शती में कराई थी। यह मूर्ति 56 फुट 3 इंच ऊंची है और उस पर्वत पर दूर से ही दिखाई देती है। उसके अंगों का सन्तुलन, मुख का शान्त और प्रसन्न भाव, वल्मीक व माधवी लता के लपेटन इतनी सुन्दरता को लिए हुए हैं कि जिनकी तुलना अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। इसी मूर्ति के अनुकरण पर कारकल में सन् 1432 ई. में 41 फुट 6 इंच ऊंची तथा वेणूर में 1604 ई. में 35 फुट ऊंची अन्य दो विशाल पाषाण मूर्तियां प्रतिष्ठित हुई। धीरे-धीरे इस प्रकार की बाहुबलि की मूर्ति का उत्तर भारत में भी प्रचार हुआ है। इधर कुछ दिनों से बाहुबलि की मूर्तियां अनेक जैन मन्दिरों में प्रतिष्ठित हुई हैं।

किन्तु जो ब्रोञ्ज-धातु निर्मित मूर्ति अब प्रकाश में आई है वह उपर्युक्त समस्त प्रतिमाओं से प्राचीन अनुमान की जाती है। उसका निर्माणकाल सम्भवतः सातवीं शती व उसके भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है। यह प्रतिमा एक गोलाकार पीठ पर खड़ी है, और उसकी ऊंचाई 20 इंच है। माधवीलता पत्तों सहित पैरों और बाहुओं से लिपटी हुई है। सिर के बाल जैसे कंघी से पीछे की ओर लौटाए हुए दिखाई देते हैं, तथा उनकी जटाएं पीठ व कन्धों पर बिखरी हैं। भौहें ऊपर को चढ़ी हुई व उथली बनाई गई हैं। कान नीचे को उतरे व छिदे हुए हैं। नाक पैनी व झुकी हुई है। कपोल व दाढ़ी खूब मांसल व भरे हुए हैं। मुखाकृति लम्बी व गोल है। वक्षस्थल चौड़ाई को लिए हुए चिकना है। चूचुक चिह्न मात्र दिखाए गए हैं। नितम्ब-भाग गोलाई लिए हुए है। पैर सीधे, और घुटने भले प्रकार दिखाए गए हैं। बाहुएं विशाल कन्धों से नीचे की ओर शरीर आकृति के वलन का अनुकरण कर रही हैं। हस्ततल जंघाओं से गुट्टों के द्वारा जुड़े हुए हैं जिससे बाहुओं को सहारा मिले। इस प्रतिमा का आकृति-निर्माण अतिसुन्दर हुआ है। मुख पर ध्यान व आध्यात्मिकता का तेज भली प्रकार झलकाया गया है। इस आकृति-निर्माण में श्री उमाकान्त शाह ने इसकी तुलना बादामी गुफा में उपलब्ध बाहुबलि की प्रतिमा से तथा ऐहोल की मूर्तियों से की है, जिनका निर्माण-काल 6वीं/ 7वीं शती है।

11.8 चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि की मूर्तियां -

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकरों के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं को रूप प्रदान किया गया है, उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएं भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुषंगी एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गए हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। इस देवी की एक ढाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय में विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड़ पर आधारित आसन पर स्थित है। इसका सिर व भुजाएं टूट-फूट गई हैं, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार सुअलंकृत विद्यमान है। भुजाएं दस हैं, और हाथ में एक चक्र है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक द्वारपालिका हैं उनमें दाहिनी ओर वाली एक चमर तथा बाईं ओर वाली एक पुष्पमाला लिए हुए है। ये तीनों प्रतिमाएं भी कुछ खण्डित हैं। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन-प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर वन्दनमालाएं लिए हुए उड़ती हुई मूर्तियां बनी हैं। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है, और कनिंघम साहब ने इसे ब्राह्मण परम्परा की दसभुजी देवी समझा था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में ही कटनी के समीप विलहरी ग्राम के लक्ष्मणसागर के तट पर एक मन्दिर में चक्रेश्वरी की मूर्ति खैरामाई के नाम से पूजी जा रही है, किन्तु मूर्ति के मस्तक पर जो आदिनाथ की प्रतिमा है, वह उसे स्पष्टतः जैन परम्परा की घोषित कर रही है। चक्रेश्वरी की मूर्तियां देवगढ़ के मन्दिरों में भी पाई गई हैं। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-वस्ति नामक आदिनाथ के मन्दिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की सुन्दर प्रतिमाएं हैं। यह मन्दिर लेखानुसार शक 1049 (1117 ई.) से पूर्व बन चुका था। वहां के अन्यान्य मन्दिरों में नाना तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षिणियों की प्रतिमाएं विद्यमान हैं (देखिए जैन शिलालेख संग्रह भाग एक, प्रस्तावना)। इनमें अक्कन वस्ति नामक पार्श्वनाथ मन्दिर की साढ़े तीन फुट ऊंची धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मन्दिर का निर्माणकाल वहां के लेखानुसार शक 1103 (1181 ई.) है। कत्तले बस्ति में भी यह मूर्ति है। पद्मावती की इससे पूर्व व पश्चात्-कालीन मूर्तियां जैन मन्दिरों में बहुतायत से पाई जाती हैं। इनमें खण्डगिरि (उड़ीसा) की एक गुफा मूर्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। नालन्दा व देवगढ़ की मूर्तियां 7वीं /8वीं शती की हैं। मध्यकाल से लगाकर इस देवी की पूजा विशेष रूप से लोक प्रचलित हुई पाई जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.9 अम्बिका देवी की मूर्ति –

तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षिणियों में सबसे अधिक प्रचार व प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सबसे प्राचीन व विख्यात मूर्ति गिरनार (ऊर्जयन्त) पर्वत की अम्बादेवी नामक टोंक पर है जिसका उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र (पद्य 127) में खचरयोषित (विद्याधरी) नाम से किया है (पृ. 339)। जिनसेन ने भी अपने हरिवंश-पुराण (शक 705) में इस देवी का स्मरण इस प्रकार किया है –

ग्रहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालय-सिंहवाहिनी ।
शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने ॥ (ह. पु. प्रशस्ति)

इस देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण-प्रतिमा 1 फुट 9 इंच ऊंची मथुरा संग्रहालय में है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराजमान है। बायां पैर ऊपर उठाया हुआ व दाहिना पृथ्वी पर है। दाहिने हाथ में फलों का गुच्छा है व बायां हाथ बायीं जंघा पर बैठे हुए बालक को संभाले है। बालक वक्षस्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालंकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनों स्कन्धों से पीछे की ओर डाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके पीछे शोभनी प्रभावल भी है। गले में दो लड़ियों वाला हार, हाथों में चूड़ियां, कटि में मेखला व पैरों में नूपुर आभूषण हैं। बालक नग्न है, किन्तु गले में हार, बाहुओं में भुजबन्ध, कलाई में कड़े तथा कमर में करधनी पहने हुए है। अम्बिका की बाजू से एक दूसरा बालक खड़ा है, जिसका दाहिना हाथ अम्बिका के दाहिने घुटने पर है। इस खड़े हुए बालक के दूसरी ओर गणेश की एक छोटी-सी मूर्ति है जिसके बाएं हाथ में मोदक पात्र है, जिसे उनकी सूंड स्पर्श कर रही है। उसके ठीक दूसरे पार्श्व में एक अन्य आसीन मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ में एक पात्र और बाएं में मोहरों की थैली है, और इसलिए धनद-कुबेर की मूर्ति प्रतीत होती है। कुबेर और गणेश की मूर्तियों के अपने-अपने कुछ लम्बाकार प्रभावल भी बने हैं।

इन सबके दोनों पार्श्वों में चमरधारी मूर्तियां हैं। आसन से नीचे की पट्टी में आठ नर्तकियां हैं। ऊपर की ओर पुष्प-मण्डपिका बनी है, जिसके मध्य भाग में पद्मासन व ध्यानस्थ जिनमूर्ति है। इसके दोनों ओर दो चतुर्भुजी मूर्तियां कमलों पर त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी हैं। दाहिनी ओर की मूर्ति के हाथों में हल व मूसल होने से वह स्पष्टतः बलराम की, तथा बाईं ओर की चतुर्भुज मूर्ति के बाएं हाथों में चक्र व शंख तथा दाहिने हाथों में पद्म व गदा होने से वह वासुदेव की मूर्ति है। दोनों के गलों में वैजयन्ती मालाएं पड़ी हुई हैं। बलभद्र और वासुदेव सहित नेमिनाथ तीर्थंकर की स्वतन्त्र मूर्तियां मथुरा व लखनऊ के संग्रहालयों में विद्यमान हैं। प्रस्तुत अम्बिका की मूर्ति में हमें जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओं का सुन्दर समीकरण मिलता है, जिसका वर्णनात्मक पक्ष हम जैन पुराणों में पाते हैं।

अम्बिका की ऐसी मूर्तियां उदयगिरि-खण्डगिरि की नवमुनि गुफा तथा ढंक की गुफाओं में भी पाई जाती हैं। इनमें इस मूर्ति के दो ही हाथ पाए जाते हैं, जैसा कि मथुरा की गुप्तकालीन प्रतिमा में भी है। किन्तु दक्षिण में जिनकांची के एक जैन मठ की दीवार पर चित्रित अम्बिका चतुर्भुज है। उसके दो हाथों में पाश और अंकुश है तथा अन्य दो हाथ अभय और वरद मुद्रा में हैं। वह आम्रवृक्ष के नीचे पद्मासन विराजमान है, और पास में बालक भी है। मैसूर राज्य के अंगडि नामक स्थान के जैन मन्दिर में अम्बिका की द्विभुज मूर्ति खड़ी हुई बहुत ही सुन्दर है। उसकी त्रिभंग शरीराकृति कलात्मक और लालित्यपूर्ण है। देवगढ़ के मन्दिरों में तथा आबू के विमल-वसही में भी अम्बिका की मूर्ति दर्शनीय है। मथुरा संग्रहालय में हाल ही आई हुई (3382) पूर्व-मध्यकालीन मूर्ति में देवी दो स्तम्भों के बीच ललितासन म. बैठी है। दाहिना पैर कमल पर है। देवी अपनी गोद के शिशु को अत्यन्त वात्सल्य भाव से दोनों हाथों से पकड़े हुए है। केशपाश व कण्ठहार तथा कुण्डलों की आकृतियां बड़ी सुन्दर हैं। बाएं किनारे सिंह बैठा है।

11.10 सरस्वती की मूर्ति –

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सरस्वती की एक फुट साढ़े नौ इंच ऊंची मूर्ति (जे 24) लखनऊ के संग्रहालय में है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देवी चौकोर आसन पर विराजमान है। सिर खण्डित है। बाएं हाथ में सूत्र से बंधी हुई पुस्तक है। दाहिना हाथ खण्डित है किन्तु अभय मुद्रा में रहा प्रतीत होता है। वस्त्र साड़ी जैसा है, जिसका अंचल कन्धों को भी आच्छादित किए है। दोनों हाथों की कलाइयों पर एक-एक चूड़ी है, तथा दाहिने हाथ में चूड़ी से ऊपर जपमाला भी लटक रही है। देवी के दोनों ओर दो उपासक खड़े हैं, जिनके केश सुन्दरता से संवारे गए हैं। दाहिनी ओर के उपासक के हाथ में कलश है, तथा बाईं ओर का उपासक हाथ जोड़े खड़ा है। दाहिनी ओर का उपासक कोट पहने हुए है, जो शक जाति के ट्यूनिक जैसा दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार "सब जीवों को हित व सुखकारी यह सरस्वती की प्रतिमा सिंहपुत्र शोभ नामक लुहार कासक (शिल्पी) ने दान किया, और उसे एक जैन मन्दिर की रंगशाला में स्थापित की।" यह मूर्तिदान कोटिक गण वाचकाचार्य आर्यदेव को संवत् 54 में किया था। लिपि आदि पर से यह वर्ष शक संवत् का प्रतीत होता है। अतः इसका काल 78 + 54 = 132 ई. कुषाण राजा हुविष्क के समय में पड़ता है। लेख में जो अन्य नाम आए हैं वे सभी उसी कंकाली टीले से प्राप्त संवत् 52 की जैन प्रतिमा के लेख में भी उल्लिखित हैं। जैन परम्परा में सरस्वती की पूजा कितनी प्राचीन है, यह इस मूर्ति और उसके लेख से प्रमाणित होता है। सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिमा अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हुई। इस देवी की हिन्दू मूर्तियां गुप्तकाल से पूर्व की नहीं पाई जातीं, अर्थात् वे सब इससे दो-तीन शती पश्चात् की हैं। सरस्वती की मूर्ति अनेक स्थानों के जैन मन्दिरों में प्रतिष्ठित पाई जाती हैं, किन्तु अधिकांश ज्ञात प्रतिमाएं मध्यकाल की निर्मित हैं। उदाहरणार्थ, देवगढ़ के 19वें मन्दिर के बाहरी बरामदे में सरस्वती की खड़ी हुई चतुर्भुज मूर्ति है, जिसका काल वि. सं. 1126 के लगभग सिद्ध होता है। राजपूताने में सिरोही जनपद के अजारी नामक स्थान के महावीर जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्ति के आसन पर वि. सं. 1269 खुदा हुआ है। यह मूर्ति कहीं द्विभुज, कहीं चतुर्भुज, कहीं मयूरवाहिनी और कहीं हंसवाहिनी पाई जाती है। एक हाथ में पुस्तक अवश्य रहती है। अन्य हाथ व हाथों में कमल, अक्षमाला और वीणा अथवा इनमें से कोई एक या दो पाए जाते हैं अथवा दूसरा हाथ अभय मुद्रा में दिखाई देता है। जैन प्रतिष्ठा-ग्रन्थों में इस देवी के ये लक्षण भिन्न-भिन्न रूप से पाए जाते हैं। उसकी जटाओं और चन्द्रकला का भी उल्लेख मिलता है। धवला टीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने इस देवी की श्रुत-देवता के रूप में वन्दना की है, जिसके द्वादशांग वाणी रूप बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन रूप तिलक है, और उत्तम चरित्र रूप आभूषण हैं। आकोटा से प्राप्त सरस्वती की धातु-प्रतिमा (12वीं शती से पूर्व की, बड़ौदा संग्रहालय में) द्विभुज खड़ी हुई है, मुख-मुद्रा बड़ी प्रसन्न है। मुकुट व प्रभावल भी है। ऐसी ही एक प्रतिमा वसन्तगढ़ से भी प्राप्त हुई है। देवियों की पूजा की परम्परा बड़ी प्राचीन है? तथापि उनके नामों, स्वरूपों तथा स्थापना व पूजा के प्रकारों में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। भगवती सूत्र (11, 11, 429) में उल्लेख है कि राजकुमार महाबल के विवाह के समय उसे प्रचुर वस्त्राभूषणों के साथ ही श्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, नन्दा और भद्रा की आठ-आठ प्रतिमाएं भी उपहार रूप दी गई थीं। इससे अनुमानतः विवाह के पश्चात् प्रत्येक सम्पन्न कुटुम्ब में ये प्रतिमाएं कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित की जाती थीं।

11.11 अच्युता या अच्छप्ता देवी की मूर्ति –

अच्युता देवी की एक मूर्ति बदनावर (मालवा) से प्राप्त हुई है। देवी घोड़े पर आरूढ़ है। उसके चार हाथ हैं। दोनों दाहिने हाथ टूट गए हैं। ऊपर के बाएं हाथ में एक ढाल दिखाई देती है, और नीचे का हाथ घोड़े की रास सम्हाले हुए है।

दाहिना पैर रकाब में है और बायां उस पैर की जंघा पर रखा हुआ है। इस प्रकार मूर्ति का मुख सामने व घोड़े का उसकी बाईं ओर है। देवी के गले और कानों में अलंकार हैं। मूर्ति के ऊपर मण्डप का आकार है, जिस पर तीन जिन-प्रतिमाएं बनी हैं।चारों कोनों पर छोटी-छोटी जैन आकृतियां हैं। यह पाषाण खण्ड 3 फुट 6 इंच ऊंचा है। इस पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार अच्युता देवी की प्रतिमा को संवत् 1229(ई.1172) में कुछ कुटुम्बों के व्यक्तियों ने वर्द्धमानपुर में शान्तिनाथ चैत्यालय में प्रस्थापित किया था। इस लेख पर से सिद्ध है कि आधुनिक बदनावर प्राचीन वर्द्धमानपुर का अपभ्रंश रूप है। सम्भवतः यही वह वर्द्धमानपुर का शान्तिनाथ मन्दिर है जहां शक सं. 705(ई. 783) में आचार्य जिनसेन ने हरिवंश-पुराण की रचना पूर्ण की थी।

उपर्युक्त विवरण अति संक्षिप्त है। इससे हमें संग्रहालयों में खण्डहरों में पाई जाने वाली तथा मन्दिरों में स्थापित और पूजित जैन तीर्थंकरों व देवी-देवताओं की मूर्तियों का परिचय मात्र मिलता है। प्राचीनकाल से प्राप्त मूर्तियों का यदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कालक्रम से अध्ययन किया जाए तो इस काल के उद्‌गम एवं विकास की पूरी जानकारी हो सकती है।बहुधा साहित्य में पाए जाने वाले पौराणिक उल्लेखों को मूर्तियों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। कल्पसूत्र के अनुसार इन्द्र की आज्ञा से हरिणैगमेश नामक देवता ने देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि से भगवान महावीर का अपहार किया और उसे त्रिशला रानी की कुक्षि में स्थापित कर दिया।

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त भग्नावशेषों में एक तोरण-खण्ड है। इस पर एक देवता की प्रतिमा बनी है। इस प्रतिमा के नीचे 'भगव नेमेसो' ऐसा लिखा है। इसके आधार पर यह स्पष्ट है कि यह हरिणैगमेश देवता की मूर्ति है। बकरे या हिरण जैसी मुखाकृति से इसकी पुष्टि होती है। इस तरह की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों के कन्धे पर अथवा पार्श्व में बालक भी दिखलाए गए हैं। आगे चल कर अजा या हिरणमुख के स्थान पर स्त्री-मुख भी बनाए गए हैं। उन स्त्री-मुख देवियों के कन्धों पर या पार्श्व में भी बालक दिखलाए गए हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि ये देवियां भी हरिणैगमेश की परम्परा में ही निर्मित हुई हैं।

11.12 सारांश

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि हमारी प्राचीन कलाकृतियां साहित्यिक तथा पौराणिक आख्यानों की अभिव्यक्ति में साहित्य की पूरक हैं और आवश्यक साहित्यिक ज्ञान के आधार पर ही इनका समुचित मूल्यांकन किया जा सकता है।

11.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धत्मक प्रश्न

1. जैन मूर्तिकला की विकास यात्रा का वर्णन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कुषाणकालीन जैन मूर्तियों की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
2. जैन मूर्तिकला में देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की विशेषतायें बतायें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मध्यप्रदेश में बड़्वानी नगर के समीप पर्वतश्रेणी के तलभाग में उत्कीर्ण प्रतिमा .... के नाम से प्रसिद्ध है।
2. अधिकांश जैन मूर्तियों के वक्षस्थल पर ..... चिह्न पाया जाता है।
3. विश्वप्रसिद्ध बाहुबली भगवान की मूर्ति .... पर अवस्थित है।
4. आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम .... है।
5. अनेक कुषाणकालीन जिन मूर्तियां .... की खुदाई से प्राप्त हुई हैं।
6. गुप्तकालीन जैन मूर्तियां .... आदि स्थानों से प्राप्त हुई है।
7. धातु की सवस्त्र जिन प्रतिमा .....स्थान से मिली है।
8. नालन्दा और देवगढ़ की मूर्तियां ..... शती की हैं।
9. वीरसेनाचार्य ने .... देवी की श्रुतदेवता के रूप में स्तुति की है।
10. अच्युता देवी की मूर्ति ..... प्राप्त हुई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–11 (ब) : चित्रकला

संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 भित्ति -चित्र
11.3 ताड़पत्रीय चित्र
11.4 कागज पर चित्र
11.5 काष्ठ चित्र
11.6 वस्त्र पर चित्रकारी
11.7 सारांश
11.8 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

भारतवर्ष में चित्रकला का भी बड़ा प्रचीन इतिहास है। साहित्य में इस कला के बहुत प्राचीन उल्लेख पाए जाते हैं, तथापि इस कला के सुन्दरतम उदाहरण हमें अजन्ता की गुप्त–कालीन बौद्ध गुफाओं में मिलते हैं। यहां यह कला जिस विकसित रूप में प्राप्त होती है, वह स्वयं बतला रही है कि उससे पूर्व भी भारतीय कलाकारों ने अनेक वैसे भित्तिचित्र दीर्घकाल तक बनाए होंगे, तभी उनको इस कला का वह कौशल और अभ्यास प्राप्त हो सका, जिसका प्रदर्शन हम उन गुफाओं में पाते हैं। किन्तु चित्रकला की आधारभूत सामग्री भी उसकी प्रकृति अनुसार ही बड़ी ललित और कोमल होती है। भित्ति का लेप और उस पर कलाकार के हाथों की स्याही की रेखाएं तथा रंगों का विन्यास काल की तथा धूप, वर्षा, पवन आदि प्राकृतिक शक्तियों की करालता को उतना नहीं सह सकते जितना वास्तु व मूर्तिकला की पाषाणमयी कृतियां सह सकती हैं। इस कारण गुप्तकाल से पूर्व के चित्रकलात्मक उदाहरण या तो नष्ट हो गए या बचे तो ऐसी जीर्णशीर्ण अवस्था में जिससे उनके मौलिक स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो गया है।

प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। छठे जैन श्रुतांग नायाधम्म–कहाओ में धारणी देवी के शयनागार का सुन्दर वर्णन है जिसकी छत लताओं, पुष्पवल्लियों तथा उत्तम जाति के चित्रों से अलंकृत थी (नायाधम्मकहाओ 19)। इसी श्रुतांग में मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवन में चित्रसभा बनवाने का वर्णन है। उसने चित्रकारों की श्रेणी को बुलवाया और उनसे कहा कि मेरे लिए एक चित्रसभा बनाओ और उसे हाव, भाव, विलास, विभ्रमों से सुसज्जित करो। चित्रकार श्रेणी ने इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने–अपने घर जाकर तूलिकाएं और वर्ण (रंग) लाकर वे चित्र–रचना में प्रवृत्त हो गए। उन्होंने भित्तियों का विभाजन किया, भूमि को लेपादि से सजाया और फिर उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे। उनमें से एक चित्रकार को ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि किसी भी द्विपद व चतुष्पद प्राणी का एक अंग मात्र देखकर उसकी पूरी रूपाकृति का निर्माण कर सकता था। उसने राजकुमारी मल्लि के चरणांगुष्ठ को परदे की ओट से देखकर उसकी यथावत् सर्वांगकृति चित्रित कर दी(वही 8, 78)। इसी श्रुतांग में अन्यत्र(13, 99) मणिकार श्रेष्ठि नन्द द्वारा राजगृह के उद्यान में एक चित्रसभा बनवाने का उल्लेख है, जिसमें सैकड़ों स्तम्भ थे, व नाना प्रकार के काष्ठकर्म (लकड़ी की कारीगरी), पुस्तकर्म (चूने सीमेण्ट की कारीगरी), चित्रकर्म (रंगों की कारीगरी), लेप्यकर्म (मिट्टी की आकृतियां) तथा नाना द्रव्यों को गूंथकर, वेष्टितकर, भरकर व जोड़कर बनाई हुई विविध आकृतियां निर्मित कराई थीं। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य (2, 5, 262) में एक गणिका का कथानक है, जो 64 कलाओं में प्रवीण थी। उसने अपनी चित्रसभा में नाना प्रकार के, नाना जातियों के व व्यवसायों के पुरुषों के चित्र लिखाए थे। जो कोई उसके पास आता उसे वह अपनी उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्रसभा के चित्र दिखलाती, और उसकी प्रतिक्रियाओं पर से उसकी रुचि व स्वभाव को जानकर उसके साथ तदनुसार व्यवहार करती थी। आवश्यक टीका के एक पद्य में चित्रकार का उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी भी व्यवसाय का अभ्यास ही उसमें पूर्ण प्रवीणता प्राप्त कराता है। चूर्णिकार ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि निरन्तर अभ्यास द्वारा चित्रकार रूपों के समुचित प्रमाण को बिना नापे-तोले ही साध लेता है। एक चित्रकार के हस्त-कौशल का उदाहरण देते हुए आवश्यक टीका में यह भी कहा है कि एक शिल्पी ने मयूर का पंख ऐसे कौशल से चित्रित किया था कि राजा उसे यथार्थ वस्तु समझकर हाथों में लेने का प्रयत्न करने लगा।

11.1 उद्देश्य

इस प्रकार जैन साहित्यिक उल्लेखों से प्रमाणित है कि जैन परम्परा में चित्रकला का प्रचार अति प्राचीन काल में हो चुका था और यह कला सुविकसित तथा सुव्यवस्थित हो चुकी थी।

11.2 भित्ति-चित्र

जैन चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण हमें तामिल प्रदेश के तंजोर के समीप सित्तन्नवासल की गुफा में मिलते हैं। किसी समय इस गुफा में समस्त भित्तियां व छत चित्रों से अलंकृत थे, और गुफा का वह अलंकरण महेन्द्रवर्मा प्रथम के राज्य काल(ई.625) में कराया गया था। शैव धर्म स्वीकार करने से पूर्व वह राजा जैन धर्मावलम्बी था। वह चित्रकला का इतना प्रेमी था कि उसने दक्षिण-चित्र नामक शास्त्र का संकलन कराया था। गुफा के अधिकांश चित्र तो नष्ट हो चुके हैं, किन्तु कुछ अब भी इतने सुव्यवस्थित हैं कि जिनसे उनका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इनमें आकाश में मेघों के बीच नृत्य करती हुई अप्सराओं की तथा राजा-रानी की आकृतियां स्पष्ट और सुन्दर हैं। छत पर के दो चित्र कमल-सरोवर के हैं। सरोवर के बीच एक युगल की आकृति हैं, जिसमें स्त्री अपने दाहिने हाथ से कमलपुष्प तोड़ रही है,और पुरुष उससे सटकर बाएं हाथ में कमल-नाल को कन्धे पर लिए खड़ा है। युगल का यह चित्रण बड़ा ही सुन्दर है। ऐसा भी अनुमान किया गया है कि ये चित्र तत्कालीन नरेश महेन्द्रवर्मा और उसकी रानी के ही हैं। एक ओर हाथी अनेक कमलनालों को अपनी सूंड में लपेटकर उखाड़ रहा है, कहीं गाय कमलनाल चर रही है, हंस-युगल क्रीड़ा कर रहे हैं, पक्षी कमल मुकुलों पर बैठे हुए हैं, व मत्स्य पानी में चल-फिर रहे हैं। दूसरा चित्र भी इसी का क्रमानुगामी है। उसमें एक मनुष्य तोड़े हुए कमलों से भरी हुई टोकरी लिए हुए है, तथा हाथी और बैल क्रीड़ा कर रहे हैं। हाथियों का रंग भूरा व बैलों का रंग मटियाला है। विद्वानों का अनुमान है कि ये चित्र तीर्थंकर के समवसरण की खातिका-भूमि के हैं, जिनमें भव्य-जन पूजा-निमित्त कमल तोड़ते हैं।

इसी चित्र का अनुकरण एलोरा के कैलाशनाथ मन्दिर के एक चित्र में भी पाया जाता है। यद्यपि यह मन्दिर शैव है, तथापि इसमें उक्त चित्र के साथ ही एक ऐसा भी चित्र है जिसमें एक दिगम्बर मुनि को पालकी में बैठाकर यात्रा निकाली जा रही है। पालकी को चार मनुष्य पीछे की ओर व आगे एक मनुष्य धारण किए हैं। पालकी पर छत्र भी लगा हुआ है। आगे-आगे पांच योद्धा भालों और ढालों से सुसज्जित चल रहे हैं। इन योद्धाओं की मुखाकृति, केशविन्यास, भौहें, आंखों व मूछों की बनावट तथा कर्ण-कुण्डल बड़ी सजीवता को लिए हुए है। बाईं ओर इनके स्वागत के लिए आती हुई सात स्त्रियां, और उनके आगे उसी प्रकार से सुसज्जित सात योद्धा दिखाई देते हैं। योद्धाओं के पीछे ऊपर की ओर छत्र भी लगा हुआ है। स्त्रियां सिरों पर कलश आदि मंगल द्रव्य धारण किए हुए है। उनकी साड़ी की पहनावट दक्षिणी ढंग के समकक्ष है, तथा उत्तरीय दाहिनी बाजू से बाएं कन्धे पर डाला हुआ है। उसके पीछे वन्दनवार बने हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार यह दृश्य भट्टारक सम्प्रदाय के जैनमुनि के राजद्वार पर स्वागत का प्रतीत होता है।डॉ. मोतीचन्दजी का अनुमान है कि एक हिन्दू मन्दिर में इस जैन दृश्य का अस्तित्व 12वीं शती में मन्दिर को जैनियों द्वारा बलात् स्वाधीन किए जाने की सम्भावना को सूचित करता है। किन्तु समस्त जैनधर्म के इतिहास को देखते हुए यह बात असम्भव-सी प्रतीत होती है। यह चित्र सम्भवतः चित्र निर्मापक की धार्मिक उदारता अथवा उसपर किसी जैन मुनि के विशेष प्रभाव का प्रतीक है। एलोरा के इन्द्रसभा नामक शैलमन्दिर (8वीं से 10वीं शती ई.)में भी रंगीन भित्तिचित्रों के चिह्न विद्यमान हैं,किन्तु वे इतने छिन्न-भिन्न हैं और धुंधले हो गए हैं कि उनका विशेष वृत्तान्त पाना असम्भव है।

10-11वीं शती में जैनियों ने अपने मन्दिरों में चित्रनिर्माण द्वारा दक्षिण प्रदेश में चित्रकला को खूब पुष्ट किया। उदाहरणार्थ, तिरुमलाई के जैन मन्दिर में अब भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें देवता व किंपुरुष आकाश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में मेघों के बीच उड़ते हुए दिखाई देते हैं। देव पंक्तिबद्ध होकर समवसरण की ओर जा रहे हैं। गंधर्व व अप्सराएं भी बने हैं। एक देव फूलों के बीच खड़ा है। श्वेत वस्त्र धारण किए अप्सराएं पंक्तिबद्ध स्थित हैं। एक चित्र में दो मुनि परस्पर सम्मुख बैठे दिखाई देते हैं। कहीं दिगम्बर मुनि आहार देने वाली महिला को धर्मोपदेश दे रहे हैं। एक देवता चतुर्भुज व त्रिनेत्र दिखाई देता है, जो सम्भवतः इन्द्र है। ये सब चित्र चित्रभित्ति पर नाना रंगों से बनाए गए हैं। रंगों की चटक अजन्ता के चित्रों के समान है। देवों, आर्यों व मुनियों के चित्रों में नाक व ठुड्डी का अंकन कोणात्मक तथा दूसरी आंख मुखाकृति के बाहर को निकली हुई सी बनाई गई है। आगे की चित्रकला इस शैली से बहुत प्रभावित पाई जाती है।

श्रवणबेलगोला के जैनमठ में अनेक सुन्दर भित्ति-चित्र विद्यमान हैं। एक में पार्श्वनाथ समवसरण में विराजमान दिखाई देते हैं। नेमिनाथ की दिव्य ध्वनि का चित्रण भी सुन्दरता से किया गया है। एक वृक्ष और छह पुरुषों द्वारा जैन धर्म की छह लेश्याओं को समझाया गया है। वृक्ष के फलों को खाने के लिए कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति सारे वृक्ष को काट डालता है। नीललेश्या वाला व्यक्ति उसकी बड़ी-बड़ी शाखाओं को, कपोतलेश्या वाला उसकी टहनियों को, पीतलेश्या वाला उसके कच्चे-पके फलों को और पद्मलेश्या वाला व्यक्ति वृक्ष को लेशमात्र भी हानि नहीं पहुंचाता हुआ पककर गिरे हुए फलों को चुनकर खाता है।मठ के चित्रों में ऐसे अन्य भी धार्मिक उपदेशों के दृष्टान्त पाए जाते हैं। यहां एक ऐसा चित्र भी है, जिसमें मैसूर नरेश कृष्णराज ओडयर (तृतीय) का दशहरा दरबार प्रदर्शित किया गया है।

11.3 ताड़पत्रीय चित्र

जैन मन्दिरों में भित्ति-चित्रों की कला का विकास 11वीं शती तक विशेष रूप से पाया जाता है। तत्पश्चात् चित्रकला का आधार ताड़पत्र बना।इस काल से लेकर 14-15वीं शती तक के हस्तलिखित ताड़पत्र ग्रन्थ जैन शास्त्र-भण्डारों में सहस्रों की संख्या में पाए जाते हैं।चित्र बहुधा लेख के ऊपर,नीचे,दाहिने-बाएं हाशियों पर, और कहीं पत्र के मध्य में भी बने हुए हैं।ये चित्र बहुधा शोभा के लिए, अथवा धार्मिक रुचि बढ़ाने के लिए अंकित किए गए हैं।ऐसे चित्र बहुत ही कम हैं जिनका विषय ग्रन्थ से सम्बन्ध रखता हो।

सबसे प्राचीन चित्रित ताड़पत्रग्रन्थ दक्षिण में मैसूर राज्यान्तर्गत मूडविद्री तथा उत्तर में पाटन (गुजरात) के जैन भण्डारों में मिले हैं। मूडविद्री में षट्खण्डागम की ताड़पत्रीय प्रतियां, उसके ग्रन्थ व चित्र दोनों दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। दिगम्बर जैन परम्परानुसार सुरक्षित साहित्य में यही रचना सबसे प्राचीन है। इसका मूल द्वितीय शती, तथा टीका 9 वीं शती में रचित सिद्ध होती है। मूडविद्री के इस ग्रन्थ की तीन प्रतियों में सबसे पीछे की प्रति का लेखन काल 1113 ई. के लगभग है। इसमें पांच ताड़पत्र सचित्र हैं। इनमें से दो ताड़पत्र तो पूरे चित्रों से भरे हैं, दो के मध्यभाग में लेख हैं और दोनों तरफ कुछ चित्र, तथा एक में पत्र तीन भागों में विभाजित है और तीनों भागों में लेख हैं, किन्तु दोनों छोरों पर एक-एक चक्राकृति बनी है। चक्र की परिधि में भीतर की ओर अनेक कोणाकृतियां हैं और मध्यभाग में उसी प्रकार का दूसरा छोटा-सा चक्र है। इन दोनों के वलय में कुछ अन्तराल से छह चौकोण आकृतियां बनी हैं। जिन दो पत्रों के मध्य में लेख और आजू-बाजू चित्र हैं, उनमें से एक पत्र में पहले बेलबूटेदार किनारी और फिर दो-दो विविध प्रकार की सुन्दर गोलाकृतियां हैं। दूसरे पत्र में दाहिनी ओर खड्गासन में नग्न मूर्तियां हैं, जिनके सम्मुख दो स्त्रियां नृत्य जैसी भाव-मुद्रा में खड़ी हैं। इनके केशों का जूड़ा चक्राकार व पुष्पमाला युक्त है, तथा उत्तरीय दाहिने कन्धे के नीचे से बाएं के ऊपर फैला हुआ है। पत्र के बाईं ओर पद्मासन जिनमूर्ति प्रभावल-युक्त है। सिंहासन पर कुछ पशुओं की आकृतियां बनी हैं। मूर्ति के दोनों ओर दो मनुष्य-आकृतियां हैं और उनके पार्श्व में स्वतन्त्र रूप से खड़ी हुई और दूसरी कमलासीन हंसयुक्त देवी की मूर्तियां हैं। जो दो पत्र पूर्णतः चित्रों से अलंकृत हैं, उनमें से एक के मध्य में पद्मासन जिनमूर्ति है, जिसके दोनों ओर एक-एक देव खड़े हैं। इस चित्र के दोनों ओर समान रूप से दो-दो पद्मासन जिनमूर्तियां हैं, जिनके सिर के पीछे प्रभावल, उसके दोनों ओर चमर, और ऊपर की ओर दो चक्रों की आकृतियां हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर एक-एक चतुर्भुजी देवी की भद्रासन मूर्ति है, जिनके दाहिने हाथ में अंकुश और बाएं हाथ में कमल है। अन्य दो हाथ वरद और अभय मुद्रा में हैं। दोनों छोरों के चित्रों में गुरु अपने सम्मुख हाथ जोड़े बैठे श्रावकों को धर्मोपदेश दे रहे हैं। उनके बीच में स्थापनाचार्य रखा है। दूसरे पत्र के मध्य भाग में पद्मासन जिनमूर्ति है और उसके दोनों ओर सात-सात साधु नाना प्रकार के आसनों व हस्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मुद्राओं सहित बैठे हुए हैं। इन ताड़पत्रों की सभी आकृतियां बड़ी सजीव और कला-पूर्ण है । विशेष बात यह है कि इन चित्रों में कहीं भी पहली आंख मुखरेखा से बाहर की ओर निकली हुई दिखाई नहीं देती। नासिका व ठुड्डी की आकृति भी कोणाकार नहीं है, जैसे कि हम आगे विकसित हुई पश्चिमी जैनशैली में पाते हैं।

उक्त चित्रों के समकालीन पश्चिम की चित्रकला के उदाहरण निशीथ-चूर्णि की पाटन के संघवी-पाड़ा के भण्डार में सुरक्षित ताड़पत्रीय प्रति में मिलते हैं। यह प्रति उसकी प्रशस्ति अनुसार भृगुकच्छ (भड़ौंच) में सोरूंकी नरेश जयसिंह (ई. 1094 से 1143) के राज्यकाल में लिखी गई थी। इसमें अलंकरणात्मक चक्राकार आकृतियां बहुत हैं, और वे प्रायः उसी शैली की हैं जैसी ऊपर वर्णित षट्खण्डागम की। हां, एक चक्र के भीतर हस्तिवाहक का, तथा अन्यत्र पुष्पमालाएं लिए हुए दो अप्सराओं के चित्र विशेष हैं । इनमें भी षट्खण्डागम के चित्रों के समान पहली आंख की आकृति मुखरेखा से बाहर नहीं निकली। 1127 ई. में लिखित खम्भात के शान्तिनाथ जैनमन्दिर में स्थित नगीनदास भण्डार की ज्ञाताधर्मसूत्र की ताड़पत्रीय प्रति के पद्मासन महावीर तीर्थंकर आसपास चौरी वाहकों सहित, तथा सरस्वती देवी का त्रिभंग चित्र उल्लेखनीय है। देवी चतुर्भुज है। ऊपर के दोनों हाथों में कमलपुष्प तथा निचले हाथों में अक्षमाला व पुस्तक है। समीप में हंस भी है। देवी के मुख की प्रसन्नता व अंगों का हाव-भाव और विलास सुन्दरता से अंकित किया गया है।

बड़ौदा जनपद के अन्तर्गत छाणी के जैन ग्रन्थ-भण्डार की ओघनिर्युक्ति की ताड़पत्रीय प्रति (ई. 1161) के चित्र विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि इनमें 16 विद्यादेवियों तथा अन्य देवियों और यक्षों के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। विद्यादेवियों के नाम हैं - रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुशी, चक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी और महामानसी। अन्य देव-देवी हैं- कापर्दीयक्ष, सरस्वती, अम्बिका, महालक्ष्मी, ब्रह्मशान्ति। सभी देवियां चतुर्भुज व भद्रासन हैं। हाथों में वरद व अभय मुद्रा के साथ ही शक्ति, अंकुश, धनुष, बाण, श्रृंखला, शंख, असि, ढाल, पुष्प, फल व पुस्तक आदि चिह्न हैं। मस्तक के नीचे प्रभावल, सिर पर मुकुट, कान में कर्णफूल व गले में हार भी विद्यमान हैं। अम्बिका के दो ही हाथ हैं। दाहिने हाथ में बालक और बाएं हाथ में आम्रफलों के गुच्छे सहित डाली। इन सब आकृतियों में परली आंख निकली हुई है तथा नाक व ठुड्डी की कोणाकृति स्पष्ट दिखाई देती है। समस्त शोभांकन रूढ़ि-बद्ध है। इस जैनग्रन्थ में इन चित्रों का अस्तित्व यह बतलाता है कि इस काल की कुछ जैन उपासना विधियों में अनेक वैष्णव व शैव देवी-देवताओं को भी स्वीकार कर लिया गया था।

सन् 1288 में लिखित सुबाहु-कथादि कथा-संग्रह की ताड़पत्र प्रति में 23 चित्र हैं, जिनमें से अनेक अपनी विशेषता रखते हैं। एक में भगवान नेमिनाथ की वरयात्रा का सुन्दर चित्रण है। कन्या राजीमती विवाह-मण्डप में बैठी हुई है, जिसके द्वार पर खड़ा हुआ मनुष्य हाथ जोड़कर हस्ति-आरूढ़ नेमिनाथ का स्वागत कर रहा है। नीचे की ओर मृगाकृतियां बनी हैं। दो चित्र बलदेव मुनि के हैं। एक में मृगादि पशु बलदेव मुनि का उपदेश श्रवण कर रहे हैं और दूसरे में वे एक वृक्ष के नीचे मृग सहित खड़े रथवाही से आहार ग्रहण कर रहे हैं। इस ग्रन्थ के चित्रों में डॉ. मोतीचन्द के मतानुसार पशु व वृक्षों का चित्रण ताड़पत्र में प्रथम बार अवतरित हुआ है, तथा इन चित्रों में पश्चिमी भारत की चित्र-शैली स्थिरता को प्राप्त हो गई है। कोणाकार रेखांकन व नासिका और ठुड्डी का चित्रण तथा परली आंख की आकृति मुख रेखा से बाहर निकली हुई यहां रूढ़िबद्ध हुई दिखाई देती है।

इस चित्रशैली के नामकरण के सम्बन्ध में मतभेद हैं। नार्मन ब्राउन ने इसे श्वेताम्बर जैन शैली कहा है; क्योंकि उनके मतानुसार इसका प्रयोग श्वे. जैन ग्रन्थों में हुआ है, तथा परली आंख को निकली हुई अंकित करने का कारण सम्भवतः उस सम्प्रदाय में प्रचलित तीर्थंकर मूर्तियों में कृत्रिम आंख लगाना है। डॉ. कुमार स्वामी ने इसे जैनकला, तथा श्री एन. सी. मेहता ने गुजराती शैली कहा है। श्री रायकृष्णदास का मत है कि इस शैली में हमें भारतीय चित्रकला का ह्रास दिखाई देता है। अतः उसे इस काल में विकसित हुई भाषा के अनुसार अपभ्रंश शैली कहना उचित होगा। किन्तु इन सबसे शताब्दियों पूर्व तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथ (16 वीं शती ई.) ने पश्चिम भारतीय शैली का उल्लेख किया है, और डॉ. मोतीचन्द ने इसी नाम का औचित्य स्वीकार किया है, क्योंकि उपलब्ध प्रमाणों पर से इस शैली का उद्गम और विकास पश्चिम भारत में ही, विशेषतः गुजरात-राजपूताना प्रदेश में हुआ सिद्ध होता है। तारानाथ के मतानुसार पश्चिमी कला-शैली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मारू(मारवाड़) के शृंगधर नामक कुशल चित्रकार ने प्रारम्भ की थी, और वह हर्षवर्धन (610 से 650 ई.) के समय में हुआ था। यह शैली क्रमशः नेपाल और कश्मीर तक पहुंच गई। इस शैली के उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि यदि इसकी उत्पत्ति नहीं तो विशेष पुष्टि अवश्य ही जैन परम्परा के भीतर हुई और इसीलिए उसका जैनशैली नाम अनुचित नहीं।

जिन ताड़पत्रीय चित्रों का ऊपर परिचय कराया गया है, उनके सामान्य लक्षण ये हैं – विषय की दृष्टि से वे तीर्थंकरों, देव-देवियों, मुनियों व धर्मरक्षकों की आकृतियों तक ही प्रायः सीमित हैं। संयोजन व पृष्ठभूमि की समस्याएं चित्रकार के सम्मुख नहीं उठीं । उक्त आकृतियों की मुद्राएं भी बहुत कुछ सीमित और रूढ़िगत हैं। आकृतिअंकन रेखात्मक है, जिससे उनमें त्रिमिति-दर्शक गहराई नहीं आ सकी। रंगों का प्रयोग भी परिमित है। प्रायः भूमि लाल एवं पकी हुई ईंटों के रंग की और आकृतियों में पीले, सिन्दूर जैसे लाल, नीले और सफेद तथा क्वचित् हरे रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु सन् 1350 और 1450 ई. के बीच में एक शती के जो ताड़पत्रीय चित्रों के उदाहरण मिले हैं, उनमें शास्त्रीय व सौन्दर्य की दृष्टि से कुछ वैशिष्ट्य देखा जाता है। आकृति-अंकन अधिक सूक्ष्मतर व कौशल से हुआ है। आकृतियों में विषय की दृष्टि से तीर्थंकरों के जीवन की घटनाएं भी अधिक चित्रित हुई हैं, और उनमें विवरणात्मकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है, तथा रंगलेप में वैचित्र्य और विशेष चटकीलापन आया है। इसी काल में सुवर्ण-रंग का प्रयोग प्रथम बार दृष्टिगोचर होता है। यह सब मुसलमानों के साथ आई हुई ईरानी चित्रकला का प्रभाव माना जाता है, जिसके बल से आगे चलकर अकबर के काल (16वीं शती) में वह भारतीय ईरानी चित्रशैली विकसित हुई, जो मुगलशैली के नाम से सुप्रसिद्ध हुई पाई जाती है। इस शैली की प्रतिनिधि रचनाएं अधिकांश कल्पसूत्र की प्रतियों में पाई जाती हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ईडर के 'आनन्दजी मंगलजी पेढ़ी' के ज्ञानभण्डार की वह प्रति है जिसमें 34 चित्र हैं जो महावीर और कुछ पार्श्वनाथ व नेमिनाथ तीर्थंकरों की जीवन-घटनाओं से सम्बद्ध हैं। इनमें सुवर्ण-रंग का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर तो ऐसी भी रचनाएं मिलती हैं जिनमें न केवल चित्रों में ही सुवर्ण-रंग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु समस्त ग्रन्थ-लेख ही सुवर्ण की स्याही में किया गया है, अथवा समस्त भूमि ही सुवर्ण-लिप्त की गई है, और उस पर चांदी की स्याही से लेखन किया गया है। कल्पसूत्र की आठ ताड़पत्र तथा बीस कागज की प्रतियों पर से लिए हुए 374 चित्रों सहित कल्पसूत्र का प्रकाशन भी हो चुका है। (पवित्र कल्पसूत्र, अहमदाबाद 1952)। प्रोफेसर नार्मन ब्राउन ने अपने दी स्टोरी ऑफ कालक (वाशिंगटन, 1933) नामक ग्रन्थ में 39 चित्रों का परिचय कराया है तथा साराभाई नवाब ने अपने कालक कथा संग्रह (अहमदाबाद, 1958) में 6 ताड़पत्र और 9 कागज की प्रतियों पर से 88 चित्र प्रस्तुत किए हैं। डॉ. मोतीचन्द ने अपने 'जैन मिनीएचर पेण्टिंग्स फ्राम वेस्टर्न इण्डिया' (अहमदाबाद, 1949) में 262 चित्र प्रस्तुत किए हैं और उनके आधार से जैन चित्रकला का अति महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

11.4 कागज पर चित्र

कागज का आविष्कार चीन देश में 105 ई. में हुआ माना जाता है। 10वीं-11वीं शती में उसका निर्माण अरब देशों में होने लगा और वहां से भारत में आया। मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के जैन भण्डार से ध्वन्यालोक-लोचन की उस प्रति का अन्तिम पत्र मिला है जो जिनचन्द्रसूरि के लिए लिखी गई थी, तथा जिसका लेखनकाल, जिनविजयजी के कहे अनुसार, सन् 1160 के लगभग है। कारंजा जैन भण्डार से उपासकाचार (रत्नकरंड श्रावकाचार) की प्रभाचन्द्र कृत टीका सहित कागज की प्रति का लेखनकाल वि. सं. 1415 (ई. सन् 1358) है। किन्तु कागज की सबसे प्राचीन चित्रित प्रति ई. 1427 में लिखित वह कल्पसूत्र है जो लन्दन की इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

इसमें 31 चित्र हैं और उसी के साथ जुड़ी हुई कालकाचार्यकथा में अन्य 13 । इस ग्रन्थ के समस्त 113 पत्र चांदी की स्याही से काली व लाल पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं। कुछ पृष्ठ लाल या सादी भूमि पर सुवर्ण की स्याही से लिखित भी हैं। प्रति के हाशियों पर शोभा के लिए हाथियों व हंसों की पंक्तियां, फूल-पत्तियां अथवा कमल आदि बने हुए हैं। लक्ष्मणगणी कृत **सुपासणाह-चरियं** की एक सचित्र प्रति पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य जैन-ज्ञान भण्डार में संवत् 1479 (ई. 1422) में पं. भावचन्द्र के शिष्य हीरानन्द मुनि द्वारा लिखित है। इसमें कुल 37 चित्र हैं जिनमें से 6 पूरे पत्रों में व शेष पत्रों के अर्द्ध व तृतीय भाग में हाशियों में बने हैं। इनमें सुपार्श्व तीर्थंकर के साथ ही सरस्वती, मातृस्वप्न, विवाह, समवसरण,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देशना आदि के चित्र बड़े सुन्दर हैं। इसके पश्चात्कालीन कल्पसूत्र की अनेक सचित्र प्रतियां नाना जैन-भण्डारों में पाई गई हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय बड़ौदा के नरसिंहजी ज्ञान-भण्डार में सुरक्षित है। यह प्रति यवनपुर (जौनपुर, उ.प्र.) में हुसैनशाह के राज्य में वि.सं. 1522 में हर्षिणी श्राविका के आदेश से लिखी गई थी। इसमें 86 पृष्ठ हैं और समस्त लेखन सुवर्ण-स्याही से हुआ है। इसमें आठ चित्र हैं, जिनमें ऋषभदेव का राज्याभिषेक, भरत-बाहुबलि युद्ध, महावीर की माता के स्वप्न, कोशा का नृत्य आदि चित्रित हैं। इन चित्रों में लाल भूमि पर पीले, हरे, नीले आदि रंगों के साथ ही सुवर्ण का भी प्रचुर प्रयोग है। आकृतियों में पश्चिमी शैली के लक्षण सुस्पष्ट हैं। स्त्रियों की मुखाकृति विशेष परिष्कृत पाई जाती है, और उनके ओष्ठ लाक्तारस से रंजित दिखाए गए हैं। अन्य विशेष उल्लेखनीय कल्पसूत्र की अहमदाबाद के देवसेन पाड़ा की प्रति है, जो भड़ौच के समीप गंधारबन्दर के निवासी साणा और जूडा श्रेष्ठियों के वंशजों द्वारा लिखाई गई थी। यह भी सुवर्ण स्याही से लिखी गई है। कला की दृष्टि से इसके कोई 25-26 चित्र इस प्रकार के ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं, क्योंकि इनमें भरत नाट्य शास्त्र में वर्णित नाना नृत्य-मुद्राओं का अंकन पाया जाता है। एक चित्र में महावीर द्वारा चण्डकौशिक नाग के वशीकरण की घटना दिखाई गई है। इसकी किनारियों का चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है, और वह ईरानी कला से प्रभावित माना जाता है। उसमें अकबरकालीन मुगलशैली का आभास मिलता है।

कागज की उपर्युक्त सचित्र प्रतियां श्वेताम्बर परम्परा की हैं, जो प्रकाश में आ चुकी हैं और विशेषज्ञों द्वारा उनके चित्रों का अध्ययन भी किया जा चुका है। दुर्भाग्यतः दिगम्बर जैन भण्डारों की इस दृष्टि से अभी तक खोज-शोध शेष है। अनेक शास्त्र-भण्डारों में सचित्र प्रतियों का पता चला है। उदाहरणार्थ, दिल्ली के एक शास्त्र-भण्डार में पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराण की एक प्रति है, जिसमें सैकड़ों चित्र तीर्थंकरों के जीवन की घटनाओं को प्रदर्शित करने वाले विद्यमान हैं। नागौर के शास्त्र-भण्डार में एक यशोधरचरित्र की प्रति है, जिसके चित्रों की उसके दर्शकों ने बड़ी प्रशंसा की है। नागपुर के शास्त्र-भण्डार से सुगन्धदशमी कथा की प्रति मिली है, जिसमें उस कथा को उदाहरण करने वाले 70 से अधिक चित्र हैं। बम्बई के ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन में **भक्तामर स्तोत्र** की सचित्र प्रति है जिसमें लगभग 40 चित्र हैं, जिनमें आदिनाथ का चतुर्मुख कमलासन प्रतिबिम्ब भी है। इसके एक ओर दिग. साधु व दूसरी ओर कोई मुकुट-धारी नरेश उपासक के रूप में खड़े हैं। नेमीचन्द्र कृत **त्रिलोकसार** की सचित्र प्रतियां मिलती हैं, जिनमें नेमीचन्द्र व उनके शिष्य महामन्त्री चामुण्डराय के चित्र पाए जाते हैं।

कागज का आधार मिलने पर चित्रकला की रीति में कुछ विकास और परिवर्तन हुआ। ताड़पत्र में विस्तार की दृष्टि से चित्रकार के हाथ बंधे हुए थे। उसे दो-ढाई इंच से अधिक चौड़ा क्षेत्र ही नहीं मिल पाता था। कागज में यह कठिनाई जाती रही, और चित्रण के लिए यथेष्ट लम्बाई-चौड़ाई मिलने लगी, जिससे रुचि अनुसार चित्रों के बड़े-छोटे आकार निर्माण व सम्पुंजन में बड़ी सुविधा हो गई। रंगों के चुनाव में भी विस्तार हुआ। ताड़पत्र पर रंगों को जमाना कठिन कार्य था। कागज रंग को सरलता से पकड़ लेता है। इसके साथ ही सोने-चांदी के रंगों का भी उपयोग प्रारम्भ हुआ । इसके पूर्व सुवर्ण के रंग का भी उपयोग बहुत ही अल्प मात्रा में तूलिका को थोड़ा सा डुबाकर केवल आभूषणों के अंकन के लिए किया जाता था। सम्भवतः उस समय सुवर्ण की मंहगाई भी इसका एक कारण था। किन्तु इस काल में सुवर्ण कुछ अधिक सुलभ प्रतीत होता है। अथवा चित्रकला की ओर धनिक में ध्यान आकर्षित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप न केवल चित्रण में, किन्तु ग्रन्थ लेखन में भी सुवर्ण व चांदी की स्याहियों का प्रचुरता से उपयोग होने लगा। सुवर्ण की चमक से चित्रकार यहां तक प्रभावित हुए पाए जाते हैं कि बहुधा समस्त चित्रभूमि सुवर्ण-लिप्त कर दी जाने लगी एवं जैन मुनियों के वस्त्र भी सुवर्ण-रंजित प्रदर्शित किए जाने लगे। जितना अधिक सुवर्ण का उपयोग, उतना अधिक सौन्दर्य, इस भावना को कलाभिरुचि की एक विकृति ही कहना चाहिए। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि नाना रंगों के बीच सुवर्ण के समुचित उपयोग से कागज पर की चित्रकारी में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है।

11.5 काष्ठ चित्र

जैन शास्त्र-भण्डारों में काष्ठ के ऊपर भी चित्रकारी के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं। ये काष्ठ आदितः ताड़पत्रों की प्रतियों की रक्षा के लिए उनके ऊपर-नीचे रखे जाते थे। ऐसा एक सचित्र काष्ठ चित्रपट मुनि जिनविजयजी को जैसलमेर के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञान–भण्डार से प्राप्त हुआ है। यह 27 इंच लम्बा और 3 इंच चौड़ा है। रंग ऐसे पक्के हैं कि वे पानी से धुलते नहीं। पट के मध्य में जैन मन्दिर की आकृति है, जिसमें एक जिनमूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर परिचारक खड़े हैं। दाहिनी ओर कोष्ठक में दो उपासक अंजलि–मुद्रा में खड़े हैं, दो व्यक्ति डिंडिम बजाने में मस्त हैं, और दो नर्त्तकियां नृत्य कर रही हैं। ऊपर की ओर आकाश में एक किन्नरी उड़ रही है। बाएं प्रकोष्ठ में तीन उपासक हाथ जोड़े खड़े हैं, और एक किन्नर आकाश में उड़ रहा है। इस मध्यवर्ती चित्र के दोनों ओर व्याख्यान–सभा हो रही है। एक में आचार्य जिनदत्त सूरि विराजमान हैं, और उनका नाम भी लिखा है। उनके सम्मुख पं. जिनरक्षित बैठे हुए हैं। अन्य उपासक–उपासिकाएं भी हैं। मुनि के सम्मुख स्थापनाचार्य रखा हुआ है और उस पर महावीर का नाम भी लिखा है। दाहिनी ओर की व्याख्यान–सभा में आचार्य जिनदत्त, गुणचन्द्राचार्य से विचार–विमर्श कर रहे हैं। इन दोनों के बीच में भी स्थापनाचार्य बना हुआ है। मुनि जिनविजयजी का अनुमान है कि यह चित्रपट जिनदत्त सूरि के जीवन–काल का ही हो तो आश्चर्य नहीं। उनका जन्म वि. सं. 1132, और स्वर्गवास वि.सं. 1211 में हुआ सिद्ध है। सम्भव है उपर्युक्त चित्रण उनके मारवाड़ अन्तर्गत विक्रमपुर के मन्दिर में दीक्षाग्रहण के काल का ही हो। मुनि जिनविजयजी द्वारा जैसलमेर के ज्ञान–भण्डार से एक और सचित्र काष्ठ–पट का पता चला है, जो 30 इंच लम्बा और 3 इंच चौड़ा है। इसमें वादिदेव सूरि और आचार्य कुमुदचन्द्र के बीच हुए शास्त्रार्थ सम्बन्धी नाना घटनाओं का चित्रण किया गया है। श्री साराभाई नवाब के संग्रह में एक 12 वीं शती का काष्ठ–पट 30 इंच लम्बा व तथा पौने तीन इंच चौड़ा है, जिसमें भरत और बाहुबलि के युद्ध का विवरण चित्रित है। इसमें हाथी, हंस, सिंह, कमलपुष्प आदि के चित्र बहुत सुन्दर बने हैं। वि.सं. 1456 में लिखित सूत्रकृतांगवृत्ति की ताड़पत्रीय प्रति का काष्ठ–पट साढ़े चौतीस इंच चौड़ा महावीर के जीवन की घटनाओं से चित्रित पाया गया है। इसी प्रकार सं. 1425 में लिखित धर्मोपदेशमाला का काष्ठ–पट सवा पैतीस इंच लम्बा और सवा तीन इंच चौड़ा है, और उस पर पार्श्वनाथ की जीवन–घटनाएं चित्रित हैं। ये सभी काष्ठ–चित्र सामान्यतः पश्चिमी शैली के हैं।

11.6 वस्त्र पर चित्रकारी

वस्त्र पर चित्र बनाने की कला भारतवर्ष में बड़ी प्राचीन है। पालि ग्रन्थों व जैन आगमों में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। महावीर का शिष्य, और पश्चात् विरोधी मंखलि गोशाल का पिता, व दीक्षित होने से पूर्व स्वयं गोशाल चित्रपट दिखाकर जीविका चलाया करते थे। किन्तु वस्त्र बहुत नश्वर द्रव्य है, और इसलिए सम्भवतः इसके बहुत प्राचीन उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी 14 वीं शती के आगे के अनेक सचित्र जैन वस्त्र–पट पाए जाते हैं। एक चिन्तामणि नामक वस्त्र–पट साढ़े उन्नीस इंच लम्बा तथा साढ़े सत्रह इंच चौड़ा वि.सं. 1411 (ई. 1354) का बना बीकानेर निवासी श्री अगरचन्द्र नाहटा के संग्रह में है। इसमें पद्मासन पार्श्वनाथ, उनके यक्ष–यक्षिणी धरणेन्द्र–पद्मावती तथा चौरी–वाहकों का चित्रण है। ऊपर की ओर पार्श्वयक्ष और वैरोट्या देवी तथा दो गन्धर्व भी बने हुए हैं। नीचे तरुणप्रभाचार्य और उनके दो शिष्यों के चित्र हैं। ऐसा ही एक मंत्र–पट श्री साराभाई नवाब के संग्रह में है, जिसमें महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी कमलासन पर विराजमान हैं और उनके दोनों ओर मुनि स्थित हैं। मण्डल के बाहर अश्वारूढ़ काली तथा भैरव एवं धरणेन्द्र और पद्मावती के भी चित्र हैं। यह चित्रपट भावदेव सूरि के लिए वि.सं. 1412 में बनाया गया था। एक जैन वस्त्र–पट डॉ. कुमारस्वामी के संग्रह में भी है, जो उनके मतानुसार 16 वीं शती का, किन्तु डॉ. मोतीचन्द्रजी के मतानुसार 15 वीं शती के प्रारम्भ का है। पट के वाम पार्श्व में पार्श्वनाथ के समवसरण की रचना है। इसके आजू–बाजू यक्ष–यक्षिणियों के साथ ही ओंकार की पांच आकृतियां, चन्द्रकला की आकृति पर आसीन सम्भवतः पांच सिद्ध, तथा सुधर्मास्वामी और नवग्रहों के चित्र हैं। पट के मध्य में पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्वजायुक्त व शिखरबद्ध मन्दिर में विराजमान चित्रित की गई है। अनुमानतः यह मन्दिर शत्रुंजय का है, और वे पांच सिद्धमूर्तियां पांच पाण्डवों की हैं, जिन्होंनं शत्रुंजय से मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी अनेक वस्त्र–पट प्राप्त हुए हैं। इनका उपयोग सम्भवतः उपासना व ऋद्धि–सिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाता था। किन्तु कला की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्त्व है।

(डॉ. हीरालाल जैन कृत 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' शीर्षक पुस्तक से साभार संगृहीत)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.7 सारांश

इन सब चित्रों के कलात्मक अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। उससे जैन चित्रकला पर प्रकाश पड़ने की और अधिक आशा की जा सकती है।

11.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन चित्रकला किन-किन रूपों में प्राप्त होती है? ताड़पत्रीय एवं कागज पर आधारित जैन चित्रकला की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पाण्डुलिपियों में चित्रांकन से किस उद्देश्य की पूर्ति होती थी, संक्षेप में समझाइए।
2. जैन चित्रकलान्तर्गत काष्ठ-चित्र अथवा वस्त्र पर चित्रकारी के वैशिष्ट्य का संक्षेप में निरूपण करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जैन व्याख्या ग्रन्थ बृहत्कल्पभाष्य में कलाओं के भेदों का उल्लेख है –
   (अ) 52 (ब) 64 (स) 108 (द) 360
2. जिस जैन ग्रंन्थ की सबसे प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति है, वह ग्रन्थ है –
   (अ) ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र (ब) कसायपाहुड (स) आवश्यक टीका (द) षट्खण्डागम
3. मणिकार श्रेष्ठिनन्द द्वारा उद्यान में चित्रसभा बनाये जाने का उल्लेख जिस ग्रन्थ में मिलता है, वह है –
   (अ) बृहत्कल्पभाष्य (ब) आवश्यक टीका (स) ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र (द) उपर्युक्त सभी
4. जैन चित्रकला में भित्तिचित्र के नमूने प्राप्त हैं –
   (अ) तंजोर में (ब) ऐलोरा में (स) श्रवणबेलगोला में (द) उपर्युक्त सभी
5. जैन उपासना विधि में अनेक वैष्णव एवं शैव देवी-देवताओं की स्वीकृति विषयक चित्रांकन प्राप्त होता है
   (अ) ओघनिर्युक्ति की ताड़पत्रीय प्रति में (ब) उपासकारचार की कागज पर चित्रित प्रति में
   (स) सूत्रकृतांगवृत्ति की ताड़पत्रीय प्रति में (द) भक्तामर स्तोत्र की कागज पर चित्रित प्रति में
6. जैनधर्म में मान्य लेश्याओं के स्वरूप को भित्तिचित्र द्वारा समझाया गया है –
   (अ) सित्तन्नवासल की गुफाओं में (ब) श्रवणबेलगोला जैनमठ में
   (स) तिरुमलाई के जैन मंदिरों में (द) ऐलोरा के कैलाशनाथ मंदिर में
7. नेमिनाथ की वरयात्रा को चित्रित करने वाली ताड़पत्रीय प्रति है –
   (अ) सुबाहुकथादिसंग्रह (ब) ओघनिर्युक्ति (स) निशीथचूर्णि (द) ज्ञाताधर्मकथांग
8. भारत में कागज पर चित्रकला का विकास सम्भव माना जाता है –
   (अ) 10–11वीं शती से पूर्व (ब) 10–11वीं शती के बाद
   (स) 14–15वीं शती से (द) 15वीं शती के बाद
9. धर्मोपदेशमाला के काष्ठ-पट पर जीवन-घटनाएँ चित्रित हैं –
   (अ) ऋषभदेव की (ब) नेमिनाथ की (स) पार्श्वनाथ की (द) महावीर की
10. चित्रकला का प्राचीनतम रूप है –
   (अ) ताड़पत्रीय चित्र (ब) कागज पर चित्र (स) भित्तिचित्र (द) काष्ठ-पट-चित्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–12 : स्तूप, गुफा और मन्दिर

संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 जैन चैत्य व स्तूप
12.3 मथुरा का स्तूप
12.4 जैन गुफाएं
12.5 जैन मंदिर
12.6 सारांश
12.7 अभ्यास प्रश्नावली

12.0 प्रस्तावना

चैत्य रचना – जैन सूत्रों में नगर के वर्णन में तथा स्वतन्त्र रूप से भी चैत्यों का उल्लेख बार–बार आता है। यहां औपपातिक सूत्र (2) से चम्पानगरी के बाहर उत्तर–पूर्व दिशा में स्थित **पूर्णभद्र नामक चैत्य** का वर्णन दिया जाता है। वह चैत्य बहुत प्राचीन, पूर्व पुरुषों द्वारा पहले कभी निर्माण किया गया था और सुविदित व सुविख्यात था। वह छत्र, घण्टा, ध्वजा व पताकाओं से मण्डित था। वहां चमर (लोमहस्त–पीछी) लटक रहे थे। वहां गोशीर्ष व सरस रक्तचन्दन के हाथ के पंजे के निशान बने हुए थे और चन्दन–कलश स्थापित थे। वहां बड़ी–बड़ी गोलाकार मालाएं लटक रही थीं। पचरंगे, सरस, सुगंधी फूलों की सजावट हो रही थी। वह कालागुरु, कुंदुरुक्क एवं तुरुष्क व धूप की सुगंध से महक रहा था। वहां नटों, नर्तकों, नाना प्रकार के खिलाड़ियों, संगीतज्ञों, भोजकों व मागधों की भीड़ लगी हुई थी। वहां बहुत लोग आते–जाते रहते थे।लोग घोषणा कर–करके दान देते थे व अर्चा, वन्दना, नमस्कार, पूजा, सत्कार, सम्मान करते थे। वह कल्याण, मंगल व देवतारूप चैत्य विनयपूर्वक पर्युपासना करने के योग्य था। वह दिव्य था, सब मनोकामनाओं की पूर्ति का सत्योपाय–भूत था। वहां प्रातिहार्यों का सद्भाव था। वह चैत्य याग के सहस्रभाग का प्रतीक्षक था। बहुत लोग उस पूर्णभद्र चैत्य की पूजा करते थे।

12.1 उद्देश्य– यहां स्तूप गुफा ओर मन्दिर का सांगोपान विवेचन अभीष्ट है।

12.2 जैन चैत्य व स्तूप

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (3, 2, 143) में भगवान महावीर के अपनी छद्मस्थ अवस्था में सुंसुमारपुर के उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान करने का वर्णन है। तिलोयपण्णत्ति (4, 915) में यह भी कहा गया है कि जिस वृक्ष के नीचे जिस केवली को ज्ञान प्राप्त हुआ, वही उस तीर्थंकर का अशोक वृक्ष कहलाया। इस प्रकार अशोक एक वृक्ष–विशेष का नाम भी है व केवलज्ञान सम्बन्धी समस्त वृक्षों की संज्ञा भी। अनुमानतः इसी कारण वृक्षों के नीचे प्रतिमाएं स्थापित करने की परम्पराएं प्रारम्भ हुईं। स्वभावतः वृक्षमूल में मूर्तियां स्थापित करने के लिए वृक्ष के चारों ओर एक वेदिका या पीठिका बनाना भी आवश्यक हो गया। वह वेदी इष्टकादि के चयन से बनाई जाने के कारण वे वृक्ष चैत्य वृक्ष कहे जाने लगे होंगे। इष्टकों (ईंटों) से बनी वेदिका को चिति या चयन करने की प्रथा बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में यज्ञ की वेदी को भी यह नाम दिया गया पाया जाता है। इसी प्रकार चयन द्वारा निर्मापित स्तूप भी चैत्य स्तूप कहलाए।

आवश्यक निर्युक्ति (गा. 435) में तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप,चैत्य व जिनगृह निर्माण किए जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्र सूरी ने भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति में उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण–स्थान कैलास पर्वत पर एक चैत्य तथा सिंह–निषद्याआयतन निर्माण कराए जाने का उल्लेख किया गया है। अर्द्धमागधी जंबूदीवपण्णत्ति (2, 33) में तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर–संस्कार तथा पार्थिव अवशेष पर चैत्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्तूप निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है।इससे सुस्पष्ट हो जाता है कि महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराए जाते थे। इस परम्परा की पुष्टि पालि ग्रन्थों के बुद्ध निर्वाण और उनके शरीर-संस्कार सम्बन्धी वृत्तान्त से होती है।

महापरिनिब्बानसुत्त में कथन है कि बुद्ध भगवान के शिष्यों ने उनसे पूछा कि निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर का कैसा सत्कार किया जाए, तब इसके उत्तर में बुद्ध ने कहा - हे आनन्द, जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के शरीर को वस्त्र से खूब वेष्टित करके तेल की द्रोणी में रखकर चितक बनाकर शरीर को झांप देते हैं, और चतुर्महापथ पर स्तूप बनाते हैं, उसी प्रकार मेरे शरीर की भी सत्पूजा की जाए। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में राजाओं व धार्मिक महापुरुषों की चिता पर अथवा अन्यत्र उनकी स्मृति में स्तूप बनाने की प्रथा थी। स्तूप का गोल आकार भी इसी बात की पुष्टि करता है, क्योंकि यह आकार श्मशान के आकार से मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में चौकोर तथा गोलाकार श्मशान का उल्लेख मिलता है। धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन गई और शताब्दियों तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किए जाने की परम्परा चालू रही। ६ ीरे-धीरे इनका आकार-परिमाण भी खूब बढ़ा। उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिए एक व अनेक वेदिकाएं भी बनने लगीं। उनके आसपास कलापूर्ण कटघरा भी बनने लगा। ऐसे स्तूपों के उत्कृष्ट उदाहरण अभी भी सांची, भरहुत, सारनाथ आदि स्थानों में देखे जा सकते हैं। दुर्भाग्यत: उपलब्ध स्तूपों में जैन स्तूपों का अभाव पाया जाता है। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्राचीन काल में जैन स्तूपों का भी खूब निर्माण हुआ था। जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि में उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल में बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत की स्मृति में एक स्तूप वैशाली में बनवाया गया था। किन्तु अभी तक इस स्तूप के कोई चिह्न व भग्नावशेष प्राप्त नहीं किए जा सके। तथापि मथुरा के समीप एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के प्रचुर भग्नावशेष मिले हैं। हरिषेण कृत वृहत्कथाकोश (12, 132) के अनुसार यहां अति प्राचीन काल में विद्याधरों द्वारा पांच स्तूप बनवाए गए थे। इन पांच स्तूपों की विख्याति और स्मृति एक मुनियों की वंशावली से संबद्ध पाई जाती है। पहाड़पुर (बंगाल) से जो पांचवीं शताब्दी का गुहनंदि आचार्य का ताम्रपत्र मिला है, उसमें इस पंचस्तूपान्वय का उल्लेख है। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्ता जिनसेन ने अपने को पंचस्तूपान्वयी कहा है। इसी अन्वय का पीछे सेनअन्वय नाम प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है। जिनप्रभसूरी कृत विविध-तीर्थ-कल्प में उल्लेख है कि मथुरा में एक स्तूप सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्मृति में एक देवी द्वारा अति प्राचीन काल में बनवाया गया था, व पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय उसका जीणोद्धार करवाया गया था, तथा उसके एक हजार वर्ष पश्चात् पुन: उसका उद्धार बप्पभट्टि सूरि द्वारा कराया गया था। राजमल्ल कृत **जंबूस्वामिचरित** के अनुसार उनके समय में (मुगल सम्राट् अकबर के काल में) मथुरा में 515 स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान थे, जिनका उद्धार टोडर नाम के एक धनी साहूकार ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशेषों में एक जिन-सिंहासन पर के (दूसरी शती के) लेख में यहां के देव निर्मित स्तूप का उल्लेख है। इसका समर्थन पूर्वोक्त हरिषेण व जिनप्रभ सूरि के उल्लेखों से भी होता है। हरिभद्रसूरी कृत आवश्यक-निर्युक्ति-वृत्ति तथा सोमदेव कृत यशस्तिलक-चम्पू में भी मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का वर्णन आया है।इन सब उल्लेखों से इस स्तूप की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

12.3 मथुरा का स्तूप

मथुरा के स्तूप का जो भग्नांश प्राप्त हुआ है, उससे उसके मूल-विन्यास का स्वरूप प्रकट हो जाता है। स्तूप का तल भाग गोलाकार था, जिसका व्यास 47 फुट पाया जाता है। उसमें केन्द्र से परिधि की ओर बढ़ते हुए व्यासार्ध वाली दीवारें पाई जाती हैं, जिनके बीच के स्थानों को मिट्टी से भरकर स्तूप ठोस बनाया गया था। दीवारें ईंटों से चुनी हुई थीं। ईंटें भी छोटी-बड़ी पाई जाती हैं। स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाएं बनी थीं। पूरा स्तूप कैसा था, इसका कुछ अनुमान बिखरी हुई प्राप्त सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है। अनेक प्रकार की चित्रकारी युक्त जो पाषाण-स्तम्भ मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास घेरा व तोरणद्वार रहे होंगे। दो ऐसे भी आयाग पट्ट मिले हैं, जिन पर स्तूप की पूर्ण आकृतियां चित्रित हैं, जो सम्भवत: यहीं के स्तूप व स्तूपों की होंगी। स्तूप पट्टिकाओं के घेरे से घिरा हुआ है, व तोरणद्वार पर पहुंचने के लिए सात-आठ सीढ़ियां बनी हुई हैं। तोरण दो खम्भों व ऊपर थोड़े-थोड़े अन्तर से एक तीन आड़े खम्भों से बना है। इनमें सबसे निचले खम्भे के दोनों पार्श्वभाग मकराकृति सिंहों से आधारित हैं। स्तूप के दाहिने-बायें दो सुन्दर स्तम्भ हैं जिन पर क्रमश: धर्मचक्र व बैठे हुए सिंहों की आकृतियां बनी हैं। स्तूप की बाजू में तीन आराधकों की आकृतियां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बनी है । ऊपर की ओर उड़ती हुई दो आकृतियां सम्भवत: चारण मुनियों की है। वे नग्न है, किन्तु उनके बाएं हाथ में वस्त्रखण्ड जैसी वस्तु एवं कमण्डल दिखाई देते हैं, तथा दाहिना हाथ मस्तक पर नमस्कार मुद्रा में है ।एक और आकृति युगल सुपर्ण पक्षियों की है, जिनके पुच्छ व नख स्पष्ट दिखाई देते हैं। दाहिनी ओर का सुपर्ण एक पुष्पगुच्छ व बायीं ओर का पुष्पमाला लिए हुए है। स्तूप की गुम्बज के दोनों ओर विलासपूर्ण रीति से झुकी हुई नारी आकृतियां सम्भवत: यक्षिणियों की है। घेरे के नीचे सीढ़ियों के दोनों ओर एक-एक आला है। दक्षिण बाजू के आले में एक बालक सहित पुरुषाकृति व दूसरी ओर स्त्री-आकृति दिखाई देती है।स्तूप के गुम्मट पर छह पंक्तियों में एक प्राकृत का लेख है जिसमें अर्हन्त वर्द्धमान को नमस्कार करने के पश्चात् कहा गया है कि "श्रमण-श्राविका आर्या-लवणोशोभिका नामक गणिका की पुत्री श्रमण-श्राविका वासु-गणिका ने जिन मन्दिर में अरहन्त की पूजा के लिए अपनी माता, भगिनी, तथा दुहिता पुत्र सहित निर्ग्रन्थों के अरहंत आयतन में अरहंत का देवकुल (देवालय), आयाग सभा, प्रपा (प्याऊ) तथा शिलापट (प्रस्तुत आयागपट) प्रतिष्ठित कराए।" यह शिलापट 2 फुट X 1 इंच X 1¾ फुट तथा अक्षरों की आकृति व चित्रकारी द्वारा अपने को कुषाणकालीन (प्र. द्वि. शती ई.) सिद्ध करता है।

इस शिलापट से भी प्राचीन एक दूसरा आयागपट भी मिला है, जिसका ऊपरी भाग टूट गया है, तथापि तोरण, घेरा, सोपानपथ एवं स्तूप के दोनों ओर यक्षिणियों की मूर्तियां जिसमें पूर्वोक्त शिलापट से भी अधिक सुस्पष्ट हैं। इस पर भी लेख है जिसमें अरहंतों को नमस्कार करने के पश्चात् कहा गया है कि 'फगुयश नर्तक की भार्या शिवयशा ने अरहंत-पूजा के लिए यह आयागपट बनवाया'। वि. स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षरों की आकृति ई. पू. 150 के लगभग शुंग-कालीन भरहुत स्तूप के तोरण पर अंकित घनभूति के लेख से कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। बुलर ने भी उन्हें कनिष्क के काल से प्राचीन स्वीकार किया है। इस प्रकार लगभग 200 ई. पू. का यह आयागपट सिद्ध कर रहा है कि स्तूपों का प्रकार जैन परम्परा में उससे बहुत प्राचीन है। साथ ही, जो कोई जैन स्तूप सुरक्षित अवस्था में नहीं पाए जाते, उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि गुफा-चैत्यों और मन्दिरों के अधिक प्रचार के साथ-साथ स्तूपों का नया निर्माण बन्द हो गया, व प्राचीन स्तूपों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे, उपर्युक्त स्तूप के आकार व निर्माणकला के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध व जैन स्तूपों की कला प्राय: एक सी ही थी। यर्थाथत: यह कला श्रमण संस्कृति की समान धारा थी।

मथुरा से प्राप्त अन्य एक आयागपट के मध्य में छत्र-चमर सहित जिनमूर्ति विराजमान है व उसके आसपास त्रिरत्न, कलश, मत्स्य युगल, हस्ति आदि मंगल द्रव्य व आलंकारिक चित्रण है। आयागपट चित्रित पाषाणपट्ट होते थे और उनकी पूजा की जाती थी।

12.4 जैन गुफाएं

प्राचीनतम काल से जैन मुनियों को नगर-ग्रामादि बहुजन-संकीर्ण स्थानों से पृथक् पर्वत व वन की शून्य गुफाओं वा कोटरों आदि में निवास करने का प्राविधान किया गया है। यह एकान्तवास जैन मुनियों की साधना का आवश्यक अंग बतलाया गया है।(तत्त्वार्थसूत्र 7.6 सर्वार्थसिद्धि) और जहां जैन मुनि निवास करेगा,वहां ध्यान व वन्दनादि के लिए जैन मूर्तियों की भी स्थापना होगी। प्रारम्भ में शिलाओं से आधारित प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग किया जाता रहा होगा। ऐसी गुफाएं प्राय: सर्वत्र पर्वतों की तलहटी में पाई जाती है। ये ही जैन परम्परा में मान्य अकृत्रिम चैत्यालय कहे जा सकते हैं। क्रमश: इन गुफाओं का विशेष संस्कार व विस्तार कृत्रिम साधनों से किया जाने लगा, और जहां उसके योग्य शिलाएं मिली उनको काट कर गुफा या मन्दिर बनाए जाने लगे। ऐसी गुफाओं में सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाएं नागार्जुनी पहाड़ियों पर स्थित हैं। ये पहाड़ियां गया से 15-20 मील दूर पटना-गया रेलवे के बेला नामक स्टेशन से पूर्व की ओर हैं। बराबर पहाड़ी में चार, व उससे कोई एक मील दूर नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएं है। बराबर की गुफाएं अशोक, व नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियों के लिए निर्माण कराई गई थीं। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि उस काल (ई. पू. तृतीय शती) में एक पृथक् सम्प्रदाय था, तथापि ऐतिहासिक प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति व विलय जैन सम्प्रदाय में ही हुआ सिद्ध होता है।

बराबर पहाड़ी की दो गुफाएं अशोक ने अपने राज्य के 12वें वर्ष में, और तीसरी 19वें वर्ष में निर्माण कराई थी। सुदामा और विश्व झोपड़ी नामक गुफाओं के लेखों में आजीवकों को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। सुदामा गुफा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लेख में उसे न्यग्रोध गुफा कहा गया है। इसमें दो मण्डप हैं। बाहरी 33' x 20' व भीतरी 19' x 19' लम्बा-चौड़ा है। ऊंचाई लगभग 12' है। विश्व-झोपड़ी के लेख में इस पहाड़ी का 'खलटिक पर्वत' के नाम से उल्लेख पाया जाता है। शेष दो गुफाओं के नाम 'करण चौपार' व 'लोमसऋषि' गुफा है। किन्तु करणचौपार को लेख में 'सुपियागुफा' कहा गया है, और लोमस-ऋषि गुफा को 'प्रवरगिरिगुफा'। ये सभी गुफाएं कठोर तेलिया पाषाण को काट कर बनाई गई हैं, और उन पर वही चमकीली पॉलिश की गई है जो मौर्य काल की विशेषता मानी गई है।

नागार्जुनी पहाड़ी की तीन गुफाओं के नाम हैं - गोपी गुफा, बहिया की गुफा और वेदथिका गुफा। प्रथम गुफा 45' x 19' लम्बी-चौड़ी है। पश्चात् कालीन अनन्त वर्मा के एक लेख में इसे 'विन्ध्यभूधर गुहा' कहा गया है, यद्यपि दशरथ के लेख में इसका नाम गोपिका गुहा स्पष्ट अंकित है और आजीवक भदन्तों को दान किए जाने का भी उल्लेख है। ऐसा ही लेख शेष दो गुफाओं में भी है।

ई. पू. तीसरी शती की मौर्यकालीन इन गुफाओं के पश्चात् उल्लेखनीय हैं उड़ीसा की कटक के समीपवर्ती **उदयगिरि व खण्डगिरि** नामक पर्वतों की गुफाएं जो उनमें प्राप्त लेखों पर से ई. पू. द्वितीय शती की सिद्ध होती हैं। उदयगिरि की 'हाथीगुफा' नामक गुफा में प्राकृत भाषा का सविस्तृत लेख पाया गया है जिसमें कलिंग सम्राट् खारवेल के बाल्यकाल व राज्य के 13 वर्षों का चरित्र विधिवत् वर्णित है। यह लेख अरहंतों व सर्वसिद्धों को नमस्कार के साथ प्रारम्भ हुआ है, और उसकी 12वीं पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने अपने राज्य के 12वें वर्ष में मगध पर आक्रमण कर वहां के राजा वृहस्पतिमित्र को पराजित किया, और वहां से कलिंग-जिन की मूर्ति अपने देश में लौटा ली जिसे पहले नंदराज अपहरण कर ले गया था। इस उल्लेख से जैन इतिहास व संस्थानों सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि नंदकाल अर्थात् ई. पू. पांचवीं-चौथी शती में भी जैन मूर्तियां निर्माण करा कर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी।

दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश में एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर व मूर्ति थी जो उस प्रदेश भर में लोक-पूजित थी। तीसरे यह कि वह नंद-सम्राट् जो इस जैन मूर्ति को अपहरण कर ले गया और उसे अपने यहां सुरक्षित रखा। वह अवश्य जैन धर्मावलम्बी रहा होगा, व उसने उसके लिए अपने यहां भी जैन मन्दिर बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग देश की जनता व राजवंश में उस जैन मूर्ति के लिए बराबर दो-तीन शती तक ऐसा श्रद्धान बना रहा कि अवसर मिलते ही कलिंग सम्राट् ने उसे वापस लाकर अपने यहां प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा। इस प्रकार यह गुफा और वहां का लेख भारतीय इतिहास, और विशेषत: जैन इतिहास के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है ।

राजगिरि की एक पहाड़ी में मनियार मठ के समीप सोनभण्डार नामक जैन गुफा उल्लेखनीय है। निर्माण की दृष्टि से यह अति प्राचीन प्रतीत होता है। प्र.-द्वि. शती का ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्यरत्न-वैरदेवमुनि ने यहां जैन मुनियों के निवासार्थ दो गुफाएं निर्माण करवाई, और उनमें अरहंतों की मूर्तियां प्रतिष्ठित कराई। एक जैनमूर्ति तथा चतुर्मुखी जैनप्रतिमा युक्त एक स्तम्भ वहां अब भी विद्यमान है। जिस दूसरी गुफा के निर्माण का लेख में उल्लेख है, वह निश्चयत: उसके ही पार्श्व में स्थित गुफा है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है।

प्रयाग तथा कौसम (प्राचीन कौशाम्बी) के समीपवर्ती पभोसा नामक स्थान में दो गुफाएं हैं, जिनमें शुंग-कालीन (ई. पू. द्वितीय शती) लिपि में लेख हैं। इन लेखों में कहा गया है कि इन गुफाओं को अहिच्छत्रा के आषाढ़सेन ने काश्यपीय अर्हन्तों के लिए दान किया। ध्यान रखना चाहिए कि तीर्थंकर महावीर कश्यप गोत्रीय थे। सम्भव है उन्हीं के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि उस काल में महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त भी कोई अन्य जैनमुनि संघ सम्भवत: पार्श्वनाथ के अनुयायियों का रहा होगा जो क्रमश: महावीर की मुनि-परम्परा में विलीन हो गया।

जूनागढ़ (काठियावाड़) के बाबा प्यारामठ के समीप कुछ गुफाएं हैं, जो तीन पंक्तियों में स्थित हैं। एक उत्तर की ओर, दूसरी पूर्व भाग में और तीसरी उसी के पीछे से प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तर की ओर फैली है । ये सब गुफाएं दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं - एक तो चैत्य-गुफाएं और तत्सम्बन्धी साधारण कोठरियां हैं जो वर्जेस साहब के मतानुसार सम्भवत: ई. पू. द्वितीय शती की हैं, जबकि प्रथम बार बौद्ध भिक्षु गुजरात में पहुंचे। दूसरे भाग में वे गुफाएं व शालागृह हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जो प्रथम भाग की गुफाओं से कुछ उन्नत शैली के बने हुए हैं और जिनमें जैन चिह्न पाए जाते हैं। ये ई. की द्वितीय अर्थात् क्षत्रप राजाओं के काल की सिद्ध होती है। जैन गुफाओं में से एक गुफा विशेष ध्यान देने योग्य है । इस गुफा से जो खण्डित लेख मिला है उसमें क्षत्रप राजवंश का तथा चष्टन के प्रपौत्र व जयदामन के पौत्र रुद्रसिंह प्रथम का उल्लेख है। लेख पूरा न पढ़े जाने पर भी उसमें जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द पढ़े गए हैं उनसे तथा गुफा में अंकित स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि प्रख्यात जैन मांगलिक चिह्नों के चित्रित होने से, वे जैन साधुओं की व सम्भवतः दिगम्बर परम्परानुसार अन्तिम अंग-ज्ञाता धरसेनाचार्य से सम्बन्धित अनुमान की जाती है। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने धरसेनाचार्य को गिरिनगर की चन्द्रगुफा का निवासी कहा है (देखो महाबंध भाग 2 प्रस्ता.) प्रस्तुत गुफा में एक गुफा ऐसी है जो पार्श्वभाग में एक अर्द्धचन्द्राकार विविक्त स्थान से युक्त है। यद्यपि भाजा, कार्ली व नासिक की बौद्ध गुफाओं से इस बात में समता रखने के कारण यह एक बौद्ध गुफा अनुमान की जाती है, तथापि यही धवलाकार द्वारा उल्लिखित धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो तो आश्चर्य नहीं। (दे. वर्जेस : एंटीक्विटीज ऑफ कच्छ एण्ड काठियावाड़ 1874-75 पृ. 139 आदि, तथा सांकलिया : आर्केओलोजी ऑफ गुजरात, 1941)। इसी स्थान के समीप ढंक नामक स्थान पर भी गुफाएं हैं, जिसमें ऋषभ, पार्श्व, महावीर आदि तीर्थंकरों की प्रतिमाएं हैं। ये सभी गुफाएं उसी क्षत्रप काल अर्थात् प्र. द्वि. शती की सिद्ध होती हैं। जैन साहित्य में ढंक पर्वत का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, पादलिप्त सूरि के शिष्य नागार्जुन यहीं के निवासी कहे गए हैं। (देखो राजशेखर कृत प्रबन्धकोश व विविधतीर्थकल्प)।

पूर्व में उदयगिरि, खण्डगिरि व पश्चिम में जूनागढ़ के पश्चात् देश के मध्यभाग में स्थित **उदयगिरि** की जैन गुफाएं प्रसिद्ध हैं। यह उदयगिरि मध्यप्रदेश के अन्तर्गत इतिहास-प्रसिद्ध विदिशा नगर से उत्तर-पश्चिम की ओर बेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर हैं। इन पहाड़ों पर पुरातत्त्व विभाग द्वारा अंकित या संख्यात 20 गुफाएं व मन्दिर हैं। इनमें पश्चिम की ओर की प्रथम पूर्व दिशा में स्थित बीसवीं, ये दो स्पष्ट रूप से जैन गुफाएं हैं। पहली गुफा को कनिंघम ने झूठी गुफा नाम दिया है, क्योंकि वह किसी चट्टान को काट कर नहीं बनाई गई किन्तु एक प्राकृतिक कन्दरा है, तथापि ऊपर की चट्टान को छत बना कर नीचे द्वार पर चार खम्भे खड़े कर दिए हैं, जिससे उसे गुफा-मन्दिर की आकृति प्राप्त हो गई है। स्तम्भ घट व पत्रावलि-प्रणाली के बने हुए हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है। जैन मुनि अदि में इसी प्रकार की प्राकृतिक गुफाओं को अपना निवास स्थान बना लेते थे। उस अपेक्षा से यह गुफा भी ई. पू. काल से ही जैन मुनियों की गुफा रही होगी। किन्तु इसका संस्कार गुप्त काल में हुआ जैसा कि वहां के स्तम्भों आदि की कला तथा गुफा में खुदे हुए एक लेख से सिद्ध होता है। इस लेख में चन्द्रगुप्त का उल्लेख है, जिससे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्राय समझा जाता है, और जिससे उसका काल चौथी शती का अन्तिम भाग सिद्ध होता है। पूर्व दिशावर्ती बीसवीं गुफा में **पार्श्वनाथ तीर्थंकर** की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है। यह अब बहुत कुछ खण्डित हो गई है, किन्तु उसका नाग-फण अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। यहां भी एक संस्कृत पद्यात्मक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त संवत् 106 (ई. सन् 426, कुमारगुप्त काल) में कार्तिक कृष्ण पंचमी को भद्रान्वयी आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य शंकर द्वारा की गई थी। इन शंकर ने अपना जन्मस्थान उत्तर भारतवर्ती कुरुदेश बतलाया है।

जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल (ई. पू. चौथी शती) में हुए थे और उत्तरभारत में बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने पर जैन संघ को लेकर दक्षिण भारत में गए तथा मैसूर प्रदेशान्तर्गत श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर उन्होंने जैन केन्द्र स्थापित किया । इस समय भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राजपाट त्याग कर उनके शिष्य हो गए थे और उन्होंने भी श्रवणबेलगोला की उस पहाड़ी पर तपस्या की जो उनके नाम से ही **चन्द्रगिरि** कहलाई। इस पहाड़ी पर प्राचीन मन्दिर भी है, जो उन्हीं के नाम से चन्द्रगुप्त बस्ती कहलाता है। इसी पहाड़ी पर एक अत्यन्त साधारण व छोटी सी गुफा है, जो **भद्रबाहु की गुफा** के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया था। वहां उनके चरण-चिह्न अंकित हैं और पूजे जाते हैं। दक्षिण भारत में यही सबसे प्राचीन जैन गुफा सिद्ध होती है।

महाराष्ट्र प्रदेश में **उस्मानाबाद** से पूर्वोत्तर दिशा में लगभग 12 मील की दूरी पर पर्वत में एक प्राचीन गुफा-समूह है। वह इस पहाड़ी दर्रे के दोनों पार्श्वों में स्थित है, चार उत्तर की ओर व तीन दूसरे पार्श्व में पूर्वोत्तरमुखी। इन गुफाओं में मुख्य व विशाल गुफा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तर की गुफाओं में दूसरी है। दुर्भाग्यत: इसकी ऊपरी चट्टान भग्न होकर गिर पड़ी है। केवल कुछ बाहरी भाग नष्ट होने से बचा है। दक्षिण के तमिल प्रदेश में भी जैन धर्म का प्रचार व प्रभाव बहुत प्रचीन काल से पाया जाता है। तामिल साहित्य का सबसे प्राचीन भाग 'संगम युग' का माना जाता है और इस युग की प्राय: समस्त प्रधान कृतियां तिरुकुरुल आदि जैन या जैन धर्म से सुप्रभावित सिद्ध होती है। जैन द्राविड़ संघ का संगठन भी सुप्राचीन पाया जाता है। अतएव स्वाभाविक है कि इस प्रदेश में भी प्राचीन जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हों। जैन मुनियों का एक प्राचीन केन्द्र पुडुकोट्टाई से वायव्य दिशा में 9 मील दूर **सित्तन्नवासल** नामक स्थान रहा है। यह नाम 'सिद्धानां वास: से अपभ्रंश होकर बना प्रतीत होता है। यहां के विशाल शिला-टीलों से बनी हुई एक जैन गुफा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यहां एक ब्राह्मी लिपि का लेख भी मिला है, जो ई. पू. तृतीय शती का (अशोक कालीन) प्रतीत होता है। लेख में स्पष्ट उल्लेख है कि गुफा का निर्माण जैन मुनियों के निमित्त कराया गया था। यह गुफा बड़ी विशाल 100 X 50 फुट है। इसमें अनेक कोष्ठक है, जिनमें समाधि-शिलाएं भी बनी हुई हैं। ये शिलाएं 6 X 4 फुट है। वास्तुकला की दृष्टि से तो यह गुफा महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व उसकी चित्रकला का है। गुफा का यह संस्कार पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् (आठवीं शती) के काल में हुआ है।

दक्षिण भारत में **बादामी** की जैन गुफा उल्लेखनीय है, जिसका निर्माण काल अनुमानत: सातवीं शती का मध्य भाग है। यह गुफा 16 फुट गहरी तथा 31 X 19 फुट लम्बी-चौड़ी है। पीछे की ओर मध्य भाग में देवालय है और तीनों पार्श्वों की दीवारों में मुनियों के निवासार्थ कोष्ठक बने हैं। स्तम्भों की आकृति एलीफेण्टा की गुफाओं के सदृश हैं। यहां चमरधारियों सहित महावीर तीर्थंकर की मूल पद्मासन मूर्ति के साथ ही दीवारों व स्तम्भों पर जिनमूर्तियां खुदी हुई हैं। माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (8वीं शती) ने राज्य त्याग कर व जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा में निवास किया था। गुफा के बरामदों में एक ओर पार्श्वनाथ व दूसरी ओर बाहुबली की लगभग 7½ ऊंची प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

बादामी तालुके में स्थित **ऐहोल** नामक ग्राम के समीप पूर्व और उत्तर की ओर गुफाएं हैं इनमें भी जैन मूर्तियां विद्यमान हैं। प्रधान गुफाओं की रचना बादामी की गुफा के ही सदृश है। गुफा बरामदा,मण्डप व गर्भगृह में विभक्त है। बरामदे में चार खम्भे हैं और उसकी छत पर मकर, पुष्प आदि की आकृतियां बनी हुई हैं। बायीं भित्ति में पार्श्वनाथ की मूर्ति है, जिसके एक ओर नाग व दूसरी ओर नागिन स्थित हैं। दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्रफणा युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अन्य जैन आकृतियां व चिह्न भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। सिंह, मकर व द्वारपालों की आकृतियां भी कलापूर्ण हैं और ऐलीफेण्टा की आकृतियों का स्मरण कराती हैं। गुफाओं से पूर्व की ओर मेघुटी नामक जैन मन्दिर है जिसमें चालुक्य नरेश पुलकेशी व शक सं. 556 (ई. 634) का उल्लेख है। यह शिलालेख अपनी संस्कृत काव्य शैली के विकास में भी अपना स्थान रखता है। इस लेख के लेखक रविकीर्ति ने अपने को काव्य के क्षेत्र में कालिदास और भारवि के समान कहा है। यथार्थत: कालिदास व भारवि के काल-निर्णय में यह लेख बड़ा सहायक हुआ है, क्योंकि इसीसे उनके काल की अन्तिम सीमा प्रामाणिक रूप से निश्चित हुई है। ऐहोल सम्भवत: 'आर्यपुर' का अपभ्रंश रूप है।

गुफा-निर्माण की कला **एलोरा** में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। यह स्थान यादव नरेशों की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) से लगभग 16 मील दूर है, और वहां का शिलापर्वत अनेक गुफा-मन्दिरों से अलंकृत है। यहीं कैलास नामक शिव मन्दिर है जिसकी योजना और शिल्पकला इतिहास-प्रसिद्ध है। यहां बौद्ध, हिन्दू व जैन, तीनों सम्प्रदायों के शैल मन्दिर बड़ी सुन्दर प्रणाली के बने हुए हैं। यहां पांच जैन गुफाएं हैं, जिनमें से तीन अर्थात् छोटा कैलास, इन्द्रसभा व जगन्नाथ सभा कला की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। छोटा कैलास एक ही पाषाण-शिला को काट कर बनाया गया है, और उसकी रचना कुछ छोटे आकार में उपर्युक्त कैलास मन्दिर का अनुकरण करती है। समूचा मन्दिर 80 फुट चौड़ा व 130 फुट ऊंचा है। मण्डप लगभग 36 फुट लम्बा-चौड़ा है, और उसमें 16 स्तम्भ हैं। इन्द्रसभा नामक गुफा मन्दिर की रचना इस प्रकार है-पाषाण में बने हुए द्वार से भीतर जाने पर कोई 50 X 50 फुट चौकोर प्रांगण मिलता है, जिसके मध्य में एक पाषाण से निर्मित द्राविड़ी शैली का चैत्यालय है। इसके सम्मुख दाहिनी ओर एक हाथी की मूर्ति है, व उसके सम्मुख बायीं ओर 32 फुट ऊंचा ध्वज-स्तम्भ है। यहां से घूम कर पीछे की ओर जाने पर वह दुतल्ला सभागृह मिलता है जो इन्द्रसभा के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों तल्लों में प्रचुर चित्रकारी बनी हुई है। नीचे का भाग कुछ अपूर्ण सा रहा प्रतीत होता है, जिससे यह बात भी सिद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होती है कि इन गुफाओं का उत्कीर्णन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता था। ऊपर की शाला 12 सुखचित स्तम्भों से अलंकृत है। शाला के दोनों ओर भगवान महावीर की विशाल प्रतिमाएं है और पार्श्व कक्ष में इन्द्र व हाथी की मूर्तियां बनी हुई है। इन्द्रसभा की एक बाहरी दीवार पर पार्श्वनाथ की तपस्या व कमठ द्वारा उन पर किए गए उपसर्ग का बहुत सुन्दर व सजीव उत्कीर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ हैं, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है व एक नागिन छत्र धारण किये है।दो अन्य नागिन भक्ति, आश्चर्य व दुख की मुद्रा में दिखाई देती है। एक ओर भैंस पर सवार असुर रौद्र मुद्रा में शस्त्रास्त्रों सहित आक्रमण कर रहा है व दूसरी ओर सिंह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिए उद्यत है। नीचे की ओर एक स्त्री व पुरुष भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े खड़े है। दक्षिण की दीवार पर लताओं से लिपटी बाहुबली की प्रतिमा उत्कीर्ण है। ये सब तथा अन्य शोभापूर्ण आकृतियां अत्यन्त कलापूर्ण हैं। अनुमानतः इन्द्रसभा की रचना तीर्थंकर के जन्मकल्याणकोत्सव की स्मृति में हुई है जबकि इन्द्र अपना ऐरावत हाथी लेकर भगवान का अभिषेक करने जाते है। इन्द्रसभा की रचना के सम्बन्ध में पर्सी ब्राउन साहब ने कहा कि 'इसकी रचना ऐसी सर्वांगपूर्ण, तथा शिल्पकला की चातुरी इतनी उत्कृष्ट है कि जितनी एलोरा के अन्य किसी मन्दिर में नहीं पाई जाती। भित्तियों पर आकृतियों का उत्कीर्णन ऐसा सुन्दर तथा स्तम्भों का विन्यास ऐसे कौशल से किया गया है कि उसका अन्यत्र कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।'

इन्द्रसभा के समीप ही जगन्नाथ सभा नामक चैत्यालय है जिसका विन्यास इन्द्रसभा के सदृश ही है, यद्यपि प्रमाण में उससे छोटा है। द्वार का तोरण कलापूर्ण है। चैत्यालय में सिंहासन पर महावीर तीर्थंकर की पद्मासन मूर्ति है। दीवारों व स्तम्भों पर प्रचुरता से नाना प्रकार की सुन्दर मूर्तियां बनी हुई हैं किन्तु अपने रूप में सौन्दर्यपूर्ण होने पर भी सन्तुलन व सौष्ठव की दृष्टि से जो उत्कर्ष इन्द्रसभा की रचना में दिखाई देता है, वह यहां व अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इन गुफाओं का निर्माण काल 800ई. के लगभग माना जाता है। इस उत्कर्ष पर पहुंच कर केवल जैन-परम्परा ही नहीं, किन्तु भारतीय परम्परा में गुफा निर्माण कला का विकास समाप्त होता जाता है और स्वतन्त्र मन्दिर निर्माण की कला उसका स्थान ग्रहण करती है।

12.5 जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण में, फिर गुफा, चैत्यों व विहारों में और तत्पश्चात् मन्दिरों के निर्माण में पाया जाता है। स्तूपों व गुफाओं का विकास जैन परम्परा में किस प्रकार हुआ, यह ऊपर देखा जा चुका है किन्तु वास्तुकला ने मन्दिरों के निर्माण में ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 11वीं शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध हैं । इन मन्दिरों के निर्माण में अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्दिरों का निर्माण बिना उसकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नहीं हो सकता। पाषाण को काट कर गुफा-चैत्यों के निर्माण की कला का चरमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओं में देख चुके हैं। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतन्त्र मन्दिरों के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतन्त्र संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मन्दिरों के शिल्प में बड़ा भेद है, जिसके विकास में भी अनेक शतियां व्यतीत हुई होंगी। इस सम्बन्ध में उक्त काल से पूर्व के मन्दिरों का अभाव बहुत खटकता है।

जैन आयतन, चैत्यगृह, बिम्ब और प्रतिमा, व तीर्थ आदि के प्रचुर उल्लेख प्रचीनतम जैन शास्त्रों में पाए जाते है (कुंदकुंद : बोधपाहुड, 62 आदि)। दिगम्बर परम्परा की नित्य पूजा-वन्दना में उन सिद्ध क्षेत्रों को नमन करने का नियम है जहां से जैन तीर्थंकरों व अन्य मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया।

सबसे प्राचीन जैन मन्दिर के चिह्न बिहार में पटना के समीप **लोहानीपुर** में पाए गए हैं, जहां कुम्हार और बुलन्दीबाग की मौर्यकालीन कला-कृतियों की परम्परा के प्रमाण मिले हैं। यहां एक जैन मन्दिर की नींव मिली है। यह मन्दिर 810 फुट वर्गाकार था। यहां की ईंटें मौर्यकालीन सिद्ध हुई हैं। यहीं से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो मस्तकहीन जिनमूर्तियां मिली हैं, जो अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मन्दिर जिसकी रूपरेखा सुरक्षित है, व निर्माण काल भी निश्चित है, वह है दक्षिण भारत में बादामी के समीप **ऐहोल** का **मेघुटी** नामक जैन मन्दिर जो कि वहां से उपलब्ध शिलालेखानुसार शक संवत् 556 (ई. 634) में पश्चिमी चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के राज्यकाल में रविकीर्ति द्वारा बनाया गया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गुप्त व चालुक्य युग से पश्चात्कालीन वास्तुकला की शिल्प-शास्त्रों में तीन शैलियां निर्दिष्ट की गई हैं - नागर, द्राविड़ और वेसर। सामान्यत: नागर शैली उत्तर भारत में हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक प्रचलित हुई। द्राविड़ दक्षिण में कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक, तथा वेसर मध्यभारत में विन्ध्य पर्वत और कृष्णा नदी के बीच। किन्तु यह प्रादेशिक विभाग कड़ाई से पालन किया गया नहीं पाया जाता है। प्राय: सभी शैलियों के मन्दिर सभी प्रदेशों में पाए जाते हैं तथापि आकृति-वैशिष्ट्य को समझने के लिए यह शैली- विभाजन उपयोगी सिद्ध हुआ है। यद्यपि शास्त्रों में इन शैलियों के भेद विन्यास, निर्मिति तथा अलंकृति की छोटी-छोटी बातों तक का निर्देश किया गया है, तथापि इनका स्पष्ट भेद तो शिखर की रचना में ही पाया जाता है। नागरशैली का शिखर गोल आकार का होता है, जिसके अग्रभाग पर कलशाकृति बनाई जाती है। आदि में सम्भवत: इस प्रकार का शिखर केवल वेदी के ऊपर रहा होगा, किन्तु क्रमश: उसका इतना विस्तार हुआ कि समस्त मन्दिर की छत इसी आकार की बनाई जाने लगी। यह शिखराकृति औरों की अपेक्षा अधिक प्राचीन व महत्त्वपूर्ण मानी गई है। इससे भिन्न द्राविड़ शैली का मन्दिर एक स्तम्भाकृति ग्रहण करता है, जो ऊपर की ओर क्रमश: चारों ओर सिकुड़ता जाता है, और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। ये छोटी-छोटी स्तूपिकाएं व शिखराकृतियां उसके नीचे के तलों के कोणों पर भी स्थापित की जाती हैं जिससे मन्दिर की बाह्य कृति शिखरमय दिखाई देने लगती है। वेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्रभाग पर चपटी ही रह जाती है, जिससे वह कोठी के आकार का दिखाई देता है। यह शैली स्पष्टत: प्राचीन चैत्यों की आकृति का अनुसरण करती है। आगामी काल के हिन्दू व जैन मन्दिर इन्हीं शैलियों और विशेषत: नागर व द्राविड़ शैलियों पर बने पाए जाते हैं।

ऐहोल का **मेघुटी** जैन मन्दिर द्राविड़ शैली का सर्वप्राचीन कहा जा सकता है। इसी प्रकार का दूसरा जैन मन्दिर इसी के समीप **पट्टदकल** ग्राम से पश्चिम की ओर एक मील पर स्थित है। इसमें किसी प्रकार का उत्कीर्णन नहीं है, व प्रांगण का घेरा पूरा बन भी नहीं पाया है। किन्तु शिखर का निर्माण स्पष्टत: द्राविड़ी शैली का है जो क्रमश: सिकुड़ती हुई भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता गया है। क्रमोन्नत भूमिकाओं की कपोत-पालियों में उसकी रूपरेखा का वही आकार-प्रकार अभिव्यक्त होता गया है। सबसे ऊपर सुन्दर स्तूपिका बनी है। इस मन्दिर के निर्माण का काल भी वही 7 वीं 8 वीं शती है। यही शैली मद्रास से 32 मील दक्षिण की ओर समुद्रतट पर स्थित **मामल्लपुर** के सुप्रसिद्ध रथों के निर्माण में पाई जाती है। वे भी प्राय: इसी काल की कृतियां हैं।

द्राविड़ शैली का आगामी विकास दक्षिण के नाना स्थानों में पूर्ण व ध्वस्त अवस्था में वर्तमान अनेक जैन मन्दिरों में दिखाई देता है। इनमें से यहां केवल कुछ का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। **तीर्थहल्लि** के समीप **हुवंच** एक प्राचीन जैन केन्द्र रहा है व सन् 897 के एक लेख में वहां के मन्दिर का उल्लेख है। किन्तु वहां के अनेक मन्दिर 11वीं शती में वीरसान्तर आदि सान्तरवंशी राजाओं द्वारा निर्मापित पाए जाते हैं। इनमें वही द्राविड़ शैली, वही अलंकरणरीति तथा सुन्दरता से उत्कीर्ण स्तम्भों की सत्ता पाई जाती है,जो इस काल की विशेषता है। जैन मठ के समीप आदिनाथ का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। यह दुतल्ला है, जिसका ऊपरी भाग अभी कुछ काल पूर्व टीन के तख्तों से ढँक दिया गया है। बाहरी दीवारों पर अत्युत्कृष्ट आकृतियां उत्कीर्ण हैं किन्तु ये बहुत कुछ घिस व टूट-फूट गई हैं। ऊपर के तल्ले पर जाने से मन्दिर का शिखर अब भी देखा जा सकता है। इस मन्दिर में दक्षिण भारतीय शैली की कांस्य मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। इस मन्दिर के समीप की पहाड़ी पर बाहुबली-मन्दिर ध्वस्त अवस्था में विद्यमान है किन्तु उसका गर्भगृह,सुखनासी,मण्डप व सुन्दर सोपान-पथ तथा गर्भगृह के भीतर की सुन्दर मूर्ति अब भी दर्शनीय है। इस काल की कला का पूर्ण परिचय करानेवाला वह **पंचकूट बस्ती** नामक मन्दिर है जो ग्राम के उत्तरी बाह्य भाग में स्थित है। एक छोटे से द्वार के भीतर प्रांगण में पहुंचने पर हमें एक विशाल स्तम्भ के दर्शन होते हैं, जिस पर प्रचुरता से सुन्दर चित्रकारी की गई है। आगे मुख्य मन्दिर के गर्भालय में एक स्तम्भमय मण्डप से होकर पहुंचा जाता है। मण्डप में भी जैन देवियां व यक्षिणियां स्थापित हैं। गर्भगृह के दोनों पार्श्वों में भी दो अपेक्षाकृत छोटी भित्तियां हैं। इस मन्दिर से उत्तर की ओर वह छोटा-सा पार्श्वनाथ-मन्दिर है जिसकी छत की चित्रकारी में हमें तत्कालीन दक्षिण भारतीय शैली का सर्वोत्कृष्ट और अद्‌भुत स्वरूप देखने को मिलता है। इसी के सम्मुख चन्द्रनाथ मन्दिर है, जो अपेक्षाकृत पीछे का बना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तीर्थहल्लि से अगुम्बे की ओर जानेवाले मार्ग पर **गुड्ड** नामक तीन हजार फुट से अधिक ऊंची एक पहाड़ी है, जिस पर अनेक ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं, और उस स्थान को एक प्राचीन जैन तीर्थ सिद्ध करते हैं। एक पार्श्वनाथ-मन्दिर अब भी इस पहाड़ी पर शोभायमान है, जो आसपास की सुविस्तृत पर्वत श्रेणियों व उर्वरा घाटियों को भव्यता प्रदान कर रहा है। पर्वत के शिखर पर एक प्राकृतिक जलकुण्ड के तट पर इस मन्दिर का अधिष्ठान है। द्वार सुन्दरता से उत्कीर्ण है। सम्मुख मानस्तम्भ है। मण्डप के स्तम्भ भी चित्रमय हैं तथा गर्भगृह में पार्श्वनाथ की विशाल कायोत्सर्ग मूर्ति है, जिसे एक दीर्घकाय नाग लपेटे हुए है और ऊपर अपने सप्तमुखी फण की छाया किए हुए है। मूर्ति के शरीर पर नाग के दो लपेटे स्पष्ट दिखाई देते हैं, जैसा अन्यत्र प्रायः नहीं देखा जाता। पहाड़ के नीचे उतरते हुए हमें जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं। तीर्थंकरों की सुन्दर मूर्तियां व चित्रकारी युक्त पाषाण-खण्ड प्रचुरता से यत्र-तत्र बिखरे दिखाई देते हैं, जिनसे इस स्थान का प्राचीन समृद्ध इतिहास आंखों के सम्मुख झूल जाता है।

धारवाड़ जिले में गदड रेलवे स्टेशन से सात मील दक्षिण-पूर्व की ओर **लकुंडी (लोक्कि गुंडी)** नामक ग्राम है, जहां दो सुन्दर जैन मन्दिर हैं। इनमें के बड़े मन्दिर में सन् 1172 ई. का शिलालेख है। यह भी ऐहोल व पट्टदकल के मन्दिरों के समान विशाल पाषाण-खण्डों से, बिना किसी चूने-सीमेण्ट के निर्मित किया गया है। नाना भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता हुआ द्राविड़ी शिखर सुस्पष्ट है। यहां खुरहरे रेतीले पत्थर का नहीं, किन्तु चिकने काले पत्थर का उपयोग किया गया और इस परिवर्तन के अनुसार स्थापत्य में भी कुछ सूक्ष्मता व लालित्य का वैशिष्ट्य आ गया है। ऊपर की ओर उठती हुई भूमिकाओं की कपोतपालियां भी कुछ विशेष सूक्ष्मता व लालित्य को लिए हुए है। कोनों पर व बीच-बीच में टोपियों के निर्माण ने एक नवीन कलात्मकता उत्पन्न की है, जो आगामी काल में उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। ऊपर के तल्ले में भी गर्भगृह व तीर्थंकर की मूर्ति है, शिखर-भाग इतना ऊंचा उठा हुआ है कि जिससे एक विशेष भव्यता का निर्माण हुआ है। शिखर की स्तूपिका की बनावट में एक विशेष सन्तुलन दिखाई देता है। भित्तियों पर भी चित्रकारी की विशेषता है। छोटे-छोटे कमानीदार आलों पर कीर्तिमुखों का निर्माण एक नई कला है, जो इससे पूर्व की कृतियों में प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसे प्रत्येक आले में एक-एक पद्मासन जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। भित्तियां स्तम्भाकृतियों से विभाजित हैं, जिनके कुछ अन्तरालों में छोटी-छोटी मण्डपाकृतियां बनाई गई हैं। यहां महावीर भगवान की बड़ी सुन्दर मूर्ति विराजमान थी जो इधर कुछ वर्षों से दुर्भाग्यतः विलुप्त हो गई है। भीतरी मण्डप के द्वार पर पूर्वोक्त लेख खुदा हुआ है। ऊपर पद्मासन जिनमूर्ति है और उसके दोनों ओर चन्द्र-सूर्य दिखाए गए हैं। लकुंडी के इस जैन मन्दिर ने द्राविड़ वास्तु-शिल्प को बहुत प्रभावित किया है।

द्राविड़ वास्तु-कला चालुक्य काल में जिस प्रकार पुष्ट हुई वह हम देख चुके हैं। इसके पश्चात् होय्सल राजवंश के काल में(13वीं शती में) उसमें और भी वैशिष्ट्य व सौष्ठव उत्पन्न हुआ जिसकी विशेषता है अलंकरण की रीति में समुन्नति। इस काल की वास्तु-कला, न केवल पूर्वकालीन पाषाणोत्कीर्णन कला को आगे बढ़ाती है, किन्तु उस पर तत्कालीन दक्षिण भारत की चन्दन, हाथीदांत व धातु की निर्मितियों आदि का भी प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप पाषाण पर भी कारीगरों की छेनी अधिक कौशल से चली है। इस कौशल के दर्शन हमें **जिननाथपुर** व **हलेबीड** के जैन मन्दिरों में होते हैं। जिननाथपुर श्रवणबेलगोला से एक मील उत्तर की ओर है। ग्राम का नाम ही बतला रहा है कि वहां जैन मन्दिर की प्रख्याति रही है। यहां का शान्तिनाथ मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। इसे रेचिमय्य नामक सज्जन ने बनवा कर सन् 1200 ई. के लगभग सागरनन्दि सिद्धान्तदेव को सौंपा था। गर्भगृह के द्वारपालों की मूर्तियां देखने योग्य हैं। नवरंग के स्तम्भों पर बड़ी सुन्दर व बारीक चित्रकारी की गई है। छतों की खुदाई भी देखने योग्य है। बाह्य भित्तियों पर रेखा-चित्रों व बेल-बूटों की प्रचुरता से खुदाई की गई है तथा तीर्थंकरों व यक्ष-यक्षियों आदि की प्रतिमाएं भी सौन्दर्य-पूर्ण बनी हैं। गर्भगृह में शान्तिनाथ भगवान की सिंहासनस्थ मूर्ति भी कौशलपूर्ण रीति से बनी है।

हलेबीड में होय्सलेश्वर मन्दिर के समीप **हल्लि** नामक ग्राम में एक ही घेरे के भीतर तीन जैन मन्दिर हैं, जिनमें पार्श्वनाथ-मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। मन्दिर के अधिष्ठान व बाह्य भित्तियों पर बड़ी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। नवरंग मण्डप में शिखर युक्त अनेक वेदिकाएं हैं, जिनमें पहले 24 तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित रही होंगी। छत की चित्रकारी इतनी उत्कृष्ट है कि जैसी सम्भवतः हलेबीड भर में अन्यत्र नहीं पाई जाती। यह छत 12 अति सुन्दर आकृति वाले काले

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाषाण के स्तम्भों पर आधारित है। इन स्तम्भों की रचना, खुदाई और सफाई देखने योग्य है। उनकी घुटाई तो ऐसी की गई है कि उसमें दर्शक दर्पण के समान अपना मुंह देख सकता है। पार्श्वनाथ की 14 फुट ऊंची विशाल मूर्ति सप्तफणी नाग से युक्त है। मूर्ति की मुखमुद्रा सच्चे योगी की ध्यान व शान्ति की छटा को लिए हुए है। शेष दो आदिनाथ व शान्तिनाथ के मन्दिर भी अपना-अपना सौन्दर्य रखते हैं। ये सभी मन्दिर 12वीं शती की कृतियां हैं।

होय्सल काल के पश्चात् विजयनगर राज्य का युग प्रारम्भ होता है, जिसमें द्राविड़ वास्तु-कला का कुछ और भी विकास हुआ। इस काल की जैन कृतियों के उदाहरण गनीगित्ति, तिरूमल्लाइ, तिरुपरुत्तिकुंडरम्, तिरुप्पनमूर, मूडबिद्री आदि स्थानों में प्रचुरता से पाए जाते हैं। इनमें वर्तमान में सबसे प्रसिद्ध **मूडबिद्री** का चन्द्रनाथ मन्दिर है, जिसका निर्माण 14वीं शती में हुआ। यह मन्दिर एक घेरे के भीतर है। द्वार से प्रवेश करने पर प्रांगण में अति सुन्दर मानस्तम्भ के दर्शन होते हैं। मन्दिर में लगातार तीन मण्डप-शालाएं हैं, जिनमें होकर विमान (शिखर युक्त गर्भगृह) में प्रवेश होता है। मण्डपों के अलग-अलग नाम हैं। तीर्थंकर मण्डप, गद्दी मण्डप व चित्र मण्डप। मन्दिर की बाह्याकृति काष्ठ-रचना का स्मरण कराती है किन्तु भीतरी समस्त रचना पाषाणोचित ही है। स्तम्भ बड़े स्थूल और कोई 12 फुट ऊंचे हैं, जिनका निचला भाग चौकोर है व शेष ऊपरी भाग गोलाकार, घुमावदार व कमल-कलियों की आकृतियों से अलंकृत है। चित्रमण्डप के स्तम्भ विशेष रूप से उत्कीर्ण हैं। उन पर कमलदलों की खुदाई असाधारण सौष्ठव और सावधानी से की गई है।

जैन विहार का सर्वप्रथम उल्लेख पहाड़पुर (जिला राजशाही, बंगाल) के उस ताम्रपत्र के लेख में मिलता है जिसमें **पंचस्तूप** निकाय या कुल के निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहनंदि तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों से अधिष्ठित विहार मन्दिर में अर्हन्तों की पूजा-अर्चा के निमित्त अक्षयदान किए जाने का उल्लेख है।यह गुप्त सं.159(ई.472)का है। लेख में इस विहार की स्थिति बट-गोहाली में बतलाई गई है। अनुमानतः यह विहार वही होना चाहिए जो पहाड़पुर की खुदाई से प्रकाश में आया है। सातवीं शती के पश्चात् किसी समय इस विहार पर बौद्धों का अधिकार हो गया और वह सोमपुर महाविहार के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु 7 वीं शती में ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा-वर्णन में इस विहार का कोई उल्लेख नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि उस समय तक वह बौद्ध केन्द्र नहीं बना था। उक्त ताम्रपत्र लेख के प्रकाश से यह सिद्ध हो जाता है कि यहां पांचवीं शताब्दी में जैन बिहार विद्यमान था, और इस स्थान का प्राचीन नाम वट-गोहाली था। सम्भव है यहां उस समय कोई महान् वटवृक्ष रहा हो, और उसके आसपास जैन मुनियों के निवास योग्य गुफाओं की आवली (पंक्ति) रही हो, जिससे इसका नाम **वट-गोहाली** (वट-गुफा-अरावली) पड़ गया हो। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, षट्खंडागम के प्रकाण्ड विद्वान टीकाकार वीरसेन और जिनसेन इसी पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे। अतएव यह जैन बिहार विद्या का भी महान् केन्द्र रहा हो तो आश्चर्य नहीं। प्रतीत होता है ई. की प्रारम्भिक शताब्दियों में पूर्व में यह **वट-गोहाली** विहार, उत्तर में मथुरा का विहार, पश्चिम में सौराष्ट्र में गिरिनगर की चन्द्रगुफा और दक्षिण में श्रवणबेलगोला, ये देश की चारों दिशाओं में धर्म व शिक्षा प्रचार के सुदृढ़ जैन केन्द्र रहे हैं।

खुदाई से अभिव्यक्त **पहाड़पुर** विहार बड़े विशाल आकार का रहा है, और अपनी रचना व निर्माण में अपूर्व गिना गया है। इसका परकोटा कोई एक हजार वर्ग का रहा है, जिसके चारों ओर 175 से भी अधिक गुफाकार कोष्ठ रहे हैं। इस चौक की चारों दिशाओं में एक-एक विशाल द्वार रहा है, और चौक के ठीक मध्य में स्वस्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मन्दिर है जो लगभग साढ़े तीन सौ फुट लम्बा-चौड़ा है। उसके चारों ओर प्रदक्षिणा बनी हुई है। मन्दिर तीन तल्लों का रहा है, जिसके दो तल्ले प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। विद्वानों ने इस विहार की रचना को बड़ा विलक्षण (अपूर्व) माना है तथा उसकी तुलना बर्मा के पैगाम तथा जावा के लोरों जोन्ग्रांग आदि मन्दिरों से की है। किन्तु स्पष्टतः जैन परम्परा में चतुर्मुखी मन्दिरों का प्रचार बराबर चला आया है व आबू के चौमुखी मन्दिर में भी पाया जाता है।

मध्यभारत में आने पर हमें दो स्थानों पर प्राचीन जैन तीर्थों के दर्शन होते हैं। इनकी विख्याति शताब्दियों तक रही, और क्रमशः अधिकाधिक मन्दिर निर्माण होते रहे और उनमें मूर्तियां प्रतिष्ठित कराई जाती रहीं, जिनसे ये स्थान देवनगर ही बन गए। इनमें से प्रथम स्थान है- **देवगढ़,** जो झांसी जिले के अन्तर्गत ललितपुर रेलवे स्टेशन से 19 मील तथा जालौन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्टेशन से 9 मील दूर बेतवा नदी के तट पर है। देवगढ़ की पहाड़ी कोई एक मील लम्बी व 6 फर्लांग चौड़ी है। पहाड़ी पर चढ़ते हुए पहले गढ़ के खण्डहर मिलते हैं, जिनकी पाषाण-कारीगरी दर्शनीय है। इस गढ़ के भीतर क्रमशः दो और कोट है, जिनके भीतर अनेक मन्दिर जीर्ण अवस्था में दिखाई देते हैं। कुछ मन्दिर हिन्दू हैं किन्तु अधिकांश जैन हैं जिनमें 31 मन्दिर गिने जा चुके हैं। इनमें मूर्तियों, स्तम्भों, दीवारों, शिलाओं आदि पर शिलालेख भी पाए गए हैं, जिनके आधार से इन मन्दिरों का निर्माण आठवीं से लेकर बारहवीं शती तक का सिद्ध होता है।

मध्यभारत का दूसरा देवालय-नगर **खजुराहो** छतरपुर जिले के पन्ना नामक स्थान से 27 मील उत्तर व महोवा से 34 मील दक्षिण की ओर है। यहां शिव, विष्णु व जैन मन्दिरों की तीस से ऊपर संख्या है। जैन मन्दिरों में विशेष उल्लेखनीय तीन हैं- पार्श्वनाथ, आदिनाथ और शान्तिनाथ, जिनमें प्रथम पार्श्वनाथ सबसे बड़ा है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई 68 X 34 फुट है। इसका मुखमण्डप ध्वस्त हो गया है। महामण्डप, अन्तराल और गर्भगृह सुरक्षित है और वे एक ही प्रदक्षिणा-मार्ग से घिरे हुए हैं। गर्भगृह से सटकर पीछे की ओर एक पृथक् देवालय बना हुआ है, जो इस मन्दिर की एक विशेषता है। प्रदक्षिणा की दीवार में आभ्यन्तर की ओर स्तम्भ हैं जो छत को आधार देते हैं। दीवार में प्रकाश के लिए जालीदार वातायन हैं। मन्दिर की छत पर का उत्कीर्णन उत्कृष्ट शैली का है। छत के मध्य में लोलक को बेलबूटों व उड़ती हुई मानवाकृतियों से अलंकृत किया गया है। प्रवेशद्वार पर गरुड़वाहिनी दशभुज (सरस्वती) मूर्ति भी बड़ी सुन्दर बनी है। गर्भगृह की बाह्य भित्तियों पर अप्सराओं की मूर्तियां इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें अपने ढंग की सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। उत्तर की ओर बच्चे को दूध पिलाती हुई, पत्र लिखती हुई, पैर में से कांटा निकालती हुई एवं श्रृंगार करती हुई स्त्रियों आदि की मूर्तियां इतनी सजीव और कलापूर्ण हैं कि वैसी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ये सब भाव लौकिक जीवन के सामान्य व्यवहारों के हैं, धार्मिक नहीं। यह इस मन्दिर की कलाकृतियों की अपनी विशेषता है। सबसे बाहर की भित्तियों पर निचले भाग में कलापूर्ण उत्कीर्णन है और ऊपर की ओर अनेक पट्टियों में तीर्थंकरों एवं हिन्दू देव-देवियों की बड़ी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। इस प्रकार इस मन्दिर में हम नाना धर्मों एवं धार्मिक व लौकिक जीवन का अद्‌भुत समन्वय पाते हैं। मन्दिर के गर्भगृह में वेदी भी बड़ी सुन्दर आकृति की बनी है और उस पर बैल की आकृति उत्कीर्ण है। इससे प्रतीत होता है कि आदितः इस मन्दिर के मूल नायक ऋषभनाथ तीर्थंकर थे, क्योंकि वृषभ उन्हीं का चिह्न है। अनुमानतः वह मूर्ति किसी समय नष्ट-भ्रष्ट हो गई और तत्पश्चात् उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की वर्तमान मूर्ति स्थापित कर दी गई। मन्दिर व सिंहासन की कलापूर्ण निर्मिति की अपेक्षा यह मूर्ति हीन-कलात्मक है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। ऐसी ही कुछ स्थिति आदिनाथ मन्दिर की भी है, क्योंकि उसमें जो आदिनाथ की मूर्ति विराजमान है वह सिंहासन के प्रमाण से छोटी तथा कला की दृष्टि से सामान्य है। यह मन्दिर पार्श्वनाथ मन्दिर के समीप ही उत्तर की ओर स्थित है। इस मन्दिर में भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन ही कोष्ठ हैं, जिनमें से अर्द्धमण्डप बहुत पीछे का बना हुआ है । इसके प्रवेश द्वार पर चतुर्भुज देवी की मूर्ति है और उससे ऊपर 16 स्वप्नों के चिह्न उत्कीर्ण हैं। शान्तिनाथ मन्दिर की विशेषता यह है कि उसमें शान्तिनाथ तीर्थंकर की 15 फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा विराजमान है, जिसकी प्रतिष्ठा का काल वि. सं. 1085 (ई. सन् 1028) अंकित है। इसीसे कुछ पूर्व इस मन्दिर का निर्माण हुआ होगा। शेष मन्दिरों का निर्माण काल भी इसी के कुछ आगे-पीछे का प्रतीत होता है। इस मूर्ति के अतिरिक्त वहां पाई जाने वाली अन्य तीर्थंकरों व यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियां कलापूर्ण हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के दोनों पार्श्वों में प्रायः दो चमर वाहक, सम्मुख बैठी हुई दो उपासिकाएं तथा मूर्तियों के अगल-बगल कुछ ऊपर हस्ति-आरूढ़ इन्द्र व इन्द्राणी की आकृतियां पाई जाती हैं, तथा पीठ पर दोनों ओर सिंह की आकृतियां भी दिखाई देती हैं। खजुराहो के ये समस्त मन्दिर अधिष्ठान से शिखर तक नाना प्रकार की कलापूर्ण आकृतियों से उत्कीर्ण हैं।

खजुराहो के जैन मन्दिरों की विशेषता यह है कि इनमें मण्डप की अपेक्षा शिखर की रचना का ही अधिक महत्त्व है। अन्यत्र के समान भमिति और देवकुलिकाएं भी नहीं है तथा रचना व अलंकृति में जिन मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य ऐसी विशेषता नहीं है जो उन्हें यहां के हिन्दू व बौद्ध मन्दिरों से पृथक् करती हो। एक ही काल और सम्भवतः उदार सहिष्णु एक ही नरेश के संरक्षण में बनवाए जाने से उनमें विचारपूर्वक समत्व रखा गया प्रतीत होता है। किन्तु यहां पाए जाने वाले दो अन्य मन्दिरों के सम्बन्ध में जेम्स फर्गुसन का अभिमत उल्लेखनीय है। **चौसठ योगिनी मन्दिर** की भमिति व देव-कुलिकाओं के सम्बन्ध में उनका कहना है कि "मन्दिर निर्माण की यह रीति यहां तक जैन विशेषता लिए हुए है कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके मूलतः जैन होने में मुझे कोई संशय नहीं है।" मध्यवर्ती मन्दिर अब नहीं है, और फर्गुसन के मतानुसार आश्चर्य नहीं जो वह प्राचीन बौद्ध चैत्यों के समान काष्ठ का रहा हो। और यदि यह बात ठीक हो तो यह समस्त प्राचीनतम जैन मन्दिर सिद्ध होता है। इसी प्रकार घण्टाई मन्दिर के अवशिष्ट मण्डप को भी वे उसकी रचना शैली पर से जैन स्वीकार करते हैं। इसमें प्राप्त खण्डित लेख की लिपि पर से कनिंघम ने उसे छठी-सातवीं शती का अनुमान किया है, और फर्गुसन उसकी शैली पर से भी यही काल-निर्णय करते हैं।

ग्वालियर राज्य में विदिशा से 140 मील दक्षिण-पश्चिम की ओर **ग्यारसपुर** में भी एक भग्न जैन मन्दिर का मण्डप विद्यमान है, जो अपने विन्यास व स्तम्भों की रचना आदि में खजुराहो के घण्टाई मण्डप के ही सदृश है। उसका निर्माण-काल भी फर्गुसन ने सातवीं शती, अथवा निश्चय ही दसवीं शती से पूर्व अनुमान किया है। इसी ग्यारसपुर में सम्भवतः इसी काल का एक अन्य मन्दिर भी है जो इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है और उसका जीर्णोद्धार इस तरह किया गया है कि उसका समस्त मौलिक रूप ढंक गया है। यहां ग्राम में एक सम्भवतः 11वीं शती का अतिसुन्दर पाषाण-तोरण भी है। यथार्थतः फर्गुसन साहब के मतानुसार वहां आसपास के समस्त प्रदेश में इतने भग्नावशेष विद्यमान हैं कि यदि उनका विधिवत् संकलन व अध्ययन किया जाए तो भारतीय वास्तु-कला, और विशेषतः जैन वास्तु-कला के इतिहास के बड़े दीर्घ रिक्त स्थानों की पूर्ति की जा सकती है।

मध्यप्रदेश में तीन और जैन तीर्थ हैं जहां पहाड़ियों पर अनेक प्राचीन मन्दिर बने हुए हैं, और आज तक भी नए मन्दिर अविच्छिन्न क्रम से बनते जाते हैं। ऐसा एक तीर्थ बुन्देलखण्ड में दतिया के समीप **स्वर्णगिरि** (सोनागिरि) है। यहां एक नीची पहाड़ी पर लगभग सौ छोटे-बड़े एवं नाना आकृतियों के जैन मन्दिर हैं। जिस रूप में ये मन्दिर विद्यमान हैं वह बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होता। उसमें मुसलमानी शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके शिखर प्रायः मुगलकालीन गुम्बज के आकार के हैं। शिखर का प्राचीन स्वदेशीय रूप क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है और खुले भागों का रूप मुसलमानी कोणाकार तोरण जैसा दिखाई देता है। यद्यपि इसका इतिहास स्पष्ट नहीं है कि इस तीर्थक्षेत्र में प्राचीनतम मन्दिर कब, क्यों और कैसे बने तथापि इसकी कुछ सामग्री वहां के उक्त मन्दिरों, मूर्तियों व लेखों के अध्ययन से संकलित की जा सकती है।

दूसरा तीर्थक्षेत्र बैतूल जनपदान्तर्गत **मुक्तागिरि** है। यहां एक अतिसुन्दर पहाड़ी की घाटी के समतल भाग में कोई 20-25 जैन मन्दिर हैं, जिनके बीच लगभग 60 फुट ऊंचा जलप्रपात है। इसका दृश्य विशेषतः वर्षाकाल में अत्यन्त रमणीक प्रतीत होता है। ये मन्दिर भी सोनागिरि के समान बहुत प्राचीन नहीं हैं, और अपने शिखर आदि के सम्बन्ध में मुसलमानी शैली का अनुकरण करते हैं। किन्तु यहां की मूर्तियों पर के लेखों से ज्ञात होता है कि 14वीं शती में यहां कुछ मन्दिर अवश्य रहे होंगे। इस तीर्थ के विषय में श्री जेम्स फर्गुसन ने अपनी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (लन्दन, 1876) में कहा है कि "समस्त भारत में इसके सदृश दूसरा स्थान पाना दुर्लभ है, जहां प्रकृति की शोभा का वास्तुकला के साथ ऐसा सुन्दर सामंजस्य हुआ हो।"

मध्यप्रदेश का तीसरा जैन तीर्थ दमोह के समीप कुण्डलपुर नामक स्थान है, जहां एक कुण्डलाकार पहाड़ी पर 25-30 जैन मन्दिर बने हुए हैं। पहाड़ी के मध्य एक घाटी में बना हुआ महावीर का मन्दिर अपनी विशालता, प्राचीनता व मान्यता के लिए विशेष प्रसिद्ध है। यहां बड़े बाबा महावीर की विशाल मूर्ति होने के कारण यह **बड़े बाबा का मन्दिर** कहलाता है। पहाड़ी पर का प्रथम मन्दिर भी अपने सौन्दर्य व रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अपने शिखर के छह तल्लों के कारण यह छह घरिया का मन्दिर कहलाता है। अधिकांश मन्दिरों में पूर्वोक्त तीर्थ-क्षेत्रों के सदृश मुगल शैली का प्रभाव दिखाई देता है। पहाड़ी के नीचे का तालाब और उसके तटवर्ती नए मन्दिरों की शोभा भी दर्शनीय है।

मध्यप्रदेश के जिला नगर **खरगौन** से पश्चिम की ओर दस मील पर ऊन नामक ग्राम में तीन-चार प्राचीन जैन मन्दिर हैं। इनमें से एक पहाड़ी पर है जिसकी मरम्मत होकर अच्छा तीर्थस्थान बन गया है। शेष मन्दिर भग्नावस्था में पुरातत्त्व विभाग के संरक्षण में हैं। मन्दिर पूर्णतः पाषाण-खण्डों से निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह और सभामण्डप युक्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तथा प्रदक्षिणा रहित हैं जिनसे इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो के मन्दिर की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मन्दिर चौबारा डेरा कहलाते हैं। खम्भों पर की कुछ पुरुष-स्त्री-रूप आकृतियां शृंगारात्मक अतिसुन्दर और पूर्णतः सुरक्षित हैं। कुछ प्रतिमाओं पर लेख हैं जिनमें संवत् 1258 व उसके आसपास का उल्लेख है। अतः यह तीर्थ कम से कम 12वीं-13वीं शती का तो अवश्य है।

मध्यप्रदेश के पश्चात् हमारा ध्यान राजस्थान के मन्दिरों की ओर जाता है। अजमेर के समीप **बड़ली** ग्राम से एक स्तम्भ-खण्ड मिला है जिसे वहां के भैरोंजी के मन्दिर का पुजारी तम्बाखू कूटने के काम में लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खण्ड रहा है जिसके तीन पहलू इस पाषाण-खण्ड में सुरक्षित हैं, और उन पर 13 x 10½ इंच स्थान में एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानों के मतानुसार अशोक की लिपियों से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है और उपलब्ध लेख-खण्ड पर से इतना स्पष्ट पढ़ा जाता है कि वीर भगवान् के लिए अथवा भगवान के 84वें वर्ष में मध्यमिका में कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर निर्वाण से 84 वर्ष पश्चात् (ई. पू. 443) में दक्षिण-पूर्व राजपूताने की उस अतिप्राचीन व इतिहास प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी में कोई मण्डप या चैत्यालय बनवाया गया था।

जोधपुर से पश्चिमोत्तर दिशा में 32 मील पर ओसियां रेलवे स्टेशन के समीप ही **ओसियां** नामक ग्राम के बाह्य भाग में अनेक प्राचीन हिन्दू और जैन मन्दिर हैं, जिनमें महावीर मन्दिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मन्दिर एक घेरे के बीच में स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने हैं। मन्दिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषतः उसमें मण्डप के स्तम्भों की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि रचना नागर शैली की है। यहां एक शिलालेख भी है, जिसमें उल्लेख है कि ओसियां का महावीर मन्दिर गुर्जर-प्रतिहार नरेश वत्सराज (नागभट द्वितीय के पिता 770-800 ई.) के समय में विद्यमान था, तथा उसका महामण्डप ई.सन् 926 में निर्माण कराया गया था। मन्दिर में पीछे भी निर्माण-कार्य होता रहा है, किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नहीं होने पाया। उसका कलात्मक सन्तुलन बना हुआ है और ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

मारवाड़ में ही दो और स्थानों के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। फालना रेलवे स्टेशन के समीप **सादड़ी** नामक ग्राम में 11वीं शती से 16वीं शती तक के अनेक हिन्दू व जैन मन्दिर हैं। विशेष महत्त्वपूर्ण जैन मन्दिर वर्तमान जैन धर्मशाला के घेरे में स्थित है। शैली में ये मन्दिर पूर्वोक्त प्रकार के ही हैं और शिखर नागर शैली के ही बने हुए हैं। मारवाड़-जोधपुर रेलवे लाइन पर मारवाड़ पाली स्टेशन के समीप **नौलखा** नामक वह जैन मन्दिर है जिसे अल्हणदेव ने संवत् 1218 (ई.सन् 1161) में बनवाया था किन्तु इसमें जो तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं, उनमें वि. सं. 1144 से 1201 तक के लेख पाए जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त मन्दिर से पूर्व भी यहां मन्दिर रहा है।

अब हम **आबू** के जैन मन्दिरों पर आते हैं, जहां न केवल जैन कला किन्तु भारतीय वास्तुकला अपने सर्वोत्कृट विकसित रूप में पाई जाती है। आबूरोड स्टेशन से कोई 18 मील, तथा आबू से सवा मील पर **दिलवाड़ा** नामक स्थान है, जहां ये जैन मन्दिर पाए जाते हैं। ग्राम के समीप समुद्र-तल से 4-5 हजार फुट ऊंची पहाड़ी पर एक विशाल परकोटे के भीतर **विमल वसही, लूण-वसही, पितलहर, चौमुखा** और **महावीर स्वामी** नामक पांच मन्दिर हैं। इन मन्दिरों की ओर ले जाने वाले पथ के दूसरे बाजू पर एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इन सब मन्दिरों में कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है प्रथम दो। विमलवसही के निर्माण-कर्ता विमलशाह पोरवाड़वंशी, तथा चालुक्यवंशी नरेश भीमदेव प्रथम के मंत्री व सेनापति थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने अपना अपार धन व्यय करके प्राचीन वृत्तान्तानुसार स्वर्ण मुद्राएं बिछा कर वह भूमि प्राप्त की और उस पर आदिनाथ तीर्थंकर का मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर पूरा-का-पूरा श्वेत संगमरमर का बना हुआ है। जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर के निर्माण में 18 करोड़ 53 लाख स्वर्ण मुद्राओं का व्यय हुआ। संगमरमर की बड़ी-बड़ी शिलाएं पहाड़ी के तल से हाथियों द्वार उतनी ऊंची पहाड़ी पर पहुंचाई गई थी। तथा आदिनाथ तीर्थंकर की सुवर्ण मिश्रित पीतल की चार फुट तीन इंच की विशाल पद्मासन मूर्ति ढलवा कर प्रतिष्ठित की गई। यह प्रतिष्ठा वि. सं. 1088 (ई.1031) में मोहम्मद गोरी द्वारा सोमनाथ मन्दिर के विनाश से ठीक सात वर्ष पश्चात् हुई। यह मूर्ति प्रौढ़ दादा के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है। इस मन्दिर को बीच-बीच में दो बार क्षति पहुंची जिसका पुनरुद्धार विमलशाह के वंशजों द्वारा वि.सं. 1206 और 1245 में व 1368 में किया गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी मन्दिर के सम्मुख **लूण–वसही** है जो उसके मूल नायक के नाम से **नेमिनाथ** मन्दिर भी कहलाता है और जिसका निर्माण ढोलका के बघेलवंशी नरेश वीरधवल के दो मंत्री भ्राता तेजपाल और वस्तुपाल ने सन् 1232 ई. में कराया था। तेजपाल मंत्री के पुत्र लूणसिंह की स्मृति में बनाए जाने के कारण मन्दिर का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इस मन्दिर का विन्यास व रचना भी प्राय: आदिनाथ मन्दिर के सदृश है। यहां भी उसी प्रकार का प्रांगण, देवकुल तथा स्तम्भ–मण्डपों की पंक्ति विद्यमान है।

इन दोनों मन्दिरों में संगमरमर की कारीगरी को देखकर बड़े–बड़े कला–विशारद आश्चर्यचकित होकर दांतों तले अंगुली दबाए बिना नहीं रहते। यहां भारतीय शिल्पियों ने जो कला–कौशल व्यक्त किया है, उससे कला के क्षेत्र में भारत का मस्तिष्क सदैव गर्व से ऊंचा उठा रहेगा। कारीगर की छेनी ने यहां काम नहीं दिया। संगमरमर को घिस–घिस कर उसमें वह सूक्ष्मता व कांच जैसी चमक व पारदर्शिता लाई गई है, जिसका छेनी द्वारा लाया जाना असम्भव था। कहा जाता है कि इन कारीगरों को घिसकर निकाले हुए संगमरमर के चूर्ण के प्रमाण से वेतन दिया जाता था। तात्पर्य यह है कि इन मन्दिरों के निर्माण से, एच. जिम्मर के शब्दों में, 'भवन ने अलंकार का रूप धारण कर लिया है, जिसे शब्दों में समझाना असम्भव है।' मन्दिरों का दर्शन करके ही कोई उनकी अद्‌भुत कला के सौन्दर्य की अनुभूति कर सकता है। बिना देखे उसकी कोई कल्पना करना शक्य नहीं।

लूणवसही के पीछे की ओर **पित्तलहर** नामक जैन मन्दिर है, जिसे गुर्जर वंश के भीमाशाह ने 15वीं शती के मध्य में बनवाया था। यहां के वि. सं. 1483 के एक लेख में कुछ भूमि व ग्रामों के दान दिए जाने का उल्लेख है, तथा वि. सं. 1489 के एक अन्य लेख में कहा गया है कि आबू के चौहानवंशी राजा राजधर देवड़ा चुंडा ने यहां के तीन मन्दिरों अर्थात् विमलवसही, लूणवसही और पित्तलहर–की तीर्थ यात्रा को आने वाले यात्रियों को सदैव के लिए कर से मुक्त किया। इस मन्दिर का पित्तलहर नाम पड़ने का कारण यह है कि यहां मूलनायक आदिनाथ तीर्थंकर की 108 मन पीतल की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा सं. 1525 में सुन्दर और गडा नामक व्यक्तियों ने कराई थी। गुरु–गुण–रत्नाकर काव्य के अनुसार ये दोनों अहमदाबाद के तत्कालीन सुल्तान महमूद बेगड़ा के मन्त्री थे। इससे पूर्व की प्रतिष्ठित मूर्ति किसी कारणवश यहां से मेवाड़ के कुम्भल मेरु नामक स्थान को पहुंचा दी गई थी। इस मन्दिर की बनावट भी पूर्वोक्त दो मन्दिरों जैसी ही है। मूल गर्भसंग्रह, गूढ़मण्डप और नव–चौकी तो परिपूर्ण है, किन्तु रंग–मण्डप और भमिति कुछ अपूर्ण भी रह गए हैं। गूढ़मण्डप में आदिनाथ की पंचतीर्थिक पाषाण प्रतिमा है, तथा अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं। विशेष ध्यान देने योग्य यहां महावीर के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी की पीले पाषाण की मूर्ति है। भमिति की देवकुलिकाओं में नाना तीर्थंकरों की मूर्तियां विराजमान हैं। एक स्थान पर भ. आदिनाथ के गणधर पुण्डरीक स्वामी की प्रतिमा भी है।

चौमुखा मन्दिर में भगवान पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के मुनियों द्वारा कराई जाने से यह मन्दिर खरतर वसही भी कहलाता है। कुछ मूर्तियों पर के लेखों से इस मन्दिर का निर्माण काल वि. सं. 1515 के लगभग प्रतीत होता है। मन्दिर तीन तल्ला है और प्रत्येक तल्ले पर पार्श्वनाथ की चौमुखी प्रतिमा विराजमान है।

पांचवां **महावीर मन्दिर** दिलवाड़ा से पूर्वोत्तर दिशा में कोई साढ़े तीन मील पर है। इसका निर्माण भी 15वीं शती में हुआ था। वर्तमान में इसके मूल नायक भ. आदिनाथ हैं, जिनके पार्श्व में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं, किन्तु मन्दिर की ख्याति महावीर के नाम से ही है। अनुमानत: बीच में कभी मूल नायक का स्थानान्तरण किया गया होगा। वह मन्दिर एक परकोटे के मध्य में स्थित है और गर्भगृह के सम्मुख शिखरयुक्त गूढ़मण्डप भी है। उसके सम्मुख खुला चबूतरा है, जिस पर या तो नवचौकी और सभामण्डप बनाए ही नहीं जा सके, अथवा बन कर कभी विध्वस्त हो गए।

दिलवाड़ा का **दिग.जैन मन्दिर** वहां से अचलगढ़ की ओर जाने वाले मार्ग के मुख पर ही है। इस मन्दिर में एक शिलालेख है, जिसके अनुसार वि. सं. 1494 में गोविन्द संघाधिपति यहां मूलसंघ, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनन्दी के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र सहित तीर्थयात्रा को आए और उन्होंने उस मन्दिर का निर्माण करवाया। उस समय आबू के राजा राजधर देवड़ा चूड़ा का राज्य था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राजस्थान का एक अन्य उल्लेखनीय जैन मन्दिर जोधपुर राज्यान्तर्गत गोडवाड़ क्षेत्र में **राणकपुर** का है जो सन् 1439 में बनवाया गया था। यह विशाल चतुर्मुखी मन्दिर 40,000 वर्ग फुट भूमि पर बना हुआ है, और उसमें 29 मण्डप हैं, जिनके स्तम्भों की संख्या 420 है। इन समस्त स्तम्भों की बनावट व शिल्प पृथक्-पृथक् है और अपनी-अपनी विशेषता रखती है। मन्दिर का आकार चतुर्मुखी है। बीच में मुख्य मन्दिर है जिसकी चारों दिशाओं में पुनः चार मन्दिर हैं। इनमें शिखरों के अतिरिक्त मण्डपों के भी और उनके आसपास 86 देवकुलिकाओं के भी अपने-अपने शिखर हैं, जिनकी आकृति दूर से ही अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई देती है। शिखरों का सौन्दर्य और सन्तुलन बहुत चित्ताकर्षक है और यही बात उसकी अन्तरंग कलाकृतियों के विषय में भी पाई जाती है। सर्वत्र वैचित्र्य और सामंजस्य का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। दर्शक मन्दिर के भीतर जाकर मण्डपों उनके स्तम्भों व खुले प्रांगणों में से जाते हुए प्रकाश और छाया के अद्भुत प्रभाव से चमत्कृत हो जाता है । मुख्य गर्भगृह स्वस्तिकाकार है और उसके चारों ओर चार द्वार हैं। यहां आदिनाथ की श्वेत संगमरमर की चतुर्मुखी मूर्ति प्रतिष्ठित है। यह दुतल्ला है और दूसरे तल में भी यही रचना है। इस चौमुखी मन्दिर का विन्यास प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा कि पहाड़पुर के महाविहार का पाया जाता है।

राजस्थान की एक और सुन्दर व कलापूर्ण निर्मिति है **चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ**। इसके निर्माता व निर्माण काल के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा। किन्तु हाल में नांदगांव के दिगम्बर जैन मन्दिर की धातुमयी प्रतिमा पर सं. 1541 (ई. सन् 1484) का एक लेख मिला है जिसके अनुसार मेदपाट देश के चित्रकूट नगर में इस कीर्तिस्तम्भ का निर्माण चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय के सम्मुख जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया था। इससे स्पष्ट है कि स्तम्भ की रचना 15वीं शती में ई. सन् 1484 से पूर्व ही हो चुकी थी। जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह बघेरवाल जाति के थे और उन्होंने कारंजा (जिला आकोला बरार) के मूलसंघ, सेनगण, पुष्करगच्छ के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से इस स्तम्भ के अतिरिक्त 108 शिखरबद्ध मन्दिरों का उद्धार कराया, जिनबिम्ब बनवाए और प्रतिष्ठाएं कराई; अनेक श्रुतभण्डारों की स्थापना कराई और सवा लाख बन्दी छुड़वाए, ऐसा भी उक्त लेख में उल्लेख है।

लेख से स्पष्ट है कि यह स्तम्भ एक जैन मन्दिर के सम्मुख बनाया गया था, जिससे वह मानस्तम्भ प्रतीत होता है। यह स्तम्भ लगभग 76 फुट ऊंचा है और उसका नीचे का व्यास 31 फुट तथा ऊपर का 15 फुट है। इसमें सात तल्ले हैं, जिनके ऊपर गंधकुटी रूप छतरी बनी हुई है। यह छतरी एक बार विद्युत से आहत होकर ध्वस्त हो गई थी, किन्तु उसे महाराजा फतहसिंह ने लगभग अस्सी हजार के व्यय से पुनः पूर्ववत् ही निर्माण करा दिया। इस शिखर की कुटी में अवश्य ही चतुर्मुखी तीर्थंकर की मूर्ति रही होगी। स्तम्भ के समस्त तल्लों के चारों भागों पर आदिनाथ व अन्य तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां विराजमान हैं, जिससे आदितः यह स्तम्भ आदि तीर्थंकर का ही स्मारक प्रतीत होता है। इस कीर्तिस्तम्भ की बाह्य निर्मिति अलंकृतियों से भरी हुई है।

चित्तौड़ के किले पर कुछ इसी प्रकार का एक दूसरा कीर्ति-स्तम्भ भी है जिसमें 9 तल्ले है और जो हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत है। यह पूर्वोक्त स्तम्भ से बहुत पीछे उसी के अनुकरण रूप महाराणा कुम्भा का बनाया हुआ है।

जैन तीर्थों में **सौराष्ट्र** प्रदेश के **शत्रुंजय** (पालीताणा) पर्वत पर जितने जैन मन्दिर हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं। शत्रुंजय माहात्म्य के अनुसार यहां प्रथम तीर्थंकर के काल से ही जैन मन्दिरों का निर्माण होता आया है। वर्तमान में वहां पाए जाने वाले मन्दिरों में सबसे प्राचीन उन्हीं विमलशाह (11वीं शती) का है जिन्होंने आबू पर विमलवसही बनाया है और दूसरा राजा कुमारपाल (12वीं शती) का बनवाया हुआ है। विशालता व कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विमलवसही टूक का आदिनाथ मन्दिर सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह मन्दिर सन् 1530 में बना है, किन्तु इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि उससे पूर्व वहां ई. सन् 960 का बना हुआ एक मन्दिर था। यहां की 10वीं शती की निर्मित पुण्डरीक की प्रतिमा सौन्दर्य में अतिश्रेष्ठ मानी गई है। चौथा उल्लेखनीय **चतुर्मुख मन्दिर** है जो सन् 1618 का बना हुआ है। इसकी चारों दिशाओं में प्रवेश-द्वार हैं। पूर्वद्वार रंगमण्डप के सम्मुख है, तथा तीन अन्य द्वारों के सम्मुख भी मण्डप बने हुए हैं। ये सभी मण्डप दुतल्ले हैं और ऊपर के तल में मुख-मण्डपिकाओं से युक्त वातायन भी है। उपर्युक्त व अन्य मन्दिर, गर्भगृह, मण्डपों व देवकुलिकाओं की रचना, शिल्प व सौन्दर्य में दिलवाड़ा विमलवसही व लूणवसही का ही हीनाधिक मात्रा में अनुकरण करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सौराष्ट्र का दूसरा महान तीर्थक्षेत्र है **गिरनार**। इस पर्वत का प्राचीन नाम ऊर्जयन्त व रैवतक गिरि पाया जाता है, जिसके नीचे बसे हुए नगर का नाम गिरिनगर रहा होगा, जिसके नाम से अब स्वयं पर्वत ही गिरिनार, (गिरिनगर) कहलाने लगा । जूनागढ़ से इस पर्वत की ओर जाने वाले मार्ग पर ही वह इतिहास-प्रसिद्ध विशाल शिला मिलती है जिस पर अशोक, रुद्रदामन् और स्कन्दगुप्त सम्राटों के शिलालेख खुदे हुए हैं, और इस प्रकार जिस पर लगभग 1000 वर्ष का इतिहास लिखा हुआ है। जूनागढ़ के समीप ही बाबा प्यारा मठ के पास वह जैन गुफा है जो पहली-दूसरी शती की धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्थान ऐतिहासिक व धार्मिक दोनों दृष्टियों से अतिप्राचीन व महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। गिरिनगर पर्वत का जैन धर्म से इतिहासातीत काल से सम्बन्ध इसलिए पाया जाता है, क्योंकि यहां पर ही 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने तपस्या की और निर्वाण प्राप्त किया था।

वर्तमान में यहां का सबसे प्रसिद्ध, विशाल व सुन्दर मन्दिर नेमिनाथ का है। रैवतक गिरि-कल्प के अनुसार इसे चालुक्य नरेश जयसिंह के दण्डाधिप सज्जन ने खंगार राज्य पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् संवत् 1185 में बनवाया था। इसके शिखर पर सुवर्ण का आमलक मालव देश के मुखमण्डन भावड़ ने और पद्या (सोपान-पथ) का निर्माण कुमारपाल नरेन्द्र द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र के दण्डाधिप श्रीमाल कुल के किसी व्यक्ति ने संवत् 1220 में कराया था। मन्दिर के मूल नायक की प्रतिमा आदितः लेपमय थी,और उसका लेप कालानुसार गलित हो गया था, तब कश्मीर से तीर्थयात्रा पर आए हुए अजित और रतन नामक दो भाइयों ने उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा स्थापित की। मन्दिर के प्रांगण में कोई सत्तर देवकुलिकाएं हैं। इसके बीच मन्दिर बना हुआ है जिसका मण्डप बड़ी सुन्दरता से अलंकृत है। मुख्य मन्दिर के विमान के विशाल शिखर के आसपास अनेक छोटे-छोटे शिखरों का पुंज है, जिससे उसका दृश्य बहुत भव्य दिखाई देता है। इस काल की जैन वास्तु-कला का यह एक वैशिष्ट्य है। यहां का दूसरा उल्लेखनीय मन्दिर है वस्तुपाल द्वारा निर्मापित मल्लिनाथ तीर्थंकर का। इस मन्दिर का विन्यास एक विशिष्ट प्रकार का है। रंगमण्डप के प्रवेश-द्वार की दिशा को छोड़कर शेष तीन दिशाओं में उससे सटे हुए तीन मन्दिर हैं। मध्य का मन्दिर मूलनायक मल्लिनाथ का है। आजू-बाजू के दोनों मन्दिर रचना में स्तम्भयुक्त मण्डपों के सदृश हैं और उनमें ठोस पाषाण की बड़ी कारीगरी दिखाई देती है। उत्तर दिशा का मन्दिर चौकोर अधिष्ठान पर मेरु की रचना से युक्त है, तथा दक्षिण दिशा का मन्दिर सम्मेदशिखर की प्रतिकृति है।

यह प्राचीन और शैली व कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपलभ्य जैन मन्दिरों का अति संक्षिप्त और स्फुट परिचय मात्र है। यथार्थतः समस्त देश हिमालय से दक्षिणी समुद्र तक व सौराष्ट्र से बंगाल तक जैन मन्दिरों व उनके भग्नावशेषों से भरा हुआ है। जहां अब जैन मन्दिर नहीं हैं, या उनके खण्डहर मात्र अवशिष्ट हैं, वहां के विषय में जेम्स फर्गुसन का अभिमत ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है-

"गंगा प्रदेश अथवा जहां भी मुसलमान अधिक संख्या में बसे वहां प्राचीन जैन मन्दिरों के पाने की आशा करना व्यर्थ है। उन लोगों ने अपने धर्म के जोश में मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है, तथा जिन सुन्दर स्तम्भों, तोरणों आदि को नष्ट नहीं किया, उनका बड़े चाव से अपनी मसजिदों आदि के निर्माण में उपयोग कर लिया। अजमेर, दिल्ली, कन्नौज, धार व अहमदाबाद की विशाल मस्जिदें यथार्थतः जैन मन्दिरों की ही परिवर्तित निर्मितियां हैं।"

12.6 सारांश

यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या देश के बाहर भी जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ? अन्यत्र कहा जा चुका है कि महावंश के अनुसार लंका में बौद्ध धर्म के प्रवेश से बहुत पूर्व ही वहां निर्ग्रन्थ मुनि पहुंच चुके थे और उनके लिए अनुराधपुर में पांडुकाभय नरेश ने ई. पू. 360 के लगभग निवास स्थान व देवकुल (मन्दिर) निर्माण कराए थे। **जावा** के **ब्रम्बनम्** नामक स्थान का एक मन्दिर समूह, फर्गुसन के मतानुसार, मूलतः जैन रहा है। न केवल उसकी मध्यवर्ती मन्दिर व भमिति की सैकड़ों देवकुलिकाएं जैन मन्दिरों की सुविख्यात शैली का अनुसरण करती हैं, किन्तु उनमें प्रतिष्ठित जिन ध्यानस्थ पद्मासन मूर्तियों को सामान्यतः बौद्ध कहा जाता है, वे सब जिन मूर्तियां ही प्रतीत होती हैं। इतिहास में भले ही इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बात के प्रमाण न मिलें कि जैन धर्म कब जावा द्वीप में पहुंचा होगा, किन्तु यह उदाहरण इस बात का तो प्रमाण अवश्य है कि जैन मन्दिरों की वास्तुकला ने दसवीं शती से पूर्व जावा में प्रवेश कर लिया था।

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां
वनभवनगताना दिव्यवैमानिकानाम्
इह मनुजकृतानां देवराजार्चिताना
जिनवर-निलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥

12.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न -

प्रश्न 1. जैन परम्परा में चैत्य तथा स्तूप रचना पर प्रकाश डालते हुए मथुरा के स्तूप की विशेषताओं का वर्णन करें।

अथवा

जैन गुफाओं की विशेषताएं बताते हुए खण्डगिरि-उदयगिरि की गुफाओं का वर्णन करें।

अथवा

भारतीय वास्तुकला में जैन मन्दिरों के शैलीगत विकासक्रम पर प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न -

प्रश्न 1. जैन मुनियों ने साधना के लिए कैसे स्थानों का चयन किया और क्यों?

प्रश्न 2. जैन मन्दिरों की कुछ प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. कंकाली टीला मथुरा/गिरनार में पाया गया।
2. मथुरा में खुदाई से जैन स्तूप/अभिलेख/स्तूप और अभिलेख दोनों मिले हैं।
3. प्राचीन जैन गुफाएँ .... पहाड़ियों में मिली हैं।
4. उड़ीसा के उदयगिरि में .... गुफा है।
5. सम्राट् खारवेल का अभिलेख .... गुफा में मिला है।
6. सम्राट् चन्द्रगुप्त ने श्रवणवेलगोला की उस पहाड़ी पर तपश्चर्या की जिसका नाम ..... है।
7. गुफा निर्माण की कला .... में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होती है।
8. सबसे पुराने जैन मन्दिर के चिन्ह मथुरा/पटना में मिले हैं।
9. ऐहोल शिलालेख का काल 556 ई./634 ई. है।
10. अजन्ता/खजुराहो में प्राचीन जैन मन्दिर पाए गये हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–4 : खण्ड ग – जैन साहित्य का इतिहास

इकाई–13 : आगम साहित्य

संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 दिगम्बर जैन आगम
13.3 श्वेताम्बर जैन आगम
13.4 अर्धमागधी जैनागम (श्रुतांग–11)
13.5 उपांग
13.6 छेदसूत्र
13.7 मूलसूत्र
13.8 प्रकीर्णक
13.9 चूलिका सूत्र
13.10 अर्द्धमागधी भाषा
13.11 सूत्र या सूक्त
13.12 सारांश
13.13 अभ्यास प्रश्नाली

13.0 प्रस्तावना

पूर्वकाल म. श्वेताम्बर और दिगम्बरा. म. कोई मतभेद नहीं था, दोना. ही ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुयायी थे। महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी को दोना. ही सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं, आचार्य भद्रबाहु को भी मानते हैं।[1] ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी म. मथुरा म. जो जैन शिलालेख मिले हैं, उनसे भी यही ज्ञात होता है कि उस समय तक श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय भेद का आविर्भाव नहीं हुआ था।[2] इसके सिवाय दोना. सम्प्रदाया. के उपलब्ध साहित्य मे. प्राचीन परम्परागत विषय और गाथाआ. आदि की समानता पाई जाती है। उदाहरण के लिए भगवती आराधना और मूलाचार का प्रतिपाद्य विषय और गाथाएं संथारग, भत्तपरिण्णा, मरणसमाही, पिण्डनिर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति और बृहत्कल्पभाष्य आदि के विषय और गाथाआ. के साथ अनेक स्थला. पर अक्षरशः मिलते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि दोना. सम्प्रदाया. का सामान्य स्रोत एक ही था। लेकिन आगे चलकर ई. सन् की प्रथम शताब्दी के आस–पास, विशेष करके अचेलत्व के प्रश्न को लेकर दोना. म. मतभेद हो गया। आगे चलकर आगमा. को स्वीकार करने के सम्बन्ध म. भी दोना. की मान्यताएं पृथक् हो गईं।

13.1 उद्देश्य

आगम साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने के लिए इनके दो भाग किए गये हैं – 1. दिगम्बर जैन आगम, 2. श्वेताम्बर जैन आगम।

1. दिगम्बर-परम्परा के अन्त म. जम्बूस्वामी के पश्चात् विष्णुनन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु का नाम लिया जाता है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा म. प्रभवस्वामी, शय्यंभवसूरि, यशोभद्रसूरि, संभूतविजयसूरि और भद्रबाहुस्वामी का नाम है।
2. श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार महावीर-निर्वाण के 609 वर्ष पश्चात् शिवभूति ने रथवीरपुर नगर म. वोटिक (दिगम्बर) मत की स्थापना की (देखिए, आवश्यकभाष्य 145 आदि; आवश्यकचूर्णी, पृष्ठ 427 आदि)।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.2 दिगम्बर जैन आगम

दिगम्बर आचार्य देवसेन के मतानुसार राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के 136 वर्ष बाद वलभी नगर म. श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इस सम्बन्ध म. एक दूसरी भी मान्यता है। उज्जैनी म. चन्द्रगुप्त के राज्यकाल म. भद्रबाहु के शिष्य विशाखाचार्य अपने संघ को लेकर पुन्नाट चले गए, तथा रामिल्ल, स्थूलभद्र और भद्राचार्य सिन्धुदेश म. विहार कर गए। जब सब लोग उज्जैनी लौटकर आए तो वहां दुष्काल पड़ा हुआ था। इस संघ के आचार्य ने नग्नत्व ढांकने के लिए अर्द्धफालक धारण करने का आदेश दिया। लेकिन दुष्काल समाप्त होने के पश्चात् इसकी कोई आवश्कता न समझी गई। फिर भी कुछ लोगा. ने अर्द्धफालक का त्याग नहीं किया। इसी समय से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। देखिए हरिषेण, बृहत्कथाकोश 131; देवसेन दर्शनसार; भट्टारक रत्ननन्दि, भद्रबाहुचरित। मथुरा शिलालेखा. के लिए देखिए, आर्क्रियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, जिल्द 3, प्लेट्स 13–14, बुहलर, द इण्डियन सेक्ट ऑव द जैन्स, पृ.42–60; विएना ओरिएण्टल जरनल, जिल्द 3 और 4 म. बुहलर का लेख।

दिगम्बर सम्प्रदाय म. श्वेताम्बर परम्परा द्वारा स्वीकृत 45 आगमा. को मान्य नहीं किया गया। दिगम्बरा. के मतानुसार आगम–साहित्य विच्छिन्न हो गया है। लेकिन दिगम्बर ग्रन्था. म. प्राचीन आगमा. का नामोल्लेख मिलता है। जैसे श्वेताम्बरीय नन्दिसूत्र म. आगमा. की गणना म. 12 उपांगा. का उल्लेख नहीं है वैसे ही दिगम्बर परम्परा म. भी उपांगा. को आगमा. म. नहीं गिना गया है। डॉ. जगदीशचंद जैन ने अपने 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' में लिखा है– श्वेताम्बरा. की भांति दिगम्बरा. के द्वादशांग आगम की रचना गणधरा. द्वारा अर्द्धमागधी म. की गई थी। दोना. ही सम्प्रदाय बारहव. अंग दृष्टिवाद के पांच भेद स्वीकार करते हैं जिनम. 14 पूर्वों का अन्तर्भाव होता है। श्वेताम्बरा. का आगम–साहित्य अर्द्धमागधी म. लिखा गया है, जबकि दिगम्बरा. के प्राचीन साहित्य की भाषा शौरसेनी मानी जाती है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार आगमा. के दो भेद हैं– अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के 14 भेद हैं– सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका (णिसिहिय)। अंग प्रविष्ट के बारह भेद हैं– आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नायधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद के पांच अधिकार हैं– परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। परिकर्म के पांच भेद हैं– चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।[1] सूत्र अधिकार म. जीव तथा त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का वर्णन है। प्रथमानुयोग म. पुराणा. का उपदेश है। पूर्वगत अधिकार म. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का कथन है; इनकी संख्या 14 है।[2] चूलिका के पांच भेद हैं।[3] जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशांग आगम का उच्छेद हो गया है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश बाकी बचा है जो षट्खण्डागम [4] के रूप म. मौजूद है। दिगम्बर सम्प्रदाय म. प्रकारान्तर से जैन आगम को चार भागा. म. विभक्त किया गया है—1. प्रथमानुयोग म. रविषेण का पद्मपुराण, जिनसेन का हरिवंशपुराण और आदिपुराण तथा जिनसेन के शिष्य गुणभद्र का उत्तरपुराण का अन्तर्भाव हुआ है; 2.करणानुयोग म. सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जयधवला का अन्तर्भाव होता है;

---

1. चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि प्रथम चार आगमा. का श्वेताम्बर सम्प्रदाय के उपांगा. म. अन्तर्भाव होता गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति को पांचवां अंग स्वीकार किया गया है।
2. ग्यारहव. पूर्व को श्वेताम्बर परम्परा म. अवंझ (अवंध्य) और दिगम्बर परम्परा म. कल्लाणवाद कहा है। कहीं पूर्वों के अन्तर्गत वस्तुआ. की संख्या म. भी दोना. म. मतभेद हैं।
3. श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार चूलिकाआ. का पूर्वों म. समावेश हो जाता है। दिगम्बरा. के अनुसार उनका पूर्वों से कोई सम्बन्ध नहीं।
4. दिगम्बर परम्परा म. षट्खण्डागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सम्बन्ध सीधा महावीर के द्वादशांग वाणी से बताया जाता है, शेष समस्त श्रुतज्ञान क्रमश: विलुप्त और छिन्न हुआ माना जाता है। विशेष के लिए देखिए, डॉ. हीरालाल जैन, षट्खण्डागम की प्रस्तावना, भाग–1

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.द्रव्यानुयोग म. कुन्दकुन्द की रचनाएं प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार आदि तथा उमास्वामि की तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएं, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा और उसकी टीकाआ. का समावेश होता है; 4. चरणानुयोग म. वट्टकेर का मूलाचार और त्रिवणी चार तथा समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का अन्तर्भाव होता है ।[1]

13.2.1 छक्खण्डागम (षट्खण्डागम) का महत्त्व

षट्खण्डागम को संतकम्मपाहुड (सत्कर्मप्राभृत)[2] खण्डसिद्धान्त अथवा षट्खण्डसिद्धान्त भी कहा गया है। भगवान् महावीर का उपदेश उनके गणधर गौतम इन्द्रभूति ने द्वादशांग के रूप म. निबद्ध किया। महावीर निर्वाण के 683 वर्ष बाद तक अंगज्ञान की प्रवृत्ति जारी रही, तत्पश्चात् गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक रूप से दिया जाता हुआ यह उपदेश क्रमशः विलुप्त हो गया। इस द्वादशांग का कुछ अंश गिरिनगर (गिरनार, काठियावाड़) की चन्द्रगुफा म. ध्यानमग्न आचारांग के पूर्ण ज्ञाता धरसेन आचार्य को स्मरण था। यह सोचकर कि कहीं श्रुतज्ञान का लोप न हो जाए, धरसेन ने महिमानगरी के मुनि-सम्मेलन को पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप आन्ध्रप्रदेश से पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो मुनि उनके पास पहुंच गए। धरसेन आचार्य ने अपने इन मेधावी शिष्या. को दृष्टिवाद के अन्तर्गत पूर्वों और विआहपन्नति के कुछ अंशा. की शिक्षा दी। धरसेन मन्त्रशास्त्र के भी बड़े पण्डित थे। उन्हा.ने जोणिपाहुड नामक ग्रन्थ कूष्माण्डिनीदेवी से प्राप्त कर उसे पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा था। धरसेन का समय ईसवी सन् की पहली और दूसरी शताब्दी के बीच माना जाता है। आगे चलकर इन्हीं पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की पुष्पदन्त ने 177 सूत्रा. म. सत्प्ररूपणा और भूतबलि ने 6000 सूत्रा. म. शेष ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार चौदह पूर्वों के अन्तर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्व के महाकर्मप्रकृति नामक चतुर्थ पाहुड अधिकार के आधार से षट्खण्डागम के बहुभाग का उद्धार किया गया।

13.2.2 षट्खण्डागम की टीकाएं

षट्खण्डागम जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर समय-समय पर अनेक टीकाएं लिखी गईं। इनम. कुन्दकुन्दाचार्य कृत परिकर्म, शामकुण्डकृत पद्धति, तुम्बुलूराचार्यकृत चूडामणि, समन्तभद्रस्वामीकृत टीका और वप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीकाएं मुख्य हैं। इन टीकाकारा. का समय क्रमशः ईसवी सन् के लगभग दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी शताब्दी माना जाता है। दुर्भाग्य से ये सभी टीकाएं अनुपलब्ध हैं। षट्खण्डागम पर सबसे महत्त्वपूर्ण टीका धवला है जिसके रचयिता आचार्य वीरसेन हैं। इस टीका के कारण ही यह समस्त ग्रन्थ धवलसिद्धान्त के नाम से कहा जाने लगा। आदिपुराण के कर्ता सुप्रसिद्ध जिनसेन आचार्य इनके शिष्य थे। जिनसेन ने अपने गुरु की सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को बहुत सराहा है। वीरसेन ने वप्पदेवगुरु की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका के आधार से चूर्णिया. के ढंग की प्राकृत और संस्कृत मिश्र 72 हजार श्लोकप्रमाण धवला नाम की टीका लिखी। टीकाकार की लिखी प्रशस्ति के अनुसार शक संवत् 738 (सन् 816) म. यह टीका वाटग्रामपुर म. लिखकर समाप्त हुई। इस प्रशस्ति म. टीकाकार ने पंचस्तूप अन्वय का, विद्यागुरु एलाचार्य का और दीक्षागुरु आर्यनन्दि का उल्लेख किया है। धवला टीका के कर्त्ता वीरसेन बहुश्रुत विद्वान थे और उन्हा.ने दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों के विशाल साहित्य का आलोड़न किया था। सत्कर्मप्राभृत, कषायप्राभृत, सन्मतिसूत्र, त्रिलोकप्रज्ञप्तिसूत्र, पंचत्थिपाहुड, गृद्धपिच्छ आचार्य का तत्त्वार्थसूत्र, आचारांग (मूलाचार), पूज्यपादकृत सारसंग्रह, अकलंककृत तत्त्वार्थभाष्य, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्मप्रवाद और दशकर्णीसंग्रह आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त-ग्रन्था. का उल्लेख वीरसेन की टीका म. उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य आचारांग, बृहत्कल्पसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, अनुयोगद्वार और आवश्यकनिर्युक्ति आदि की गाथाएं भी इसम. उद्धृत हैं बृहत्कल्पसूत्रगत (1.1) 'तालपलंब' सूत्र का यहां उल्लेख है। इसके साथ ही टीकाकार ने जगह-जगह उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति नाम की मान्यताआ. का उल्लेख करते हुए दक्षिणप्रतिपत्ति को ऋजु और आचार्य-परम्परागत तथा उत्तरप्रतिपत्ति को अनृजु और आचार्य-परम्परा के बाह्य बताया है।

1. श्वेताम्बर सम्प्रदाय म. चरणकरणानुयोग म. कालिकश्रुत, धर्मानुयोग म. ऋषिभाषित, गणितानुयोग म. सूर्यप्रज्ञप्ति और द्रव्यानुयोग म. दृष्टिवाद आदि के उदाहरण दिए हैं; उत्तराध्ययनचूर्णी, पृष्ठ 1.
2. पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने छक्खण्डागम से संतकम्मपाहुड को भिन्न माना है, जैन साहित्य का इतिहास 1, पृ. 54 आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सूत्र-पुस्तका. के भिन्न-भिन्न पाठा. और मतभेदा. का उल्लेख करते हुए यथाशक्ति उनका समाधान किया गया है। नागहस्ति के उपदेश को यहां पवाइज्जंत अर्थात् आचार्य-परम्परागत तथा आर्यमंक्षु के उपदेश को अपवाइज्जमाण कहा है। इससे इन दोना. महान् आचार्यों के मतभेद का सूचन होता है। कषायप्राभृत के प्रकाण्ड पण्डित इन दोना. आचार्यों को महावाचक कहा गया है।

13.2.3 षट्खण्डागम के छह खण्ड

षट्खण्डागम के छह खण्ड हैं। पहले खण्ड का नाम जीवट्ठाण है। इसम. सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाएं हैं। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाआ. म. गुणस्थाना. और मार्गणाआ. का वर्णन है। दूसरा खण्ड खुद्दाबन्ध (क्षुल्लकबन्ध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं। यहां ग्यारह प्ररूपणाआ. द्वारा कर्मबन्ध करने वाले जीव का कर्मबन्ध के भेदा. सहित वर्णन है। तीसरा खण्ड बन्धस्वामित्वविचय है। यहां कर्म सम्बन्धी विषया. का कर्मबन्ध करने वाले जीव की अपेक्षा से वर्णन है। चौथा खण्ड वेदना है। इसम. कृत और वेदना नाम के दो अनुयोगद्वार हैं; वेदना के कथन की यहां प्रधानता है। पांचव. खण्ड का नाम वर्गणा है। इस खण्ड का प्रधान अधिकार बन्धनीय है जिसम. 23 प्रकार की वर्गणाआ. का वर्णन है। छठे खण्ड का नाम महाबन्ध है। भूतबलि ने पुष्पदन्त रचित सूत्रा. को मिलाकर, पांच खण्डा. के 6000 सूत्र रचने के पश्चात् महाबन्ध की तीस हजार श्लोकप्रमाण रचना की। इसी ग्रन्थराज को महाधवल के नाम से जाना जाता है। यहां प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धा. का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है।

वीरसेन आचार्य ने इन छह खण्डा. पर 72 हजार श्लोकप्रमाण धवला टीका की रचना की। आगे चलकर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने षट्खण्डागम के उक्त खण्डा. के आधार से गोम्मटसार लिखा जिसे जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड नाम के दो विभागा. म. विभक्त किया गया है। रचना की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तीन भागा. म. विभक्त किया जा सकता है। पहले पुष्पदन्ताचार्य के सूत्र फिर वीरसेन आचार्य की धवला टीका और फिर इस टीका म. उद्धृत गद्य और पद्यमय प्राचीन उद्धरण। पुष्पदन्त के सूत्रा. की संख्या 177 है जिनकी भाषा प्राकृत है। धवला टीका का लगभग तीन-चौथाई भाग प्राकृत म. और शेष भाग संस्कृत म. है। टीका की भाषा मुख्यतया शौरसेनी है। इसकी शैली परिमार्जित और प्रौढ़ है।

13.2.4 कषायपाहुड (कषायप्राभृत)

आचार्य धरसेन के समय के आसपास गुणधर नाम के एक और आचार्य हुए, उन्ह. भी द्वादशांगश्रुत का कुछ ज्ञान था। इन्हा.ने कषायप्राभृत नाम के द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। आर्यमंक्षु और नागहस्ति[1] ने इस ग्रन्थ का व्याख्यान किया तथा आचार्य यतिवृषभ ने इस पर चूर्णिसूत्र लिखे। कषायप्राभृत के ऊपर भी वीरसेन ने टीका लिखी, किन्तु वे उसे 20 हजार श्लोकप्रमाण लिखकर ही बीच म. स्वर्गवासी हो गए। इस महान् कार्य को उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य जिनसेन ने ईसवी सन् 837 म. पूर्ण किया। यही टीका जयधवला[2] के नाम से कही जाती है; सब मिलाकर यह साठ हजार श्लोकप्रमाण है। जान पड़ता है कि कषायप्राभृत के टीकाकार वीरसेन और जिनसेन के समक्ष आर्यमंक्षु और नागहस्ति नामक दोना. आचार्यों के अलग-अलग व्याख्यान मौजूद थे; उन्हा.ने अनेक स्थला. पर उन दोना. के मतभेदा. का उल्लेख किया है।

13.2.5 महाबन्ध

महाबन्ध को महाधवल के नाम से भी कहा गया है। यह ग्रन्थ षट्खण्डागम का ही छठा खण्ड है, जिसकी रचना आचार्य भूतबलि ने की है। इसका मंगलाचरण भी पृथक् न होकर षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड वेदना आदि म. उपलब्ध मंगलाचरण से ही सम्बद्ध है। फिर भी यह महान् कृति स्वतन्त्र कृति के रूप म. उपलब्ध होती है। इसका एक तो कारण यह है कि यह पूर्वोक्त पांच खण्डा. से बहुत विशाल है, दूसरे इस ग्रन्थराज पर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई, इसलिए धवलाकार आचार्य वीरसेन ने इस पर टीका नहीं लिखी। इसकी रचना 40 हजार श्लोकप्रमाण है। महाबन्ध सात भागा. म. है।[3] प्रथम

1. श्वेताम्बरा. की नन्दीसूत्र की स्थविरावली म. पहले आर्यमंक्षु, आर्यनन्दि और उसके बाद आर्य नागहस्ति का नाम आता है। तथा देखिए पण्डित कैलासचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास 1, पृष्ठ 12 आदि।
2. खण्ड (1.13) पण्डित कैलाशचन्द्रजी द्वारा सम्पादित, जैन संघ, मथुरा द्वारा 1948-1974 म. प्रकाशित।
3. मूल एवं पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद, सात भागा. म., भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1947-1958.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पुस्तक म. प्रकृति बन्ध नाम के प्रथम अधिकार का सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्ट बन्ध, अनुत्कृष्ट बन्ध आदि अधिकारा. म. प्ररूपण किया गया है। दूसरी पुस्तक म. स्थिति बन्ध अधिकार का प्ररूपण है। इसके दो मुख्य अधिकार हैं– मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध के मुख्य अधिकार चार हैं– स्थितिबधस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व। आगे चलकर अद्धाच्छेद, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध आदि अधिकारा. के द्वारा मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध का विचार किया गया है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध का विचार भी इसी प्रक्रिया से किया है। तीसरी पुस्तक म. स्थितिबन्ध के शेष भाग का प्ररूपण चालू है। बन्धसन्निकर्ष नाना जीवा. की अपेक्षा भंगविचय, भागाभागप्ररूपणा, परिमाणप्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, भावप्ररूपणा और अल्पबहुत्व नामक अधिकार के द्वारा विषय का विवेचन किया गया है। चौथी पुस्तक म. अनुभागबन्ध अधिकार का प्ररूपण किया है।मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध की अपेक्षा यह दो प्रकार का है। इनका निषेकप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा आदि अधिकारा. द्वारा विवेचन किया है। पांचवीं पुस्तक म. अनुभागबन्ध अधिकार के शेष भाग का प्ररूपण है। सन्निकर्ष, भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन आदि प्ररूपणाआ. द्वारा इसका विवेचन किया गया है। छठी पुस्तक म. प्रदेशबन्ध नाम के अधिकार का विवेचन है। इसम. प्रत्येक समय म. बन्ध को प्राप्त होने वाले मूल और उत्तरकर्मों के प्रदेशा. के आश्रय से मूलप्रकृतिप्रदेशबन्ध और उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्ध का विचार किया गया है। अनेक अनुयोगद्वारा. के द्वारा इनका प्ररूपण किया है। महाबन्ध की सातवीं पुस्तक म. प्रदेशबन्ध अधिकार के शेष भाग का निरूपण है। इसम. क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, भावप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, मुत्कीर्तना, स्वामित्व, अल्पबहुत्व, वृद्धिबन्ध, अध्यवसान समुदाहार और जीवसमुदाहार नामक अधिकारा. के द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार सात पुस्तका. म. महाबन्ध समाप्त होता है। महाबन्ध के समाप्त हाने से षट्खण्डागम के छहा. खण्डा. की समाप्ति हो जाती है।

13.2.6 तिलोयपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)

कषायप्राभृत पर चूर्णिसूत्रा. के रचयिता यतिवृषभ आचार्य की दूसरी रचना त्रिलोकप्रज्ञप्ति[1] है। करणानुयोग का यह प्राचीन ग्रन्थ प्राकृतभाषा म. लिखा गया है जो आठ हजार श्लोकप्रमाण है। इसम. त्रिलोक सम्बन्धी विषय का वर्णन है। यह ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य के प्राचीनतम श्रुतांग से सम्बन्ध रखता है।धवला टीका म. इस ग्रन्थ के अनेक उद्धरणा. का उल्लेख है। ग्रन्थकर्ता को त्रिलोकप्रज्ञप्ति के विषय का ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ म. अग्रायणी, संगोयणी, संग्रायणी, दृष्टिवाद, परिकर्म, मूलाचार, लोकविभाग और लोकविनिश्चय नामक प्राचीन ग्रन्था. और उनके पाठान्तरा. का उल्लेख मिलता है। अनेक मतभेदा. का निर्देश यहां किया गया है। इस ग्रन्थ का विषय श्वेताम्बर आगमा. के अन्तर्गत सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा दिगम्बरीय धवला, जयधवला टीका और त्रिलोकसार आदि प्राकृत के ग्रन्था. से मिलता–जुलता है। लोकविभाग, मूलाचार, भगवती आराधना, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार आदि प्राचीन ग्रन्था. और तिलोयपण्णत्ति की बहुत–सी गाथाएं समान हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ सामान्यलोक, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धान्तलोक नामक नौ महाधिकारा. म. विभाजित है। मुख्य रूप से इन अधिकारा. म. भूगोल और खगोल का वर्णन है; प्रसंगवश जैन–सिद्धान्त, पुराण और इतिहास आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रथम महाधिकार म. 283 गाथाएं और 3 गद्यभाग हैं। क्षेत्रमंगल के उदाहरण म. पावा, ऊर्जयन्त और चम्पा आदि तीर्थों का उल्लेख है। अठारह श्रेणिया. म. हस्ति, तुरग, रथ और इनके अधिपति, सेनापति, पदाति, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर, गणराज, मन्त्री, तलवर (कोतवाल), पुरोहित, अमात्य और महामात्य के नाम गिनाए हैं। अर्थागम के कर्ता महावीर भगवान् के शरीर आदि का

1. डॉक्टर ए.एन.उपाध्ये और डॉक्टर हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित; जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुर म. सन् 1943 और 1951 म. दो भागा. म. प्रकाशित।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वर्णन करते हुए 18 प्रकार की महाभाषा और 700 शूद्र भाषाआ. का उल्लेख है। राजगृह म. विपुल, ऋषिशैल, वैभार, छिन्न और पाण्डु नाम के पांच शैला. [1] का उल्लेख है। त्रिलोक की मोटाई, चौड़ाई और ऊंचाई का वर्णन दृष्टिवाद नामक सूत्र के आधार से किया बताया गया है। दूसरे महाधिकार म. 367 गाथाएं हैं जिनमें नरकलोक के स्वरूप का वर्णन है। तीसरे महाधिकार में 243 गाथाएँ हैं, जिनम. भवनवासिया. के लोक का स्वरूप बताया है। भवनवासी देवा. के प्रासादा. म. जन्मशाला, अभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, परिचर्यागृह (ओलग्गशाला) और मन्त्रशाला आदि शालाआ. तथा सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह और लतागृह आदि का वर्णन है। अश्वत्थ (पीपल), सप्तपर्ण, शाल्मलि, जम्बू, वेतस, कदम्ब, प्रियंगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुम नाम के दस चैत्यवृक्षा. का उल्लेख है। चौथा महाधिकार सबसे बड़ा है, उसम. 2961 गाथाआ. म. मनुष्यलोक का स्वरूप प्रतिपादित है। यहां विजयार्ध दक्षिण और उत्तर श्रेणिया. म. अवस्थित नगरिया. का उल्लेख है। आठ मंगलद्रव्या. म. भृंगार (झारी), कलश, दर्पण, व्यंजन, ध्वजा, छत्र, चमर और सुप्रतिष्ठ (एक पात्र) के नाम गिनाए गए हैं। भोगभूमि म. स्थित दश कल्पवृक्षा. का वर्णन हैं। स्त्री और पुरुषा. के आभूषणा. का उल्लेख है। भोग भूमि म. उत्पन्न होने वाले युगल नर-नारिया. का वर्णन हैं। चौबीस तीर्थंकरा. की जन्मभूमि, नक्षत्र और उनकी आयु आदि का उल्लेख है। नेमि, मल्लि, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ द्वारा कुमार अवस्था म. तथा शेष तीर्थंकरा. द्वारा राज्य के अन्त म. तप स्वीकार करने का उल्लेख है।[2] महावीर भगवान के निर्वाण प्राप्त कर लेने पर गौतम स्वामी को, गौतम के निर्वाण प्राप्त करने पर सुधर्मास्वामी को और सुधर्मास्वामी के निर्वाण प्राप्त करने पर जम्बूस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। मुक्तिगामिया. म. अन्तिम श्रीधर, चारण ऋषिया. म. अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र, प्रज्ञाश्रमणा. म. अन्तिम वज्रयश, अवधिज्ञानिया. म. अन्तिम श्रीनामक और मुकुटधर जिनदीक्षाधारका. म. अन्तिम चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। सामान्य भूमि का प्रमाण, सोपाना. का प्रमाण, विन्यास, वीथि, धूलिशाल, चैत्य-प्रासादभूमियाँ, नृत्यशाला, मानस्तंभ, वेदी आदि 31 अधिकारा. म. समवसरण का वर्णन किया है। तीर्थंकरा. के अतिशया. का प्रतिपादन है। यक्षा. म. गोवदन, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुंबुरव, मातंग, विजय, अजित, ब्रह्म आदि तथा यक्षिणिया. म. चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, अप्रतिचक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, ज्वालामालिनी, कूष्मांडी आदि के नाम गिनाए हैं। आठ प्रकार की ऋद्धियाँ बताई हैं। चतुर्दशपूर्वधारी, दशपूर्वधारी, एकादश अंगधारी और आचारांगधारिया. का वर्णन हैं। क्वचित् सूक्तियाँ भी दिखाई दे जाती हैं-

अंधो णिवडइ कूवे बहिरो ण सुणेदि साधु उवदेसं ।
पेच्छंतो णिसुणंतो णिरए जं पडइ तं चोज्जं ॥

अंधा कूप म. गिर जाता है और बहरा साधु का उपदेश नहीं सुनता, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य यही है कि जीव देखता और सुनता हुआ भी नरक म. जा पड़ता है। पांचवे महाधिकार म. 321 गाथाएं हैं, जिनम. गद्यभाग ही अधिक हैं। तिर्यग्लोक म. असंख्यात द्वीप समुद्र है। यहाँ जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखंड, कालोदसमुद्र, पुष्करवरद्वीप, नंदीश्वरद्वीप, कुण्डलवरद्वीप, स्वयंभूरमणद्वीप आदि के विस्तार, क्षेत्रफल आदि का वर्णन है। छठे महाधिकार म. 103 गाथाएं हैं, जिनम. 17 अंतराधिकारा. द्वारा व्यंतर देवा. के निवास-क्षेत्र, उनके भेद, चिह्न, कुलभेद, नाम, इन्द्र, आयु, आहार आदि का प्ररूपण है। सातव. महाधिकार म. 619 गाथाएं हैं। इनम. ज्योतिष्क देवा. के निवासक्षेत्र, उनके भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, उत्सेध, अवधिज्ञान, शक्ति आदि का विस्तार से प्रतिपादन है। आठव. अधिकार म. 703 गाथाएं हैं जिनम. वैमानिक देवा. के निवासक्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, विमानसंख्या, इन्द्रविभूति, गुणस्थान सम्यक्त्वग्रहण के कारण आदि का अध्ययन किया गया है। नौव. महाधिकार म. सिद्धा. के क्षेत्र, उनकी संख्या, अवगाहना और सुख का प्ररूपण है।

---

1. बौद्धा. के सुत्तनिपात की अट्ठकथा (2, पृष्ठ 382) म. पण्डव, गिज्झकूट, वैभार, इसिगिलि और वेपुल्ल नाम के पांच पर्वता. का उल्लेख है। महाभारत (2, 21, 2) में वैहार, वाराह, ऋषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक का उल्लेख है।
2. णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य ।
   पासो वि य गहिदतवा सेसज्जिणा रज्जचरमम्मि ।। तिलोयपण्णत्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.2.7 पंचास्तिकाय–प्रवचनसार–समयसार

दिगम्बर सम्प्रदाय म. भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का नाम लिया जाता है। इन्ह. पद्मनन्दि, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ के नाम से भी कहा है। लेकिन इनका वास्तविक नाम पद्मनन्दि जान पड़ता है और कोण्डकुण्ड के निवासी होने के कारण ये कुन्दकुन्द नाम से कहे जाते थे। इनका समय ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास माना गया है; ये तीसरी–चौथी शताब्दी के जान पड़ते हैं।[1] कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार को नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय के नाम से भी कहा गया है। ये द्रव्यार्थिक नयप्रधान आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, इनम. शुद्ध निश्चयनय से वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द ने नियमयार, रयणसार, अष्टपाहुड और दश भक्ति की रचना की है।

पंचास्तिकाय[2] म. पांच अस्तिकाया. का वर्णन है। इस पर अमृतचन्द सूरि ने तत्त्व–दीपिका अथवा समयव्याख्या और जयसेन आचार्य ने तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत म. टीका लिखी है। ब्रह्मदेव की भी टीका है। पंचास्तिकाय म. 173 (जयसेन के अनुसार 181) गाथाएं हैं जो दो श्रुतस्कन्धा. म. विभाजित हैं। पहले श्रुतस्कन्ध म. षड्द्रव्य और पांच अस्तिकाया. का व्याख्यान है। यहां द्रव्य का लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण और पर्याय, काल द्रव्य का स्वरूप, जीव का लक्षण, सिद्धा. का स्वरूप,जीव और पुद्गल का बन्ध, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के लक्षण का प्रतिपादन किया है। दूसरे श्रुतस्कन्ध म. नौ पदार्थों के प्ररूपण के साथ मोक्षमार्ग का वर्णन है। पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यहां कथन है। प्रवचनसार[3] आचार्य कुन्दकुन्द की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर भी अमृतचन्द्रसूरि और जयसेन आचार्य की संस्कृत म. टीकाएं हैं। अमृतचन्द्र के अनुसार इसम. 275 और जयसेन के अनुसार 311 गाथाएं हैं। प्रभाचन्द्रकृत सरोजभास्कर टीका अप्रकाशित है। बालचन्द्र ने कन्नड़ म. टीका लिखी है। इस ग्रन्थ म. तीन श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध म. ज्ञान, द्वितीय श्रुतस्कन्ध म. ज्ञेय और तृतीय श्रुतस्कन्ध म. चारित्र का प्रतिपादन है। ज्ञान अधिकार म. आत्मा और ज्ञान का एकत्व और अन्यत्व, सर्वज्ञत्व की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोग तथा मोहक्षय आदि का प्ररूपण है। ज्ञेय अधिकार म. द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप, मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्या. के गुण, काल के द्रव्य और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीव का लक्षण, जीव और पुद्गल का सम्बम्ध, निश्चय और व्यवहारनय का अविरोध और शुद्धात्मा आदि का प्रतिपादन है। चारित्र अधिकार म. श्रामण्य चिह्न छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवादमार्ग, आगम ज्ञान का महत्त्व, श्रमण का लक्षण, मोक्ष तत्त्व आदि का प्ररूपण है। 'व्यवहारसूत्र' म. कुशल श्रमण के पास जाकर आलोचना करने का विधान है (212)। हिंसा का लक्षण बताते हुए कहा है –

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

जीव मरे या जीये, अयत्नपूर्वक आचरण करने वाले को हिंसा का दोष निश्चित लगता है। प्रयत्नशील समितियुक्त जीव को केवल बहिरंग हिंसा कर देने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता।

---

1. देखिए डॉ. उपाध्ये, प्रवचनसार की भूमिका, पृष्ठ 10–22.
2. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला म. अमृतचन्द्र और जयसेन की संस्कृत टीकाआ. तथा हेमराज पाण्डे के बालावबोध पर आधारित पन्नालाल वाकलीवाल के हिन्दी अनुवाद सहित सन्1904 म. बंबई म. प्रकाशित; सेक्रेड बुक ऑव जैन्स,जिल्द 3 म. प्रोफेसर ए.चक्रवर्ती के अंग्रेजी अनुवाद और भूमिका सहित सन्1920 म. आरा से प्रकाशित; पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1960.
3. अमृतचन्द्र और जयसेन की संस्कृत टीकाआ., हेमराज पाण्डे कृत वि. सं. 1709 म. लिखी हुई बालावबोधिनी(भाषाटीका), ए. एन. उपाध्ये के मूल अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावना के साथ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, सन् 1935; अगास, 1964 म. प्रकाशित।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समयसार[1] म. अमृतचन्द्र के अनुसार 415 और जयसेन के अनुसार 439 गाथाएं हैं। अमृतचन्द्र और जयसेन की इस पर टीकाएं हैं। अमृतचन्द्र की टीका आत्मख्याति कही जाती है। इसम. 236 पद्या. का एक कलश है। इस कलश पर शुभचन्द्र ने संस्कृत म. तथा रायमल्ल और जयचन्द्र ने हिन्दी म. अलग-अलग टीका लिखी है। अन्य टीकाकारा. म. प्रभाचन्द्र, नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र, विशालकीर्ति और जिनमुनि आदि के नाम मुख्य हैं। इसम. 10 अधिकार हैं। पहले अधिकार म. स्वसमय, परसमय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। दूसरे म. जीव-अजीव, तीसरे म. कर्मकर्त्ता, चौथे म. पुण्य-पाप, पांचवे म. आस्रव, छठे म. संवर, सातव. म. निर्जरा, आठव. म. बंध, नौव. म. मोक्ष और दसव. म. शुद्ध पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादन है।

13.2.8 नियमसार

नियमसार[2] म. 186 गाथाएं हैं, जिन पर पद्मप्रभ-मलधारिदेव ने ईसवी सन् 12वीं शताब्दी के मध्य म. तात्पर्यवृत्ति टीका लिखी है। पद्मप्रभ ने प्राभृतत्रय के टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि की टीका के श्लोक नियमसार की टीका म. उद्धृत किए हैं। इसम. सम्यक्त्व, आप्त, आगम, सात तत्त्व, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत 12 व्रत, 12 प्रतिमा, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति नामक षडावश्यक, निश्चय, आवश्यक, शुद्ध उपयोग आदि का विवेचन है। यहां आवश्यकनिर्युक्ति का उल्लेख है।

13.2.9 रयणसार

रयणसार म. 167 गाथाएं हैं।[3] यहां सम्यक्त्व को रत्नसार कहा गया है। इस ग्रन्थ के पढ़ने और श्रवण से मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है। एक उक्ति देखिए -

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं ।
वेरग्गविणा एदे दोवारिया भणिया ॥

भक्ति के बिना विनय, स्नेह के बिना महिलाआ. का रोदन और वैराग्य के बिना त्याग ये तीना. विडम्बनाएं हैं।

एक उपमा देखिए -

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउं ।
मूढ़ो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ॥

जैसे श्लेष्म में लिपटी हुई मक्खी तत्काल ही मर जाती है, उसी प्रकार परिग्रह से युक्त लोभी, मूढ़ और अज्ञानी मुनि कायक्लेश का ही भाजन होता है।

---

1. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला म. अमृतचन्द्र और जयसेन की संस्कृत टीकाआ. के साथ सन् 1919 म. बंबई से प्रकाशित; सेक्रेड बुक्स ऑफ द जैन्स,जिल्द 8 म. जे. एल. जैनी के अंग्रेजी अनुवाद सहित सन् 1930 म. लखनऊ से प्रकाशित; प्रोफेसर ए.चक्रवर्ती ने मूल और अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति (समयसार-कलश) का अंग्रेजी म. अनुवाद, मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला, 1950; पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर,1960.

2. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से सन् 1916 म. प्रकाशित। पद्मप्रभ मलधारिदेव कृत संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने किया है, वीर निर्वाण संवत् 2498 म. दिल्ली से प्रकाशित। उग्रसेन द्वारा संपादित, अंग्रेजी अनुवाद सहित, सेक्रेड बुक्स आव द जैन्स, आरा, 1931.

3. कपिलभाई टी. कोटड़िया द्वारा गुजराती लिपि म. हिम्मतनगर, 1967 म. प्रकाशित; क्षुल्लक ज्ञानसागरजी, दिल्ली, 1964.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.2.10 अष्टपाहुड

कुन्दकुन्द के षट्प्राभृत[1] म. दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड और मोक्खपाहुड नाम के छह प्राभृता. का अन्तर्भाव होता है। इनम. लिंग और सीलपाहुड मिला देने से आठ पाहुड हो जाते हैं। इन पर आचार्य श्रुतसागर ने टीका लिखी है। श्रुतसागर विद्यानन्दि भट्टारक के शिष्य थे और वे कलिकालसर्वज्ञ, उभयभाषाचक्रवर्ती आदि पदविया. से विभूषित थे। दंसणपाहुड की टीका म. श्रुतसागर आचार्य ने गोपुच्छिक, श्वेतवास, द्राविड़, यापनीयक और निप्पिच्छ नाम के पांच जैनाभासा. का उल्लेख किया है। सुत्तपाहुड म. आचार्य कुन्दकुन्द ने नग्नत्व को ही मोक्ष का मार्ग बताया है। भावपाहुड म. बाहुबलि,मधुपिङ्गल, वशिष्ठ मुनि, द्वीपायन, शिवकुमार, भव्यसेन और शिवभूति के उदाहरण दिए हैं। आत्महित को यहां मुख्य बताया है-

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥[2]

जब तक जरावस्था आक्रान्त नहीं करती, रोग रूपी अग्नि देह रूपी कुटिया को नहीं जला देती, और इन्द्रिया. की शक्ति क्षीण नहीं हो जाती, तब तक आत्महित करते रहना चाहिए।

योगी के सम्बन्ध म. मोक्खपाहुड म. कहा है -

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥

- जो योगी व्यवहार म. सोता है वह स्वकार्य म. जाग्रत रहता है, जो व्यवहार म. जाग्रत रहता है वह स्वकार्य म. सोता रहता है।

लिंगपाहुड म. 22 और सीलपाहुड म. 40 गाथाएं हैं। सीलपाहुड म. दशपूर्वी सात्यकिपुत्र का दृष्टान्त दिया है।

13.2.11 बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)

कुन्दकुन्द की बारस अणुवेक्खा (द्वादश अनुप्रेक्षा) म. 91 गाथाएं हैं; अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म- इन बारह भावनाआ. का विवेचन है।[3]

13.2.12 दसभत्ति (दशभक्ति)

दशभक्ति म. पंचनमस्कार, तीर्थंकर, सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी अथवा अनगार, आचार्य, निर्वाण, पंचगुरु, नन्दीश्वर और शान्ति की भक्ति की गई है। इसका अधिकांश भाग पद्य म. है, कुछ अंश गद्य म. भी है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के

---

1. षट्प्राभृतादिसंग्रह,पं.पन्नालाल सोनी द्वारा सम्पादित,माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला म. वि.स.1977 म. प्रकाशित।इसम. षट्प्राभृत के साथ लिंगप्राभृत,शीलप्राभृत,रयणसार और बारह अणुवेक्खा का भी संग्रह है।अष्टपाहुड मूल,गुजराती अनुवाद सहित हिम्मतनगर,विसं.2025 म. प्रकाशित;मूल और गुजराती गद्य-पद्य अवतरण सहित श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,अगास,1970म. प्रकाशित,बोध पाहुड,शूब्रिंग,द्वारा संपादित क्लाइने श्रिफ्टेन,पृ.348से 354 तथापं.कैलाशचन्द्र शास्त्री, कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1960.

2. मिलाइये - जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समाचरे ॥ - दसवेयालिय, अध्याय 8 गा. 35

3. पं.मनोहरलाल गुप्त और नाथूराम प्रेमी द्वारा सं,बम्बई,1910;पण्डित कैलाशचन्द्रशास्त्री,कुन्दकुन्द-प्राभृत-संग्रह,1960;चन्द्रभाल त्रिपाठी और बंशीधर भट्ट,महावीर एण्ड हिज टीचिंग्स,बम्बई,1977.इसकी कुछ गाथाएं मूलाचार के आठव. अध्याय की गाथाआ. से मिलती हैं, देखिए ए.एन.उपाध्ये की प्रवचनसार की भूमिका,पृष्ठ 39की पाद-टिप्पणी।कार्तिकेय की कत्तिगेयाणुवेक्खा म. बारह भावनाआ. का विवेचन है।भगवती आराधना म.150गाथाआ. म. और मरणसमाहीपइण्णा म.70गाथाआ. म. बारह अनुप्रेक्षाआ. का विवेचन किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रतिक्रमणसूत्र, आवश्यकसूत्र और पंचसुत्त के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। नितथयरभत्ति तो दोना. सम्प्रदाया. म. समान है। दुर्भाग्य से दशभक्ति का कोई सुसम्पादित संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। प्रभाचन्द्र ने दशभक्तिया. पर टीका लिखी है; उन्हा.ने पूज्यपाद देवनन्दि को संस्कृत दशभक्ति और कुन्दकुन्द को प्राकृत दशभक्ति का रचयिता माना है। दशभक्ति का आरम्भ पंचणमोयार, मंगलसुत्त, लोगुत्तमासुत्त, सरणसुत्त और सामाइयसुत्त से होता है। तीर्थंकरभक्ति म. आठ गाथाआ. म. 24 तीर्थंकरा. को नमस्कार किया है। इसके बाद प्रतिक्रमण और आलोचना के सूत्र हैं। सिद्धभक्ति म. सिद्धा. और श्रुतभक्ति म. द्वादशांग श्रुत को नमस्कार किया गया है। चारित्रभक्ति म. सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातचारित्र नाम के पांच चारित्रा., तथा मुनिया. के मूलगुणा. और उत्तरगुणा. का उल्लेख है। योगिभक्ति म. अनगारा. का स्तवन है; उनकी ऋद्धिया. का वर्णन है। आचार्यभक्ति म. आचार्यों की स्तुति है। निर्वाणभक्ति म. अष्टापद, चम्पा, ऊर्जयन्त, पावा, सम्मेदशिखर, गजपंथ, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, सुवर्णगिरि, रेवातट, सिद्धिवरकूट, चूलगिरि, द्रोणगिरि, अष्टापद, मेढ़गिरि, कुंथलगिरि, कोटिशिला, रेसिंदगिरि, पोदनपुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, मथुरा, अहिछत्र, श्रीपुर, चन्द्रगुहा आदि तीर्थस्थाना. का उल्लेख है; इन स्थाना. से अनेक ऋषि-मुनिया. ने निर्वाण प्राप्त किया। पंचगुरुभक्ति म. पंच परमेष्ठिया. की स्तुति है। शेष भक्तिया. म. नन्दीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति के नाम आते हैं।

13.2.13 भगवती आराधना

भगवतीआराधना, आराधना अथवा मूलाराधना दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का एक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है।[1] इसम. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाआ. का विवेचन है। प्रधानतया मुनिधर्म का भी यहां वर्णन है। ध्यान रखने की बात है कि भगवतीआराधना की अनेक मान्यताएं दिगम्बर मुनिया. के आचार-विचार से मेल नहीं खातीं। उदाहरण के लिए रुग्ण मुनिया. के वास्ते अन्य मुनिया. द्वारा भोजन-पान लाने का यहां निर्देश है। इसी प्रकार विजहना अधिकार म. मुनि के मृत शरीर को जंगल म. छोड़ आने की विधि बताई गई है। श्वेताम्बरा. के कल्प, व्यवहार, आचारांग और जीतकल्प का भी उल्लेख यहां मिलता है। इसम. सब मिलाकर 2166 (अथवा 2170) गाथाएं हैं जो 40 अधिकारा. म. विभक्त हैं। भाषा इसकी प्राकृत अथवा जैन-शौरसेनी है। पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की हुई रचना के आधार पर पाणितलभोजी शिवार्य अथवा शिवकोटि ने इस आचार-प्रधान ग्रन्थ की रचना की है। भगवती-आराधना के रचनाकाल का ठीक पता नहीं लगा, लेकिन इसके विषय-वर्णन से यह ग्रन्थ उतना ही प्राचीन लगता है जितने श्वेताम्बरा. के आगम-ग्रन्थ हैं। आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य आदि श्वेताम्बरों के प्राचीन ग्रन्था. से भगवती आराधना की अनेक गाथाएं मिलती हैं, इससे भी इस ग्रन्थ की प्राचीनता सिद्ध होती है।[2] इस पर समय-समय पर अनेक प्राकृत और संस्कृत टीकाएं लिखी गई हैं। अपराजित सूरि- जो विजयाचार्य भी कहे जाते थे- उन्हा.ने भगवती आराधना पर विजयोदया अथवा आराधना टीका लिखी है। दशवैकालिक सूत्र पर भी इनकी विजयोदया नाम की टीका थी। अपराजितसूरि का समय ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के बाद माना गया है। दूसरी टीका सुप्रसिद्ध पण्डित आशाधरजी ने लिखी है जिसका नाम मूलाराधनादर्पण है।[3] आशाधरजी का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है। तीसरी टीका का नाम आराधनापंजिका है। इसकी हस्तलिखित प्रति भाण्डारकर संस्थान, पूना म. है; इसके लेखक का नाम अज्ञात है। चौथी टीका भावार्थदीपिका है; यह भी अप्रकाशित है। माथुरसंघीय अमितगति ने भगवतीआराधना का संस्कृत पद्या. म. अनुवाद किया है। पण्डित सदासुखजी काशलीवाल ने इस पर भाषावचनिका लिखी है। ग्रन्थ के आरम्भ म. 17 प्रकार के मरण बताए हैं, इनम. पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण को श्रेष्ठ कहा है। पण्डितमरण म. भक्तप्रतिज्ञामरण को प्रशस्त बताया है। लिंग अधिकार म. आचेलक्य,

1. प्राकृत म. आराधना सम्बन्धी और भी कई ग्रन्थ लिखे गए हैं, जैसे सोमसूरि का आराधनापर्यन्त, आराधनापंचक, अभयदेवसूरि का आराधनाकुलक, वीरभद्रसूरि की आराधनापताका, आराधनामाला आदि; ए.एन. उपाध्ये की बृहत्कथाकोश की भूमिका, पृष्ठ 48-9.
2. मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला म. वि.सं. 1989 म. बम्बई से प्रकाशित। दूसरा संस्करण मूलाराधना के नाम से अपराजित और आशाधर की टीकाआ. के साथ शोलापुर से सन् 1935 म. प्रकाशित; तथा अपराजित की विजयोदया टीका सहित कारंजा से 1935 में प्रकाशित। के. ओइतजेन्स (Oetjens), शिवार्याज मूलाराधना, हाम्बुर्ग, 1976; पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, शोलापुर, 1977.
3. पण्डित आशाधर ने अपनी टीका (पृष्ठ 643) म. भगवतीआराधना की एक प्राकृत टीका का उल्लेख किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लोच, देह के ममत्व का त्याग और प्रतिलेखन (मयूरपिच्छीका धारण करना) ये चार निर्ग्रन्थलिंग के चिह्न हैं। केश रखने के दोषा. का प्रतिपादन करते हुए लोच को ही श्रेष्ठ बताया है। अनियतविहार अधिकार म. नाना देशा. म. विहार करने के गुण प्रतिपादन करते हुए नाना देशा. के रीति-रिवाज, भाषा और शास्त्र आदि म. कुशलता प्राप्त करने का विधान है। भावना अधिकार म. तपोभावना, श्रुतभावना, सत्यभावना, एकत्वभावना और धृतिबलभावना का प्ररूपण है। सल्लेखना अधिकार म. सल्लेखना का निरूपण करते हुए बाह्य और अन्तर तपा. का प्रतिपादन है। साधुआ. के रहने योग्य वसति के लक्षण बताये हैं। भोजन की शुद्धता का विस्तार से वर्णन है; यहां उद्गम, उत्पादन आदि आठ दोषा. के निवारण का विधान है। कषाया. के त्याग का उपदेश है। अनुविशिष्ट शिक्षा अधिकार म. वैयावृत्य का उपदेश दिया है।

मार्गणा अधिकार म. आयार, जीत और कल्प का उल्लेख है। सुस्थिर अधिकार म. आचेलक्य,अनौद्देशिक आदि इस प्रकार का श्रमणकल्प(श्रमणा. का आचार) कहा है। आचेलक्य का समर्थन करते हुए यहां टीकाकार अपराजितसूरि ने आचारप्रणिधि(दशवैकालिक का आठवां अध्ययन) आचारांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, बृहत्कल्पसूत्र और उत्तराध्ययन नामक प्राचीन आगमा. के उद्धरण दिए हैं। आगम, आज्ञा, श्रुत, धारणा और जीत यह पांच प्रकार का व्यवहार बताया है, इसका विस्तार सूत्रा. म. निर्दिष्ट है। व्यवहारसूत्र की मुख्यता बताई गई हैं चौदह पूर्व और द्वादशांग के पदा. की संख्या का प्ररूपण है। आलोचना अधिकार म. आलोचना के गुण-दोषा. का विवेचन है। अनुशिष्टि अधिकार म. पंचनमस्कार मन्त्र का माहात्म्य है। अहिंसा आदि पांच महाव्रता. का प्ररूपण है।

ध्यान अधिकार म. चार प्रकार के ध्यान, लेश्या अधिकार म. छः लेश्याएं और भावना अधिकार म. 12 भावनाआ. का प्ररूपण है। यहां सुकोसल, गजसुकुमार, अन्निकापुत्र, भद्रबाहु, धर्मघोष, अभयघोष,विद्युच्चर, चिलातपुत्र आदि अनेक-अनेक मुनिया. और साधुआ. की परम्परागत कथाएं वर्णित हैं जिन्हा.ने उपसर्ग सहन कर सिद्धि प्राप्त की। विजहना नाम के चालीसव. अधिकार म. मुनि के मृतक-संस्कार का वर्णन है। यहां किसी क्षपक की मृत्यु हो जाने पर उसके शव को निकालने की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन है। जागरण, बन्धन और छेदन की विधियां बताई गई हैं। मृतक के पास बैठकर रात्रिभर जागरण करने तथा उसके हाथ और पैर के अंगूठे को बांधकर छेदने का विधान है जिससे कोई व्यन्तर उसके शरीर म. प्रवेश न कर जाए। फिर अच्छा स्थान देखकर उसे डाभ अथवा ईंटा. के चूर्ण अथवा वृक्ष की केसर से समतल करके, उस पर क्षपक के मृत शरीर को स्थापित कर जंगल से लौट आए।[1]

13.2.14 मूलाचार

भगवतीआराधना की भांति मूलाचार भी दिगम्बर सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि दिगम्बर आम्नाय के प्रतिकूल भी कतिपय मान्यताएं यहां पाई जाती हैं। मूलाचार को आचारांग भी कहा जाता है, इसके कर्त्ता वट्टकेर आचार्य हैं। वसुदेवनन्दि ने इस पर सर्वार्थसिद्धि अथवा आचारवृत्ति नामक टीका लिखी है, जिसम. ग्रन्थकर्त्ता ने अपने शिष्या. के हितार्थ आचारांग के संक्षिप्त सार का प्रतिपादन किया है। मूलाचार म. मुनिया. के आचार का प्रतिपादन है। आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भत्तपरिण्णा और मरणसमाही आदि श्वेताम्बरी आगमा. से मूलाचार की बहुत-सी गाथाएं मिलती हैं।[2] इसका रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास माना जाता है। इसम. बारह अधिकार हैं जिनम. कुल 1252 गाथाएं हैं। मूल गुणाधिकार म. पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रिया. का निरोध, छह आवश्यक लोच, अचेलत्व, अस्नान, क्षतिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त- इस प्रकार 28 मूल गुणा. का वर्णन है। वस्त्र, अजिन, वल्कल और पत्र आदि द्वारा शरीर के असंवृत करने को अचेलत्व कहा है। बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तव अधिकार म. क्षपक को सर्व पापा. का त्याग करके मरण समय म. दर्शनाराधना आदि चार आराधनाआ. म. स्थिर रहने और क्षुधादि परीषहा. को जीतकर निष्कषाय होने का उपदेश है। यहां महेन्द्रदत्त द्वारा एक ही दिन म. मिथिला नगरी म. कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता नाम की स्त्रिया. तथा सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमान नामक पुरुषा. के वध का उल्लेख है। संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार म.

1. बृहत्कल्पसूत्र के विष्वग्भवन प्रकरण(4.29) और उसके भाष्य (5497-5565) में इस विषय का विस्तार से वर्णन है। बृहत्कल्पभाष्य और भगवतीआराधना की इस विषयक गाथाएं हूबहू मिलती हैं। देखिए जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐन्शियेण्ट इण्डिया (संशोधित संस्करण) भाग 4, अध्याय 7, के अन्तर्गत 'अन्त्येष्टिक्रिया' शीर्षक प्रकरण।
2. पण्डित सुखलालजी ने पंचप्रतिक्रमणसूत्र म. मूलाचार की उन गाथाआ. की सूची दी है जो आवश्यकनिर्युक्ति में मिलती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सिंह, व्याघ्र आदि द्वारा आकस्मिक मरण उपस्थित होने पर सर्वपापा., कषाय और आहार आदि का त्याग कर समताभाव से प्राण त्याग करने का उपदेश है। समाचाराधिकार म. दस प्रकार के आचारा. का वर्णन है। तरुण मुनि को तरुण संयती के साथ सम्भाषण आदि करने का निषेध है। तीन, पांच अथवा सात की संख्या म. परस्पर संरक्षण का भाव मन म. धारण करती हुई आर्यिकाआ. को भिक्षागमन का उपदेश दिया गया है। आर्यिकाआ. को आचार्य से पांच हाथ दूर बैठकर और उपाध्याय से छह हाथ दूर बैठकर उनकी वन्दना करनी चाहिए। पंचाचाराधिकार म. दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पांच आचार और उसके भेदा. का विस्तार से वर्णन है। यहां लौकिक मूढ़ता म. कौटिल्य, आसुरक्ष, महाभारत और रामायण का उदाहरण दिया गया है। स्वाध्याय सम्बन्धी नियमा. का प्रतिपादन किया है। गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली अथवा अभिन्नदशपूर्वी द्वारा कथित ग्रन्थ को सूत्र कहा है। आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह आदि), स्तुति (देवागम आदि), प्रत्याख्यान, आवश्यक और धर्मकथा नाम के सूत्रा. का यहां उल्लेख है। रात्रि भोजन के दोष बताए हैं। पिण्डशुद्धिअधिकार म. मुनिया. के आहार आदि 46 दोषा. का वर्णन है।आरम्भ म. उद्गम, उत्पादन, एषण,संयोजन, प्रमाण, इंगाल,धूम और कारण दोषा. का प्रतिपादन है। षडावश्यक अधिकार म. सामायिक आदि छह आवश्यका. का नाम आदि निक्षेपा. द्वारा प्ररूपण है। यहां कृतिकर्म और कायोत्सर्ग के दोषा. का वर्णन है। अर्हत्, आचार्य आदि शब्दा. की निरुक्ति बताई है। ऋषभदेव के शिष्य ऋजुस्वभावी और जड़ थे,तथा महावीर के शिष्य वक्र और जड़ थे, अतएव इन दोना. तीर्थंकरा. ने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया है।[1] जबकि शेष तीर्थंकरा. ने सामायिक का प्रतिपादन किया है।पाश्र्वस्थ, कुशील, संसक्त मुनि, अपसंज्ञ और मृगचरित्र नामक मुनिया. को वन्दन के अयोग्य बताया है। आलोचना के प्रकार बताए गए हैं। ऋषभदेव और महावीर के शिष्य सर्व नियमा. के प्रतिक्रमण दण्डका. को बोलते थे, अन्य तीर्थंकरा. के शिष्य नहीं। अनगार भावनाधिकार म. लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर, संस्कारत्याग, वाक्य, तप और ध्यानसम्बन्धी दस शुद्धिया. का पालन करने वाले मुनि को मोक्ष की प्राप्ति बताई है। वाक्यशुद्धिनिरूपण म. स्त्री, अर्थ, भक्त, खेट, कर्वट, राजा, चोर, जनपद, नगर और आकर नामक कथाआ. का उल्लेख है। प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयमरूपी आरक्षका. द्वारा तपरूपी नगर का रक्षण किए जाने का उल्लेख है। द्वादशानुप्रेक्षा अधिकार म. अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाआ. का स्वरूप बताया है। समयसाराधिकार म. शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चरित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा है। साधु के लिए पिच्छी को आवश्यक बताया है। जीवा. की रक्षा के लिए यतना को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

प्रश्न – **कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये ।**
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झदि ॥

–किस प्रकार आचरण करे, कैसे उठे, कैसे बैठे, कैसे सोए, कैसे खाए, कैसे बोले जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।

उत्तर – **जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।**
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥[2]

यत्नपूर्वक आचरण करे, यत्नापूर्वक उठे, यत्नापूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोए, यत्नापूर्वक भोजन करे, यत्नपूर्वक बोले– इससे पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

---

1. मिलाइये उत्तराध्ययन (23.26) की निम्नलिखित गाथा के साथ –
   पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा ।
2. दशवैकालिकसूत्र (4.7–8) म. ये गाथाएं निम्न रूप म. मिली हैं –
   कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सये ।
   कह भुंजंतो, पाव कम्मं न बंधइ ॥
   जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
   जयं भुंजतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥
   डाक्टर ए. एम. घाटगे ने इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, 1935 म. 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' नामक लेख म. मूलाचार और दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथाआ. का मिलान किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर्याप्ति अधिकार म. छह पर्याप्तिया. का वर्णन है। पर्याप्ति की संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, संख्यापरिमाण, निर्वृति और स्थितिकाल- ये छह भेद बताए हैं। यहां गुणस्थाना. और मार्गणाआ. आदि का प्ररूपण है। शीलगुण नामक अधिकार म. 18 हजार शील के भेदा. का निरूपण है।

13.2.15 कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

कार्तिकेयानुप्रेक्षा[1] के कर्त्ता स्वामी कार्तिकेय अथवा कुमार हैं। ये ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के विद्वान माने जाते हैं। इस पर शुभचन्द्र ने संस्कृत टीका की रचना की, जो वि.सं.1613 (सन् 1556) म. समाप्त हुई। कुन्दकुन्दकृत बारस अणुवेक्खा और प्रस्तुत ग्रन्थ म. विषय और भाषा-शैली की दृष्टि से बहुत समानता देखने म. आती है। इस ग्रन्थ म. 489 गाथाएं हैं जिनम. अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म नाम की 12 अनुप्रेक्षाआ. का विस्तार से वर्णन है। अन्त म. 12 तपा. का प्रतिपादन है।

13.2.16 गोम्मटसार

गोम्मटसार के कर्त्ता देशीयगण के नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं जो गंगवंशीय राजा राजमल्ल के प्रधानमन्त्री और सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोला की सुप्रसिद्ध बाहुबलि या गोम्मट (चामुण्डराय का घर का नाम) स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी, इसलिए ये गोम्मटराय भी कहे जाते थे। नेमिचन्द्र विक्रम भी 11 वीं शताब्दी के विद्वान थे, और सिद्धान्तशास्त्र के अद्वितीय पण्डित होने के कारण सिद्धान्तचक्रवर्ती कहे जाते थे। नेमिचन्द्र ने लिखा है कि जैसे कोई चक्रवर्ती अपने चक्र द्वारा पृथ्वी के छह खण्डा. को निर्विघ्न रूप से अपने वश म. कर लेता है, वैसे ही मैंने अपने मतिरूपी चक्र द्वारा छह खण्ड के सिद्धान्त का सम्यक् रूप से संधान किया है। नेमिचन्द्र ने अपने ग्रन्थ की प्रशस्ति म. वीरनन्दि आचार्य का स्मरण किया है। धवल आदि महासिद्धान्त ग्रन्था. के आधार से उन्हा.ने गोम्मटसार की रचना की है। गोम्मटसार का दूसरा नाम पंचसंग्रह (बन्ध, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धहेतु और बन्धभेद - इन पांच विषया. का विवेचन होने के कारण), गोम्मटसंग्रह या गोम्मटसंग्रहसूत्र भी है। इसे प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ या प्रथम श्रुतस्कन्ध भी कहा गया है। गोम्मटसार के साथ ही नेमिचन्द्र ने त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार की भी रचना की है। प्रायः षट्खण्डागम की टीका धवला, महाधवला और कषायपाहुड की टीका जयधवला आदि टीका ग्रन्था. के आधार से ही ये ग्रन्थ लिखे गए हैं।

गोम्मटसार दो भागा. म. विभक्त है- एक जीवकाण्ड, दूसरा कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड म. महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड- इन पांच विषया. का वर्णन है। यहां गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, 14 मार्गणा और उपयोग इन 20 अधिकारा. म. 733 गाथाआ. म. जीव की अनेक अवस्थाआ. का प्रतिपादन किया है। कर्मकाण्ड म. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्व, सत्वस्थानभंग, त्रिचूलिका,स्थानसमुत्कीर्तन, प्रत्यय, भावचूलिका, त्रिकरणचूलिका और कर्मस्थितिरचना नामक नौ अधिकारा. म. 972 गाथाआ. म. कर्मों की अवस्थाआ. का वर्णन किया गया है। जीवकाण्ड का हिन्दी अनुवाद पं. खूबचन्द्र जैन और कर्मकाण्ड का हिन्दी अनुवाद पं. मनोहरलाल ने किया है।[2]

13.2.17 द्रव्यसंग्रह

द्रव्यसंग्रह को भी कोई नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की रचना मानते हैं। पर यह ठीक नहीं जान पड़ता। इसम. कुल 58 गाथाएं हैं जिनम. जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा कर्म, तत्त्व, ध्यान आदि की चर्चा है। इस पर ब्रह्मदेव की संस्कृत म. बृहत टीका है।[3] पण्डित अनंतराय ने द्रव्यसंग्रह का छन्दोनुबद्ध हिन्दी अनुवाद किया है।

---

1. स्वर्गीय पण्डित जयचन्दजी की भाषा टीका सहित गांधी नाथारंगजी द्वारा ईसवी सन् 1904 म. बम्बई से प्रकाशित। यह ग्रन्थ पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला म. भी पं. महेन्द्रकुमारजी जैन पाटनी के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है। ए.एन.उपाध्ये, शुभचन्द्र की संस्कृत टीका सहित, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, 1960.
2. जीवकाण्ड पर अभयचन्द्रकृत टीका और कर्मकाण्ड पर केशववर्णीकृत टीका, गांधी हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् 1921; मूल और हिन्दी अनुवाद सहित, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, 1927-28 : टोडरमल कृत हिन्दी टीका सहित, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, मूल और अंग्रेजी अनुवाद सहित,जे.एल.जैनी द्वारा, सेक्रेड बुक्स ऑव द जैन्स,लखनऊ, 1927.इसम. केवल 1-397 गाथाआ. का ही अनुवाद उपलब्ध है।
3. सेक्रेड बुक्स ऑव जैन्स श्रृंखला म. सन् 1917 म. आरा से प्रकाशित,शरच्चन्द्र घोषाल द्वारा मूल ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवाद के साथ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.2.18 जम्बुद्दीवपण्णत्तिसंगह (जम्बुद्वीपप्रगतिसंग्रह)

यह करणानुयोग का ग्रन्थ है जिसके कर्त्ता पद्मनन्दिमुनि हैं।[1] पद्मनन्दिमुनि ने अपने आपको गुणगणकलित, त्रिदण्डरहित, त्रिशल्यपरिशुद्ध आदि बताते हुए अपने को बलनन्दि का शिष्य कहा है। बालानन्दि पंचाचारपरिपालक आचार्य वीरनन्दि के शिष्य थे। वारा नगर म. इस ग्रन्थ की रचना हुई। यह नगर पारियत्त (पारियात्र) देश के अन्तर्गत था। सिंहसूरि के लोकविभाग म. जम्बुद्दीवपण्णत्ति का उल्लेख मिलता है, इससे इस ग्रन्थ का रचना-काल ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास होने का अनुमान किया जाता है। जम्बुद्दीवपण्णत्ति का बहुत-सा विषय तिलोयपण्णत्ति म. मिलता है, दोना. की बहुत-सी गाथाएं भी समान हैं। वट्टकेर के मूलाचार और नेमिचन्द्र के त्रिलोकसार की गाथाएं भी जम्बुद्दीवपण्णत्ति म. पाई जाती हैं। इस ग्रन्थ म. 2389 गाथाएं हैं जो उपोद्घात, भरत-ऐरावत वर्ष, शैल-नदी, योगभूमि, सुदर्शन (मेरु), मन्दरजिनभवन, देवोत्तरकुरु, कक्षाविजय, पूर्वविदेह, अपरविदेह, लवणसमुद्र, द्वीपसागर, अधः-ऊर्ध्व-सिद्धलोक, ज्योतिर्लोक और प्रमाणपरिच्छेद नामक तेरह उद्देशा. म. विभाजित है। यहां महावीर के बाद की आचार्य परम्परा दी है।

13.2.19 नयचक्र

नयचक्र को लघुनयचक्र के नाम से भी जाना जाता है। इसके कर्त्ता देवसेनसूरि हैं जो ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के विद्वान हैं। नयचक्र म. 87 गाथाआ. म. नया. का स्वरूप बताया है।[2] श्वेताम्बर आचार्य यशोविजय उपाध्याय ने देवसेन के नयचक्र का उल्लेख किया है। देवसेन के दर्शनसार से पता लगता है कि वे मूलसंघ के आचार्य थे। उन्हा.ने आराधनासार, तत्त्वसार, दर्शनसार और भावसंग्रह नामक ग्रन्था. की रचना की है।

नया. के सम्बन्ध म. देवसेन ने लिखा है -

धम्मविहीणो सोक्खं तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो ।
तह तह बन्धइ मूढ़ो णयरहिओ दव्वणिच्छित्ती ॥

- जैसे धर्म के बिना कोई सुख प्राप्त करना चाहे और जल के बिना तृष्णा शान्त करना चाहे, वैसे ही मूढ़ पुरुष नया. के बिना द्रव्य का निश्चय नहीं कर सकता है।

तथा - **जह रससिद्धो वाई हेमं काऊण भुंजये भोगं ।**
तह णयसिद्धो जोई अप्पा अणुहवउ अणवरयं ॥

-जैसे रससिद्ध वैद्य सोना बनाकर भोगा. को भोगता है, वैसे ही नयसिद्ध योगी सत् आत्मा का अनुभव करता है।

13.2.20 आराधनासार

इसम. 115 गाथाएं हैं जिन पर रत्नकीर्तिदेव ने टीका लिखी है।[3] सम्यक्त्व हो जाने पर सूत्रोक्त युक्तिया. द्वारा जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को आराधना कहा है। यहां शिवभूति, सुकुमाल, कोशल, गुरुदत्त, पाण्डव, श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदि दृष्टान्ता. द्वारा विषय का प्रतिपादन किया है। मन को राजा की उपमा दी है, जिसकी मृत्यु होने पर इन्द्रिय आदि सेना की भी मृत्यु हो जाती है। जो लोग भागते हुए मन रूपी ऊंट को ज्ञानरूपी रस्सी से पकड़कर नहीं रखते, वे संसार म. भ्रमण करते हुए दुख के भागी होते हैं। मन रूपी वृक्ष को निर्मूल करने के लिए उसकी राग-द्वेष रूपी शाखाआ. को काट उन्ह. निष्फल बनाकर मोह रूपी जल से वृक्ष को न सींचने का उपदेश दिया है। जैसे जल का संयोग पाकर लवण उसम. विलीन हो जाता है वैसे ही चित्त ध्यान म. विलीन हो जाता है।[4] इससे अशुभ और शुभ कर्मों के दग्ध हो जाने से आत्मा रूपी अग्नि प्रकट होती है। परीषहा. के सम्बन्ध म. कहा है -

---

1. डॉक्टर ए. एन. उपाध्ये और डॉक्टर हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर से सन् 1958 म. प्रकाशित। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना म. 'तिलोयपण्णत्ति का गणित' नाम का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध दिया है।
2. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा सन् 1920 म. प्रकाशित, नयचक्रसंग्रह म. संगृहीत।
3. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा वि. सं. 1974 म. प्रकाशित।
4. मिलाइये - कण्हपा के दोहाकोश (32) के साथ -
   जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरिणि लइ चित्त । समरस जाई तक्खणे लइ पुणु ते समणित्त ॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जह जह पीडा जायइ भुक्खाइपरीसहेहिं देहस्स ।
तह तह गलंति णूणं चिरभवबद्धाइं कम्माइं ॥

जैसे-जैसे बुभुक्षा आदि परीषह सहन करने से इस देह को पीड़ा होती है, वैसे-वैसे चिरकाल से बंधे हुए कर्मों का नाश होता है।

ग्रन्थ के अन्त म. ग्रन्थकर्त्ता ने अपना नाम देवसेन बताया है।

13.2.21 तत्त्वसार

धर्मप्रवर्तन और भव्यजना. के बोध के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई है। सकलकीर्ति की इस पर टीका है। इसम. 74 गाथाएं हैं जिनम. तत्त्व के सार का प्ररूपण है। ध्यान से मोक्ष की सिद्धि बताई है –

चलणरहिओ मणुस्सो जह बंधइ मेरुसिहरमारुहिउं ।

तह झाणेण विहिणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥

जैसे बिना पांव का कोई मनुष्य मेरु के शिखर पर चढ़ना चाहे, उसी प्रकार ध्यानविहीन साधु कर्मों के क्षय की इच्छा करता है।

आत्मध्यान की मुख्यता का प्रतिपादन करते हुए कहा है –

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥

जब तक पर-द्रव्य म. चित्त लगा हुआ है, तब तक भव्य पुरुष मोक्ष प्राप्त नहीं करता; उग्र तप करता हुआ वह शीघ्र ही शुद्ध भाव को प्राप्त होता है।

ग्रन्थ के अन्त म. अपना परिचय देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है –

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण ।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥

मुनिनाथ देवसेन ने श्रवणकर तत्त्वसार की रचना की है जो सम्यग्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख पाता है।

13.2.22 बृहत्नयचक्र

इसका वास्तविक नाम दव्वसहावपयास (द्रव्यस्वभावप्रकाश) है[1] जिसम. द्रव्य, गुण, पर्याय, दर्शन, ज्ञान और चरित्र आदि विषया. का वर्णन है। यह एक संग्रह-ग्रन्थ है जो 423 गाथाआ. में पूर्ण हुआ है। इस ग्रन्थ के अंत म. दी हुई गाथाआ. से पता लगता है कि दव्वसहावपयास नाम का कोई ग्रन्थ दोहा छंदा. म. बनाया हुआ था, उसी को माइल्लधवल ने गाथाआ. म. लिखा। देवसेन योगी के चरणा. के प्रसाद से इस ग्रन्थ की रचना की गई है। गाथाआ. म. संग्रहकर्त्ता माइल्लधवल ने नयचक्र के कर्ता गुरु देवसेन को नमस्कार किया है। माइल्लधवल ने नयचक्र को अपने प्रस्तुत ग्रन्थ म. गर्भित कर लिया है। इस ग्रन्थ म. पीठिका, गुण, पर्याय, द्रव्यसामान्य, पंचास्तिकाय, पदार्थ, प्रमाण, नय, निक्षेप, दर्शन, ज्ञान, सरागचारित्र, वीतरागचारित्र और निश्चयचारित्र नाम के अधिकारा. म. विषय का प्रतिपादन किया गया है।

13.2.23 वसुनन्दिश्रावकाचार (अथवा उपासकाध्ययन)

वसुनन्दिश्रावकाचार[2] के कर्त्ता आचार्य वसुनन्दि हैं जिनका समय वि.सं. की बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। पण्डित आशाधरजी ने सागारधर्मामृत की टीका म. वसुनन्दि का उल्लेख बड़े आदरपूर्वक करते हुए उनके

1. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला म. सन् 1920 म. प्रकाशित नयचक्रसंग्रह म. संगृहीत।
2. पण्डित हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित; मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला, काशी, सन् 1952.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रावकाचार की गाथाआ. को उद्धृत किया है। इसम. कुल मिलाकर 546 गाथाएं हैं जिनम. श्रावका. के आचार का वर्णन है। प्रारम्भ म. सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए जीवा. के भेद-प्रभेद बताए गए हैं। अजीव के वर्णन म. स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणुआ. के स्वरूप का प्रतिपादन है। द्यूत, मद्य, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदारसेवन नाम के सात व्यसना. का प्ररूपण है। व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत बारह व्रता. का निर्देश है। दान के फल का विस्तृत वर्णन है। पंचमी, रोहिणी, अश्विनी, सौख्य-सम्पत्ति, नन्दीश्वरपंक्ति और विमानपंक्ति नामक व्रता. का विधान है। पूजा का स्वरूप बताया गया है। श्रुतदेवी की स्थापना का विधान और प्रतिष्ठाविधि का विस्तृत वर्णन है। पूजन के फल का वर्णन किया गया है।

13.2.24 छेदपिण्ड

छेद का अर्थ प्रायश्चित होता है, इसे मलहरण, पापनाशन, शुद्धि, पुण्य, पवित्र और पावन नाम से भी कहा गया है। छेदपिण्ड म. 362 गाथाएं हैं जिनम. प्रमाद अथवा दर्प के कारण व्रत, समिति, मूलगुण, उत्तरगुण, तप, गण आदि सम्बन्धी पाप लगने पर साधु-साध्विया. को प्रायश्चित का विधान है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता इन्द्रनन्दि योगीन्द्र हैं जिनका समय विक्रम की लगभग 14वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

13.3 श्वेताम्बर जैन आगम

चूंकि श्वेताम्बर जैन आगमा. की भाषा को अर्द्धमागधी कहा गया है इसलिए इन्ह. अर्द्धमागधी जैनागम या अर्द्धमागधी आगम भी कहते हैं। इन आगमा. का अध्ययन हम निम्न प्रकार से करेंगे।

13.3.1 महावीर से पूर्व का साहित्य –

प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर से पूर्व का भी कोई जैन साहित्य है? इसका उत्तर हां और ना दोना. प्रकार से दिया जा सकता है। साहित्य के भीतर दो तत्त्वा. का ग्रहण होता है, एक तो उसका शाब्दिक व रचनात्मक स्वरूप और दूसरा आर्थिक व विचारात्मक स्वरूप। इन्हीं दोना. बाता. को जैन परम्परा म. द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत कहा गया है। द्रव्य-श्रुत अर्थात् शब्दात्मकता की दृष्टि से महावीर के पूर्व का कोई जैन साहित्य उपलद्ध नहीं है, किन्तु भावश्रुत की अपेक्षा जैन श्रुतांगा. के भीतर कुछ ऐसी रचनाएं मानी गई हैं जो महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा म. प्रचलित थीं, और इसी कारण उन्ह. 'पूर्व' कहा गया है। द्वादशांग आगम का बारहवां अंग दृष्टिवाद था। इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ऐसे चौदह पूर्वों का उल्लेख किया गया है जिनम. महावीर से पूर्व की अनेक विचार-धाराआ., मत-मतान्तरा. तथा ज्ञान-विज्ञान का संकलन उनके शिष्य गौतम द्वारा किया गया था। इन चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं, जिनसे उनके विषया. का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है- उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद (श्वेताम्बर परम्परानुसार अबन्ध्य), प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोक-बिन्दुसार। प्रथम पूर्व उत्पाद म. जीव, काल, पुद्गल आदि द्रव्या. की उत्पत्ति, विनाश व ध्रुवता का विचार किया गया था। द्वितीय पूर्व अग्रायणीय म. उन समस्त द्रव्या. तथा उनकी नाना अवस्थाआ. की संख्या, परिमाण आदि का विचार किया गया था। तृतीय पूर्व वीर्यानुवाद म. उक्त द्रव्या. के क्षेत्रकालादि की अपेक्षा से वीर्य अर्थात् बल-सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया था। चतुर्थपूर्व आस्ति-नास्ति प्रवाद म. लौकिक वस्तुआ. के, नाना अपेक्षाआ. से, अस्तित्व-नास्तित्व का विवेक किया गया था। पांचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद म. मति आदि ज्ञाना. तथा उनके भेद-प्रभेदा. का प्रतिपादन किया गया था। छठे पूर्व सत्य प्रवाद म. वचन की अपेक्षा सत्यासत्य विवेक व वक्ताआ. की मानसिक परिस्थितिया. तथा असत्य के स्वरूपा. का विवेचन किया गया था। सातव. पूर्व आत्मप्रवाद म. आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन सम्बन्धी विवेचन किया गया था। आठव. पूर्व कर्मप्रवाद म. नाना प्रकार के कर्मों की प्रकृतिया., स्थितिया., शक्तिया. व परिमाणा. आदि का प्ररूपण किया गया था। नौव. पूर्व प्रत्याख्यान म. परिग्रह-त्याग उपवासादि विधि, मन, वचन काय सम्बन्धी विवेचन किया गया था। आठवें पूर्व कर्मप्रवाद में नाना प्रकार के कर्मों की प्रकृतियों, स्थितियों, शक्तियों व परिमाणों आदि का प्ररूपण किया गया था। नौवें पूर्व प्रत्याख्यान में परिग्रह-त्याग उपवासादि विधि, मन, वचन काय की विशुद्धि आदि आचार सम्बन्धी नियम निर्धारित किए गए थे। दसव. पूर्व विद्यानुवाद म. नाना विद्याआ. और उपविद्याआ. का प्ररूपण किया गया था, जिनके भीतर अंगुष्ट प्रसेनादि सात सौ अल्पविद्याआ., रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याआ. एवं अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और छिथ- इन आठ महानिमित्ता. द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ग्यारहव. पूर्व कल्याणवाद म. सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागणा. की नाना गतिया. को देखकर शकुन के विचार तथा बलदेवा., वासुदेवा., चक्रवर्ती आदि महापुरुषा. के गर्भावतरण आदि के अवसरा. पर होने वाले लक्षणा. और कल्याणा. का कथन किया गया था। इस पूर्व के अबन्ध्य नाम की सार्थकता यही प्रतीत होती है कि शकुना. और शुभाशुभ लक्षणा. के निमित्त से भविष्य म. होने वाली घटनाआ. का कथन अबन्ध्य अर्थात् अवश्यम्भावी माना गया था। बारहव. पूर्व प्राणावाय म. आयुर्वेद अर्थात् कायचिकित्सा–शास्त्र का प्रतिपादन एवं प्राण, अपान आदि वायुआ. का शरीर धारण की अपेक्षा से कार्य का विवेचन किया गया था। तेरहव. पूर्व क्रियाविशाल म. लेखन, गणना आदि बहत्तर कलाआ., स्त्रिया. के चा.सठ गुणा. और शिल्पा., ग्रन्थ रचना सम्बन्धी गुण–दोषा. व छन्दा. आदि का प्ररूपण किया गया था। चौदहव. पूर्व लोकबिन्दुसार म. जीवन की श्रेष्ठ क्रियाआ. व व्यवहारा. एवं उनके निमित्त से मोक्ष के सम्पादन विषयक विचार किया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन पूर्व नामक रचनाआ. के अन्तर्गत न केवल तत्कालीन धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विचारा. का संकलन किया गया था, किन्तु उनके भीतर नाना कलाआ. व ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञाना. तथा फलित ज्योतिष, शकुन शास्त्र, व तन्त्र–मन्त्र आदि विषया. का भी समावेश कर दिया गया था। इस प्रकार ये रचनाएँ प्राचीन काल का भारतीय ज्ञानकोश कही जाएं तो अनुचित न होगा।

किन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। यद्यपि पाश्चात्यकालीन साहित्य म. इनका स्थान–स्थान पर उल्लेख मिलता है और उनके विषय का पूर्वोक्त प्रकार प्ररूपण भी यत्र–तत्र प्राप्त होता है, तथापि ये ग्रन्थ महावीर निर्वाण के 162 वर्ष पश्चात् क्रमशः विच्छिन्न हुए कहे जाते हैं। उक्त समस्त पूर्वों के अन्तिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। तत्पश्चात् 181 वर्षों म. हुए बिशाखाचार्य से लेकर धर्मसेन तक अन्तिम चार पूर्वों को छोड़, शेष दश पूर्वों का ज्ञान रहा, और उसके पश्चात् पूर्वों का कोई ज्ञाता आचार्य नहीं रहा। षट्खण्डागम के वेदना नामक चतुर्थ खण्ड के आदि म. जो नमस्कारात्मक सूत्र पाए जाते हैं, उनम. दश पूर्वों के और चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनिया. को अलग–अलग नमस्कार कहा गया है (नमो दसपुव्वियाणं, नमो चउद्दसपुव्वियाणं)। इन सूत्रा. की टीका करते हुए वीरसेनाचार्य ने बताया है कि प्रथम दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ मुनिया. को नाना महाविद्याआ. की प्राप्ति से सांसारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे आगे वीतरागता की ओर नहीं बढ़ पाते। जो मुनि इस लोभ–मोह को जीत लेता है, वही पूर्ण श्रुतज्ञानी बन पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वों म. कलाआ., विद्याआ., मन्त्र, तन्त्र व इन्द्रजाला. का प्ररूपण था, वे सर्वप्रथम ही मुनिया. की संयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गए। शेष पूर्वों के विच्छिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन मुनिया. के लिए उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशांग के अन्य भागा. म. समाविष्ट कर लिया गया था, इसलिए इन रचनाआ. के पठन–पाठन म. समय–शक्ति को लगाना उचित नहीं समझा गया। इसी बात की पुष्टि दिगम्बर साहित्य की इस परम्परा से होती है कि वीर निर्वाण के लगभग सात शताब्दिया. पश्चात् हुए गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्व के कुछ अधिकारा. का विशेष ज्ञान था। उन्हा.ने वही ज्ञान पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों को प्रदान किया और उन्हा.ने उसी ज्ञान के आधार से सत्यकर्मप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम की सूत्र–रूप रचना की।

13.3.2 अंग–प्रविष्ट व अंग–बाह्य साहित्य –

दिगम्बर परम्परानुसार महावीर द्वारा उपदिष्ट साहित्य की ग्रन्थ–रचना उनके शिष्या. द्वारा दो भागों म. की गई – एक अंग–प्रविष्ट और दूसरा अंग–बाह्य। अंग–प्रविष्ट के आचारांग आदि ठीक वे ही द्वादश ग्रन्थ थे, जिनका क्रमशः लोप माना गया है, किन्तु जिनम. से ग्यारह अंगा. का श्वेताम्बर परम्परानुसार वीर निर्वाण के पश्चात् दसवीं शती म. किया गया संकलन अब भी उपलब्ध है। इनका विशेष परिचय आगे कराया जाएगा। अंग–बाह्य के चौदह भेद माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं – सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। यह अंग–बाह्य साहित्य भी यद्यपि दिगम्बर परम्परानुसार अपने मूल रूप म. अप्राप्य हो गया है तथापि श्वेताम्बर परम्परा म. उनका सद्भाव अब भी पाया जाता है। सामायिक आदि प्रथम छह का समावेश आवश्यक सूत्रा. म. हो गया है तथा कल्प व्यवहार और निशीथ सूत्रा. म. अन्त के कल्प, व्यवहारादि छह का अन्तर्भाव हो जाता है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन नाम की रचनाएं विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनका श्वेताम्बर आगम साहित्य म. बड़ा महत्त्व है। यही नहीं, इन ग्रन्था. की रचना के कारण का जो उल्लेख दिगम्बर शास्त्रा. म. पाया जाता है, ठीक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वही उपलभ्य दशवैकालिक की रचना के सम्बन्ध म. कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका(1, 20) म. लिखा है कि "आरातीय आचार्यों ने कालदोष से संक्षिप्त आयु, मति और बलशाली शिष्या. के अनुग्रहार्थ दशवैकालिकादि ग्रन्था. की रचना की; इन रचनाआ. म. उतनी ही प्रमाणता है जितनी गणधरा. व श्रुतकेवलिया. द्वारा रचित सूत्रा. म. क्या.कि वे अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं,जिस प्रकार कि क्षीरोदधि के घड़े म. भरा हुआ जल क्षीरोदधि से भिन्न नहीं हैं" दशवैकालिक निर्युक्ति व हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व म. बताया गया है कि स्वयंभव आचार्य ने अपने पुत्र मनक को अल्पायु जान उसके अनुग्रहार्थ आगम के साररूप दशवैकालिक सूत्र की रचना की। इस प्रकार इन रचनाआ. के सम्बन्ध म. दोना. सम्प्रदाया. म. मतैक्य पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर निर्वाण से 107 वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र म. स्थूलभद्र आचार्य ने जैन श्रमण संघ का सम्मेलन कराया, और वहां ग्यारह अंगा. का संकलन किया गया। बारहव. अंग दृष्टिवाद का उपस्थित मुनिया. म. से किसी को भी ज्ञान नहीं रहा था, अतएव उसका संकलन नहीं किया जा सका।

इसके पश्चात् की शताब्दिया. म. यह श्रुत-संकलन पुनः छिन्न-भिन्न हो गया। तब वीर निर्वाण के लगभग 840 वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल ने मथुरा म. एक संघ-सम्मेलन कराया, जिसम. पुनः आगम साहित्य को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय के लगभग वलभी म. नागार्जुन सूरी ने भी एक मुनि-सम्मेलन द्वारा आगम रक्षा का प्रयत्न किया। किन्तु इन तीन पाटलिपुत्री, माथुरी और प्रथम वलभी वाचनाआ. के पाठ उपलब्ध नहीं हैं। केवल साहित्य म. यत्र- तत्र उनके उल्लेख मात्र पाए जाते हैं। अन्त म. महावीर निर्वाण के लगभग 980 वर्ष पश्चात् वलभी म. देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा जो मुनि-सम्मेलन किया गया उसम. कोई 45-46 ग्रन्था. का संकलन हुआ, और ये ग्रन्थ आज तक सुप्रचलित हैं। यह उपलभ्य आगम साहित्य निम्नप्रकार है -

13.4 अर्धमागधी जैनागम (श्रुतांग-11)

13.4.1 आचारांग (आयारो)

इस ग्रन्थ म. अपने नामानुसार मुनि आचार का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रत्येक श्रुतस्कंध अध्ययना. म. और प्रत्येक अध्ययन उद्देशका. या चूलिकाआ. म. विभाजित है। इस प्रकार श्रुत स्कंध प्रथम म. 9 अध्ययन व 44 उद्देशक हैं; एवं द्वितीय श्रुत स्कंध म. तीन चूलिकाएं हैं जो 16 अध्ययना. म. विभाजित हैं। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम की चूलिका रूप है। भाषा शैली तथा विषय की दृष्टि से स्पष्टतः प्रथम श्रुतस्कंध अधिक प्राचीन है। इसकी अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच-बीच म. कहीं-कहीं आ जाते हैं। अर्द्धमागधी-प्राकृत भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सातव. अध्ययन का नाम महापरिज्ञा तो निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु उसका पाठ उपलब्ध नहीं है। उपधान नामक नवम. अध्ययन म. महावीर की तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन पाया जाता है। यहां उनके लाढ़, वज्रभूमि और सुम्हभूमि म. विहार और नाना प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करने का उल्लेख आया है। द्वितीय श्रुतस्कंध म. श्रमण के लिए भिक्षा मांगने, आहार-पान-शुद्धि, शय्या-संस्तरण-ग्रहण, विहार, चातुर्मास, भाषा, वस्त्र-पात्रादि उपकरण, मल-मूत्र त्याग एवं व्रता. व तत्सम्बन्धी भावनाआ. के स्वरूपा. व नियमोपनियमा. का वर्णन हुआ है।

13.4.2 सूत्रकृतांग (सूयगडो)

पहला श्रुतस्कंध प्रायः पद्यमय है। केवल एक अध्ययन म. गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध म. गद्य और पद्य दोना. पाये जाते हैं। इसम. गाथा छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्दा. का भी उपयोग हुआ है, जैसे इन्द्रवज्रा, वैतालिक, अनुष्टुप आदि। ग्रन्थ में जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों व वादों का प्ररूपण किया गया था जैसे, क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद आदि। मुनिया. को भिक्षाचार म. सतर्कता, परीषहा. की सहनशीलता, नरका. के दुःख, उत्तम साधुआ. के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षुक व निर्ग्रन्थ आदि शब्दा. की व्युत्पत्ति भली प्रकार से उदाहरणा. व रूपका. द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कंध म. जीव-शरीर में एकत्व, ईश्वर कर्तृत्व व नियतिवाद आदि मता. का खंडन किया गया है। आहार व भिक्षा के दोषा. का निरूपण हुआ है। प्रसंगवश भौमोत्पादादि महा-निमित्ता. का भी उल्लेख आया है। प्रत्याख्यान क्रिया बताई गई है। पाप-पुण्य का विवेक किया गया है एवं गोशालक, शाक्यभिक्षु आदि तपस्विया. के साथ हुआ वाद-विवाद अंकित किया गया है। अन्तिम अध्ययन नालन्दीय नामक है, क्या.कि इसम. नालन्दा म. हुए गौतम गणधर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेठालपुत्र का वार्तालाप और अन्त म. पेठालपुत्र द्वारा चातुर्याम को त्यागकर पंच-महाव्रत स्वीकार करने का वृत्तांत आया है। प्राचीन मता., वादा., व दृष्टिया. के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्त्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह विशेष प्राचीन सिद्ध होता है।

13.4.3 स्थानांग (ठाणांग)

यह श्रुतांग दस अध्ययना. म. विभाजित है, इसम. सूत्रा. की संख्या एक हजार से ऊपर है। इसकी रचना पूर्वोक्त दो श्रुतांगा. से भिन्न प्रकार की है। यहां प्रत्येक अध्ययन म. जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु-संख्या गिनाई गई है; जैसे प्रथम अध्ययन म. बताया गया है - एक दर्शन, एक चरित्र, एक समय, एक प्रदेश, एक परमाणु, एक सिद्ध आदि। उसी प्रकार दूसरे अध्ययन म. बताया गया है कि क्रियाएं दो हैं-जीव क्रिया और अजीव क्रिया। जीव क्रिया पुनः दो प्रकार की है। सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। उसी प्रकार अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है- ईर्यापथिक और साम्परायिक। इसी प्रकार दसव. अध्ययन म. इसी क्रम से वस्तुभेद दस तक किये गए हैं। इस दृष्टि से यह श्रुतांग पालि बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय से तुलनीय है। यहां नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी-अपनी दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यथास्थान ऋक्, यजुः और साम- ये तीन वेद बताए गए हैं। धर्म, अर्थ और काम-ये तीन प्रकार की कथाएं बताई गई हैं। वृक्ष भी तीन प्रकार के हैं- पत्रोपेत, पुष्पोपेत और फलोपेत। पुरुष भी नाना दृष्टिया. से तीन-तीन प्रकार के हैं- जैसे नाम पुरुष, द्रव्य पुरुष और भाव पुरुष अथवा उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और जघन्य पुरुष।

उत्तम भी तीन प्रकार के हैं-धर्म पुरुष, भोग पुरुष और कर्म पुरुष। अर्हन्त धर्म पुरुष हैं, चक्रवर्ती भोग पुरुष हैं और वासुदेव कर्म पुरुष। धर्म भी तीन प्रकार का कहा गया है-श्रुतधर्म, चरित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म। चार प्रकार की अन्त-क्रियाएं बताई गई हैं और उनके दृष्टान्त स्वरूप भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमार, सनत्कुमार और मरुदेवी के नाम बताए गए हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरा. को छोड़ बीच के 22 तीर्थंकर चातुर्याम धर्म के प्रज्ञापक कहे गए हैं। आजीविका. का चार प्रकार का तप कहा गया है-उग्रतप, घोरतप, रस निर्यूहणता और जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनता। शूरवीर चार प्रकार के बताए गए हैं, क्षमाशूर, तपशूर, दानशूर और युद्धशूर। आचार्य वृक्षा. के समान चार प्रकार के बताए गए हैं और उनके लक्षण भी चार गाथाआ. द्वारा प्रकट किए गए हैं। कोई आचार्य और उसका शिष्य परिवार दोना. शालवृक्ष के समान महान और सुन्दर होते हैं। कोई आचार्य तो शालवृक्ष के समान होते हैं, किन्तु उनका शिष्य-समुदाय एरण्ड के समान होता है। किसी आचार्य का शिष्य समुदाय तो शालवृक्ष के समान महान होता है किन्तु स्वयं आचार्य एरण्ड के समान खोखला और कहीं आचार्य और उनका शिष्य-समुदाय दोना. एरण्ड के समान खोखले होते हैं। सप्तस्वरा. के प्रसंग से प्रायः संगीतशास्त्र का पूर्ण निरूपण आ गया है। यहां भणिति, बोली, दो प्रकार की कही गई है - संस्कृत और प्राकृत। महावीर के तीर्थ म. हुए बहुरत आदि सात निह्नवा. और जमालि आदि उनके संस्थापक आचार्यों एवं उनके उत्पत्ति-स्थान श्रावस्ती आदि नगरिया. का उल्लेख भी आया है। महावीर के तीर्थ म. जिन नौ पुरुषा. ने तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया उनके नाम इस प्रकार हैं- श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी, प्रोष्ठिल, दृढ़ायु, शंख, सजग या शतक (सयय), सुलसा और रेवती। इस प्रकार इस श्रुतांग म. नाना प्रकार का विषय-वर्णन प्राप्त होता है, जो अनेक दृष्टिया. से महत्त्वपूर्ण है।

13.4.4 समवायांग

इस श्रुतांग म. 275 सूत्र हैं। अन्य कोई स्कन्ध, अध्ययन या उद्देशक आदि रूप से विभाजन नहीं है। स्थानांग के अनुसार यहां भी क्रम से वस्तुआ. का निर्देश और कहीं-कहीं उनके स्वरूप व भेदोपभेदा. का वर्णन किया गया है। आत्मा एक है; लोक एक है; धर्म-अधर्म एक-एक हैं; इत्यादि क्रम से 2, 3, 4 वस्तुआ. को गिनाते हुए 178 व. सूत्र म. 100 तक संख्या पहुंची है, जहां बताया गया है कि शतभिषा नक्षत्र म. 100 तारे हैं, पार्श्व अरहन्त तथा सुधर्माचार्य की पूर्णायु 100 वर्ष की थी, इत्यादि। इसके पश्चात् 200, 300 आदि क्रम से वस्तु-निर्देश आगे बढ़ा है। यहां कहा गया है कि श्रमण भगवान् महावीर के तीन सौ शिष्य 14 पूर्वों के ज्ञाता थे, और 400 वादी थे। इसी प्रकार शतक्रम से 191 व. सूत्र पर संख्या दस सहस्र पर पहुंच गई है। तत्पश्चात् संख्या शतसहस्र (लाख) के क्रम से बढ़ी है, जैसे अरहन्त पार्श्व के तीन शतसहस्र श्रावक और सत्ताईस सहस्र उत्कृष्ट श्राविका संघ था। इस प्रकार 208 व. सूत्र तक दशशत-सहस्र पर पहुंच कर आगे कोटि क्रम से कथन करते हुए 210 व. सूत्र म. भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर वर्धमान तक का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अन्तराल एक सागरोपम कोटाकोटि निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् 211 व. से 227 व. सूत्र तक आचारांग आदि बारहा. अंगा. के विभाजन और विषय का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यहां इन रचनाआ. को द्वादशांग गणिपिटक कहा गया है। इसके पश्चात् जीवराशि का विवरण करते हुए स्वर्ग और नरक भूमिया. का विवरण पाया जाता है। 246 व. सूत्र से अन्त के 275 व. सूत्र तक कुलकरा., तीर्थंकरा., चक्रवर्तिया. तथा बलदेव और वासुदेवा. एवं उनके प्रतिशत्रुआ. (प्रतिवासुदेवा.) का उनके पिता, माता, जन्मनगरी, दीक्षास्थान आदि नामावली-क्रम से विवरण किया गया है। इस भाग को हम संक्षिप्त म. जैनपुराण कह सकते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सूत्र क्रमांक 132 म. उत्तम (शलाका) पुरुषा. की संख्या 54 निर्दिष्ट की गई है, 63 नहीं, अर्थात् नौ प्रतिवासुदेवा. को शलाकापुरुषा. म. सम्मिलित नहीं किया गया है। 46 संख्या के प्रसंग म. दृष्टिवाद अंग के मातृकापदा. तथा ब्राह्मी लिपि के 46 मातृका अक्षरा. का उल्लेख हुआ है। सूत्र 124 से 130 व. सूत्र तक मोहनीय कर्म के 52 पर्यायवाची गिनाए गए हैं-जैसे क्रोध, कोप, रोष, द्वेष, अक्षम, संज्वलन, कलह आदि। अनेक स्थाना. (सू.141,162) पर ऋषभ अरहन्त को कौशलीय विशेषण लगाया गया है जो उनके कौशल देशवासी होने का सूचक है। इससे महावीर के साथ जो अन्यत्र 'वेसालीय' विशेषण लगाया जाता है उससे उनके वैशाली के नागरिक होने की पुष्टि होती है। 150व. सूत्र म. लेख, गणित,रूप, नाट्य, गीत, वादित्र आदि 72 कलाआ. के नाम निर्दिष्ट हुए हैं। इस प्रकार जैन सिद्धान्त व इतिहास की परम्परा के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्यरूप है किन्तु बीच-बीच म. नामावलियां व अन्य विवरण गाथाआ. द्वारा भी प्रस्तुत हुए हैं।

13.4.5 भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति (वियाह पण्णत्ति)

इसे संक्षेप म. केवल भगवती के नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इसम. 41 शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशका. म. विभाजित है। आदि के आठ शतक, तथा 12-14 तथा 18-20 ये 14 शतक 10-10 उद्देशका. म. विभाजित हैं। शेष शतका. म. उद्देशका. म. संख्या हीनाधिक पाई जाती है। पन्द्रहव. शतक म. उद्देशक भेद नहीं है। यहां मंखलिगोशाल का चरित्र एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। कहीं-कहीं उद्देशक संख्या विशेष प्रकार के विभागानुसार गुणित क्रम से बताई गई है; जैसे 41 व. शतक म. 28 प्रकार की प्ररूपणा के गुणा मात्र से उद्देशका. की संख्या 196 हो गई है। 35 व. शतक म. 12 अवान्तर शतक हैं, जिनम. प्रथम आठ, ग्यारह के गुणित क्रम से 88 उद्देशका. म. एवं अन्तिम चार, नौ उद्देशका. के गुणित क्रम से 36 होकर सम्पूर्ण उद्देशका. की संख्या 124 हो गई है। इस समस्त रचना का सूत्र क्रम से भी विभाजन पाया जाता है, जिसके अनुसार कुल सूत्रा. की संख्या 867 है। इस प्रकार ये अन्य श्रुतांगा. की अपेक्षा बहुत विशाल हैं। इसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर रूप म. है। गौतम गणधर जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करते हैं और स्वयं तीर्थंकर महावीर उत्तर देते हैं।

टीकाकार अभयदेव ने इन प्रश्नोत्तरा. की संख्या 36,000 बताई है। प्रश्नोत्तर कहीं बहुत छोटे-छोटे हैं। जैसे भगवन्! ज्ञान का क्या फल है? - विज्ञान। विज्ञान का क्या फल है? - प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का फल क्या है? - संयम; आदि और कहीं ऐसे बड़े कि प्रश्न भी हैं कि जिनके उत्तर मं परा का पूरा अध्याय आ गया। यथा पंद्रहव. शतक में परा मंखलिगोशालक का चरित्र आ जाता है। इन प्रश्नोत्तरा. म. जैन सिद्धान्त व इतिहास तथा अन्य सामयिक घटनाआ. व व्यक्तिया. का इतना विशाल संकलन हो गया है कि इस रचना को प्राचीन जैन-कोश ही कहा जाए तो अनुचित नहीं। स्थान-स्थान पर विवरण अन्य ग्रन्था., जैसे पण्णवणा, जीवाभिगम, उववाइय, रायपसेणिज्ज, णंदी आदि का उल्लेख करके संक्षिप्त कर दिया गया है। इस प्रकार उद्देशक के उद्देशक भी समाप्त कर दिए गए हैं। ये उल्लिखित रचनाएं निश्चय ही ग्यारह श्रुतांगा. से पश्चात्-कालीन हैं। नन्दीसूत्र तो वलभी वाचना के नायक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही रचना मानी जाती है। उसका भी इस ग्रन्थ म. उल्लेख होने से, तथा यहां के विषय विवरण को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की सूचना से यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुतांग को अपना वर्तमान रूप, नन्दीसूत्र की रचना के पश्चात् अर्थात् वीर निर्वाण से लगभग 1000 वर्ष पश्चात् प्राप्त हुआ है। यही बात प्रायः अन्य श्रुतांगा. के सम्बन्ध म. भी घटित होती है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि विषय-वर्णन प्राचीन और आचार्य-परम्परागत है। इसम. हम. महावीर के जीवन के साथ ही उनके अनेक शिष्या., गृहस्थ अनुयायिया. तथा अन्य तीर्थंकरा. का परिचय मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आजीवक सम्प्रदाय के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संस्थापक मंखलिगोशाल के जीवन का जितना विस्तृत परिचय यहां मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। स्थान-स्थान पर पार्श्वापत्या. अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयायिया. तथा उनके द्वारा मान्य चातुर्याम धर्म के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के समय म. यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप से प्रचलित था। उसका महावीर द्वारा प्रतिपादित पंचमहाव्रत रूप धर्म से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था एवं उसका क्रमशः महावीर के सम्प्रदाय म. समावेश होना प्रारम्भ हो गया था। ऐतिहासिक व राजनैतिक दृष्टि से सातव. शतक म. उल्लिखित वैशाली म. हुए महाशिलाकण्टक संग्राम तथा रथ-मुसल संग्राम, इन दो महायुद्धा. का वर्णन अपूर्व है। कहा गया है कि इन युद्धा. म. एक ओर वज्जी एवं विदेहपुत्र थे और दूसरी ओर नौ मल्लवी, नौ लिच्छवी, काशी, कौशल एवं अठारह गणराजा थे। इन युद्धा. म. वज्जी, विदेहपुत्र कुणिक (अजातशत्रु) की विजय हुई। प्रथम युद्ध म. 84 और दूसरे युद्ध म. 96 लाख लोग मारे गए। 21, 22 और 23 व. शतक वनस्पति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यहां नाना-प्रकार से वनस्पति का वर्गीकरण किया गया है एवं उनके कन्द, मूल, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के सजीवत्व, निर्जीवत्व की दृष्टि से विचार किया गया है।

13.4.6 ज्ञातृधर्म कथा (नायाधम्मकहाओ)

यह आगम दो श्रुतस्कन्धा. म. विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कन्ध म. 19 अध्याय हैं। इसके नाम की सार्थकता दो प्रकार से समझाई जाती है। एक तो संस्कृत रूपान्तर ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार, जिससे प्रकट होता है कि श्रुतांग म. ज्ञात अथवा ज्ञातपुत्र महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्मकथाआ. का प्ररूपण है। दूसरा संस्कृत रूपान्तर न्यायधर्मकथा भी सम्भव है, जिसके अनुसार इसम. न्याया. अर्थात् ज्ञान व नीति सम्बन्धी सामान्य नियमा. और उसके दृष्टान्ता. द्वारा समझाने वाली कथाआ. का समावेश है। रचना के स्वरूप को देखते हुए यह द्वितीय संस्कृत रूपान्तर ही उचित प्रतीत होता है, यद्यपि प्रचलित नाम ज्ञाताधर्मकथा पाया जाता है। प्रथम अध्ययन म. राजगृह के नरेश श्रेणिक के धारिणीदेवी से उत्पन्न राजपुत्र मेघकुमार का कथानक है। जब राजकुमार वैभवानुसार बालकपन को व्यतीत कर व समस्त विद्याआ. और कलाआ. को सीखकर युवावस्था को प्राप्त हुआ, तब उसका अनेक राजकन्याआ. से विवाह हो गया। एक बार महावीर के उपदेश को सुनकर मेघकुमार को मुनिदीक्षा धारण करने की इच्छा हुई। माता ने बहुत समझाया, किन्तु राजकुमार नहीं माना और उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। मुनि-धर्म पालन करते हुए एक बार उसके हृदय म. कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ और उसे प्रतीत हुआ मानो उसने राज्य छोड़, मुनि दीक्षा लेकर भूल की है। किन्तु जब महावीर ने उसके पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाकर समझाया, तब उसका चित्त पुनः मुनिधर्म म. दृढ़ हो गया। इसी प्रकार अन्य-अन्य अध्ययना. म. भिन्न-भिन्न कथानक तथा उसके द्वारा तप, त्याग व संयम सम्बन्धी किसी नीति व न्याय की स्थापना की गई है। आठव. अध्ययन म. विदेह राजकन्या मल्लि एवं सोलहव. अध्याय म. द्रौपदी के पूर्वजन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है। व्रतकथाआ. म. सुप्रचलित सुगन्ध-दशमी कथा का मूलाधार द्रौपदी के पूर्वभव म. नागश्री व सुकुमालिया का चरित्र सिद्ध होता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध दश वर्गों म. विभाजित है और प्रत्येक वर्ग पुनः अनेक अध्ययना. म. विभक्त है। इन वर्गों म. प्रायः स्वर्गों के इन्द्रा.- जैसे चमरेन्द्र, असुरेन्द्र वाणव्यंतरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शक्र व ईशान की अग्रमहिषी रूप से उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रिया. की कथाएं हैं। तीसरे वर्ग म. देवकी के पुत्र गजसुकुमाल का कथानक विशेष उल्लेखनीय है, क्या.कि यह कथानक पीछे के जैन साहित्य म. पल्लवित होकर अवतरित हुआ है। यही कथानक हम. पालि महावग्ग म. 'यसपव्वज्जा' के रूप म. प्राप्त होता है।

13.4.7 उपासकाध्ययन (उवासगदसाओ)

इस श्रुतांग म. जैसा नाम म. ही सूचित किया गया है, दश अध्ययन हैं और उनम. क्रमशः आनन्द, कामदेव, चुलनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिय, सद्दालपुत्र, महाशतक, नंदिनीप्रिय और सालिहीप्रिय इन दश उपासका. के कथानक हैं। इन कथानका. के द्वारा जैन गृहस्था. के धार्मिक नियम समझाए गए हैं और यह भी बताया गया है कि उपासका. को अपने धर्म के परिपालन म. कैसे-कैसे विघ्ना. और प्रलोभना. का सामना करना पड़ता है। प्रथम आनन्द अध्ययन म. पांच अणुव्रता., तीन गुणव्रता. और चार शिक्षाव्रता.- इन बारह व्रता. तथा उनके अतिचारा. का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है।

इनका विधिवत् पालन वाणिज्य ग्राम के जैन गृहस्थ आनन्द ने किया था। आनन्द बड़ा धनी गृहस्थ था, जिसकी धन-धान्य, सम्पत्ति करोड़ा. स्वर्णमुद्राआ. की थी। आनन्द ने स्वयं भगवान् महावीर से गृहस्थ-व्रत लेकर अपने समस्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परिग्रह और भोगोपभोग के परिमाण को सीमित किया था। उसने क्रमशः अपनी धर्मसाधना को बढ़ा कर बीस वर्ष म. इसका इतना अवधिज्ञान प्राप्त किया था कि उसके विषय म. गौतम गणधर को कुछ शंका हुई, जिसका निराकरण स्वयं भगवान् महावीर ने किया। इस कथानक के अनुसार वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश पास-पास थे। कोल्लाग सन्निवेश म. ज्ञातकुल की पौषधशाला थी, जहां का कोलाहल वाणिज्यग्राम तक सुनाई पड़ता था। वैशाली के समीप जो बनिया और कोल्हुआ नामक वर्तमान ग्राम हैं, वे ही प्राचीन वाणिज्यग्राम और कोल्लाग सन्निवेश सिद्ध होते हैं। अगले चार अध्ययना. म. धर्म के परिपालन म. बाहर से कैसी-कैसी विघ्न-बाधाएं आती हैं, इनके उदाहरण उपस्थित किए गए हैं। द्वितीय अध्ययन म. एक मिथ्यादृष्टि देव ने पिशाच आदि नाना रूप धारण कर, कामदेव उपासक को अपनी साधना छोड़ देने के लिए कितना डराया-धमकाया, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है। ऐसा ही चित्रण तीसरे, चौथे और पांचव. अध्ययना. म. भी पाया जाता है। छठे अध्ययन म. उपासक के सम्मुख गोशाल मंखलिपुत्र के सिद्धान्ता. का एक देव के द्वारा उसकी धार्मिक श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न किया गया है किन्तु वह अपने श्रद्धान म. दृढ़ रहता है तथा अपने प्रत्युत्तरा. द्वारा प्रतिपक्षी को परास्त कर देता है। इस समाचार को जानकर महावीर ने उसकी प्रशंसा की। उक्त प्रसंग म. गोशाल मंखलिपुत्र के नियतिवाद का प्ररूपण किया गया है । सातव. अध्ययन म. भगवान् महावीर आजीवक सम्प्रदाय के उपासक सद्दालपुत्र को सम्बोधित कर अपना अनुगामी बना लेते हैं। (यहां महावीर को उनके विविध महाप्रवृत्तिया. के कारण महाब्राह्मण, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथिक व महानिर्यापक उपाधियां दी गई हैं।) तत्पश्चात् उसके सम्मुख पूर्वोक्त प्रकार का दैवी उपसर्ग उत्पन्न होता है किन्तु वह अपने श्रद्धान म. अडिग बना रहता है और अन्त तक धर्मपालन कर स्वर्गगामी होता है। आठव. अध्ययन म. उपासक को उसकी अधार्मिक व मांसलोलुप पत्नी द्वारा धर्म-बाधा पहुंचाई जाती है। अन्त के कथानक बहुत संक्षेप म. शान्तिपूर्वक धर्मपालन के उदाहरण रूप कहे गए हैं। ग्रन्थ के अन्त की बारह गाथाआ. म. उक्त दसा. कथानका. के नगर आदि के उल्लेखा. द्वारा सार प्रकट कर दिया है। इस प्रकार यह श्रुतांग आचारांग का परिपूरक है, क्या.कि आचारांग म. मुनिधर्म और इसम. गृहस्थधर्म का निरूपण किया गया है। आनन्द आदि महा सम्पत्तिवान गृहस्था. का जीवन कैसा था, इसका परिचय इस ग्रन्थ से भलीभांति प्राप्त होता है।

13.4.8 अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ)

इस श्रुतांग म. आठ वर्ग हैं, जो क्रमशः 18, 8, 13, 10, 16, 13 और 10 अध्ययना. म. विभाजित हैं। इनम. ऐसे महापुरुषा. के कथानक प्रस्तुत किए गए हैं, जिन्होंने घोर तपस्या कर अन्त म. निर्वाण प्राप्त किया और इसी के कारण वे अन्तकृत कहलाए। यहां कोई कथानक अपने रूप म. पूर्णता से वर्णित नहीं पाया जाता। अधिकांश वर्णन अन्यत्र के वर्णनानुसार पूरा कर लेने की सूचना मात्र कर दी गई है। उदाहरणार्थ प्रथम अध्ययन म. गौतम का कथानक द्वारवती नगरी के राजा अंधकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर कह दिया गया है कि यहां स्वप्न-दर्शन, पुत्र-जन्म, उसका बालकपन, कला-ग्रहण, यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रसाद और भोगा. का वर्णन जिस प्रकार महाबल की कथा म. अन्यत्र (भगवती म.) किया गया है, उसी प्रकार कर लेना चाहिए। आगे तो अध्ययन के अध्ययन केवल आख्यान के नायक या नायिका का नामोल्लेख मात्र करके शेष समस्त वर्णन अन्य आख्यानों द्वारा पूरा कर लेने की सूचना देकर समाप्त कर दिए गए हैं। इस श्रुतांग के नाम पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इसम. उवासगदसाओ के समान मूलतः दस ही अध्याय रहे हा.गे। ग्रन्थ को उसका वर्तमान रूप पश्चात् पल्लवित होकर प्राप्त हुआ है।

13.4.9 अनुत्तरोपपातिक दशा (अणुत्तरोवाइय दसाओ)

इस श्रुतांग म. कुछ ऐसे महापुरुषा. का चरित्र वर्णित है, जिन्हा.ने अपनी धर्म-साधना के द्वारा मरण कर उन अनुत्तर स्वर्ग विमाना. म. जन्म लिया जहां से केवल एक बार ही मनुष्य योनि म. आने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह श्रुतांग तीन वर्गों म. विभाजित है। प्रथम वर्ग म. 10, द्वितीय म. 13 व तृतीय म. 10 अध्ययन हैं। किन्तु इनम. चरित्रा. का उल्लेख केवल सूचना मात्र से कर दिया गया है। केवल प्रथम वर्ग के धारणीपुत्र जाली तथा तीसरे म. भद्रापुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णित है।

उल्लिखित 33 अनुत्तरविमानगामी पुरुषा. म. प्रथम 23 राजा श्रेणिक के धारणी, चेलना व नन्दा, इन तीन रानिया. से उत्पन्न कहे गए हैं। अन्त म. धन्य आदि दस काकन्दी नगरी की सार्थवाही भद्रा के पुत्र। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन म.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धन्य की कठोर तपस्या और उसके कारण उसके अंग-प्रत्यंग की क्षीणता का बड़ा मार्मिक और विस्तृत वर्णन किया गया है। यह वर्णन पालि ग्रन्था. म. बुद्ध की तप से उत्पन्न देहक्षीणता का स्मरण कराता है।

13.4.10 प्रश्न व्याकरण (पण्ह-वागरण)

यह श्रुतांग दो खण्डा. म. विभाजित है। प्रथम खण्ड म. पांच आस्रवद्वारा. का वर्णन है, और दूसरे म. पांच संवरद्वारा. का। पांच आस्रवद्वारा. म. हिंसादि पांच पापा. का विवेचन है और संवरद्वारा. म. उन्हीं के निषेध रूप अहिंसादि व्रता. का। इस प्रकार इसम. उक्त व्रता. का सुव्यवस्थित वर्णन पाया जाता है। किन्तु इस विषय-वर्णन से श्रुतांग के नाम की सार्थकता का कोई पता नहीं चलता। स्थानांग, समवायांग तथा नन्दीसूत्र म. जो इस श्रुतांग का विषय-परिचय दिया गया है। उससे प्रतीत होता है कि मूलत: इसम. स्वसमय और परसमय सम्मत नाना विद्याआ. व मन्त्रा. आदि का प्रश्नोत्तर रूप से विवेचन किया गया था, किन्तु यह विषय प्रस्तुत ग्रन्थ म. अब प्राप्त नहीं होता।

13.4.11 विपाक सूत्र (विवागसुयं)

इस श्रुतांग म. दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहला दु:ख-विपाक विषयक और दूसरा सुख-विपाक विषयक। प्रथम श्रुत-स्कन्ध दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा है। प्रत्येक म. दस-दस अध्ययन हैं, जिनम. क्रमश: जीव के कर्मानुसार दु:ख और सुख रूप कर्मफला. का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त जैन धर्म का विशेष महत्त्वपूर्ण अंग है। उसके उदाहरणा. के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। यहां लकड़ी टेककर चलते हुए व भिक्षा मांगते हुए कहीं एक अन्धे मनुष्य का दर्शन होगा; कहीं श्वास, भगन्दर, अर्श, खाज, यक्ष्मा व कुष्ठ आदि से पीड़ित मनुष्या. के दर्शन हा.गे।नाना व्याधिया. के ओषधि-उपचार का वर्णन भी मिलता है। गर्भिणी स्त्रिया. के दोहद, भ्रूण-हत्या, नरबलि, क्रूर अमानुषिक दण्ड, वेश्याआ. के प्रलोभना., नाना प्रकार के मांस संस्कारा., पकाने की विधि आदि के वर्णन भी यहां मिलते हैं। उनके द्वारा हम. प्राचीन काल की नाना सामाजिक विधिया., मान्यताआ. एवं अन्धविश्वासा. का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार सामाजिक अध्ययन के लिए यह श्रुतांग महत्त्वपूर्ण है।

13.4.12 दृष्टिवाद (विट्ठिवाद)

यह श्रुतांग अब नहीं मिलता। समवायांग के अनुसार इसके पांच विभाग थे-परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इन पांचा. के नाना भेद-प्रभेदा. के उल्लेख पाए जाते हैं। इन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि परिकर्म के अंतर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवरण था। सूत्र के अंतर्गत छिन्न-छेद नय, अछिन्न छेद नय, त्रिक नय व चतुर्नय की परिपाटिया. का विवरण था। छिन्न छेद व चतुर्नय परिपाटियां निर्ग्रंथा. की एवं अछिन्न छेद नय और त्रिक नय परिपाटियां आजीविका. की थी। पीछे इन सबका समावेश जैन नयवाद म. हो गया। दृष्टिवाद का पूर्वगत विभाग सबसे अधिक विशाल और महत्त्वपूर्ण रहा है। इसके अंतर्गत उत्पाद, आग्रायणी, वीर्यप्रवाद आदि 14 पूर्व थे जिनका परिचय ऊपर कराया जा चुका है। अनुयोग नामक दृष्टिवाद के चतुर्थ भेद के मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग- ये दो भेद बताए गए हैं। प्रथम म. अरहंता. के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण सम्बन्धी इतिवृत्त समाविष्ट किया गया था और दूसरे म. कुल-कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि अन्य महापुरुषा. के चरित्र का। इस प्रकार अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण कहा जा सकता है। दिगम्बर जैन परम्परा म. इस भेद का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है। पंचम भेद चूलिका के सम्बन्ध म. समवायांग म. केवल यह सूचना पाई जाती है कि प्रथम चार पूर्वों की जो चूलिकाएं गिनाई गई हैं, वे ही यहां समाविष्ट समझना चाहिए। किन्तु दिगम्बर परम्परा म. चूलिका के पांच भेद गिनाए गए हैं, जिनके नाम हैं- जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत। इन नामा. से प्रतीत होता है कि उनका विषय इन्द्रजाल और मन्त्र-तन्त्रात्मक था जो जैन धर्म की तात्त्विक और समीक्षात्मक दृष्टि के आगे स्वभावत: अधिक काल तक नहीं टिक सका।

13.5 उपांग-12

उपर्युक्त श्रुतांगा. के अतिरिक्त वलभी वाचना द्वारा 12 उपांगा. 6 छेद सूत्रा. 4 मूल सूत्रा. 10 प्रकीर्णका. और 2 चूलिका सूत्रा. का भी संकलन किया गया था। (1) प्रथम उपांग औपपातिक म. नाना विचारा., भावनाआ. और साधना. से मरने वाले जीवा. का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, इसका उदाहरण सहित व्याख्यान किया गया है। इस ग्रन्थ की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह विशेषता है कि यहां नगरा., चैत्या., राजाआ. व रानिया. आदि के वर्णन सम्पूर्ण रूप म. पाए जाते हैं जिनका वर्णन अन्य श्रुतांगा. म. इसी ग्रन्थ का उल्लेख देकर छोड़ दिया जाता है।

(2) दूसरे उपांग का नाम 'रायपसेणिय' है, जिसका संस्कृत रूपान्तर 'राजप्रश्नीय' किया जाता है। इसका मुख्य विषय राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किए गए प्रश्ना. का केशी मुनि द्वारा समाधान है। आश्चर्य नहीं जो इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कौशल का इतिहास-प्रसिद्ध राजा पसेण्डी (प्रसेनजित्) रहा हो, जिसके अनुसार ग्रन्थ के नाम का ठीक संस्कृत रूपान्तर 'राज-प्रसेनजित् सूत्र' होना चाहिए। इसके प्रथम भाग म. तो सूर्याभदेव का वर्णन है और दूसरे भाग म. इस देव के पूर्व जन्म का वृत्तान्त है, जबकि सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप म. पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था और उसने आत्मा की सत्ता व उसके स्वरूप के सम्बन्ध म. नाना प्रकार से अपने भौतिकवाद की दृष्टि से प्रश्न किए थे। अन्त म. केशी मुनि के उपदेश से वह सम्यग्दृष्टि बन गया और उसी के प्रभाव से दूसरे जन्म म. महासमृद्धिशाली सूर्याभदेव हुआ। यह ग्रन्थ जड़वाद व अध्यात्मवाद की प्राचीन परम्पराआ. के अध्ययन के लिए तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही साहित्य की दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है।

(3) तीसरे उपांग जीवाजीवाभिगम म. 20 उद्देशक थे, किन्तु उपलब्ध संस्करण म. नौ प्रतिपत्तियां (प्रकरण) हैं, जिनके भीतर 272 सूत्र हैं। इसम. नामानुसार जीव और अजीव के भेद-प्रभेदा. का विवरण महावीर और गौतम के बीच प्रश्नोत्तर रूप म. उपस्थित किया गया है। तीसरी प्रतिपत्ति म. द्वीपा. और सागरा. का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। यहां प्रसंगवश लोकोत्सवा., याना., अलंकारा. व मिष्टान्ना. आदि के उल्लेख भी पाए जाते हैं, जो प्राचीन लोक-जीवन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(4) चौथे उपांग प्रज्ञापना (पण्णवणा) म. छत्तीस पद (परिच्छेद) हैं, जिनम. क्रमशः जीव से सम्बन्ध रखने वाले, प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, कर्म, उपयोग, वेदना, समुद्घात आदि विषया. का प्ररूपण है । जैन दर्शन की दृष्टि से यह रचना बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो स्थान अंगा. म. भगवतीसूत्र को प्राप्त है, वही उपांगा. म. इस सूत्र को दिया जा सकता है, और इसे भी उसी के अनुसार जैन सिद्धान्त का ज्ञानकोश कहा जा सकता है। इस रचना म. इसके कर्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, जिनका समय सुधर्मा स्वामी से 23 वीं पीढ़ी वीर निर्वाण के 376 वर्ष पश्चात् अर्थात् ई.पू. दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(5) पांचव. उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपण्णत्ति) म. 20 पाहुड हैं, जिनके अन्तर्गत 108 सूत्रा. म. सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रा. की गतिया. का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष सम्बन्धी मान्यताआ. के अध्ययन के लिए यह रचना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

(6) छठा उपांग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति (जम्बूदीवपण्णत्ति) है। इसके दो विभाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रथम भाग के चार वक्खारा. (परिच्छेदा.) म. जम्बूद्वीप और भरतक्षेत्र तथा उसके पर्वता., नदिया. आदि का एवं उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल-विभागा. का तथा कुलकरा., तीर्थंकरों और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(7) सातवां उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति (चन्दपण्णत्ति) अपने विषय-विभाजन व प्रतिपादन म. सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलतः ये दोना. अवश्य अपने-अपने विषय म. भिन्न रहे हा.गे, किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्रायः एक से हो गए हैं।

(8) आठव. उपांग कल्पिका (कप्पिया) म. 10 अध्ययन हैं जिनम. कुणिक अजातशत्रु के अपने पिता श्रेणिक बिम्बिसार को बन्दीगृह म. डालने, श्रेणिक की आत्महत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिनसे मगध के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(9) नौव. उपांग कल्पावतंसिका (कप्पावडंसियाओ) म. श्रेणिक के दस पौत्रा. की कथाएं हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए।

(10-11) दसव. व ग्यारहव. उपांग पुष्पिका (पुप्फियाओ) और पुष्पचूला (पुप्फचूलाओ) म. 10-10 अध्ययन हैं, जिनम. ऐसे पुरुष-स्त्रिया. की कथाएं हैं जो धार्मिक साधना द्वारा स्वर्गगामी हुए और देवता होकर अपने विमाना. द्वारा महावीर की वन्दना करने आए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(12) बारहव. अन्तिम उपांग वृष्णिदशा (वण्हिदसा) म. बारह अध्ययन हैं, जिनम. द्वारवती (द्वारका) के राजा कृष्ण वासुदेव का, 22व. तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार का एवं वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारा. के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

आठ से बारह तक के पांच उपांग सामूहिक रूप से नियरिवलियाओ भी कहलाते हैं और उनम. उन्ह. उपांग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। आश्चर्य नहीं जो आदितः ये ही पांच उपांग रहे हा. और वे अपने विषयानुसार अंगा. से सम्बद्ध हा.। पीछे द्वादशांग की देखादेखी उपांगा. की संख्या बारह तक पहुंचा दी गई हो।

13.6 छेदसूत्र – 6

छह छेद सूत्रा. के नाम क्रमशः (1)निशीथ (निसीह), (2)महानिशीथ (महानिसीह), (3) व्यवहार (ववहार) (4) आचारदशा (आचारदसा), (5) कल्पसूत्र (कप्पसुत्त) और (6) पंचकल्प (पंचकप्प) या जीतकल्प(जीतकप्प) हैं, जिनम. बड़े विस्तार के साथ जैन मुनिया. की बाह्य और आभ्यन्तर साधनाआ. का वर्णन किया गया है और विशेष नियमा. के भंग होने पर समुचित प्रायश्चित्ता. का विधान किया गया है। प्रसंगवश यहां नाना तीर्थंकरा. व गणधरा. सम्बन्धी घटनाआ. के उल्लेख भी आए हैं। इन रचनाआ. म. कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है और साधुआ. म. उसके पठन-पाठन की परम्परा आज तक विशेष रूप से सुप्रचलित है। मुनिया. के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याआ. का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए ये रचनाएं बड़े महत्त्व की हैं।

13.7 मूलसूत्र – 4

चार मूलसूत्रा. के नाम हैं- उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण), आवश्यक (आवस्सय), दशवैकालिक(दसवेयालिय) और पिण्डनिर्युक्ति (पिण्डणिज्जुत्ति)। ये चारा. सूत्र मुनिया. के अध्ययन और चिन्तन के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माने गए हैं, क्या.कि उनम. जैनधर्म के मूल सिद्धान्ता., विचारा. व भावनाआ. और साधनाआ. का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यक सूत्र म. साधुआ. की छह नित्यक्रियाआ. अर्थात् सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाया गया है। पिण्डनिर्युक्ति म. अपने नामानुसार पिण्ड अर्थात् मुनि के ग्रहण योग्य आहार का विवेचन किया गया है। इसम. आठ अधिकार हैं – उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण, जिनके द्वारा आहार म. उत्पन्न होने वाले दोषा. का विवेचन किया गया है और उनके साधु द्वारा निवारण किए जाने पर जोर दिया गया है। निर्युक्ति आगमा. पर सबसे प्राचीन टीकाआ. को कहते हैं और इनके कर्ता भद्रबाहु माने जाते हैं। पिण्ड-निर्युक्ति यथार्थतः दशवैकालिक के अन्तर्गत पिण्ड-एषणा नामक पांचव. अध्ययन की इसी प्रकार की प्राचीन टीका है, जिसे अपने विषय के महत्त्व व विस्तार के कारण आगम म. एक स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हुआ। शेष दो मूल सूत्र अर्थात् उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष महत्त्वपूर्ण, सुप्रचलित और लोकप्रिय रचनाएं हैं, जो भाषा, साहित्य एवं सिद्धान्त तीना. दृष्टिया. से अपनी विशेषता रखती हैं। उत्तराध्ययन म. 36 अध्ययन हैं। परम्परानुसार महावीर ने अपने जीवन के उत्तरकाल म. निर्वाण से पूर्व ये उपदेश दिए थे। इन 36 अध्ययना. को तीन भागा. म. विभाजित किया जा सकता है – एक सैद्धान्तिक दूसरा नैतिक व सुभाषितात्मक और तीसरा कथात्मक। इन तीना. प्रकार के विषया. का पश्चात्कालीन साहित्य म. खूब अनुकरण व टीकाआ. आदि द्वारा खूब पल्लवन किया गया है। दशवैकालिक सूत्र म. दो चूलाओं सहित 10 अध्ययन हैं, जिनम. विशेषतः मुनि आचार का प्ररूपण किया गया है। ये दोना. रचनाएं बहुलता से पद्यात्मक हैं और सुभाषिता., न्याया. व रूपका. से भरपूर हैं। इनकी भाषा आचारांग और सूत्रकृतांग के सदृश अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इन दोना. सूत्रा. का उल्लेख दिगम्बर शास्त्रा. म. भी पाया जाता है।

13.8 प्रकीर्णक – 10

दसपइण्णा – नामक ग्रन्था. की रचना के सम्बन्ध म. टीकाकारा. ने कहा है कि तीर्थंकरा. द्वारा दिए गए उपदेश के आधार पर नाना श्रमणा. द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गए, वे प्रकीर्णक कहलाए। ऐसे प्रकीर्णका. की संख्या सहस्रा. म. बताई जाती है, किन्तु जिन रचनाआ. को वलभी वाचना के समय आगम के भीतर स्वीकृत किया गया वे दस हैं, जिनके नाम हैं—

1. चतुःशरण (चउसरण)
2. आतुर-प्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाण)
4. भक्तपरिज्ञा (भत्तपइण्णा)
5. तन्दुलवैचारिक (तन्दुलवेयालिय)
6. संस्तारक (संथारग)
7. गच्छाचार (गच्छायार)
8. गणिविद्या (गणिविज्जा)
9. देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थव)
10. मरणसमाधि (मरणसमाहि)।

ये रचनाएं प्रायः पद्यात्मक हैं। (1) चतुःशरण म. आरम्भ म. छह आवश्यका. का उल्लेख करके पश्चात् अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म – इन चार को शरण मानकर दुष्कृत (पाप) के प्रति निन्दा और सुकृत (पुण्य) के प्रति अनुराग प्रकट किया गया है। इसम. तिरेसठ गाथाएं मात्र हैं। अन्तिम गाथा म. कर्ता का नाम वीरभद्र अंकित पाया जाता है। (2) आतुर-प्रत्याख्यान म. बालमरण और पंडित मरण म. भेद स्थापित किया गया है और प्रत्याख्यान अर्थात् परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन कहा गया है। इसम. केवल 70 गाथाएं हैं और कुछ अंश गद्य म. भी हैं। (3) महाप्रत्याख्यान म. 142 अनुष्टुप छंदमय गाथाआ. द्वारा दुश्चरित्र की निंदापूर्वक, सच्चरित्रात्मक भावनाआ., व्रता. व आराधनाआ. और अन्ततः प्रत्याख्यान के परिपालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यह रचना पूर्वोक्त आतुर-प्रत्याख्यान का ही पूरक स्वरूप है। (4) भक्त-परिज्ञा म. 172 गाथाआ. द्वारा भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और पादपोपगमन रूप मरण के भेदा. का स्वरूप बताया गया है तथा नाना दृष्टान्ता. द्वारा मन को संयत रखने का उपदेश दिया गया है। मन को बन्दर की उपमा दी गई है, जो स्वभावतः अत्यन्त चंचल है और क्षणमात्र भी शांत नहीं रहता। (5) तंदुलवैचारिक या वैकालिक 123 गाथाआ. युक्त गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसम. गौतम और महावीर के बीच प्रश्नोत्तरा. के रूप म. जीव की गर्भावस्था, आहार-विधि, बालजीवन-क्रीड़ा आदि अवस्थाआ. का वर्णन है। प्रसंगवश इसम. शरीर के अंग-प्रत्यंगा. का व उनकी अपवित्रता का, स्त्रिया. की प्रकृति और उनसे उत्पन्न होने वाले साधुआ. के भया. आदि का विस्तार से वर्णन है। (6) संस्तारक म. 122 गाथाआ. द्वारा साधु के अन्त समय म. तृण का आसन (संथारा) ग्रहण करने की विधि बताई गई है, जिस पर अविचल रूप से स्थिर रह कर वह पंडित-मरण करके सद्गति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रसंग के दृष्टान्त स्वरूप सुबंधु व चाणक्य आदि नामा. का उल्लेख हुआ है। (7) गच्छाचार म. 137 गाथाआ. द्वारा मुनिया. व आर्यिकाआ. के गच्छ म. रहने व तत्सम्बन्धी विनय व नियमोपनियमा. के पालन की विधि समझाई गई है। यहाँ मुनिया. और साध्विया. को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सतर्क रहने और अपने को कामवासना की जागृति से बचाने पर जोर दिया गया है। (8) गणिविद्या म. 86 गाथाआ. द्वारा दिवस, तिथि, नक्षत्र, योग, करण, मुहूर्त आदि का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया है जिसम. होरा शब्द भी आया है। (9) देवेन्द्र-स्तव म. 307 गाथाएं हैं, जिनम. 24 तीर्थंकरा. की स्तुति करके, स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर म. कल्पा. और कल्पातीत देवा. का वर्णन करता है। यह कृति भी वीरभद्र की मानी जाती है। (10) मरण-समाधि म. 663 गाथाएं हैं जिनम. आराधना, आराधक, आलोचन, संलेखन, क्षमापन आदि 14 द्वारा. से समाधि-मरण की विधि समझाई गई है, व नाना दृष्टान्ता. द्वारा परीषह सहन करने की आवश्यकता बताई गई है। अन्त म. 12 भावनाआ. का भी निरूपण किया गया है। दसा. प्रकीर्णका. के विषय पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य प्रधानतः मुनिया. को अपने अन्त समय म. मन को धार्मिक भावनाआ. म. लगाते हुए शान्ति और निराकुलतापूर्वक शरीर परित्याग करने की विधि को समझाना ही है।

13.9 चूलिका सूत्र – 2

अन्तिम दो चूलिका सूत्र नन्दी और अनुयोगद्वार हैं, जो अपेक्षाकृत पीछे की रचनाएं हैं। (1) नन्दी सूत्र के कर्ता तो एक मतानुसार वलभी वाचना के प्रधान देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ही हैं। नन्दीसूत्र म. 90 गाथाएं और 59 सूत्र हैं। यहां भगवान महावीर तथा उनके संघवर्ती श्रमणा. व परम्परागत भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरि आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। तत्पश्चात् ज्ञान के पांच भेदा. का विवेचन कर, आचारांग आदि 12 श्रुतांगा. के स्वरूप को विस्तार से व्यक्त किया गया है। यहां भारत, रामायण, कौटिल्य, पातंजल आदि शास्त्रपुराणा. तथा वेदा. एवं 72 कलाआ. का उल्लेख कर मुनिया. के लिए उनका अध्ययन वर्ज्य कहा गया है। (2) अनुयोगद्वार आर्यरक्षित कृत माना जाता है। उसम. प्रश्नोत्तर रूप से पल्योपमादि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपमा प्रमाण का स्वरूप समझाया गया है, और नया. का भी प्ररूपण किया गया है। इसके साथ ही काव्य सम्बन्धी नवरसा., स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि लक्षणा. एवं चरक, गौतम आदि अन्य शास्त्रा. के उल्लेख भी आए हैं। इस पर हरिभद्र द्वारा विवृत्ति भी लिखी गई है।

13.10 अर्द्धमागधी भाषा

उपर्युक्त 45 आगम ग्रन्था. की भाषा अर्द्धमागधी मानी जाती है। अर्द्धमागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है–जो भाषा आधे मगध प्रदेश म. बोली जाती थी, अथवा जिसम. मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियां पाई जाती थीं। यथार्थतः ये दोना. ही व्युत्पत्तियां सार्थक हैं, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यतः तीन विशेषताएं थीं– उसम. र का उच्चारण ल होता था, तीना. प्रकार के ऊष्म श, स, ष के स्थान पर केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता था; और ♦ अकारान्त कर्ताकारक एकवचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तिया. म. से अर्द्ध–मागधी म. कर्ताकारक की एकारविभक्ति बहुलता से पाई जाती है। र का ल क्वचित ही होता है तथा तीना. सकारा. के स्थाना. पर तालव्य 'ष' कार न होकर दन्त्य 'स' कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा म. मागधी की आधी प्रवृत्तियां कही जा सकती हैं। इसकी शेष प्रवृत्तियां शौरसेनी प्राकृत से मिलती हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध के पश्चिम प्रदेश म. रहा होगा। विद्वाना. का यह भी मत है कि मूलतः महावीर एवं बुद्ध दोना. के उपदेशा. की भाषा उस समय की अर्द्धमागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एवं पश्चिम की जनता को समान रूप से सुबोध हो सके हा.गे। किन्तु पूर्वोक्त उपलभ्य आगम ग्रन्था. म. हम. उस अर्द्धमागधी का स्वरूप नहीं मिलता। भाषा शास्त्रिया. का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्य भाषा म. संयुक्त व्यंजना. का समीकरण अथवा स्वरभक्ति आदि विधिया. से भाषा का सरलीकरण तो आरम्भ हो गया था, किन्तु उसम. वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क–ग, त–द अथवा इनके लोप की प्रक्रिया आरम्भ नहीं हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर म. प्रारम्भ हुई मानी जाती है; जिसका काल लगभग दूसरी शती ई. सिद्ध होता है। उपलभ्य आगम ग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तिया. से प्रभावित पाए जाते हैं। स्पष्टतः ये प्रवृत्तियां कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनम. समाविष्ट हो गई हैं।

13.11 सूत्र या सूक्त?

इन आगमा. के सम्बन्ध म. एक बात और विचारणीय है। उन्ह. प्रायः सूत्र नाम से उल्लिखित किया जाता है, जैसे आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि।किन्तु जिस अर्थ म. संस्कृत म. सूत्र शब्द का प्रयोग पाया जाता है, उस अर्थ म. ये रचनाएं सूत्र रूप सिद्ध नहीं होतीं। सूत्र का मुख्य लक्षण संक्षिप्त वाक्य म. अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना है, और उनम. पुनरावृत्ति को दोष माना जाता है।किन्तु ये जैन श्रुतांग न तो वैसी संक्षिप्त रचनाएं हैं और न उनम. विषय व वाक्या. की पुनरावृत्ति की कमी है। अतएव उन्ह. सूत्र कहना अनुचित सा प्रतीत होता है। अपने प्राकृत नामानुसार ये रचनाएं सुत्त कहीं गई हैं, जैसे आयारांग सुत्त,उत्तरज्झयण सुत्त आदि। इस सुत्त का संस्कृत पर्याय सूत्र भ्रममूलक प्रतीत होता है। उसका उचित संस्कृत पर्याय सूक्त अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

13.12 उद्देश्य

महावीर के काल म. सूत्र शैली का प्रारम्भ भी सम्भवतःनहीं हुआ था। उस समय विशेष प्रचार था वेदा. के सूक्ता. का। और सम्भवतः वही नाम मूलतः इन रचनाआ. को, बौद्ध साहित्य के सुत्ता. को, उसके प्राकृत रूप म. दिया गया होगा।

13.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. षट्खण्डागम और इस पर लिखी गई टीकाआ. का परिचय द.।
2. अंगा. के नाम बताएं और किन्हीं पांच का संक्षिप्त परिचय द.।

अथवा

अर्द्धमागधी आगमा. की विभिन्न वाचनाआ. का उल्लेख कर.।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नलिखित कृतिया. के नामोल्लेख कीजिए:-
   (क) नाटकत्रय (ख) अष्टपाहुड (ग) दशभक्ति
2. साध्वाचार एवं श्रावकाचार विषयक शौरसेनी ग्रन्था. का परिचय द.।
3. अंग- वाह्य साहित्य के कितने भेद हैं?
4. प्रकीर्णक साहित्य की कतिपय विशेषताओं का प्रतिपादन करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

1. षट्खण्डागम की रचना .... ने की।
2. षट्खण्डागम पर वीरसेनाचार्य ने ....टीका लिखी।
3. षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड का नाम .... है।
4. जयधवला टीका वीरसेनाचार्य द्वारा .... पर लिखी गयी है।
5. तिलोयपण्णत्ति के कर्त्ता .... है।
6. गृद्धपिच्छ आचार्य .... का एक नाम है।
7. .... को नाटकत्रय कहते हैं।
8. कुन्दकुन्द के नाटकत्रय पर ...... टीकाएँ है।
9. भगवती आराधना के रचयिता .... हैं।
10. मूलाचार .... अधिकारों में विभक्त है।
11. पूर्वों की संख्या .... है।
12. बारहवें अंग का नाम .... है।
13. श्वेताम्बर आगमों की भाषा .... है।
14. समवाय में शलाका पुरूषों की संख्या .... बतायी गई है।
15. द्रौपदी की कथा .... में मिलती है।
16. उत्तराध्ययन एक मूलसूत्र/छेदसूत्र है।
17. उत्तराध्ययन की रचना गद्य में/पद्य में/गद्य-पद्य में की गई है।
18. पिंडनिर्युक्ति के कर्ता .... हैं।
19. .... में भगवान् महावीर की तपश्चर्या का वर्णन है।
20. अर्धमागधी भाषा में 'श' का प्रयोग होता है/नहीं होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–14 : आगम व्याख्या–साहित्य

संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 निज्जुति (निर्युक्ति)
14.3 भास (भाष्य)
14.4 चुण्णि (चूर्णि)
14.5 टीका
14.6 निर्युक्ति
14.7 भाष्य साहित्य
14.8 चूर्णि साहित्य
14.9 टीका साहित्य
14.10 सारांश
14.11 अभ्यास प्रश्नावली

14.0 प्रस्तावना

पालि त्रिपिटक पर बुद्धघोष की अट्ठकथाआ. की भांति आगम–साहित्य पर भी निर्युक्ति, संग्रहणी, भाष्य, महाभाष्य, चूर्णि, टीका, विवरण, विवृत्ति, दीपिका, अवचूरी, विवेचन, व्याख्या, अक्षरार्थ, पंजिका, टब्बा, भाषाटीका, वचनिका आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया है।

14.1 उद्देश्य

यह विपुल साहित्य प्रायः आगम–सूत्रा. से सम्बद्ध है, किन्तु साथ ही स्वतन्त्र भी है। इस साहित्य के विविध रूप देखने म. आते हैं। इसका कतिपय भाग आगम–उत्तरकालीन भी है, विशेषकर नन्दी और अनुयोग जैसे परवर्ती आगम–सूत्रा. की दृष्टि से। इस साहित्य को निर्युक्ति (प्राकृत गाथाबद्ध),भाष्य (प्राकृत गाथाबद्ध),चूर्णि (संस्कृत–प्राकृत मिश्रित गद्यबद्ध) और टीका (संस्कृत गद्यबद्ध प्राकृत कथाआ. सहित) इन चार विभागा. म. विभक्त किया गया है। इनम. आगम को जोड़ देने से यह साहित्य पंचांगी नाम से कहा जाता है।

14.2 निज्जुत्ति (निर्युक्ति)

व्याख्यात्मक ग्रन्था. म. निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है।सूत्र म. निश्चय किया हुआ अर्थ जिसम. निबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा है(णिज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ति)। निर्युक्ति आगमा. पर आर्या छन्द म. प्राकृत गाथाआ. म. लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। इसम. विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण और दृष्टान्ता. का उपयोग किया है, जिनका उल्लेख मात्र यहां मिलता है। यह साहित्य इतना सांकेतिक और संक्षिप्त है कि बिना भाष्य और टीका के सम्यक् प्रकार से समझ म. नहीं आता। इसलिए टीकाकारा. ने मूल आगम के साथ–साथ निर्युक्तिया. पर भी टीकाएं लिखी हैं।प्राचीन गुरु परम्परा से आगत पूर्व साहित्य के आधार पर ही निर्युक्ति साहित्य की रचना की गई जान पड़ती है।संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण यह साहित्य आसानी से कण्ठस्थ किया जा सकता था और धर्मोपदेश के समय इसम. से कथा आदि के उद्धरण दिए जा सकते थे। पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आगमा. के मूल सूत्रा. म. गिनी गई है,इससे निर्युक्ति–साहित्य की प्राचीनता का पता चलता है कि वलभी वाचना के समय ईसवी सन् की पांचवीं–छठी शताब्दी के पूर्व ही निर्युक्तियां लिखी जाने लगी थीं।नयचक्र के कर्त्ता मल्लवादी (वि.सं. की 5वीं शताब्दी) ने अपने ग्रन्थ म. निर्युक्ति की गाथा का उद्धरण दिया है,इससे भी उक्त कथन का समर्थन होता है।आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्य प्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशश्रुतस्कन्ध, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित–इन दस सूत्रा. पर निर्युक्तियां लिखी गई हैं। सूर्य प्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। इसके साथ ही पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और आराधनानिर्युक्ति का भी उल्लेख मिलता है। जैसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहा जा चुका है, पिण्डनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति के ही अंश हैं। आराधनानिर्युक्ति का उल्लेख मूलाचार (5.82)म. मिलता है और सम्भवत: यह निर्युक्ति भगवती- आराधना, मरणसमाही आदि म. सम्मिलित कर ली गई है।(ए.एन. उपाध्ये, बृहत्कथाकोश की प्रस्तावना, पृ.31)। पंचकल्पनिर्युक्ति का बृहत्कल्पनिर्युक्ति म. अन्तर्भाव हो जाता है।महानिशीथ के अनुसार पंचमंगलश्रुतस्कन्ध पर भी निर्युक्ति लिखी गई थी।निर्युक्तिया. के लेखक परम्परा के अनुसार अष्टांगनिमित्तवेत्ता और मंत्रविद्या के पारगामी भद्रबाहु (द्वितीय)माने जाते हैं जो छेदसूत्र के कर्त्ता,अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न हैं।दुर्भाग्य से बहुत से आगमा. की निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएं परस्पर इतनी मिश्रित हो गई हैं कि चूर्णिकार भी उन्ह. पृथक् नहीं कर सके। निर्युक्ति म. अनेक ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक और पौराणिक परम्पराएं, जैन सिद्धान्त के तत्त्व और जैना. के परम्परागत आचार-विचार सन्निहित हैं।

14.3 भास (भाष्य)

निर्युक्ति की भांति भाष्य भी प्राकृत गाथाआ. म. संक्षिप्त शैली म. लिखे गए हैं। बृहत्कल्प, दशवैकालिक आदि सूत्रा. के भाष्य और निर्युक्ति की गाथाएं परस्पर अत्यधिक मिश्रित हो गई हैं, इसलिए अलग से उनका अध्ययन करना कठिन है। निर्युक्तिया. की भाषा के समान भाष्या. की भाषा भी मुख्य रूप से प्राचीन प्राकृत (अर्धमागधी) है; अनेक स्थला. पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग भी देखने म. आते हैं। मुख्य छन्द आर्या है। भाष्या. का समय सामान्य तौर पर ईसवी सन् की लगभग चौथी-पांचवीं शताब्दी माना जा सकता है। भाष्यसाहित्य म. विशेष रूप म. निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। इस साहित्य म. अनेक प्राचीन अनुश्रुतियां, लौकिक कथाएं और निर्ग्रन्था. के परम्परागत प्राचीन आचार- विचार की विधिया. आदि का प्रतिपादन है। जैन श्रमण-संघ के प्राचीन इतिहास को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए उक्त तीना. भाष्या. का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है। संघदासगणि क्षमाश्रमण, जो वसुदेवहिण्डी के कर्त्ता संघदासमणि वाचक से भिन्न हैं, कल्पलघुभाष्य और पंचकल्पभाष्य के कर्त्ता के रूप म. प्रसिद्ध हैं। निम्नलिखित भाष्या. का उल्लेख किया गया है—1. बृहत्कल्प लघुभाष्य, 2. बृहत्कल्प बृहत्भाष्य (यह अपूर्ण है, तीसरे अपूर्ण उद्‌देश तक प्राप्त), 3. महत् पंचकल्पभाष्य, 4. व्यवहार लघुभाष्य, 5. व्यवहार बृहत्भाष्य (अप्राप्त), 6. निशीथ लघुभाष्य, 7. निशीथ बृहत्भाष्य (अप्राप्त), 8. विशेषावश्यक-महाभाष्य, 9. जीतकल्प, 10. उत्तराध्ययन, 11. आवश्यक सूत्रमूलभाष्य, 12. आवश्यकसूत्रभाष्य, 13. ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य, 14. ओघनिर्युक्ति-महाभाष्य, 15. दशवैकालिकभाष्य, 16. पिण्डनिर्युक्ति भाष्य। महाकाय भाष्या. (महाभाष्या.) की संख्या आठ है : विशेषावश्यक, बृहत्कल्पलघु, बृहत्कल्पबृहत्, पंचकल्प, व्यवहारलघु, निशीथलघु, जीतकल्प और ओघनिर्युक्तिमहा०। महाभाष्य दो प्रकार से लिखे गए हैं : (1) जिन पर लघुभाष्य नहीं, सीधे निर्युक्ति पर स्वतन्त्र महाभाष्य, जैसे विशेषावश्यक-महाभाष्य और ओघनिर्युक्ति-महाभाष्य; (2) लघुभाष्य को लक्ष्य म. रखकर महाभाष्य, जैसे बृहत्कल्पभाष्य (यह महाभाष्य अपूर्ण है)। निशीथ और व्यवहार पर भी महाभाष्य लिखे गए थे, लेकिन वे अनुपलब्ध हैं। आवश्यक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, दशवैकालिक आदि पर लघुभाष्य लिखे गए हैं जिनम. निर्युक्ति गाथाआ. के साथ भाष्य गाथाआ. का मिश्रण हो गया है।

14.4 चुण्णि (चूर्णि)

आगमा. के ऊपर लिखे हुए व्याख्या-साहित्य म. चूर्णिया. का स्थान बहुत महत्त्व का है। चूर्णियां गद्य म. लिखी गई हैं। चूर्णियां केवल प्राकृत म. ही न लिखी जाकर संस्कृत-मिश्रित प्राकृत म. लिखी गई थीं, इसलिए भी इस साहित्य का क्षेत्र निर्युक्ति और भाष्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। चूर्णिया. म. प्राकृत की प्रधानता होने के कारण इसकी भाषा को मिश्र प्राकृत भाषा कहना सर्वथा उचित ही है। चूर्णियों[1] म. प्राकृत की लौकिक, धार्मिक अनेक कथाएं दी हैं, प्राकृत भाषा म.

1. निशीथ के विशेषचूर्णिकार ने चूर्णि की निम्नलिखित परिभाषा दी है - पागडो ति प्राकृत: प्रगटो वा पदार्थो वस्तुभावो यत्र स:, तथा परिभाष्यते अर्थो९नयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते । अभिधानराजेन्द्रकोश म. चूर्णि की परिभाषा देखिए -

अत्थबहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्गम्भीरं । बहुपायमवोच्छिन्नं गमणयसुद्धं तु चुण्णपयं ॥

जिसम. अर्थ की बहुलता हो, महान अर्थ हो, हेतु, निपात और उपसर्ग से जो युक्त हो, गम्भीर हो, अनेक पदा. से सम्बन्धित हो, जिसम. अनेक गम (जानने के उपाय) हा. और जो नया. से शुद्ध हो, उसे चूर्णिपद समझना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शब्दा. की व्युत्पत्ति दी है तथा संस्कृत और प्राकृत के अनेक पद्य उद्धृत किए हैं। चूर्णिया. म. निशीथ की विशेषचूर्णि तथा आवश्यकचूर्णि का स्थान बहुत महत्त्व का है। इसम. जैन पुरातत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली विपुल सामग्री मिलती है। देश-देश के रीति-रिवाज, मेले-त्यौहार, दुष्काल, चोर-लुटेरे, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग,भोजन,वस्त्र, आभूषण आदि विषया. का इस साहित्य म. वर्णन है जिससे जैन आचार्यों की जनसम्पर्क-वृत्ति, व्यवहार-कुशलता और उनके व्यापक अध्ययन का पता लगता है। लोककथा और भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त उपयोगी है। वाणिज्यकुलीन कोटिकगणीय वज्रशाखीय जिनदासगणी महत्तर अधिकांश चूर्णिया. के कर्त्ता के रूप म. प्रसिद्ध हैं,उनका समय ईसवी सन् की छठी शताब्दी के आसपास माना जाता है। निम्नलिखित आगमा. पर चूर्णियां उपलब्ध हैं-आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कन्ध,जीतकल्प, जीवाभिगम, प्रज्ञापनाशरीरपद, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार।

14.5 टीका

निर्युक्ति म. भाष्य और चूर्णिया. की भांति आगमा. के ऊपर विस्तृत टीकाएं भी लिखी गई हैं जो आगम सिद्धान्त को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। ये टीकाएं संस्कृत म. हैं, यद्यपि कुछ टीकाआ. का कथा सम्बन्धी अंश प्राकृत म. भी उद्धृत किया गया है। जान पड़ता है कि आगमा. की अन्तिम वलभी वाचना के पूर्व ही आगमा. पर टीकाएं लिखी जाने लगी थीं। विक्रम की तीसरी शताब्दी के आचार्य अगस्त्यसिंह ने अपनी दशवैकालिक चूर्णि म. अनेक स्थला. पर इन प्राचीन टीकाआ. की ओर संकेत किया है।

टीकाकारा. म. याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि (705-775 ईसवी सन्) का नाम उल्लेखनीय है जिन्हा.ने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर टीकाएं लिखीं। प्रज्ञापना पर भी हरिभद्र ने टीका लिखी है। इन टीकाआ. म. लेखक ने कथा भाग को प्राकृत म. ही सुरक्षित रखा है। हरिभद्रसूरि के लगभग सौ वर्ष पश्चात् शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत टीकाएं लिखीं। इनम. जैन आचार-विचार और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषया. का विवेचन किया गया है।

हरिभद्रसूरि की भांति टीकाआ. म. प्राकृत कथाआ. को सुरक्षित रखने वाले आचार्यों म. वादिवेताल शान्तिसूरि, नेमिचन्द्रसूरि और मलयगिरि का नाम उल्लेखनीय है। उक्त दोना. टीकाआ. म. बंभदत्त और अगडदत्त की कथाएं तो इतनी लम्बी हैं कि वे एक स्वतन्त्र पुस्तक के विषय हैं। अन्य टीकाकारा. म. ई. सन् की 12वीं शताब्दी के विद्वान अभयदेवसूरि, द्रोणाचार्य, मलधारि हेमचन्द्र, मलयगिरि तथा क्षेमकीर्ति (सन् 1275), शान्तिचन्द्र (ई.सन् 1593) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वास्तव म. आगम-सिद्धान्ता. पर व्याख्यात्मक साहित्य का इतनी प्रचुरता से निर्माण हुआ है कि वह एक अलग ही साहित्य बन गया। इस विपुल साहित्य ने अपने उत्तरकालीन साहित्य के निर्माण म. योगदान दिया जिसके परिणामस्वरूप प्राकृत भाषा का कथा-साहित्य, चरित-साहित्य,धार्मिक-साहित्य और शास्त्रीय-साहित्य उत्तरोत्तर विकसित होकर अधिकाधिक समृद्ध होता गया। अगले पृष्ठा. म. क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका-साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

14.6 निर्युक्ति-साहित्य

14.6.1 आचारांग निर्युक्ति

आचारांगसूत्र पर भद्रबाहुसूरि ने प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठ अध्ययना. (सातवां व्युच्छिन्न है) और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चार चूलिकाआ.(पांचवीं चूलिका निशीथनिर्युक्ति के रूप म. पृथक् उपलब्ध, जो निशीथभाष्य म. सम्मिलित हो गई) पर 356 गाथाआ. म. निर्युक्ति लिखी है। इन पर शीलांक ने महापरिण्णा नामक सातव. अध्ययन की दस गाथाआ. को छोड़कर टीका की है।

ब्राह्मण-परम्परा का अनुसरण करते हुए निर्युक्तिकार ने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, संकरक्षत्रिय, संकरवैश्य, संकरशूद्र इन सात वर्णों का उल्लेख किया है। नौ वर्णान्तरा. म. अंबष्ठ (ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न), उग्र (क्षत्रिय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न), निशाद अथवा पाराशर (ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न), आयोगव(शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न), मागध (वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न), सूत (क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री), क्षत्र (शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न), वैदेह (वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न), और चाण्डाल (शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न) का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उग्र पुरुष और क्षत्रा स्त्री से उत्पन्न श्वपाक, विदेह पुरुष और क्षत्रा स्त्री से उत्पन्न बुक्कस, तथा शूद्र पुरुष और निशाद स्त्री से उत्पन्न कुक्कुरक का उल्लेख किया गया है। दिशाआ. का स्वरूप बताया गया है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वनस्पतिकाय, त्रस तथा वायुकाय जीवा. के भेद-प्रभेद का कथन है। कषाय को समस्त कर्मों का मूल कहा है।

14.6.2 सूत्रकृतांगनिर्युक्ति

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति म. 205 गाथाएं हैं। राजगृह नगर के बाहर नालन्दा के समीप मनोरथ नाम के उद्यान म. इन्द्रभूति गणधर ने उदक नामक निर्ग्रन्थ के प्रश्न करने पर नालन्दीय अध्ययन का प्रतिपादन किया था। ये उदक निर्ग्रन्थ पार्श्वनाथ के शिष्य थे, इन्हा.ने श्रावक के व्रता. के सम्बन्ध म. प्रश्न किया था। आर्द्रकुमार आर्द्रकपुर के निवासी थे तथा महावीर के समवसरण के अवसर पर उनका गोशालक, त्रिदण्डी और हस्तितापसा. के साथ वाद-विवाद हुआ। ऋषिभाषितसूत्र का यहां उल्लेख है। यहां पर गौतम (गोव्रतिक),चण्डीदेवक (चक्रधरप्रायाः टीका),वारिभद्रक (जलपान करने वाले), अग्निहोत्रवादी तथा जल को पवित्र माननेवाले साधुआ. का नामोल्लेख है। क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादिया. के भेद-प्रभेद गिनाए गए हैं। पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील नामक निर्ग्रन्थ साधुआ. के साथ परिचय करने का निषेध है।

14.6.3 सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति

परम्परानुसार भद्रबाहु ने सूर्यप्रज्ञप्ति के ऊपर निर्युक्ति की रचना की थी, लेकिन टीकाकार मलयगिरि के कथनानुसार कलिकाल के दोष से यह निर्युक्ति नष्ट हो गई है, इसलिए उन्हा.ने केवल सूत्रा. की ही व्याख्या की है।

14.6.4 बहत्कल्प, व्यवहार और निशीथनिर्युक्ति

बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी। बृहत्कल्पनिर्युक्ति संघदासगणि क्षमाश्रमण के लघुभाष्य की गाथाओं के साथ और व्यवहारनिर्युक्ति व्यवहारभाष्य की गाथाओं के साथ मिश्रित हो गई है। निशीथ की निर्युक्ति का, आचारांगसूत्र का ही एक अध्ययन होने से, आचारांगनिर्युक्ति में समावेश हो जाता है। जैसा कहा जा चुका है, यह निशीथभाष्य के साथ मिल गई है।

14.6.5 दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

दशाश्रुतस्कन्ध जितना लघु है उतनी ही लघु दस अध्ययना. पर निर्युक्ति लिखी गई है। निर्युक्तिकार ने आरम्भ म. प्राचीनगोत्रीय अन्तिम श्रुतकेवली तथा दशा, कल्प और व्यवहार के प्रणेता भद्रबाहु को नमस्कार किया है। दशा, कल्प और व्यवहार का यहां एक साथ कथन है। आठवें अध्ययन की निर्युक्ति म. पर्युषणाकल्प का व्याख्यान है। परिवसण, पज्जुसण, पज्जोसमण, वासावास, पढमसमोसरण, ठवणा, जेट्ठोग्गह (ज्येष्ठग्रह) पर्यायवाची शब्द हैं। अज्ज मंगू का उल्लेख है।

14.6.6 उत्तराध्ययननिर्युक्ति

उत्तराध्ययन सूत्र पर भद्रबाहु ने 559 गाथाआ. म. निर्युक्ति की रचना की है। उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययना. पर निर्युक्ति लिखी गई है। इस निर्युक्ति म. गंधार श्रावक, तोसलिपुत्र आचार्य स्थूलभद्र, स्कन्दपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक तथा करकंडू आदि प्रत्येकबुद्ध तथा हरिकेश, मृगापुत्र आदि की कथाआ. का उल्लेख किया है; आठ निह्नवा. का विस्तार से विवेचन है। भद्रबाहु के चार शिष्या. द्वारा राजगृह म. वैभार पर्वत की गुफा म. शीत-समाधि ग्रहण किए जाने तथा मुनि सुवर्णभद्र के मच्छरा. का घोर उपसर्ग (मशक-परिपीत- शोणित = मच्छर जिनके शोणित को पी गए हा.) सहन कर कालगत होने का कथन है। कम्बोज के घोड़ा. का उल्लेख है। कहीं-कहीं मनोरंजक उक्तिया. के रूप म. मागधिकाएं भी मिल जाती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.6.7 आवश्यकनिर्युक्ति

परम्परानुसार आचार्य भद्रबाहु द्वारा आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति तथा ऋषिभाषित - इन दस सूत्रा. पर निर्युक्तियां लिखे जाने का उल्लेख है। इनम. आवश्यक निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। आवश्यकसूत्र म. प्रतिपादित छह आवश्यका. का यहां विवेचन है। सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि ने इस पर शिष्यहिता नाम की वृत्ति लिखी। उनका अनुसरण करके भट्टारक ज्ञानसागर सूरि ने अवचूर्णि की रचना की जो मानविजय द्वारा संशोधित होकर सेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार कोश द्वारा, सूरत से 1965 म. प्रकाशित की गई। तत्पश्चात् मलयगिरि द्वारा रचित आवश्यक-निर्युक्ति टीका तीन भागा. म. प्रकाशित हुई। माणिक्यशेखर सूरि ने आवश्यक-निर्युक्ति दीपिका लिखी (तीन भागा. म. प्रकाशित)। अनेक अवचूरियां भी इस निर्युक्ति पर लिखी गईं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित विशेषावश्यक-भाष्य एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है फिर भी इसे आवश्यकनिर्युक्ति का भाष्य कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस निर्युक्ति पर विपुल साहित्य की रचना की गई।

आवश्यकनिर्युक्ति का आलोचनात्मक अध्ययन लॉयमान ने अपने 'आवश्यक सर्वेक्षण' म. किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय म. 'आचारांग' नाम से स्वीकृत आचार्य वट्टकेर द्वारा रचित मूलाचार (6.193) म. आवस्सयणिज्जुत्ति का उल्लेख मिलता है, दोना. ग्रन्था. की कितनी ही गाथाएं समान हैं। इससे जान पड़ता है कि आवश्यकनिर्युक्ति आवश्यकसूत्र पर लिखी गई एक प्राचीन पद्य टीका है, किन्तु आगे चलकर उसम. कितनी ही उत्तरकालीन गाथाआ. का समावेश हो गया। कितनी ही मूलभाष्य की गाथाएं उसम. मिला दी गईं और कितनी ही प्रक्षिप्त गाथाएं जोड़ दी गईं। आवश्यक-निर्युक्तिकार के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रतिक्रमण नामक छह अध्ययना. के वृत्तिकार हरिभद्रसूरि ने निर्युक्ति-गाथाआ. की कुल संख्या 2386 बताते हुए, इनम. से 253 भाष्य और 450 प्रक्षिप्त गाथाएं घटा देने पर, निर्युक्ति-गाथाआ. की मूल संख्या कुल 1623 स्वीकार की है।

14.6.8 दशवैकालिकनिर्युक्ति

दशवैकालिक पर भद्रबाहु ने 371 गाथाआ. की निर्युक्ति लिखी है। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएं मिश्रित हो गई हैं। दशवैकालिक सूत्र म. प्रतिपादित द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययना. पर निर्युक्ति की रचना की गई है। इसम. अनेक लौकिक और धार्मिक कथानका. तथा सूक्तिया. द्वारा सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण दिया गया है। हिंगुशिव, गंधविका, सुभद्रा, मृगावती, नलदाम, गोविन्दवाचक आदि की अनेक कथाएं यहां वर्णित हैं। इन कथाआ. का प्राय: नामोल्लेख ही निर्युक्ति-गाथाआ. म. उपलब्ध होता है, इन्ह. विस्तार से समझने के लिए चूर्णि अथवा टीका की शरण लेना आवश्यक है। गोविन्दवाचक बौद्ध थे, ज्ञानप्राप्ति के लिए उन्हा.ने प्रव्रज्या ग्रहण की, आगे चलकर वे महावादी हुए। कूणिक (अजातशत्रु) गौतमस्वामी से प्रश्न करते हैं कि चक्रवर्ती मरकर कहां उत्पन्न होते हैं? उत्तर म. कहा गया - सातव. नरक म.। कुणिक ने फिर पूछा - मैं मरकर कहां जाऊंगा? गौतम स्वामी ने उत्तर दिया - छठे नरक म.। प्रश्नोत्तर के रूप म. कहीं तार्किकशैली म. तत्त्वचर्चा की झलक भी दिखाई दे जाती है। शिष्य ने शंका की कि गृहस्थ लोग क्या. न साधुआ. के लिए भोजन बना कर रख दें। गुरु ने इसका निषेध किया -

वासइ न तणस्स कए न तणं वड्ढइ कए मयकुलाणं ।
न य रुक्खा सयसाला (खा?) फुल्लन्ति कए महुयराणं ॥

तृणा. के लिए पानी नहीं बरसता, मृगा. के लिए तृण बड़े नहीं होते और इसी प्रकार सौ शाखाआ. वाले वृक्ष भौरा. के लिए पुष्पित नहीं होते। (इसी तरह गृहस्था. को साधुआ. के लिए आहार आदि नहीं बनाना चाहिए)।

14.7 भाष्य-साहित्य

14.7.1 निशीथ-लघुभाष्य

निशीथ, कल्प और व्यवहार भाष्य के प्रणेता संघदासगणि माने गए हैं जो वसुदेवहिण्डी के रचयिता संघदासगणिवाचक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से भिन्न हैं। निशीथ लघु-भाष्य की अनेक गाथाएं बृहत्कल्पलघु-भाष्य से मिलती हैं। यह भाष्य बीस उद्देशा. म. 6703 गाथाआ. म. लिखा गया है। सर्वप्रथम पीठिका म. सस, एलासाढ़, मूलदेव और खण्डा नाम के चार धूर्तों की मनोरंजक कथा दी गई है जिसका आधार अज्ञातकर्तृक धुत्तक्खाणग (धूर्ताख्यानक) नामक ग्रन्थ बताया गया है। भाष्य म. यह कथा अत्यन्त संक्षेप म. दी गई है, जिसे चूर्णिकार ने विस्तृत रूप से दिया है- आगे चलकर यह हरिभद्रसूरि के धुत्तक्खाण नामक कथाग्रन्थ का आधार बना।

कथा-कहानिया. आदि के माध्यम से साधुआ. के आचार-विचार सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषया. का प्रतिपादन यहां उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए, प्रायश्चित्तद्वार का वर्णन करते हुए साधु के वास्ते उड्डाह (प्रवचन की हंसी) से बचने के लिए, संयम के लिए, बोधिक[1] चोरा. से अपनी रक्षा के लिए, प्रतिकूल क्षेत्र म. तथा नव प्रव्रजित साधु के निमित्त मृषा बोलने का विधान है। अदत्तादान के सम्बन्ध म. भी यही बात है। ऐसे कठिन प्रसंग उपस्थित होने पर कहा है -

जइ सव्वसो अभावो, रागादीणं हवेज्ज णिद्दोसो ।
जतणाजुतेसु तेसु, अप्पतरं होइ पच्छित्तं ॥

यदि सर्वप्रकार से राग आदि का अभाव है तो साधु निर्दोष ही रहता है। यतनापूर्वक कोई कार्य करने पर बहुत अल्प प्रायश्चित की आवश्यकता पड़ती है।

निशीथभाष्य म. आचार-विचार और रीति-रिवाज सम्बन्धी अनेक विषया. का उल्लेख है। उदाहरण के लिए, पुलिन्द आदि अनार्य जंगल म. जाते हुए साधु को आर्य समझकर मार डालते थे। विविध प्रकार का माल-असबाब लेकर सार्थवाह अपने सार्थ के साथ वाणिज्य-व्यापार के लिए दूर-दूर देशा. म. भ्रमण करते थे। संखडी(भोज) धूमधाम से मनाई जाती थी। कवड्डग (कौड़ी), कागणी, दीनार और केवडिय आदि सिक्के प्रचलित थे। तोसली म. तालोदक (तालाब)[2] और राजगृह म. तापोदक कुण्ड प्रसिद्ध थे। तोसली की व्याघरणशाला (एक प्रकार का स्वयंवर मण्डप) म. हमेशा एक अग्निकुण्ड प्रज्वलित रहता था जहां बहुत से चेटक और एक चेटकी स्वयंवर के लिए प्रविष्ट होते थे।

यहां कप्प (बृहत्कल्प), नन्दिसूत्र तथा सिद्धसेन और गोविन्दवाचक का उल्लेख है। गोविन्दवाचक 18 बार वाद म. हार गए, बाद म. एकेन्द्रिय जीव की सिद्धि के लिए उन्हा.ने गोविन्दनिर्युक्ति की रचना की। आचारांग आदि को ज्ञान और गोविन्दनिर्युक्ति को दर्शन के उदाहरण रूप म. उपस्थित किया गया है।

14.7.2 व्यवहारभाष्य

निशीथ और बृहत्कल्पभाष्य की भांति व्यवहारभाष्य भी परिमाण म. काफी बड़ा है। मलयगिरि ने इस पर विवरण लिखा है। व्यवहारनिर्युक्ति और व्यवहारभाष्य की गाथाएं परस्पर मिश्रित हो गई हैं। इस भाष्य म. दस उद्देशा. म. आलोचना, प्रायश्चित्त, गच्छ, पदवी, विहार,मृत्यु, उपाश्रय, उपकरण, प्रतिमाएं आदि विषया. को लेकर साधु-साध्विया. के आचार-विचार, तप, प्रायश्चित्त और प्रसंगवश देश-देश के रीतिरिवाज आदि का वर्णन है।

प्रथम उद्देश म. आलोचना आदि पदा. की व्याख्यापूर्वक शुद्ध भाव से आलोचना करना साधु के लिए मुख्य बताया है -

जह बालो जपेंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा मायामयविप्पमुक्को उ ॥

- जैसे कोई बालक अच्छे या बुरे कार्य को सरल भाव से प्रकट कर देता है, उसी प्रकार माया और मद से रहित होकर आचार्य के समक्ष आलोचना करनी चाहिए।

---

1. ये मालवा की पर्वतश्रेणिया. म. रहते और उज्जैनी के लोगा. को अपहृतकर ले जाते थे। (विशेषनिशीथचूर्णी 16.5725)। महाभारत (6, 9, 39) म. भी बोधा. का उल्लेख है।
2. इसिताल नाम के तालाब का भी यहां उल्लेख है (बृहत्कल्पभाष्य 3, 4223)। खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख म. इसका नाम आता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गण के लिए आचार्य की आवश्यकता बताई है। जैसे नृत्य के बिना नट नहीं होता, नायक के बिना स्त्री नहीं होती, गाड़ी के धुरे के बिना चक्र नहीं चलता, वैसे ही गणी अर्थात् आचार्य के बिना गण नहीं चलता। औषधि आदि द्वारा अपने गण की रक्षा करना आचार्य के लिए परम आवश्यक है। जैसे बल, वाहन और रथ से हीन निर्बुद्धि राजा अपने राज्य की रक्षा नहीं कर सकता, वैसे ही सूत्र और औषधि से विहीन आचार्य अपने गच्छ की रक्षा करने म. समर्थ नहीं होता।

दूसरे उद्देश म. क्षिप्तचित्त और दिप्तचित्त साधुआ. की सेवा-सुश्रूषा करने का वर्णन है। तीसरे उद्देश म. आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर आदि पदविया. के धारका. की योग्यता-अयोग्यता-विषयक विचार किया गया है। पद-पद पर साधुआ. को स्त्रिया. से सावधान रहने का उपदेश दिया गया है। मनु का अनुकरण करते हुए भाष्यकार भी स्त्रिया. को स्वातं=य देने के पक्ष म. नहीं है -

जाया पितिव्वसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा ।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा ॥

बाल्यावस्था म. नारी पिता के, विवाहित होने पर पति के और विधवा होने पर वह पुत्र के वश म. रहती है, वह कभी भी स्वाधीन नहीं रहती।

चौथे उद्देश म. साधुआ. के विहार की विधि बताई गई है। बीमारी आदि फैल जाने पर देशान्तर जाने म. उन्ह. बहुत सी कठिनाइया. का सामना करना पड़ता था। मार्ग म. चोर, जंगली जानवर, सर्प, गौल्मिक, आरक्षक, प्रत्यनीक (विद्वेष करने वाले), कर्दम और कंटक आदि का भय रहता। राजसभा म. वाद-विवाद म. पराजित होने पर अपमानित होना पड़ता।

पांचव. उद्देश्य म. साध्विया. के विहार सम्बन्धी नियमा. का विवेचन करते हुए प्रवर्तिनी, गणावच्छे दनी आदि की चर्चा की गई है। मथुरा का जैना. म. बड़ा माहात्म्य था। यहां स्तूपमह उत्सव मनाया जाता था। जैन-मान्यता के अनुसार मथुरा म. देवताआ. द्वारा रत्नमय स्तूप का निर्माण किया गया था, जिसे लेकर जैन और बौद्धा. म. बहुत विवाद चला। भरुयकच्छ (भड़ा.च) और गुणसिल चैत्य (राजगिर से तीन मील की दूरी पर आधुनिक गुणावा) का भी बड़ा महत्त्व बताया गया है। छठे उद्देश्य म. साधु-साध्विया. को अपने सगे-सम्बन्धिया. के घर से आहार आदि ग्रहण करने की विधि का विधान है। सातवें उद्देश्य म. अन्य समुदाय से आने वाले साधु-साध्विया. को अपने समुदाय में लेने के नियमा. का विवेचन किया गया है। श्रमणा. के कालगत होने पर उनकी परिष्ठापना-विधि का विवेचन है यदि साधु के मृत शरीर को वहन करने वाला अकेला ही साधु हो तो अन्यत्र जाकर असंवेगी साधु, सारूपिक, श्रावक, स्त्री, मल्लगण, हस्तिपालगण, कुम्भकारगण, ग्राममहत्तर, नरशोधक आदि की सहायता लेने का विधान है।

प्रवचन के रक्षक के रूप म. विष्णुकुमार मुनि का उदाहरण दिया गया है जिन्हा.ने श्रमणसंघ पर आए हुए उपद्रव को अपनी ऋद्धि के द्वारा शान्त किया। आठवें उद्देश्य म. शयन आदि के निमित्त सामग्री प्राप्त करने एवं उसे लौटाने की विधि बताई गई है। आहार की मर्यादा की विधि का विवेचन करते हुए अल्पाहारी, अल्पार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्त-अवमौदर्य, किंचित्-अवमौदर्य और प्रमाण-आहारी के लक्षण बताए गए हैं। नवम. उद्देश्य म. शय्यातर के सगे-सम्बन्धी, मित्र आदि आगन्तुक जना. से सम्बन्धित आहार के ग्रहण-अग्रहण सम्बन्धी नियमा. का विवेचन है। दसव. उद्देश्य म. यवमध्यप्रतिमा और वज्रमध्य प्रतिमा का विवेचन है। तत्पश्चात् पांच प्रकार का व्यवहार, बालदीक्षा की विधि और दस प्रकार के वैयावृत्य का व्याख्यान किया गया है। देश-देश के निवासिया. के सम्बन्ध म. कहा है कि मगध के निवासी किसी बात को इशारे मात्र से, कोशलदेशवासी उसे देखकर, पांचालनिवासी आधी ही बात सुनकर समझ लेते हैं, जबकि दक्षिणापथ के निवासी किसी बात को तब तक नहीं समझते जब तक कि वह साफ-साफ नहीं कह दी जाए।

14.7.3 बृहत्कल्प-लघुभाष्य

संघदासगणि क्षमाश्रमण इस भाष्य के रचयिता हैं। बृहत्कल्प के सूत्रा. पर यहां विस्तृत विवेचन किया गया है। पीठिका के अतिरिक्त यह छह उद्देश्या. म. विभक्त है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य की पीठिका म. 805 गाथाएं हैं जिनम. ज्ञानपंचक, सम्यक्त्व सूत्रपरिषद्, स्थंडिलभूमि, पात्रलेप, गोचर्या, बसति की रक्षा, वस्त्रग्रहण, अवग्रह, विहार आदि का वर्णन है। स्त्रिया. के लिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भूयवाद (दृष्टिवाद) पढ़ने का निषेध है। श्रावकभार्या, साप्तपदिक, का.कणदारक, नकुल, कमलामेला, शंब का साहस और श्रेणिक के क्रोध की कथाआ. का वर्णन है।

दूसरे भाग म. प्रथम उद्देश के 1-9 सूत्रा. पर 806-2124 गाथाएं हैं। इनम. प्रलम्बसूत्र की विस्तृत व्याख्या, अध्वद्वार, ग्लानद्वार, ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडंब, पत्तन आदि की व्याख्या, जिनकल्पी का स्वरूप, समवसरणद्वार, प्रशस्त-अप्रशस्त भावनाएं, गमनद्वार, स्थविरकल्पी की स्थिति, प्रतिलेखनाद्वार, भिक्षाद्वार, चैत्यद्वार, रथयात्रा के दोष, वैद्य के समीप गमन करने की विधि, निर्ग्रन्थिनिया. के विहार और वसतिद्वार आदि का विवेचन है।

चार प्रकार के चैत्य गिनाए गए है - साधर्मिक, मंगल, शाश्वत और भक्ति। मथुरा म. नये घरा. का निर्माण करने पर उनके उत्तरंगा. म. अर्हत् भगवान की प्रतिमा स्थापित की जाती थी। रुग्ण साधु की वैद्य द्वारा चिकित्सा कराने का विस्तार से उल्लेख है। यहाँ पर टीकाकार ने दक्षिणापथ के काकिणी, मिल्लमाल के द्रम्म और पूर्व देश के दीनार अथवा केतर (केवडिक) नाम के सिक्का. का उल्लेख किया है । निर्ग्रंथिनिया. के विहार का विस्तृत वर्णन है।

तीसरे भाग म. बृहत्कल्पसूत्र के प्रथम उद्देश के 10-50 सूत्र हैं जिन पर 2125-3239 गाथाआ. का भाष्य है। इनम. वगडा (परिक्षेप), आपणगृहादि, अपावृतद्वार, उपाश्रय, घटीमात्रक, चिलिमिलिका, दक्तीर, चित्रकर्म, सागारिकनिश्रा, सागारिकोपाश्रय, प्रतिबद्धशय्या, गृहपतिकुलमध्यवास, व्यवशमन, चार, वैराज्य-विरुद्धराज्य, अवग्रह, रात्रिभक्त, रात्रिवस्त्रादिग्रहण, हृताहृतिका, अध्वगमन, संखडि, विचारभूमि, विहारभूमि और आर्यक्षेत्र की व्याख्या की गई है। काम की दस अवस्थाआ. का वर्णन है।

चतुर्थ भाग म. द्वितीय उद्देश्य के 1-25 सूत्रा. पर 3240-3678 गाथाआ. का भाष्य है। इनम. उपाश्रय, सागारिकपारिहारिक, आहृतिकानिर्हृतिका, अंशिका, पूज्यभण्डोपकरण, उपधि और रजोहरण का विवेचन है। सदा जाग्रत रहने का उपदेश दिया है-

जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति ण सो धण्णो, जो जग्गति सो सया धण्णो ॥

तृतीय उद्देश के 1-31 सूत्रा. पर 3679-4876 गाथाआ. का भाष्य है, जिनम. उपाश्रयप्रवेश, चर्म, कृत्स्नाकृत्स्नवस्त्र, भिन्नाभिन्नवस्त्र, अवग्रहान्नतक, अवग्रहपट्टक, निश्रा, त्रिकृत्स्न, समवशरण, यथारत्नाधिकवस्त्रपरिमार्जन, कृतिकर्म, अन्तरगृहस्थानादि, शय्यासंस्तारक, साधर्मिकावग्रह, सेना आदि का विवेचन किया गया है। दूष्या. म. कोयब (रुई से भरा वस्त्र), प्रावारक (कम्बल), दाढिगालि, पूरिका, विरलिका, उपधान, तूली, आलिंगनिका, गंडोपधान और मसूरक का उल्लेख है। जूता. म. एकपुट, सकलकृत्स्न, द्विपुट, खल्लक, खपुसा, वागुरा, कोशक, जंघा और अर्धजंघा का उल्लेख है।

सिक्का. के सम्बन्ध म. कहा गया है :

द्वीप के 2 साभरक = उत्तरापथ का 1 रूप्यक
उत्तरापथ के 2 रूप्यक = पाटलिपुत्र का 1 रूप्यक
दक्षिणापथ के 2 रूप्यक = कांचीपुर का 1 नेलक
कांचीपुर के 2 नेलक = पाटलिपुत्र का 1 रूप्यक

थूणा आदि देशा. म. किनारी (दशा) कटे हुए वस्त्र धारण करने तथा जिनकल्पी साधुआ. का पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्रच्छादक (वस्त्र), रजोहरण और मुखवस्त्रिका, यह बारह प्रकार की उपधि रखने का विधान है। शील और लज्जा को स्त्रिया. का भूषण कहा है -

ण भूसणं भूसयते सरीरं विभूसणं सीलहिरी य इत्थिए ।
गिरा हि संखारजुया वि संसती, अपेसला होइ असाहुवादिणी ॥

हार आदि आभूषणा. से स्त्री का शरीर विभूषित नहीं होता, शील और लज्जा ही उसका भूषण है। सभा म. संस्कारयुत, परन्तु असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नहीं कही जाती।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिनशासन का सार क्या है –

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि य, एत्तियगं जिणसासणयं ॥

जिस बात की अपने लिए इच्छा करते हो, उसे दूसरे के लिए भी चाहो और जो बात अपने लिए नहीं चाहते हो, उसे दूसरा. के लिए भी न चाहो – यही जिनशासन है।

मृत्यु का भय सामने है, इसलिए जो करना है आज ही कर लो –

जं कल्ले कायव्वं, णरेण अज्जे व तं वरं काउं ।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि ॥[1]
तूरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खणंपि कुव्वित्था ।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिच्छाहि ॥

जो कल करना है उसे आज ही कर डालना श्रेयस्कर है, आती हुई निर्दय मृत्यु दिखाई नहीं देती।धर्म का आचरण करने के लिए शीघ्रता कर, क्षणभर के लिए भी प्रमाद न कर। मुहूर्त–मुहूर्त म. अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। अपराह्न की प्रतीक्षा भी न कर।

पांचव. भाग म. चतुर्थ उद्देश्य के 1–34 सूत्रा. पर 4877–5681 गाथाआ. का भाष्य है। इनम. अनुद्घातिक, पारांचिक, अनवस्थाप्य, प्रव्राजनादि, वाचना, संज्ञाप्य, ग्लान, कालक्षेत्रातिक्रान्त, अनेषणीय, कल्पाकल्पस्थित, गणान्तरोपसंपत्, विष्वग्भवन, अधिकरण, परिहारिक, महानदी, उपाश्रयविधि का विवेचन किया है। अनुद्घातिक सूत्र म. हस्तकर्म, मैथुन और रात्रिभोजन को अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित के योग्य कहा है। प्रव्रजनादि सूत्र म. पंडक, क्लीव और वातिक को प्रव्रज्या ग्रहण करने के अयोग्य बताया है। विष्वग्भवन सूत्र म. मृत्यु को प्राप्त भिक्षु के शरीर की परिष्ठापनाविधि का विचार किया गया है। महानदीसूत्र म. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनिया. को गंगा, यमुना, सरयू, कोसी, माही आदि महानदिया. को पार करने के नियमा. का प्रतिपादन किया है।

पंचम उद्देश्य के 1–42 सूत्रा. पर 5682–6059 गाथाआ. का भाष्य है। इनम. ब्रह्मपाय, अधिकरण, संस्तृतनिर्विचिकित्सा, उद्गार, आहारविधि, पानकविधि, ब्रह्मरक्षा, मोक, परिवासित, व्यवहार और पुलाकभक्त का विवेचन है।

छठे भाग म. छठे उद्देश्य के 1–20 सूत्र हैं जिन पर 6060–6490 गाथाआ. का भाष्य है। इनम. वचन, प्रस्तार, कंटकादि उद्धरण, दुर्ग, क्षिप्तचित्त आदि, परिमंथ और कल्पस्थिति सूत्रा. का विवेचन है। मथुरा म. देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है। यदि कोई वणिक् बहुत–सा धन जहाज म. भरकर जलयात्रा करे और जहाज के डूब जाने से उसका सारा धन नष्ट हो जाए तो वह अपने ऋण को लौटाने के लिए बाध्य नहीं है, इसे वणिक्न्याय कहा गया है। जीर्ण, खण्डित अथवा अल्पवस्त्र धारण करने वाले निर्ग्रन्थ भी अचेलक कहे जाते हैं। आठ प्रकार के राजपिण्ड का उल्लेख है।

14.7.4 बृहत्कल्प–बृहभाष्य

यह भाष्य अधूरा ही उपलब्ध है। इस भाष्य म. पीठिका और प्रारम्भ के दो उद्देश पूर्ण हैं, और तीसरा उद्देश अपूर्ण है। बृहत्कल्प–लधुभाष्यगत विषया. का ही यहां विस्तृत विवेचन किया गया है।

1. मिलाइये : **काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब ।**
पल म. परलै होइगी, बहुरि करेगो कब्ब ॥

14.7.5 जीतकल्पभाष्य

जीतकल्पभाष्य पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वोपज्ञ भाष्य है। यह भाष्य वस्तुतः बृहत्कल्प–लघुभाष्य, व्यवहार भाष्य, पंचकल्प–महाभाष्य और पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्था. की गाथाआ. का संग्रह है। इनम. पांच ज्ञान, प्रायश्चित्तस्थान,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भक्तपरिज्ञा की विधि, इंगिनीमरण और पापोगमन का लक्षण, गुप्ति-समिति का स्वरूप, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अतिचार, उत्पादना का स्वरूप, ग्रहणैषणा का लक्षण, दान का स्वरूप आदि विषया. का प्रतिपादन किया है। यहां क्रोध के लिए क्षपक, मान के लिए क्षुल्लक, माया के लिए आषाढ़भूति, लोभ के लिए सिंहकेसर, मोदक के इच्छुक क्षपक, विद्या के लिए बौद्ध-उपासक, मन्त्र के लिए पादलिप्त और मुरुण्डराज, चूर्ण के लिए क्षुल्लकद्वय और योग के लिए ब्रह्मद्वीपवासी तापसा. के उदारहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

14.7.6 उत्तराध्ययनभाष्य

शान्तिसूरि की पाइयटीका म. भाष्य की कुछ ही गाथाएं उपलब्ध होती हैं। अन्य भाष्य की गाथाआ. की भांति इस भाष्य की गाथाएं भी निर्युक्ति के साथ मिश्रित हो गई हैं। इनम. बोटिक की उत्पत्ति तथा पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक नाम के जैन निर्ग्रन्थ साधुआ. के स्वरूप का प्रतिपादन है। इसम. केवल 45 गाथाएं हैं।

14.7.7 आवश्यकभाष्य

आवश्यकसूत्र पर मूलभाष्य, भाष्य और विशेषावश्यक महाभाष्य लिखे गए हैं। इस सूत्र की निर्युक्ति म. 1623 गाथाएं हैं जबकि भाष्य म. कुल 253 गाथाएं उपलब्ध होती हैं। यहां भी भाष्य और निर्युक्ति की गाथाआ. म. मिश्रण हुआ है। विशेषावश्यकभाष्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है, जो आवश्यकसूत्र के केवल सामायिक नामक प्रथम अध्ययन पर है। इसम. 3603 गाथाएं हैं। कालिकश्रुत म. चरण-करणानुयोग, ऋषिभाषित म. धर्मकथानुयोग और दृष्टिवाद म. द्रव्यानुयोग के कथन हैं। महाकल्पश्रुत आदि का इसी दृष्टिवाद से उद्धार हुआ बताया गया है। कौण्डिन्य के शिष्य अश्वमित्र को अनुप्रवादपूर्व के अन्तर्गत नैपुणिक वस्तु म. पारंगत बताया है। निह्नवा. और करकण्डू आदि प्रत्येकबुद्धा. के जीवन का यहां विस्तार से वर्णन है। यदि साधु की वसति म. अण्डा फूटकर गिर पड़ा हो तो स्वाध्याय का निषेध किया है।

14.7.8 दशवैकालिकभाष्य

दशवैकालिकभाष्य की 63 गाथाएं हरिभद्र की टीका के साथ दी हुई हैं। इनम. हेतुविशुद्धि, प्रत्यक्ष-परोक्ष तथा मूलगुण और उत्तरगुणा. का प्रतिपादन है। अनेक प्रमाणा. से जीव की सिद्धि की गई है। लौकिक, वैदिक तथा सामयिक (बौद्ध) लोग जीव को किस रूप म. स्वीकार करते हैं -

लोगे अच्छेज्जभेज्जो वेए सपुरीसदद्धगसियालो ।
समएज्जहमासि गओ तिविहो दिव्वाइसंसारो ॥

लौकिक लोग आत्मा को अच्छेद्य और अभेद्य मानते हैं। वेद म. कहा है - जो विष्ठा सहित जलाया जाता है, वह श्रृगाल की योनि म. जन्म लेता है, जो विष्ठा रहित जलाया जाता है उसकी सन्तति अक्षत होती है (श्रृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते, अथापुरीषो दह्यते आक्षोधुका अस्य प्रजाः प्रादुर्भवन्ति)। तथा बुद्ध का वचन है कि मै पहले जन्म म. हाथी था -

(अहमासं भिक्षवो हस्ती, षड्दन्तः शंखसंनिभः ।
शुकः पंजरवासी च शकुन्तो जीवजीवकः ॥)

इस प्रकार देव, मनुष्य और तिर्यंच् के भेद से संसार को तीन प्रकार का कहा है।

14.7.9 पिण्डनिर्युक्तिभाष्य

पिण्डनिर्युक्ति पर 46 गाथाआ. का भाष्य है जिनम. पिण्ड, आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, सूक्ष्मप्रभृतिका, विशोधि, अविशोधि आदि श्रमणधर्म-विषयक संक्षिप्त विवेचन हैं। यहां पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त और उसके मन्त्री

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चाणक्य का उल्लेख है। एक बार जब पाटलिपुत्र म. दुर्भिक्ष पड़ा तो सुस्थित नाम के सूरि ने सोचा कि अपने समृद्ध नामक शिष्य को सूरिपद पर स्थापित कर किसी निरापद स्थान पर भेज देना ठीक होगा। उन्हा.ने उसे एकान्त म. योनिप्राभृत का उपदेश दिया जिसे दो क्षुल्लका. ने किसी तरह छिप कर सुन लिया। इससे आंखा. म. अंजन आंजकर अदृश्य होने की विधि बताई गई थी। समृद्ध सूरिपद पर स्थापित हो गए लेकिन जो भिक्षा मिलती वह पर्याप्त न होती। नतीजा यह हुआ कि समृद्ध दिन पर दिन दुर्बल होने लगे। क्षुल्लका. को जब इस बात का पता चला तो उन्हा.ने अपनी आंखा. म. अंजन आंजकर राजा चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने का निश्चय किया। दोना. प्रतिदिन अंजन लगाकर अदृश्य हो जाते और चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करते। लेकिन इससे पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण चन्द्रगुप्त कृश होने लगे। चाणक्य ने इसका कारण जानने का प्रयत्न किया। उसने भोजन मण्डप म. ईंटा. का चूरा बिखेर दिया। कुछ समय बाद उसे मनुष्य के पदचिह्न दिखाई दिए। वह समझ गया कि दो आदमी आंख म. अंजन लगाकर आते हैं। एक दिन उसने दरवाजा बन्द कर धुआं कर दिया। धुआं लगने से क्षुल्लका. की आंखा. से पानी बहने लगा जिससे अंजन धुल गया। देखा तो सामने दो क्षुल्लक खड़े थे। चन्द्रगुप्त को बड़ी आत्मग्लानि हुई। खैर, चाणक्य ने बात संभाल ली। बाद म. उसने वसति म. जाकर आचार्य से निवेदन किया कि आपके शिष्य ऐसा काम करते हैं।दोना. शिष्या. को प्रायश्चित का भागी होना पड़ा।

14.7.10 ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य

ओघनिर्युक्ति के भाष्य म. 322 गाथाआ. म. ओघ, पिण्ड, व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैयावृत्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह, अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपघातिक, उपकरण आदि का विवेचन है। धर्मरुचि आदि के कथानका. और बदरी आदि के दृष्टान्ता. द्वारा तत्त्वज्ञान को समझाया गया है। ज्योतिष आदि का प्रयोग भी साधु किया करते थे। लेपपिण्ड म. बताया है कि जब वे अपने पात्र म. लेप लगाते तो कभी उसे कुत्ता आकर चाट जाता था (जक्खुल्लिहण, यहां यक्ष का अर्थ टीकाकार ने कुत्ता किया है)। शुभ और अशुभ तिथि, करण और नक्षत्र पर विचार करते हुए चक्रधर, पाण्डुरंग, तच्चन्निय (बौद्ध) और बोटिक साधुआ. का दर्शन अशुभ बताया है। कालधर्म को प्राप्त साधु के परिष्ठापन की विधि का प्रतिपादन करते हुए उसके शव को स्थंडिल (प्रासुक जीव-जन्तु रहित भूमि), देवकुल अथवा शून्यगृह आदि म. रखने का विधान है। नदी म. यदि घुटना. तक (जंघार्ध) जल हो तो एक पैर जल म. और दूसरा पैर ऊपर उठाकर नदी पार करे। यहां संघट्ट (जहां जंघार्ध-प्रमाण जल हो), लेप (नाभि-प्रमाण जल) और लेपोपरि (जहां नाभि के ऊपर तक जल हो) शब्दा. की परिभाषा दी है। आठ वर्ष के बालक, नौकर-चाकर, वृद्ध, नपुंसक, सुरापान से मत्त, और लूले-लंगड़े पुरुष से, तथा कूटती, पीसती, कातती और रुई पींजती हुई तथा गर्भवती स्त्री से भिक्षा स्वीकार करने का निषेध है। प्रकाश रहते हुए साधु को भोजन कर लेना चाहिए अंधेरे म. भोजन करने का निषेध है। मालवा के चोर लोगा. का अपहरण करके ले जाते थे। साधुआ. को उनसे सतर्क रहने के लिए कहा है। कलिंग देश के कांचनपुर नगर म. भयकर बाढ़ का उल्लेख यहां मिलता है।

14.7.11 ओघनिर्युक्ति-बृहद्भाष्..य

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य में प्रतिपादित विषया. को यहां विस्तार से समझाया गया है। ग्रन्थ के भाष्यकार के सम्बन्ध म. कोई जानकारी नहीं मिलती। यह भाष्य अप्रकाशित है।

14.7.12 पंचकल्प-महाभाष्य

यह भाष्य पंचकल्पनिर्युक्ति के व्याख्यान के रूप म. लिखा गया है। इसम. पंचकल्प-लघुभाष्य का भी समावेश हो जाता है। जैसे पंचकल्पनिर्युक्ति कल्पनिर्युक्ति का ही अंश है, वैसे ही पंचकल्पभाष्य बृहत्कल्पभाष्य का ही अंश है। इस भाष्य के कर्त्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण हैं। इसम. 2666 गाथाआ. म. पांच प्रकार के कल्पा. का संक्षिप्त विवेचन है। मुनि पुण्यविजयजी द्वारा तैयार कराई हुई इस भाष्य की प्रतिलिपि रोमन लिपि म. इण्डोलोजिया, बेरोलिनेन्सिस, 5, 1977 म. प्रकाशित हुई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.8 चूर्णि–साहित्य

14.8.1 आचारांगचूर्णि

निर्युक्ति–गाथाआ. के आधार पर यह चूर्णि लिखी गई है अतः यहां उन्हीं विषया. का विवेचन किया गया है जिनका प्ररूपण आचारांग निर्युक्ति म. उपलब्ध है। परम्परा से आचारांगचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। यहां अनेक स्थला. पर नागार्जुनीय वाचना की साक्षीपूर्वक पाठभेद प्रस्तुत करते हुए उनकी व्याख्या की गई है। बीच–बीच म. संस्कृत और प्राकृत के अनेक लौकिक पद्य उद्धृत हैं। प्रत्येक शब्द को स्पष्ट करने के लिए एक विशिष्ट शैली अपनाई गई है। मूअ, खुज्ज और वडभ आदि शब्दा. को प्राकृत म. ही समझाया है –

बहिरंतं ण सुणेति, मूतो तिविहो–जलमूतओ, एलमूतओ मम्मणो त्ति। खुज्जो वामणो। वडभे त्ति जस्स वडभं पिट्ठीए णिग्गतं। सामो कुट्ठी। सबलत्तं सिति। सह पमादेणं ति कारणे कज्जुवयारा भणितं सकम्मेहि।

थुल्लसार का अर्थ –

थुल्लसारं भेडं एरंडकट्ठं वा, जस्स वा जं सरीरं थुल्लं ण किंचि विण्णाणं अत्थि ही थुल्लसार एव। केवलं भारसारो पत्थरो वइरा ति। मज्झसारो खइरो। देवसारो अम्बो।

आगे चलकर विविध वस्त्रा. और शाला आदि के लक्षण समझाए गए हैं।

गोल्लदेश (गोदावरी के आस–पास का प्रदेश) के रीति–रिवाजा. का उल्लेख किया गया है। गोल्ल म. चैत्र महीने म. शीत पड़ता है; आम की फांक करके उन्ह. धूप म. सुखाते हैं जिसे आम्रपान कहते हैं। कुंभीचक्र को इस देश का असवत्तअ कहा जाता है। का.कण देश का भी उल्लेख है जहां निरंतर वर्षा होती रहती है।

14.8.2 सूत्रकृतांगचूर्णि

यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण करके लिखी गई है। इस चूर्णि म. नागार्जुनीय वाचना के जगह–जगह पाठान्तर दिये हैं। अनेक देशो के रीति–रिवाज आदि का उल्लेख है। उदाहरण के लिए, सिन्धु देश म. पण्णत्ति का स्वाध्याय करने का मना है। गोल्ल देश म. कोई किसी पुरुष की हत्या कर दे तो वह किसी ब्राह्मणघातक के समान ही निंदनीय समझा जाता है। ताम्रलिप्ति आदि देशा. म. डांसों की अधिकता रहती है। मल्ला. म. रिवाज था कि यदि कोइ अनाथ मल्ल मर जाये तो सब मल्ल मिल कर उसका देह संस्कार करते थे। आर्द्रककुमार के वृत्तांत म. आर्द्रक को म्लेच्छ विषय का रहनेवाला बताया है। आर्यदेश वासी श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार से मित्रता करने के लिए आर्द्रक ने उसके लिए भ.ट भेजी थी। बौद्धा. के जातका. का उल्लेख है।

14.8.3 व्याख्याप्रज्ञप्तिचूर्णि–इस पर अतिलघु चूर्णि है जो अप्रकाशित है।

14.8.4 जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिचूर्णि–इस ग्रन्थ की चूर्णि अप्रकाशित है।

14.8.5 निशीथविशेषचूर्णि

निशीथ पर लिखी हुई चूर्णि को विसेसचुण्णि (विशेषचूर्णि) कहा गया है। इसके कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर हैं। निशीथचूर्णि अनुपलब्ध है। इसम. पिंड निर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति का उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि यह चूर्णि इन दोना. निर्युक्तिया. के बाद लिखी गई है। साधुआ. के आचार–विचार से संबन्ध रखने वाले अपवादसंबन्धी अनेक नियमा. का यहां वर्णन है। आठवें उद्देश्य म. सुकुमालिया की कथा पढ़िये –

अर्द्धभरत म. वनवासी नगरी म. वासुदेव का बड़ा भाई जराकुमार का पुत्र जितशत्रु राज्य करता था। उसके ससअ और भसअ नाम के दो पुत्र और सुकुमालिया नाम की एक कन्या थी। महामारी आदि के कारण समस्त कुल के नष्ट हो जाने पर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सुकुमालिया बड़ी होकर युवती बन गई। वह अत्यन्त सुकुमार और रूपवती थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जब वह भिक्षा आदि के लिए जाती तो बहुत से तरुण युवा उसका पीछा करते। इस प्रकार अपने रूप के कारण वह अपने ही लिए बाधा हो गई।

तरुण उपाश्रय म. घुस आते। उस नवदीक्षिता की रक्षा के लिए गणिनी ने गुरु से निवेदन किया। गुरु ने ससअ और भसअ को आदेश दिया कि वे अपनी बहन की रक्षा करें। वे उसे लेकर एक अलग उपाश्रय म. रहने लगे। दोनों भाई बड़े बलवान् और सहस्त्रयोधी थे। उनम. से एक भिक्षा के लिए जाता तो दूसरा सुकुमालिया की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता। जो तरुण छेड़खानी करने के लिए वहां आते उन्ह. वह मार-पीटकर भगा देता। इस प्रकार उन दोनो ने बहुत लोगा. को ठीक किया।

उधर अपने भाइया. पर अनुकम्पा कर सुकुमालिया ने अनशन स्वीकार किया। कुछ ही दिना. म. क्षीण हो जाने के कारण वह अचेतन हो गई। भाइया. ने समझा कि वह मर गई है। एक ने उसे उठाया और दूसरे ने उसके उपकरण लिये। इस समय पुरुष के स्पर्श से और रात्रि म. शीतल वायु के लगने से उसकी मूर्च्छा टूटी। फिर भी वह चुपचाप रही। दोनो भाई उसे एक स्थान म. परिष्ठापित कर गुरु के पास चले गए। इस बीच वह भी आश्वस्त हो गई। उस समय एक सार्थ वहां पास से गुजर रहा था। सार्थवाह ने सुकुमालिया को देखा, उसे उठा लिया और उसे संभोग्य रूपवती अपनी स्त्री बना ली। कालक्रम से दोना. भाई उसके घर भिक्षा के लिए आए। सुकुमालिया ने अभ्युत्थानपूर्वक उन्ह. भिक्षा दी। भिक्षा लेने के बाद दोनों उसकी ओर देखते रहे। उसने पूछा-"आप लोग क्या देख रहे हैं?" उन्होंने उत्तर दिया-"तुम हमारी भगिनी जैसी लग रही हो, लेकिन वह तो मर गई है। हमने स्वयं उसकी परिष्ठापना की है।" सुकुमालिया ने कहा-"आप विश्वास करें, मैं वही हूं।" उसने सारी कथा कह सुनाई। ससअ, भसअ ने परिपक्ववय म. उसे फिर से दीक्षित कर लिया।

कठिन परिस्थितिया. म. जैन श्रमण अपने संघ की किस प्रकार रक्षा करते थे, इसे समझाने के लिए पीठिका म. का.कण देश के एक साधु का आख्यान दिया है। एक बार, कोई आचार्य अपने शिष्य समुदाय के साथ विहार करते हुए संध्या समय का.कण की अटवी के पास पंहुचे। उस अटवी म. सिंह आदि अनेक जंगली जानवर रहते थे। आचार्य ने अपने संघ की रक्षा के लिए का.कण के एक साधु को रात्रि के समय पहरा देने के लिए नियुक्त कर दिया, बाकी सब साधु आराम से सो गए। प्रात:काल पता चला कि पहरा देने वाले साधु ने तीन सिंहा. को मार डाला है। आचार्य ने प्रायश्चित्त देकर साधु की शुद्धि कर ली। अन्यत्र, चतुर्थ उद्देश म. राजभय से आचार्य द्वारा अपने राजपुत्र साधुशिष्य को इमली के बीज उसके मुंह पर मलकर संयतिया. के उपाश्रय म. छिपा देने का उल्लेख है।

राजा सम्प्रति के राज्यशासन को चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, (298-273 ई.पू.) और अशोक (272-232 ई.पू.) तीना. की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है। इसलिए मौर्य वंश को यव के आकार का बताया है, जैसे यव दोना. ओर से नीचा और मध्य म. उठा हुआ होता है, उसी प्रकार सम्प्रति को मौर्य वंश का मध्यभाग कहा है। राजा सम्प्रति ने अनेक देशा. म. अपने राजकर्मचारी भेजकर 25½ देशा. तथा आंध्र, द्रविड़ और कुडुक्क (कुर्ग) आदि प्रत्यंत देशा. को जैन साधुआ. के विहार योग्य बनवाया था। कालकाचार्य की कथा विशेषनिशीथचूर्णि म. विस्तार से कही गई है। उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने जब कालकाचार्य की भगिनी को जबरदस्ती उठाकर अपने अन्त:पुर म. रख लिया तो कालकाचार्य बहुत क्षुब्ध हुए। उन्हा.ने राजा से बदला लेने की प्रतिज्ञा की। प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए वे पारसकूल (ईरान) गए। और वहां के शाहा. को हिन्दुस्तान (हिन्दुगदेस) लिवा लाए। आगे चलकर शक वंश की उत्पत्ति हुई। कालक के अनुरोध पर शाहों ने राजा गर्दभिल्ल पर चढ़ाई कर उसके वंश का समूल नाश कर डाला। तत्पश्चात् कालक ने अपनी भगिनी को पुन: संयम म. दीक्षित किया। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की कथा यहां विस्तार से दी गई है। इस प्रसङ्ग. पर पुष्कर तीर्थ (आधुनिक पुष्कर, अजमेर के पास) की उत्पत्ति बताई गई है।

साधुआ. के आचार-विचार के वर्णन प्रसंग म. यहां अनेक देशा. म. प्रचलित रीति-रिवाजा. का उल्लेख है। लाटदेश म. मामा की लड़की से विवाह किया जा सकता था। मालव और सिन्धु देश के कठोरभाषी तथा महाराष्ट्र के लोग वाचाल माने जाते थे।

निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक - इन पांचा. की श्रमण म. गणना की गई है। श्वाना. के सम्बन्ध म. बताया है कि कैलाश पर्वत (मेरु) पर रहने वाले देव यक्षरूप म. (श्वानरूप म.) इस मर्त्यलोक म. रहते हैं। शक, यवन, मालव तथा आंध्र-तमिल का यहां उल्लेख है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.8.6 दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि

दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति की भांति इसकी चूर्णि भी लघु है। यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण करके लिखी गई है। मूलसूत्रपाठ और चूर्णिसम्मत पाठ म. कहीं-कहीं कुछ अन्तर है। यहां भी अनेक श्लोक उद्धृत हैं। दशा, कल्प और व्यवहार को प्रत्याख्यान नामक पूर्व म. से उद्धृत बताया है। दृष्टिवाद का असमाधिस्थान नामक प्राभृत से भद्रबाहु ने उद्धार किया। आठवें कर्मप्रवादपूर्व म. आठ महानिमित्ता. का विवेचन है। प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और आचार्य कालक की कथा उल्लिखित है। सिद्धसेन का उल्लेख मिलता है। गोशाल को भारीयगोशाल कहा है अर्थात् जो गुरु की अवहेलना करता है और उसके कथन को नहीं मानता। अंगुष्ठ और प्रदेशिनी (तर्जनी) उंगली म. जितने चावल एक बार आ सकें, उतने ही चावला. को भक्षण करने वाले अनेक तापसा. का उल्लेख है।

14.8.7 बृहत्कल्पचूर्णि

यह चूर्णि मूलसूत्र और उस पर लिखे हुए लघुभाष्य पर लिखी गई है। इस चूर्णि का प्रारम्भिक अंश दशाश्रुत स्कन्धचूर्णि से बहुत कुछ मिलता है। सम्भवतः दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, बृहत्कल्पचूर्णि के पूर्व म. लिखी गई है और दोना. एक ही आचार्य की रचनाएं हैं। यहां तत्त्वार्थाधिगम, विशेषावश्यकभाष्य, कर्मप्रकृति, महाकल्प और गोविन्दनिर्युक्ति का उल्लेख है।

14.8.8 जीतकल्प-बृहच्चूर्णि

यह चूर्णि मूलसूत्र पर लिखी गई है। सिद्धसेनसूरिकृत यह चूर्णि प्राकृत म. है, संस्कृत का प्रयोग नहीं किया गया है। चूर्णिकार ने आदि और अन्त म. जीतकल्पसूत्र के प्रणेता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को नमस्कार किया है। प्रस्तुत चूर्णि म. एक अन्य चूर्णि का भी उल्लेख है जो अनुपलब्ध है।

14.8.9 उत्तराध्ययनचूर्णि

उत्तराध्ययनचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर हैं। इन्हा.ने अपने धर्मगुरु का नाम वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर तथा विद्यागुरु का नाम (निशीथविशेषचूर्णि के उल्लेखानुसार) प्रद्युम्न क्षमाश्रमण बताया है। यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण कर के लिखी गई है। चूर्णिकार ने अपनी कृति दशवैकालिकचूर्णि का उल्लेख किया है। नागार्जुनीय पाठ का यहां अनेक स्थला. पर उल्लेख है। बहुत से शब्दा. की विचित्र व्युत्पत्तियां दी हुई हैं : कावस (काश्यप गोत्र) की व्युत्पत्ति - काशं - उच्छुं तस्य विकारः कास्यः रसः स यस्य पानं काश्यपः - उसभसामी तस्स जोगा जे जाता ते कासवा वद्धमाणो सामी कासवो।

माता, पिता आदि शब्दा. की व्युत्पत्तियां देखिए -

मातयति मन्यते वाऽसौ माता, मिमीते मिनोति वा पुत्रधर्मानिती माता। पाति बिभर्ति वा पुत्रमिति पिता । स्नेहाधिक्तवात् माता पूर्व, स्नेहेति श्रवन्ति वा तामिति स्नुषा। बिभर्ति भयते वासो भार्या। पुनातीति पुत्रः। गच्छतीति गौः। अश्नुते अश्नाति वा अध्वानमित्यश्वः। मद्यते मन्यते वा तमलंकारमिति मणिः। पश्यतीति पशुः।

3.10 आवश्यकचूर्णि

आवश्यकचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। यह आवश्यकसूत्र म. प्रतिपादित सीधे सूत्रा. पर टीका नहीं है, किन्तु विशेषावश्यक की भांति आवश्यक की निर्युक्ति को आधार मान कर लिखी गई है। जहां-तहां विशेषावश्यकभाष्य की गाथाआ. का व्याख्यान देखने म. आता है। सूत्रकृतांग आदि चूर्णिया. की भांति इस चूर्णि म. केवल शब्दार्थ का ही प्रतिपादन नहीं है, बल्कि भाषा और विषय की दृष्टि से निशीथचूर्णि की तरह यह एक स्वतंत्र रचना ज्ञात होती है। यहाँ ऋषभदेव के जन्ममहोत्सव से लेकर उनकी निर्वाण-प्राप्ति तक की घटनाआ. का विस्तार से वर्णन है। जैन परम्परा के अनुसार उन्होंने ही सर्वप्रथम अग्नि का उत्पादन करना सिखाया और शिल्पा. (कुंभकार, चित्रकार, वस्त्रकार, कर्मकार और काश्यप ये पांच मुख्य शिल्पी बताए गए हैं।) की शिक्षा दी। उन्हा.ने अपनी कन्या ब्राह्मी को दाहिने हाथ से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिखना और सुंदरी को बांए हाथ से गणित करना सिखाया, भरत को चित्रविद्या की शिक्षा दी तथा दण्डनीति प्रचलित की। कौटिल्य अर्थशास्त्र की उत्पत्ति भी इसी समय से बताई गई है। ऋषभ के निर्वाण के पश्चात अष्टापद (कैलास) पर्वत पर स्तूपा. का निर्माण हुआ। भरत की दिग्विजय तथा राज्याभिषेक का यहाँ विस्तार से वर्णन है। उन्होंने आर्य वेदा. की रचना की जिनम. तीर्थंकरा. की स्तुति, यति-श्रावक धर्म और शांतिकर्म आदि का उपदेश था (सुलसा और याज्ञवल्क आदि द्वारा रचित वेदा. को यहां अनार्य वेद कहा है)। ब्राह्मणा.(माहण) की उत्पत्ति बताई गई है।

ऋषभदेव की भांति महावीर के जन्म, विवाह, दीक्षा और उपसर्गों का तथा दीक्षा के पश्चात महावीर के देश-देशान्तर म. विहार का यहाँ विस्तृत अध्ययन है, जो प्रायः अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। महावीर के भ्रमणकाल म. उनकी अनेक पार्श्वापत्या. से भ.ट हुई। पार्श्वात्य अष्टांगमहानिमित्त के पंडित होते थे। मुनिचन्द्र नामक पार्श्वापत्य सारंभ और सपरिग्रह थे; वे किसी कुम्हार की दुकान पर रहते थे। नंदिषेण स्थविर पार्श्वनाथ के दूसरे अनुयायी थे। पार्श्वनाथ की शिष्याआ. का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। चित्रफलक दिखाकर अपनी आजीविका चलाने वाला मंखलीपुत्र गोशाल नालंदा म. आकर महावीर से मिला। उसके बाद दोनों साथ-साथ विहार करने लगे। लाढ़ देश म. स्थित वज्जभूमि और सुब्भभूमि म. उन्हा.ने बहुत उपसर्ग सहे। वासुदेव-आयतन, बलदेवप्रतिमा, स्कंदप्रतिमा, मल्लि की प्रतिमा तथा ढा.ढ सिवा आदि का उल्लेख यहाँ किया गया है।

14.8.11 दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासगणि-महत्तर-कृत)

दशवैकालिकचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण करके लिखी गई है।

जिनदासगणि की प्रस्तुत चूर्णि म. आवश्यक चूर्णी का उल्लेख मिलता है इससे पता चलता है कि आवश्यक चूर्णि के पश्श्चात इसकी रचना हुई। यहां भी शब्दों की विचित्र व्युत्पत्तियां दी गई हैं। द्रुम आदि शब्दों की व्युत्पत्ति देखिए -

दुमा नाम भूमीय आगासे य दोसु माया दुमा। पादेहिं पिबंतीति पादपाः, पाएसु वा पालिज्जंतीति पादपा, पादा मूलं भण्णति। रु त्ति पुहवि ख त्ति आगासं तेसु दोसु वि जहा ठिया तेण रुक्खा, अहवा रु पुढवी तं खायंतीति रुक्खो।

14.8.12 दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिंह कृत)

जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि की भांति यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुगमन करके लिखी गई है। चूर्णि के अंत म. चूर्णिकार ने अपना नाम कलशभवमृगेन्द्र (कलश-भव= कलश से उत्पन्न अर्थात् अगस्त्य; मृगेन्द्र=सिंह) अर्थात अगस्त्य सिंह, व्यक्त किया है। अगस्त्य सिंह गणि ऋषिगुप्त क्षमाश्रमण के शिष्य थे। वे कोटि गणीय वज्रस्वामी की शाखा के आचार्य थे। स्थविर अगस्त्य सिंह का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी माना गया है और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह रचना वलभी वाचना के लगभग 200-300 वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थी। प्रस्तुत चूर्णि के मूल सूत्र पाठा., जिनदासगणी महत्तर कृत चूर्णि के मूल सूत्र पाठा. और हरिभद्र कृत वृत्ति के मूल सूत्र पाठा. म. कहीं-कहीं अन्तर पाया जाता है। चूर्णी की निर्युक्ति-गाथाआ. के सम्बन्ध म. यह भी विभिन्नता देखने म. आती है। कितनी ही निर्युक्ति-गाथाएं ऐसी हैं जो हरिभद्रीय टीका म. उपलब्ध हैं; किन्तु दोना. चूर्णिकारा. ने उन्ह. उद्धृत नहीं किया। प्रस्तुत संस्करण म. सूत्र गाथाआ., 270 निर्युक्ति-गाथाआ. तथा चूर्णिगत उद्धरणा. की अनुक्रमणिका दी हुई है। प्रस्तावना म. अगस्त्यसिंह और हरिभद्र द्वारा स्वीकृत निर्युक्ति-गाथाआ. की तालिका प्रस्तुत है। अनेक वाचनान्तर, पाठभेद, अर्थभेद और सूत्र पाठा. के उल्लेखा. की दृष्टि से यह चूर्णि महत्त्वपूर्ण है। मुनि पुण्यविजयजी की मान्यता है कि दशवैकालिक सूत्र पर उन दोना. चूर्णिया. के अतिरिक्त और भी प्राचीन चूर्णि रही होगी जिसका उल्लेख दोना. चूर्णिकारा. ने किया है।

14.8.13 नन्दीचूर्णि

यह चूर्णि मूल सूत्र का अनुसरण करके लिखी गई है। यहां माथुरी वाचना का उल्लेख आता है बारह वर्ष का अकाल पड़ने पर आहार आदि न मिलने के कारण जैन भिक्षु मथुरा छोड़कर अन्यत्र विहार करने गए थे। सुभिक्ष होने पर समस्त साधु-समुदाय आचार्य स्कंदिल के नेतृत्व म. मथुरा म. एकत्रित हुआ और जो जिसे स्मरण था उसे कालिकश्रुत के रूप म. संघटित कर दिया गया। कुछ लोगा. का कथन है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुत नष्ट नहीं हुआ था, मुख्य-मुख्य अनुयोगधारी आचार्य मृत्यु को प्राप्त हो गए थे,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अतएव स्कंदिल आचार्य ने मथुरा म. आकर साधुआ. को अनुयोग की शिक्षा दी। यहां केवलज्ञान और केवलदर्शन के सम्बन्ध में दोना. का यौगपद्य, उनका क्रमभावित्व और उनका अभिन्नत्व, इन तीना. मता. की चर्चा की गई है।

14.8.14 अनुयोगद्वारचूर्णि

यह चूर्णि भी मूलसूत्र का अनुसरण करके लिखी गई है। यहां तलवर, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, वापी, पुष्करिणी, सारणी, गुंजालिया, आराम, उद्यान, कान्न, वन, गोपुर, सभा, प्रपा, रथ, यान, शिविका आदि के अर्थ समझाए हैं। संगीत सम्बन्धी तीन पद्य प्राकृत म. उद्धृत हैं जिससे पता चलता है कि संगीतशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ प्राकृत म. रहा होगा। सात स्वरा. और नौ रसा. का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

अनुयोगद्वार के अंगुलपद पर लिखी हुई एक अन्य चूर्णि है जिसके कर्त्ता सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। यह चूर्णि जिनदासगणि महत्तरकृत अनुयोगद्वार चूर्णि म. अक्षरशः उद्धृत की गई है।

14.9 टीका साहित्य

जैसा कहा जा चुका है, आगम साहित्य के संस्कृत टीकाकारा. म. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम सर्वोपरि है।अन्य टीकाआ. म. आवश्यकनिर्युक्ति पर हरिभद्रसूरी और मलयगिरि की,उत्तराध्ययन पर वादिवेताल शान्तिसूरि और नेमिचन्द्रसूरि (आचार्य पद प्राप्ति के पूर्व;अपर नाम देवेन्द्रगणि)की तथा दशवैकालिक सूत्र पर हरिभद्र की टीकाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।हरिभद्रसूरि एक बहुश्रुत विद्वान थे जिनका नाम आगम के प्राचीन टीकाकारा. म. गिना जाता है।विविध विषया. पर उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।उन्हा.ने आवश्यक, दशवैकालिक,जीवाभिगम,प्रज्ञापना,न्नदी,अनुयोगद्वार और पिण्डनिर्युक्ति(अपूर्ण)पर टीकाएं लिखी हैं।हरिभद्र ने आवश्यकसूत्र पर दो टीकाएं लिखी हैं।उपलब्ध टीका अनुपलब्ध टीका की अपेक्षा प्रमाण म. लघु है।यह टीका यद्यपि निर्युक्ति को आधार मानकर ही लिखी गई है फिर भी जहां–तहां भाष्य–गाथाआ. का भी उपयोग किया है।कहीं–कहीं निर्युक्ति के पाठान्तर भी दिए हैं।इसके कथानक प्राकृत म. ही प्रस्तुत है।संक्षिप्त विवेचन म. रुचि रखने वाले पाठका. के लिए लिखित यह टीका शिष्यहिता कही गई है।

मलयगिरि कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। जैन आगमा. पर इन्हा.ने महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखी हैं। इन आगमा. म. व्याख्याप्रज्ञप्ति–द्वितीयशतक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, न्नदी, व्यवहार, बृहत्कल्पपीठिका (अपूर्ण), आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति और ज्योतिष्करंडक का नामोल्लेख किया जा सकता है। इनके द्वारा रचित जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ओघनिर्युक्ति और विशेषावश्यक की टीकाएं अनुपलब्ध हैं। मलयगिरि द्वारा रचित आवश्यकविवरण अपूर्ण है। यह विवरण आवश्यकनिर्युक्ति पर लिखा गया है जहां–तहां विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएं उद्धृत हैं।

आवश्यकटीका म. से कुछ लौकिक लघु कथाएं यहां दी जाती हैं –

कोई बन्दर किसी वृक्ष पर रहता था। वर्षाकाल म. ठण्डी हवा से वह कांप रहा था। उसे कांपते हुए देखकर सुन्दर घा.सले वाली एक चिड़िया (बया) ने कहा –

वानर ! पुरिसो सि तुमं निरत्थयं वहसि बाहुदंडाइं ।
जो पायवस्स सिहरे न करेसि कुडिं पडालिं वा ॥

– हे बन्दर! तू पुरुष होकर भी व्यर्थ अपनी भुजाआ. को धारण करता है। तुम क्या. वृक्ष के ऊपर कोई कुटिया या चटाई आदि की टट्टी नहीं बना लेते?

यह सुनकर बन्दर चुप रहा। बया ने यही बात दो–तीन बार दोहराई । इस पर बन्दर को बड़ा गुस्सा आया और जहां वह बया रहती थी, उस वृक्ष पर चढ़ गया। बया वहां से उड़ गई और बन्दर ने उसके घा.सले के तिनके कर–कर के हवा म. उड़ा दिए। फिर वह कहने लगा –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नवि सि ममं मयहरिया, नवि सि ममं सोहिया व णिद्धावा ।
सुघरे ! अच्छसु विघरा जा वट्टसि लोगतत्तीसु ॥

तू न तो मेरी बड़ी है, न मुझे अच्छी लगती है और न मैं तुमसे स्नेह ही करता हूं। हे सुघरे! अब बिना घर के रह, दूसरा. की तुझे बहुत चिन्ता है!

दशवैकालिकसूत्र की वृत्ति म. भी हरिभद्र ने अनेक सरस लोककथाएं, उदारहण और दृष्टान्त आदि उद्धृत किए हैं।

शान्तिसूरि 'कवीन्द्र' तथा 'वादिचक्रवर्ती' के रूप म. प्रसिद्ध थे। मालवा के राजा भोज ने इनकी वाद-विवाद की प्रतिभा पर मुग्ध होकर इन्ह. 'वादिवेताल' की पदवी प्रदान की थी। उत्तराध्ययन पर लिखी हुई इनकी टीका म. प्राकृत कथानक एवं प्राकृत उद्धरणा. की प्रधानता होने से उसे पाइय (प्राकृत) टीका कहा है; इसे शिष्यहिता अथवा उत्तराध्ययनसूत्र-बृहद्वृत्ति भी कहा गया है। इस टीका म. मूलसूत्र एवं निर्युक्ति दोना. का व्याख्यान है। प्राकृत कथानका. को उद्धृत करते हुए अनेक स्थला. पर 'वृद्ध', वृद्धवाद'आदि के प्रयोग पूर्वक 'अथे भणंति' कहकर प्राचीन परम्पराआ. की ओर लक्ष्य किया है। बीच-बीच म. भाष्यगाथाएं भी उद्धृत हैं। प्रस्तुत टीका म. अनेक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारा. का नामोल्लेख है। 'स्त्रीनिर्वाण-सूत्र' का उल्लेखपूर्वक स्त्रीनिर्वाण संबंधी मत उद्धृत किया गया है। शान्तिसूरि महाकवि धनपाल के समकालीन थे और उन्हा.ने धनपाल की तिलकमंजरी का संशोधन भी किया है। नेमिचन्द्रसूरि ने वादिवेताल शान्तिसूरि की पाइयटीका के आधार पर उत्तराध्ययनसूत्र पर सुखबोधा टीका की रचना की। इन्हा.ने भी अपनी टीका म. अनेक आख्यान प्राकृत म. ही उद्धृत किये हैं। टीका की प्रशस्ति म. इन्हा.ने अपने को बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव का शिष्य बताया है। अपनी इस रचना को उन्हा.ने अणहिल पाटन नगर (पाटन) म. ईसवी सन् 1072 म. समाप्त किया। नेमीचन्द्रसूरि वादिवेताल शांतिसूरि के समकालीन थे।

आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांकाचार्य की विद्वत्तापूर्ण टीकाएं हैं। अभयदेवसूरि नवांगीवृत्तिकार के रुप म. प्रसिद्ध हैं। इन्हा.ने स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अंतःकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और औपपातिक सूत्र पर वृत्तियां लिखी हैं। स्थानांगसूत्र की वृत्ति म. वृत्तिकार ने देश-देश की स्त्रिया. के स्वभाव का सुंदर चित्रण किया है। यहां पर उन्हा.ने चौलुक्य की कन्याआ. के साहस की और लाट देश की स्त्रिया. की रमणीयता की प्रशंसा की है, तथा उत्तरदेश की नारिया. को धिक्कारा है-

अहो चौलुक्यपुत्रीणां साहसं जगतोऽधिकम्।
पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्नौ या प्रेमरहिता अपि॥
चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी सद्‌गीः पीनघनस्तनी।
किं लाटी नो मता सास्य देवानामपि दुर्लभा॥
धिड्.नारीरौदिच्या बहुवसनाच्छादितांगलतिक्तवात्।
यद्यौवनं न यूनां चक्षुर्मोदाय भवति सदा॥

विजयविमलगणि कृत गच्छाचार की वृत्ति म. भद्रबाहु और वराहमिहिर नाम के दो सहोदर भाइया. के वृत्तांत का विस्तार से कथन है। कहते हैं कि वराहमिहिर चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के ज्ञाता तथा अंगोपांग और द्रव्यानुयोग म. पारंगत थे। वृत्तिकार की मान्यता है कि चन्द्रसूर्य प्रज्ञप्ति के आधार से उन्हा.ने वाराहीसंहिता नामक ज्योतिष के ग्रन्थ की रचना की थी।

इस प्रकार आगम और उनकी व्याख्याआ. के रूप म. लिखे गए इस विशाल साहित्य का अध्ययन करने से हम. कई बाता. का पता चलता है। सबसे पहले तो यही कि भारत की लोक-प्रचलित प्राचीन कथा-कहानिया. को जैन विद्वाना. ने प्राकृत कथाआ. के रूप म. सुरक्षित रखा। इन कथाआ. म. से बहुत-सी कथाएं जातक, कथासरित्सागर, पंचतन्त्र, हितोपदेश, शुकसप्तति म. पाई जाती है, और ईसप की कहानियां, अरेबियन नाइट्स, कलेला दमना की कहानी आदि के रूप म. सुदूर देशा. म. भी पहुंची हैं। जैन मुनिया. ने अपने उपदेशा. के दृष्टान्त रूप म. इन कहानिया. का यथेष्ट उपयोग किया है। दूसरे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकार की कथाएं पौराणिक कथाएं हैं, जिन्हें रामायण, महाभारत आदि ब्राह्मण-ग्रन्था. से लेकर जैनरूप म. ढाला गया है। राम, कृष्ण, द्रौपदी, द्वीपायन ऋषि, द्वारकादहन, गंगा की उत्पत्ति आदि की कथाआ. का इसी प्रकार की कथाआ. म. अन्तर्भाव होता है। करकूंड आदि प्रत्येकबुद्धा. की कथाएं बौद्ध जातका. की कथाआ. से मिलती-जुलती हैं। द्वीपायन ऋषि की कथा कण्हदीपायनजातक, वल्कलचीरी की कथा बौद्धा. की उदान-अट्ठकथा और कुणाल की कथा दिव्यावदान म. आती है। अनेक कथाएं मूल सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु म. कही गई हैं। रोहक और कनकमंजरी की कथाएं अत्यन्त मनोरंजक और कल्पनाशक्ति की परिचायक हैं जिनकी तुलना क्रम से बौद्धजातका. के महोसध पण्डित और अरेबियन नाइट्स की शहजादे से की जा सक्ती है। इसी प्रकार शकटाल, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, स्तेयशास्त्र के प्रवर्तक मूलदेव, मण्डित चोर, देवदत्ता गणिका और अगडदत्त आदि की कथाएं विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

14.10 सारांश

डॉ. विण्टरनीत्स के शब्दा. म. "जैन-टीका साहित्य म. भारतीय प्राचीन कथा-साहित्य के अनेक उज्ज्वल रत्न विद्यमान हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।"

14.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आगम साहित्य को पंचांगी क्या. कहते हैं?

अथवा

आगमा. के व्याख्या-साहित्य के क्रमिक विकास पर संक्षेप म. प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. निर्युक्तियां किन-किन आगमों पर लिखी गई हैं।
   किसी एक निर्युक्ति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. चूर्णि किसे कहते हैं? मुख्य चूर्णियों के नामोल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. .... सहित आगम को पंचांङ्गी कहते हैं।
2. निर्युक्तियों की भाषा .... है।
3. चूर्णि प्राकृत और संस्कृत की मिश्र भाषा है।
4. टीकाएँ .... में लिखी गई हैं।
5. दसवेआलिय पर जिनदासगणि महत्तर और अगस्त्य सिंह की ..... उपलब्ध हैं।
6. उत्तराध्ययन चूर्णि के कर्ता .... हैं।
7. .... नवांगी वृत्तिकार के नाम से प्रसिद्ध है।
8. उत्तराध्ययन के टीकाकार नेमिचन्द्रसूरि का उपनाम .... है।
9. आवश्यकसूत्र पर 'शिष्यहिता' नामक टीका .... द्वारा लिखी गई है।
10. अर्द्धमागधी जैनागमों की निर्युक्ति की भाषा .... कही गई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–5 : जैन साहित्य का इतिहास

इकाई–15 : दार्शनिक साहित्य

संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 आचार्य कुन्दकुन्द
15.3 सूत्रकार उमास्वाति
15.4 आचार्य समन्तभद्र
15.5 आचार्य सिद्धसेन
15.6 आचार्य पूज्यपाद
15.7 आचार्य मल्लवादी
15.8 जिनभद्र मणि क्षमा–श्रमण
15.9 पात्रकेसरी
15.10 भट्टाकलंक
15.11 हरिभद्र
15.12 स्वामी विद्यानंद
15.13 आचार्य माणिक्यनन्दि
15.14 अभयदेव सूरि
15.15 आचार्य प्रभाचन्द्र
15.16 वादिराज सूरि
15.17 देवसूरि
15.18 आचार्य हेमचन्द्र
15.19 यशोविजय
15.20 सारांश
15.21 अभ्यास प्रश्नावली

15.0 प्रस्तावना

इस पाठ म. कालक्रम से दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों द्वारा जैन दार्शनिक साहित्य म. किए गए योगदान का उल्लेख किया जाएगा। इस क्रम म. उनकी प्रमुख कृतिया. तथा उनके वैयक्तिक वैशिष्ट्य को अति संक्षिप्त शैली म. आकलित करने का प्रयास किया जाएगा।

15.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से जैन दार्शनिक साहित्य की विस्तृत जानकारी हो सकेगी।

15.2 आचार्य कुन्दकुन्द

जैन दार्शनिक साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास ईसा की प्रथम शताब्दी से आरम्भ होता है। इस शताब्दी म. कुन्दकुन्दाचार्य नाम के महान् प्रभावक आचार्य हुए। इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का है। इनका नाम पद्मनन्दि था। किन्तु अपने जन्म स्थान कुन्दकुन्दपुर के नाम पर ये आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से ही ख्यात हैं। ये मूल संघ के अग्रणी थे जो दिगम्बर–आम्नाय का ही एक उपनाम है। उनके ग्रन्थ दिगम्बर आम्नाय म. आगम–ग्रन्था. के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अनेक ग्रन्थ उनके बनाए हुए हैं। इनके शुरू के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तीन ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे वेदान्त-दर्शन म. उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रस्थान-त्रयी कहते हैं वैसे ही जैन दर्शन म. प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाटक-त्रयी के नाम से ख्यात हैं।

प्रवचनसार म. तीन अधिकार हैं - ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार औा चारित्राधिकार। ज्ञानाधिकार म. सबसे प्रथम तो यह बताया गया है कि शुद्धात्मा के इन्द्रिया. के बिना भी ज्ञान और सुख होता है। ज्ञान और सुख दोना. आत्मा के स्वभाव हैं। सुख का कारण न तो शरीर ही है और न इन्द्रिया. के विषय ही। इन्द्रिय सुख यथार्थ म. सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है। सुख ज्ञान से अभिन्न है। इन्द्रिय सुख का कारण इन्द्रिय-ज्ञान है और अतीन्द्रिय-सुख का कारण अतीन्द्रिय-ज्ञान है। इन्द्रिय-ज्ञान अक्ष-निपत्ति अर्थ को ही जानता है अतः वह अतीत-अनागत को नहीं जान सकता। किन्तु अतीन्द्रिय-ज्ञान म. सब को जानने का सामर्थ्य है। अतीन्द्रिय-ज्ञान क्षायिक है, नित्य है और व्यापक है। अतः यह त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती नानाप्रकार के सब पदार्थों को युगपत् जानता है।

आत्मा और ज्ञान के भेदाभेद की चर्चा करते हुए लिखा है कि ज्ञान आत्मा है क्या.कि आत्मा के बिना ज्ञान पाया नहीं जाता। अतः ज्ञान आत्म-स्वरूप है, किन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अन्य गुण रूप भी है। क्या.कि आत्मा अनन्त-गुणा. का भण्डार है। अब चूंकि आत्मा और ज्ञान एक है अतः आत्मा ज्ञान प्रमाण है। जितना बड़ा ज्ञान होता है उतना ही बड़ा आत्मा होता है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण होता है तथा ज्ञेय समस्त लोकालोक है अतः ज्ञान सर्वगत है और ज्ञान की अपेक्षा आत्मा भी सर्वगत है। यदि आत्मा को ज्ञान-प्रमाण नहीं माना जाता तो या तो आत्मा ज्ञान से छोटा हुआ अथवा ज्ञान से बड़ा हुआ। यदि वह ज्ञान से छोटा है तो आत्मा से बाहर का ज्ञान अचेतन हो जाएगा, तब वह कैसे जानेगा? और यदि वह ज्ञान से बड़ा है तो बिना ज्ञान के वह कैसे किसी को जान सकेगा? इस तरह ज्ञान को आत्म-प्रमाण और आत्मा को ज्ञान-प्रमाण सिद्ध करके आचार्य कुन्दकुन्द[1] ने उसे सर्वज्ञ सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जो सबको नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता और जो एक को नहीं जानता वह सबको नहीं जानता।

इस तरह ज्ञान की बहुत सुन्दर चर्चा करके आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किए हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो पर की सहायता से पदार्थों का ज्ञान होता है वह परोक्ष है। और जो केवल जीव के द्वारा ही पदार्थ-ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान अवग्रह-ईहा आदि क्रमिक ज्ञाना. से रहित होता है।

ज्ञानाधिकार की तरह दूसरा ज्ञेयाधिकार भी महत्त्वपूर्ण चर्चाआ. से ओतप्रोत है। इसम. सत्ता, द्रव्य, गुण और पर्याय की बहुत ही मनोहर चर्चा है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित हो तथा गुण और पर्याय वाला हो वह द्रव्य है। द्रव्य स्वभाव-सिद्ध है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप परिणाम के होते हुए भी वह स्वभाव से सत् और अवस्थित है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर म. अविनाभाव है। बिना उत्पाद के विनाश नहीं और बिना विनाश के उत्पाद नहीं और बिना ध्रौव्य के उत्पाद-विनाश नहीं। किन्तु उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य पर्याया. म. रहते हैं और पर्याय द्रव्य म. होती है, अतः सब द्रव्य रूप ही हैं। इसी तरह स्वयं द्रव्य ही एक गुण से अन्य गुण रूप परिणमन करता है अतः गुण और पर्याय भी द्रव्य रूप ही हैं। तथा द्रव्य सत्स्वरूप है। द्रव्य सत् है, गुण सत् है, पर्याय सत् है यह सब सत्ता का ही विस्तार है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्ता, द्रव्य, गुण और पर्याय म. भेदाभेद का विवेचन सयुक्तिक और सुन्दर शैली म. करके जैन-दर्शन की अनुपम देन सप्तभंगी के अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य और उभय - इन चार भंगा. का उल्लेख मात्र किया है। इसके आगे द्रव्य के भेद - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का वर्णन करते हुए जीव और कर्म के सम्बन्ध का तथा जीव के कर्तृत्व का विचार किया है।

वे लिखते है - न तो यह आत्मा पुद्गल है और न इस आत्मा ने पुद्गला. को पिण्ड रूप किया है अतः आत्मा न तो देह रूप है और न देह का कर्त्ता है। किन्तु स्निग्ध-गुण और रूक्ष गुण के निमित्त से परमाणु स्वयं ही पिण्ड रूप हो जाते हैं। अतः आत्मा पुद्गल-पिण्ड रूप कर्म का कर्त्ता नहीं है। आत्मा तो अपने राग-द्वेष रूप भावा. को करता है। उन भावा. का निमित्त पाकर पुद्गल-कर्म-वर्गणाएं कर्म रूप होकर आत्मा से बद्ध हो जाती हैं। इसी का नाम बन्ध है।

1. इनके विशेष परिचय के लिए 'जीवराज ग्रन्थमाला' शोलापुर से प्रकाशित कुन्दकुन्द संग्रह की प्रस्तावना पढ़ना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस तरह बन्ध का निरूपण करके उससे छूटने का उपाय भी उसी के साथ बता दिया है। लिखा है – जो शुद्ध आत्म–स्वरूप को जानकर उसी का ध्यान करता है वह मोह की ग्रंथि को नष्ट कर देता है। मोह की ग्रन्थि के नष्ट हो जाने पर राग–द्वेष को छोड़कर जब आत्मा सुख–दुख म. समबुद्धि हो जाता है तो अक्षय–सुख को प्राप्त कर लेता है। अक्षय–सुख की प्राप्ति ही ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा का निचोड़ है। यही प्राप्तव्य है। उसी की प्राप्ति के लिए मनुष्य श्रमण होने की इच्छा करता है और श्रमण हो कर उसकी साधना करता है। श्रमण की इस साधना का वर्णन तीसरे चारित्राधिकार म. है।

दूसरे पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थ म. भी तीन ही अधिकार हैं। प्रथम अधिकार म. पांच अस्तिकाया. का वर्णन है। इसका विषय यद्यपि प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार से मिलता हुआ है किन्तु कई दृष्टिया. से उससे विशिष्ट है। दूसरे अधिकार म. जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – इन नव पदाथा. का वर्णन है और तीसरे म. मोक्ष–मार्ग का कथन है।

तीसरा समयसार नामक ग्रन्थ तो अध्यात्म का एक महानद ही है। 'समय' नाम आत्मा का है। आत्मा का सार अर्थात् शुद्धावस्था का वर्णन इस ग्रन्थ म. है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने समय के दो भेद किए हैं – स्व समय और पर समय। जो आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप स्वभाव म. स्थित है वह स्व–समय म. है और जो आत्मा कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले पर–भाव म. स्थित है वह पर समय है। इन दोना. म. से अपने शुद्ध गुण–पर्याय–रूप परिणत आत्मा ही उपादेय है। उस आत्मा के कर्म–बन्धन से बद्ध होने की कथा विसंवाद पैदा करती है अतः वह सत्य नहीं है। सत्य तो एक शुद्ध आत्म तत्त्व ही है। किन्तु उससे सब लोग अपरिचित हैं, उन्हा.ने न तो कभी उसको सुना ही है और न उसका अनुभव ही किया है। वे तो बस, काम–भोग म. ही मस्त हैं। उसे ही जीवन का सार समझते हैं। अतः इस ग्रन्थ म. ग्रन्थकार ने उस शुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन कराने का ही भरसक प्रयत्न किया है।

जैनदर्शन म. वस्तुतत्त्व का विवेचन दो दृष्टिया. से किया जाता है – एक निश्चयनय से और एक व्यवहारनय से। निश्चयनय वस्तु के पर–निरपेक्ष असली स्वरूप को ग्रहण करता है और व्यवहारनय पर–सापेक्ष को। जैसे मिट्टी के घड़े म. घी भरा होने से उसे घी का घड़ा कहना व्यवहार है और मिट्टी का घड़ा कहना यथार्थ है। जो यथार्थग्राही है, वही निश्चयनय है अतः निश्चयनय की दृष्टि से वस्तु–तत्त्व अभेद रूप है। किन्तु अभेद रूप तत्त्व का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है। प्रतिपादन करने से वह तत्त्व अभेद रूप न रहकर भेद रूप प्रतीत होता है, जो यथार्थ नहीं है। किन्तु बिना प्रतिपादन किए दूसरे को समझाया नहीं जा सकता। जैसे 'आत्मा' कहने मात्र से दूसरा समझ नहीं सकता कि आत्मा क्या वस्तु है? किन्तु यदि कहा जाए कि जो जानता, देखता है वह आत्मा है तो दूसरा झट समझ जाता है। अतः निश्चय अभेदग्राही है और व्यवहार भेदग्राही है। इसी से निश्चय यथार्थ है और व्यवहार अयथार्थ। किन्तु बिना व्यवहारनय की सहायता के परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता। इसलिए व्यवहार को छोड़ा भी नहीं जा सकता।

इन्हीं दो दृष्टिया. को सामने रखकर ग्रन्थकार ने आत्मतत्त्व का विवेचन किया है। वे कहते हैं – जो आत्मा को जल म. कमल की तरह कर्म–नोकर्म से असंस्पृष्ट जानता है, नर–नारक आदि पर्याया. म. भी उसे एक रूप देखता है तथा रागादि विकल्पा. से असंयुक्त और ज्ञानदर्शन आदि के भेद से रहित अनुभव करता है वह शुद्धनय है (गाथा 15) और जो इसके विपरीत जानता है वह व्यवहार–नय है। व्यवहार–नय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं। किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से ये दोना. कभी भी एक नहीं हो सकते। ग्रन्थकार का कहना है कि जीव–अजीव आदि नौ तत्त्वा. को निश्चयनय से जानने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है अतः उन्हा.ने निश्चय और व्यवहार–दृष्टि से नौ तत्त्वा. का निरूपण करके शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा इस ग्रन्थ म. की है। उनका कहना है कि एक जीव–तत्त्व ही नौ तत्त्व रूप हो रहा है। किन्तु वह अपने एकत्व को फिर भी नहीं छोड़ता।

हम ऊपर लिख आए हैं कि पंचास्तिकाय, प्रवचन–सार और समयसार को नाटकत्रयी कहते हैं। किन्तु वास्तव म. तो समयसार को ही नाटक कहना उचित है; क्या.कि उसम. संसार का नाटक दिखाया गया है, जिसम. जीव और अजीव नाम के दो नट आस्रव आदि तत्त्वा. का अभिनय करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसके टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने इस को नाटक का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ही रूप दिया है। अत: उन्हा.ने इसके प्रारम्भिक भाग का नाम पूर्वरंग रखा है। तथा जब एक तत्त्व का निरूपण समाप्त होता है तो वह नाटक की पद्धति म. लिखते हैं – 'आस्रवो निष्क्रान्त:' – आस्रव चला गया। और, जब दूसरा प्रकरण आरम्भ होता है तो वे लिखते हैं – 'अथ प्रविशति संवर:' – अब संवर प्रवेश करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने इन ग्रन्थरत्ना. म. जो ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा की, आगे चलकर वही जैनदर्शन की आधार-शिला बनी।

15.3 सूत्रकार उमास्वाति

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद म. एक आचार्य हुए जिन्हा.ने वैदिक दर्शना. के सूत्र-ग्रन्था. की भांति ही जैनदर्शन को संस्कृत भाषा के सूत्रा. म. संग्रहीत करने का सफल प्रयत्न किया। उस सूत्र-ग्रन्थ को 'तत्त्वार्थ-सूत्र' कहते हैं। इस ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय 'मोक्ष' है, इसीसे इसको 'मोक्ष-शास्त्र' भी कहते हैं। इसका आरम्भ होता है मोक्ष-मार्ग से। आचार्य कुन्दकुन्द की तरह ही सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र को मोक्ष-मार्ग बताया है। और सात तत्त्वा. के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बताया है। उन्हीं सात तत्त्वा. का निरूपण इस ग्रन्थ म. है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नौ तत्त्वा. का निरूपण किया है। किन्तु सूत्रकार ने पुण्य और पाप तत्त्व को आश्रव और बन्ध तत्त्व म. गर्भित करके तत्त्वा. की संख्या सात ही रखी है।

इस ग्रन्थ म. दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय म. सात तत्त्वा. को जान्ने के उपाय बताते हुए ज्ञान के दो भेद किए गए है। सूत्रकार ने ज्ञान को ही प्रमाण बताकर प्रमाण के दो भेद किए हैं – परोक्ष और प्रत्यक्ष।

जैन साहित्य म. ज्ञान-निरूपण की दो पद्धतियां पाई जाती हैं – पहली सैद्धान्तिक, दूसरी दार्शनिक। सैद्धान्तिक पद्धति म. ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव और केवल – इस तरह पांच भेद करके समग्र ज्ञाना. का निरूपण किया गया है और दार्शनिक पद्धति म. उन पांच ज्ञाना. म. परोक्ष और प्रत्यक्ष का विभाग करके समग्र ज्ञाना. का निरूपण किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार म. परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप मात्र बताया है, उनके भेद-प्रभेद नहीं किए। किन्तु सूत्रकार ने पांचा. ज्ञाना. को प्रमाण बताकर तथा प्रमाण के परोक्ष और प्रत्यक्ष भेद म. उनका विभाग करके दोना. परम्पराआ. का समन्वय ही नहीं किया, बल्कि दार्शनिक जगत के स्मृति आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव भी परोक्ष प्रमाण म. करके अपने पश्चात् होने वाले जैन तार्किका. का मार्ग-दर्शन भी कर दिया। इस दिशा म. सूत्रकार के बाद होने वाले दिगम्बर और श्वेताम्बर दोना. परम्पराआ. के जैन तार्किका. ने सूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुसरण किया है।

तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय म. जीव तत्त्व का वर्णन है। उसम. प्रथम जीव के भावा. का वर्णन करके उसका लक्षण बताया गया है। फिर जीव के संसारी और मुक्त – दो भेद करके संसारी जीवा. का वर्णन किया है। उसम. बताया है कि मरने के बाद कैसे जीव एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता हैं वहां जाकर वह कैसे जन्म लेता है? कैसे उसके शरीर का निर्माण होता है? तथा किन जीवा. की अकाल मृत्यु होती है?

तीसरे अध्याय म. अधोलोक की रचना बताते हुए सात नरका. का वर्णन किया गया है। उसके बाद मध्यलोक का वर्णन है। चौथे अध्याय म. ऊर्ध्वलोक का वर्णन करते हुए स्वर्गों का और स्वर्गों म. रहने वाले देवा. का वर्णन किया है।

पांचवे अध्याय म. अजीव तत्त्व का वर्णन है जो प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार की चर्चा से मिलता हुआ है। इसम. भी उसी तरह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को तथा गुण और पर्याया. को द्रव्य का लक्षण बताया है। तथा द्रव्य के छह भेद – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल किए हैं। पुद्गल के दो भेद किए हैं – अणु और स्कन्ध। अणु की उत्पत्ति भेद से और स्कन्ध की उत्पत्ति भेद, संघात और भेद-संघात से बताई गई है। स्कन्ध की उत्पत्ति बताते हुए एक परमाणु से दूसरे परमाणु का बन्ध कैसे होता है, इसका निरूपण भी प्रवचनसार के अनुसार ही किया गया है।

छठे अध्याय म. आश्रव तत्त्व का वर्णन करते हुए बताया है कि किन-किन कामा. के करने से किन- किन कर्मों का आश्रव (आगमन) होता है। सातव. अध्याय म. पुण्यास्रव के कारणा. का निर्देश करते हुए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन पांच व्रता. का वर्णन किया है। यह अध्याय श्रावक के आचार से सम्बद्ध है। आठव. म. बन्ध तत्त्व का वर्णन करते हुए जैन कर्म-सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। उसम. कर्मबन्ध के कारण बताकर बन्ध का स्वरूप और भेद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बताए हैं। नव. अध्याय म. संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन है। एक तरह से यह अध्याय मुनि-धर्म से सम्बद्ध है। इसम. गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र का तथा ज्ञान का विशद वर्णन है। दसव. अध्याय म. मोक्ष का स्वरूप बताकर मुक्त-जीव का वर्णन किया है। इस तरह इस सूत्र ग्रन्थ म. समस्त जैन पदार्थों को दार्शनिक शैली म. गूंथा गया है। सभी जैन सम्प्रदाय इसको मानते और इसका आदर करते हैं। मीमांसा-दर्शन म. जैमिनि के सूत्रा. का, वेदान्त दर्शन म. ब्रह्मसूत्र का, योग दर्शन म. योगसूत्र का, न्यायदर्शन म. न्यायसूत्र का और वैशेषिक दर्शन म. वैशेषिक सूत्र का जो स्थान है, वही स्थान जैन दर्शन म. तत्त्वार्थ सूत्र का है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के रचयिता के विषय म. मतभेद है। इस सूत्र-ग्रन्थ के दो पाठ प्रचलित हैं। एक पाठ दिगम्बर-परम्परा म. प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बर-परम्परा म.। श्वेताम्बर मान्य पाठ के साथ एक भाष्य है जिसे श्वेताम्बर सूत्रकार-कृत ही मानते हैं। उसके अन्त म. ग्रन्थकार ने अपनी प्रशस्ति भी दी है और उसम. अपना नाम उमास्वाति दिया है। दिगम्बर-परम्परा म. भी तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वामी अथवा 'उमास्वाति' की रचना माना जाता है और ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के शिलालेखा. म. ऐसा उल्लेख भी मिलता है। किन्तु नवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य वीरनन्दि और विद्यानंद उसे गृद्धपिच्छाचार्य की कृति बताते हैं। गृद्धपिच्छाचार्य नाम तो नहीं हो सकता, उपनाम हो सकता है, किन्तु गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति का ही उपनाम है इस विषय म. प्राचीन प्रमाणा. का अभाव है।

अकलंकदेव के तत्त्वार्थ वार्तिक से इतना तो पता चलता है कि उनके सामने एक दूसरा सूत्रपाठ भी था, जो सम्भवतः श्वेताम्बर-सम्मत सूत्रपाठ ही था। दिगम्बर-सम्मत सूत्रपाठ पर सबसे प्रथम उपलब्ध टीका पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि है, जो ईसा की पांचवीं शताब्दी म. रची गई है और भाष्य सहित श्वेताम्बर सूत्र पाठ पर सबसे पहली टीका सिद्धसेन गणि की है, जो आठवीं-नवीं शताब्दी म. रची गई है।

15.4 आचार्य समन्तभद्र

जैनाचार्यों म. समन्तभद्र स्वामी का स्थान बहुत ऊंचा है। उत्तरकाल म. होने वाले प्रायः सभी प्रमुख जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थ के आदि म. बड़े ही सम्मानपूर्वक उनका स्मरण किया है। नवीं शताब्दी के विद्वान जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण के आरम्भ म. लिखा है कि उस समय जितने वादी, वाग्मी, कवि और गमक थे उन सबके हृदय पर आचार्य समन्तभद्र का सिक्का जमा हुआ था।वे बड़े भारी वादी थे। उन्हा.ने समस्त भारत म. भ्रमण करके बड़े-बड़े वादिया. के दांत खट्टे किए थे। इसीसे जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि उनके वचन रूपी वज्रपात से कुमत रूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे।हनुमच्चरित्र म. लिखा है कि वे दुर्वादिया. की वाद रूपी खाज को मिटाने के लिए अद्वितीय महोषधि हैं। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि ने उन्ह. 'वादिमुख्य' लिखा है।

वे प्रबल तार्किक होने के साथ ही साथ महान ग्रन्थकार भी थे। उन्ह. मुनि-जीवन म. भस्मक व्याधि हो गई थी, तब उसे शान्त करने के लिए वाराणसी म. राजा शिवकोटि के शिवालय म. इन्ह. वेश बदल कर रहना पड़ा था। भगवान् के भोग के लिए जितना नैवेद्य आता था उसे वे स्वयं खा जाते थे। जब रोग शान्त हुआ और नैवेद्य बचने लगा तो कलई खुल गई । तब राजा ने उनसे शिवलिंग को नमस्कार करने का आग्रह किया। उस समय उन्हा.ने 'बृहत्स्वयंभू स्तोत्र' नामक एक दार्शनिक स्तोत्र की रचना करके अपना चमत्कार दिखाया और कहा - राजन्! म. जैन निर्ग्रन्थवादी हूं। जिसकी शक्ति मुझसे वाद करने की हो वह सम्मुख आए। इसी से वे आद्य स्तुतिकार भी कहे जाते हैं।

इस स्तोत्र के सिवाय उनके युक्त्ययनुशासन, आप्तमीमांसा, जिनस्तुति-शतक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जीवसिद्धि आदि कुछ अन्य ग्रन्था. का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे उपलब्ध नहीं हो सके हैं। युक्त्यनुशासन ग्रन्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसम. स्तोत्र-प्रणाली से 64 पद्या. के द्वारा स्वमत और पर-मत के गुण-दोषा. का मार्मिक विवेचन किया गया है। प्रत्येक विषय का निरूपण प्रबल युक्तिया. के द्वारा किया गया है। बृहत्स्वयंभू स्तोत्र म. चौबीस तीर्थंकरा. की स्तुति है। स्तुतिया. के द्वारा चौबीस तीर्थंकरा. के धर्म का प्रतिपादन करना ही इसका मुख्य विषय है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दार्शनिक चर्चाआ. और धार्मिक शिक्षाआ. से परिपूर्ण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आप्तमीमांसा समन्तभद्र के ग्रन्था. म. सबसे प्रधान ग्रन्थ है। इसम. आप्त के स्वरूप की मीमांसा करते हुए उसे सर्वज्ञ और निर्दोष बताया है तथा उनके वचना. को युक्ति और आगम से अविरुद्ध प्रमाणित करने के लिए एकान्तवादी मता. को स्याद्वाद रूपी कसौटी पर कस कर सर्वत्र अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की है।

विभिन्न एकान्तवादा. की समीक्षा करके आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्व को भावाभावात्मक, द्वैताद्वैतात्मक, नित्यानित्यात्मक, भेदाभेदात्मक आदि स्वीकार किया है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का दार्शनिक क्षेत्र म. सफल प्रयोग करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र को ही है। इसीसे विद्वान उन्ह. स्याद्वाद-तीर्थंकर और स्याद्वाद का पिता तक कहते हैं। उनका समय विक्रम की चौथी-पांचवी शताब्दी है।

15.5 आचार्य सिद्धसेन

जैन वाङ्मय म. आचार्य सिद्धसेन का स्थान बहुत ऊंचा है। श्वेताम्बर-परम्परा म. सिद्धसेन दिवाकर के नाम से इनकी ख्याति है। किन्तु दिगम्बर परम्परा म. ये सिद्धसेन के नाम से ही ख्यात हैं। दिगम्बर- परम्परा म. जिस प्रकार की घटना का उल्लेख स्वामी समन्तभद्र के जीवन के सम्बन्ध म. पाया जाता है, श्वेताम्बर-परम्परा म. उसी प्रकार की घटना का उल्लेख सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध म. मिलता है। अर्थात् विक्रमादित्य राजा की ओर से शिवलिंग को नमस्कार करने का अनुरोध करने पर जब सिद्धसेन ने कहा कि यह देवता मेरा नमस्कार नहीं सह सकता, तब राजा ने उसे आग्रह किया। इस पर सिद्धसेन ने इष्टदेव की स्तुति की। सिद्धसेन प्राचीन तार्किक ग्रन्थकार थे। द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका, सन्मति-तर्क, न्यायावतार और कल्याणमन्दिर स्तोत्र को इनकी कृति माना जाता है।

सन्मति-सूत्र म. नयवाद पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। तथा अन्त म. लिखा है कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय अर्थात् जैनेतर दर्शन हैं। उन दर्शना. म. कपिल का सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिक नय का विषय है, बुद्ध का दर्शन शुद्ध पर्याय-नय का विषय है और कणाद का दर्शन दोना. नया. के द्वारा प्ररूपित होने पर भी मिथ्या है; क्या.कि उक्त दर्शन म. दोना. दृष्टियां सापेक्ष नहीं हैं।

सन्मति-सूत्र के दूसरे काण्ड म. ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के क्रमवाद तथा युगपद्वाद म. दोष दिखाकर अभेदवाद का स्थापन है। दिगम्बर-परम्परा म. केवली के दर्शन और ज्ञान युगपद् माने जाते हैं और श्वेताम्बर-परम्परा म. क्रम से माने जाते हैं। किन्तु सन्मतिकार का कहना है कि ज्ञान और दर्शन का भेद छद्मस्थ अवस्था तक ही रहता है, केवलज्ञान हो जाने पर कोई भेद नहीं रहता। तब दर्शन कहो या ज्ञान कहो, एक ही बात है। इसी से सन्मति के कर्त्ता सिद्धसेन अभेदवाद के पुरस्कर्त्ता माने जाते हैं। यह ग्रन्थ प्राकृत म. है।

न्यायावतार म. प्रमाण का विवेचन है। इसम. समन्तभद्रोक्त प्रमाण के लक्षण म. 'वाध-विवर्जित' पद बढ़ाया गया है और उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके दोना. की परिभाषा बताई है। उसके बाद अनुमान-प्रमाण की परिभाषा और उसके स्वार्थ और परार्थ भेदा. का स्वरूप बताया है। परार्थानुमान के साथ ही साथ पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दूषण और तदाभासा. का विवेचन भी इस ग्रन्थ म. है। इस तरह न्यायोपयोगी तत्त्वा. का समावेश इस 32 कारिकाआ. के प्रकरण म. है। भाषा संस्कृत है।

यद्यपि इस ग्रन्थ म. न तो ग्रन्थ का नाम दिया गया है और न ग्रन्थकार का। 'न्याय' शब्द तक उसम. नहीं है। किन्तु उसके टीकाकार सिद्धर्षि ने उसका नाम न्यायावतार ही बताया है। तथा परम्परा से इसे सिद्धसेन की कृति माना जाता है। और पं. सुखलाल जी का यही मत है। किन्तु इसके अवलोकन से यह धारणा दृढ़ होती है कि यह ग्रन्थ धर्मकीर्ति के बाद म. रचा गया होना चाहिए; क्या.कि इसम. अनुमान को अभ्रान्त बताकर प्रत्यक्ष को अभ्रान्त सिद्ध करने के लिए एक पृथक् कारिका ही रची गई है। यथा-

'न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं, प्रमाणत्वविनिश्चयात्।'

यहां 'प्रमाणत्वविनिश्चय' पद पढ़ते ही धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय का स्मरण बरबस हो आता है। दूसरे, हेतु का लक्षण अन्यथानुपपत्तिः 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ के रचयिता पात्रस्वामी की देन है। जो कि न्यायावतार म. भी पाया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाता है। अतः पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार का यह मत हम. समुचित ही प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ सन्मति-सूत्र से कोई एक शताब्दी से भी बाद का बना हुआ है, क्या.कि इस पर समन्तभद्र स्वामी के उत्तरकालीन पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) जैसे जैनाचार्यों का ही नहीं अपितु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्यों का भी स्पष्ट प्रभाव है। मुख्तार सा. ने सन्मति सूत्र के रचयिता सिद्धसेन का समय ई. स. 507 से 609 तक निश्चित किया है। किन्तु पं. सुखलाल उन्ह. विक्रम की पांचवीं शताब्दी का विद्वान मानते हैं।

15.6 आचार्य पूज्यपाद

इनका नाम देवनन्दि था। किन्तु ये पूज्यपाद के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। ये गंग राजा दुर्विनीत के शिक्षा-गुरु थे। और दुर्विनीत राजा का राज्यकाल ई. स. 482 से 522 तक रहा। अतः यह ईसा की पांचवीं शताब्दी म. हुए। पूज्यपाद के एक शिष्य वज्रनन्दि ने वि. सं. 526 (ई.स. 470) म. द्राविड़- संघ की स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' म. किया है।

पूज्यपाद भारत के आठ प्रसिद्ध वैयाकरणा. म. से है। इन्हा.ने जैनेन्द्र-व्याकरण रचा है। तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' पर सबसे पहली टीका इन्हीं की पाई जाती है, जिसका नाम सर्वार्थसिद्धि है। इस टीका म. इन्हा.ने कई स्थाना. पर सांख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शना. के कतिपय मन्तव्या. की चर्चा की है। यह चर्चा मोक्ष-स्वरूप, प्रमाण-स्वरूप और द्रव्य व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है।प्रथम सूत्र की उत्थानिका करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने सांख्य, वैशैषिक और बौद्धमत के मोक्ष का स्वरूप बताकर उन्ह. सदोष बताया है। ज्ञान के प्रमाण्य की चर्चा करते हुए सांख्य के इन्द्रिय-प्रमाण्य-वाद और योगा. के सन्निकर्ष प्रामाण्यवाद की आलोचना की है।

अन्य दर्शन इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं तब जैनाचार्य उसे परोक्ष कहता है। पूज्यपाद ने इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने म. आपत्तियां करते हुए जैन दर्शन की मान्यता का समर्थन किया है और यह भी लिखा है कि दीपक की तरह प्रमाण अपना भी प्रकाशन करता है और बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। इसी तरह पांचव. अध्याय म. जैनाभिमत द्रव्या. की परिगणना कराते हुए वैशैषिक दर्शन के नौ द्रव्या. का अन्तर्भाव जैनाभिमत छह द्रव्या. म. किया है और बताया है कि सब परमाणु एक ही जाति के हैं। उन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज और वायु बनते हैं।

पूज्यपाद की समाधि-शतक, इष्टोपदेश आदि अन्य भी रचनाएं हैं जो आध्यात्मिक हैं। वैद्यक पर भी इनके ग्रन्थ पाए जाते हैं। इसीसे ज्ञानार्णव के कर्त्ता ने पूज्यपाद का स्मरण करते हुए उनके वचना. को शरीर, मन और वचन के मल को ध्वंस करने वाला बताया है। क्या.कि वैद्यक ग्रन्थ शरीर-मल ध्वंसी है, समाधि-शतक आदि ग्रन्थ मनोमल ध्वंसी हैं और जैनेन्द्र व्याकरण वचनमल ध्वंसी है।

15.7 आचार्य मल्लवादी

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय म. आचार्य मल्लवादी का स्थान बहुत ऊंचा है। इनका बनाया 'द्वादशार नयचक्र' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिंहगणि क्षमाश्रमण की टीका के साथ उपलब्ध है। जैनदर्शन म. अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था प्रमाण और नय के अधीन है। नयचक्र म. जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, नय का प्रतिपादन है। यह ग्रन्थ संस्कृत म. है किन्तु मूल नयचक्र उपलब्ध नहीं है, केवल उसकी टीका ही उपलब्ध है।

श्वेताम्बर[1] मुनि श्री जम्बूविजय जी ने इस सटीक नयचक्र का पारायण करके उसका परिचय आनन्दप्रकाश (वर्ष 47, अंक 7) म. प्रकट किया। उससे मालूम होता है कि मल्लवादी ने अपने नयचक्र म. पद-पद पर भर्तृहरि के 'वाक्यप्रदीप' ग्रन्थ का उपयोग ही नहीं किया है, बल्कि भर्तृहरि के नाम का उल्लेख भी किया है। भर्तृहरि का समय ई. स. 600 से 650 तक माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि वे इस समय के बाद ही हुए हैं। तथा हरिभद्र ने अपनी 'अनेकान्त जयपताका' की टीका म. मल्लवादी का उल्लेख किया है। मुनि जिनविजय जी ने हरिभद्र का समय ई. 700 से 770 तक सिद्ध किया है। किन्तु ई. 800 के लगभग बनी हुई भट्ट-जयन्त की न्याय-मंजरी का एक पद्य हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय म. उद्धृत होने से पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने हरिभद्र की उत्तरावधि ई. 810 मानी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उधर डॉ. सतीश चन्द्र विद्याभूषण ने लिखा है कि मल्लवादी ने बौद्ध विद्वान धर्मोत्तर की न्याय बिन्दु टीका पर धर्मोत्तर टिप्पणक नाम से एक टिप्पण लिखा है। इस पर से डॉ. पी. एल. वैद्य मल्लवादी को धर्मोत्तर के बाद हुआ मानते हैं। प्रभावक-चरित म. जो मल्लवादी का समय वि. सं. 884 बताया है, उसे वे विक्रम संवत् मानने की सलाह देते हैं। और कहते हैं कि मल्लवादी का समय 827 ई. ही ठीक हो सकता है अतः ईसा की सातवीं शती के उत्तरार्ध के विद्वान ..... भट्टाकलंक ने जिस नयचक्र को देखने का उल्लेख किया है वह मल्लवादी कृत नयचक्र प्रतीत नहीं होता।

15.8 जिनभद्र गणि क्षमा-श्रमण

श्वेताम्बर सम्प्रदाय म. आचार्य जिनभद्र गणि क्षमा-श्रमण एक बहुत समर्थ विद्वान हुए हैं। उनका विशेषावश्यक भाष्य सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसी के कारण भाष्यकार नाम से उनकी ख्याति है। या. तो विशेषावश्क-भाष्य आगमिक चर्चाआ. से भरपूर है किन्तु उसकी ज्ञान विषयक चर्चा जैन दर्शन म. अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। श्वेताम्बर-परम्परा मैं जिनभद्र गणि क्षमा-श्रमण और दिगम्बर-परम्परा म. भट्टाकलंक देव, ये दोना. ऐसे समर्थ विद्वान हो गए हैं जिन्हा.ने जैन दर्शन की ज्ञान विषयक चर्चा को समृद्ध किया है और उसकी स्थिति को दार्शनिक क्षेत्र के अनुकूल बनाया है।

किन्तु क्षमाश्रमण जी तर्ककुशल होते हुए भी आगम प्रधान थे। उनका तर्क आगमानुसारी होता था। इसी से उन्हा.ने अपने पूर्वज तर्क-प्रधान आचार्य सिद्धसेन के मत की कड़ी आलोचना की है। सिद्धसेन ने अपने 'सन्मति तर्क' में तर्क से यह सिद्ध किया है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोना. एक ही हैं, जुदे नहीं हैं। किन्तु यह बात श्वेताम्बरीय आगम-परम्परा के विरुद्ध है। अतः गणि जी ने अपने विशेषावश्यक-भाष्य म. सिद्धसेन के मत का जमकर खण्डन किया है।

इनके रचे हुए बृहत्संग्रहिणी, बृहत्-क्षेत्र-समास आदि और भी अनेक ग्रन्थ हैं। इनका समय ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम भाग है।

15.9 पात्रकेसरी-दिगम्बर परम्परा म. पात्रकेशरी नाम के एक समर्थ आचार्य हो गए हैं। उन्ह. पात्रस्वामी भी कहते हैं। उन्हा.ने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था, जो अनुपलब्ध है। बौद्धदर्शन म. हेतु का लक्षण त्रैरूप्य माना गया है। बौद्धाचार्य वसुबन्धु ने त्रैरूप्य का निर्देश किया है किन्तु उसका विकास दिङ्नाग ने ही किया था। इसी से वाचस्पति मिश्र उसे दिङ्नाग का सिद्धान्त बताते हैं। इसी त्रैरूप्य या त्रिलक्षण का कदर्थन करने के लिए पात्रकेसरी ने उक्त शास्त्र की रचना की। अतः पात्रकेसरी दिङ्नाग (ईसा की पांचवीं शताब्दी) के बाद के विद्वान हैं। त्रिलक्षण का कदर्थन करने वाला उनका निम्नलिखित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥"

बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह के अनुमान परीक्षा नामक प्रकरण म. पात्रस्वामी के मत की आलोचना करते हुए कुछ कारिकाएं पूर्व पक्ष रूप से उद्धृत की हैं। उनम. उक्त श्लोक भी है। श्वेताम्बराचार्य वादिदेव सूरि ने भी अपने स्वाद्वाद-रत्नाकर[1] म. पात्रकेसरी के नाम से उक्त श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक अकलंकदेव के 'न्याय विनिश्चय' के अनुमान प्रस्ताव नामक द्वितीय परिच्छेद म. भी आया है। न्याय- विनिश्चयालंकार नामक विवरण के रचयिता श्री वादिराज सूरि ने उनकी उत्थानिका म. लिखा है कि यह श्लोक पद्मावतीदेवी ने भगवान सीमंधर स्वामी के समवसरण से लाकर पात्रकेसरी को दिया था। इसी ग्रन्थ म. वादिराज सूरि ने यह भी लिखा है कि त्रिलक्षण कदर्थन नाम के शास्त्र म. पात्रकेसरी स्वामी ने विस्तार से कथन किया है। अतः स्पष्ट है कि अकलंकदेव से पहले पात्रकेसरी नाम के एक प्रकाण्ड जैन दार्शनिक हो गए हैं।

15.10 भट्टाकलंक-भट्टाकलंक का स्थान जैन वाङ्मय म. अनुपम है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतिया. से जैन वाङ्मय को समृद्ध बनाया है। ये जैन-न्याय के सर्जक कहे जाते हैं और उनके नाम के आधार पर श्लेषात्मक भाषा म. जैन-न्याय को 'आकलंक न्याय' भी कहा जाता है। जैना. म. दोना. सम्प्रदाया. के महान् ग्रन्थकारा. ने आदर के साथ उनका स्मरण किया है और जैन न्याय म. उनके द्वारा समाविष्ट किए गए मन्तव्या. को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बिना किसी भेद-भाव के ज्या. का त्या. अपनाया है। इनका समय अनेक प्रमाणा. के आधार पर ई. 620 से 680 तक ठहरता है। यह बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति और मीमांसक कुमारिल्लभट्ट के समकालीन थे। इन्हा.ने अपने ग्रन्था. म. उक्त दोना. विद्वाना. के मन्तव्या. की आलोचना की है।

अकलंकदेव ने जैन-न्याय म. किन-किन सिद्धान्ता. की स्थापना की, यह जानने के लिए अकलंक के पूर्व जैन न्याय की रूपरेखा पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

पहले बताया है कि प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार म. प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षण बताए थे और सप्तभंगी के सात भंगा. की गणना मात्र की थी। उसके बाद तत्त्वार्थ- सूत्रकार ने 'मतिः स्मृतिः' इत्यादि सूत्र के द्वारा न्यायोपयोगी सामग्री का संकेत मात्र किया था।

इसके बाद जैन वाङ्मय के नीलाम्बर म. समन्तभद्र और सिद्धसेन नाम के दो जाज्वल्यमान नक्षत्रा. का उदय हुआ। समन्तभद्र ने अनेकान्तवाद और सप्तभंगवाद की रूपरेखा स्थिर करके दार्शनिक क्षेत्र म. उनका व्यावहारिक उपयोग करने की प्रणाली बताई। प्रमाण का दार्शनिक लक्षण और फल बताया है। स्याद्वाद की स्थापना की। श्रुतप्रमाण को स्याद्वाद और उसके अंशा. को नय बताया । सुनय और दुर्नय की व्यवस्था की और अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया बताई।

स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् आचार्य सिद्धसेन का उदय हुआ। इन्हा.ने अपने 'सन्मति तर्क' नामक प्रकरण म. नया. का बहुत विशद् और मौलिक विवेचन किया। कथन करने की प्रत्येक प्रक्रिया को नय बताकर विभिन्न नया. म. विभिन्न दर्शना. का अन्तर्भाव करने की प्रक्रिया को जन्म दिया।

अकलंकदेव ने इस दिशा म. जो प्रयत्न किया, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है - जो तत्त्व समन्तभद्र की कृति म. अव्यक्त थे उन्ह. उन्हा.ने व्यक्त किया। जैसे समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में सप्तभंगी के प्रमाण - सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी भेदा. की अस्पष्ट-सी सूचना है। अकलंकदेव ने उसे स्पष्ट करके सप्तभंगी के दो विभाग कर दिए।

अकलंकदेव के समय में भारतीय न्यायशास्त्र की बहुत उन्नति हो चुकी थी। बौद्ध दर्शन का यह मध्यकाल था। शास्त्रार्थों की धूम थी, शास्त्रार्थों में उपयोग किए जाने वाले परार्थानुमान, छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि में निपुण हुए बिना जय पाना दुर्लभ था। अतः अकलंकदेव ने उस ओर भी अपना ध्यान दिया।

सबसे पहले उन्हा.ने जैन दर्शन की प्रमाण-पद्धति की ओर ध्यान दिया और उसे दार्शनिक क्षेत्र के उपयुक्त बनाया। उसके बाद उन्हा.ने शास्त्रार्थ में प्रयुक्त होने वाले छल, जाति आदि असद् उपाया. का विरोध किया और जय-पराजय की समुचित व्यवस्था की।

अकलंकदेव की लेखनी बड़ी गूढ़ है। इसी से उन्हा.ने अपने स्वोपज्ञ प्रकरण ग्रन्था. पर विवृत्तियां भी बनाई हैं। इनके लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय और प्रमाण-संग्रह नामक मौलिक ग्रन्थ बहुत महत्त्व के हैं। श्वेताम्बरा. के जीतकल्पचूर्णि ग्रन्थ की चन्द्रसूरि-विरचित टीका में 'सन्मति तर्क' के साथ सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ का उल्लेख दर्शन प्रभावक शास्त्रा. में किया है। इन मौलिक ग्रन्था. की रचना के साथ ही अकलंकदेव ने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थ वार्तिक तथा समन्तभद्र के आप्तमीमांसा पर अष्टशती नामक भाष्य भी रचे हैं।

15.11 हरिभद्र-मुनि श्री जिनविजयजी ने आचार्य हरिभद्रसूरि का समय ई. सन् 700 से 800 निर्धारित किया है। यह श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के एक मान्य आचार्य थे । इन्हा.ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्था. की रचना की है। कहा जाता है कि इन्हा.ने 1400 प्रकरण ग्रन्थ रचे थे। इनके उपलब्ध ग्रन्था. म. विशेष प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ इस प्रकार हैं - अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्त-जय-पताका (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), दिङ्नागकृत न्याय-प्रवेश की वृत्ति, षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता-समुच्चय (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित)।

इनके समय में चैत्यवासी सम्प्रदाय के कारण श्वेताम्बर जैन साधुआ. में शिथिलाचार बहुत बढ़ गया था। अपने सम्बोध-प्रकरण में इन्हा.ने उनकी अच्छी पोल खोली है और उन्हें कड़ी फटकार लगाई है। प्रभावक-चरित में इनका जीवन-वृत्त विस्तार से दिया गया है।

1. पृष्ठ 521

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.12 स्वामी विद्यानंद–स्वामी विद्यानंद दिगम्बर–सम्प्रदाय में एक बहुत ही विशिष्ट विद्वान हो गए हैं। ये मीमांसक ब्राह्मण थे। आचार्य समन्तभद्र के आप्तमीमांसा नामक प्रकरण को सुनकर ये जैन दर्शन से प्रभावित हुए और जैन बन गए। इन्हा.ने आप्तमीमांसा पर अकलंकदेव के अत्यन्त गूढ़ार्थक अष्टशती भाष्य को आत्मसात् करके अष्टसहस्री नामक ग्रन्थ की रचना की। उसके प्रारम्भ में ही उन्होंने भावना, विधि और नियोग की जमकर आलोचना की है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखता है। उसकी प्रशस्त शैली, मार्मिक शब्द योजना और अकाट्य तर्क–कुशलता देखकर विद्वान मुग्ध हो जाते हैं।

विद्यान्नद अकलंक के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। अकलंक के अस्त के बाद दार्शनिक क्षेत्र में जो विचारधारा आविर्भूत हुई, उनका समीकरण और परिमार्जन विद्यानंद ने किया। उनकी 'प्रमाण परीक्षा' अकलंक के प्रकरणा. के आधार पर ही रची गई है। इनका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ–श्लोक–वार्तिक' है, जो कुमारिल के 'मीमांसा–श्लोक–वार्तिक' का स्मरण करा देता है। यह ग्रन्थ अकलंक की मुद्रा से पद–पद पर अंकित है। 'आप्त–परीक्षा' नामक प्रकरण में ईश्वर के सृष्टि–कर्तृव्य की समीक्षा अद्भुत और अनुपम है। पं. दरबारीलालजी कोठिया[1] ने इनका समय ई. सन् 775 से 840 तक निर्धारित किया है।

15.13 आचार्य माणिक्यनन्दि–आचार्य माणिक्यनन्दि सूत्रकार थे। इनका 'परीक्षामुख' नामक एक सूत्र–ग्रन्थ उपलब्ध है, जो न्याय– शास्त्र की दृष्टि से निबद्ध किया गया है। इसम. छह उद्देश हैं – प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास। माणिक्यनन्दि से पहले प्रमाण का लक्षण 'स्वपरव्यवसायीज्ञान' था। इन्हा.ने उसमें 'अपूर्व' पद की वृद्धि करके 'स्वापूर्वार्थ व्यवसायी ज्ञान' को प्रमाण माना है। इसम. तो सन्देह ही नहीं है कि परीक्षामुख के द्वारा अकलंक–न्याय को ही सूत्रबद्ध किया गया है किन्तु उस पर बौद्धाचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सूत्र–ग्रन्था. का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जैन दर्शन में न्याय–प्रवेश अथवा न्याय–बिन्दु के ढंग के एक सूत्र–ग्रन्थ के अभाव की पूर्ति आचार्य माणिक्यनन्दि ने 'परीक्षा–मुख' को रचकर पूरी की। ये विद्यानंद के समय के लगभग ही हुए हैं।

15.14 अभयदेव सूरि–श्वेताम्बराचार्य अभयदेव सूरि प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इन्हा.ने सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' पर एक टीका संस्कृत में रची है। उससे इनकी दर्शन–शास्त्र विषयक असाधारण विद्वत्ता का पता चलता है। इसम. सैंकड़ा. दार्शनिक ग्रन्था. का निचोड़ भरा हुआ है। मूल ग्रन्थ से इसकी शैली भिन्न प्रकार की है। इसे दसवीं शताब्दी के दार्शनिक वादा. का संग्रह कहा जा सकता है। जिस स्त्री–मुक्ति, सवस्त्र–मुक्ति और केवली–मुक्ति को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर–सम्प्रदाय म. तीव्र मतभेद हैं। उनका समर्थन भी इस ग्रन्थ म. किया गया है, इतना ही नहीं, मूर्ति को शृंगारित करने का भी समर्थन इस दार्शनिक ग्रन्थ म. है। अत: यह अपने समय के प्रचलित वादा. का एक संग्रह ग्रन्थ है।

15.15 आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र भी अभयदेव सूरि की कोटि के विद्वान थे। इन्हा.ने अकलंकदेव के 'लघीयस्त्रय' पर 'न्यायकुमुदचन्द्र' नाम के और परीक्षा–सूत्र पर 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' नाम का सुविस्तृत टीका ग्रन्थ अत्यन्त प्रांजल भाषा में निबद्ध किया हैं। पहला ग्रन्थ उनकी दार्शनिकता का और दूसरा उनकी तार्किकता का प्रतीक है। इन्हा.ने भी अपने ग्रन्था. म. स्त्री–मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति और केवली–भक्ति का खण्डन जोरदार शब्दा. में किया है। शाकटायन–व्याकरण पर इनका एक न्यास–ग्रन्थ भी है, जो दार्शनिक विचार सरणि से ओतप्रोत है। ये भोजदेव राजा के समय म. धारानगरी म. निवास करते थे। अत: इनका समय ई. की 11 वीं शती है।

15.16 वादिराज सूरि–वादिराज सूरि दिगम्बर–सम्प्रदाय के महान् तार्किका. म. से हैं। ये प्रभाचन्द्राचार्य के समकालीन थे षट्तर्क–षण्मुख, स्याद्वाद–विद्यापति, जगदेक–मल्लवादी इनकी उपाधियां थीं। इन्हा.ने अकलंकदेव के 'न्याय–विनिश्चय' पर 'न्याय विनिश्चय विवरण' नामक अत्यन्त विद्वतापूर्ण मौलिक टीकाग्रन्थ का निर्माण किया है। इसम. अनेक ग्रन्था. के प्रमाण उद्धृत हैं। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाण–वार्तिक और उस पर प्रज्ञाकर के वार्तिकालंकार की समीक्षा से यह विवरण भरा हुआ है।

चालुक्य–नरेश जयसिंहदेव की राज–सभा म. इनका बड़ा सम्मान था। इन्हीं की राजधानी म. निवास करते हुए वादिराज ने शक संवत् 947 (ई. 1025) म. अपना 'पार्श्वनाथ–चरित' बनाया था।

1. आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.17 देवसूरि–श्वेताम्बराचार्य देवसूरि मुनिचन्द्र सूरि के शिष्य थे। गुजरात म. वि. सं. 1143 म. इनका जन्म हुआ था। इन्हा.ने दिगम्बराचार्य माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्र का अनुकरण करके 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' नामक न्याय सूत्र-ग्रन्थ (आठ परिच्छेदा. म.) रचा है और उस पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक टीका भी रची है। यह टीका-ग्रन्थ भी जैन-न्याय म. विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी शैली प्रशस्त है और अनेक ग्रन्था. के उद्धरणा. से ओतप्रोत है।

15.18 आचार्य हेमचन्द्र–आचार्य हेमचन्द्र तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्हा.ने गुर्जर-नरेश सिद्धराज जयसिंह को प्रभावित करके अपना अनुयायी बनाया था। उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल तो उनका शिष्य ही था। आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा सर्वमुखी थी। व्याकरण, काव्य, अलंकार, कोश, दर्शन, योग आदि सभी विषया. पर इनकी रचनाएं उपलब्ध हैं। इनकी प्रमाण-मीमांसा यद्यपि अधूरी है तथापि उसके मूल सूत्र तथा उनकी वृत्ति अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रमाण के लक्षण म. माणिक्यनन्दि ने जो 'अपूर्व' पद को स्थान दिया था, आचार्य हेमचन्द्र ने उसका सयुक्तिक निरसन इस ग्रन्थ म. किया है। इनकी एक 'द्वात्रिंशिका' पर मल्लिषेण ने 'स्याद्वादमंजरी' नामक सुन्दर टीका रची है जो जैन दर्शन की वाटिका है।

15.19 यशोविजय–ईसा की सोलहवीं शताब्दी म. श्वेताम्बर परम्परा म. यशोविजय बहुत ही बड़े विचारक विद्वान हो गए हैं। इन्हा.ने काशी म. विद्याभ्यास किया था और ये 'नव्य-न्याय' में न केवल पटु थे अपितु नव्य-न्याय की शैली म. उन्हा.ने ग्रन्थ रचना भी की है। इनकी रचनाएं मौलिक हैं। उनम. कहीं पिष्टपेषण नहीं है, सर्वत्र नवीन विचार-धारा प्रवाहित है। उनके दार्शनिक ग्रन्था. म. जैन तर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु और शास्त्र-वार्ता-समुच्चय की टीका उल्लेखनीय है।

15.20 सारांश–संक्षेप म. इस अध्याय में कुछ प्रमुख जैन दार्शनिका. का परिचय है। इससे पता चलता है कि जैनदर्शन के काल को दो भागा. म. बांटा जा सकता है। एक भट्टाकलंकदेव तक का और दूसरा उसके बाद का काल। जैनदर्शन के विकास और निर्माण म. अकलंकदेव का बहुमुखी प्रयत्न अनुपम है। उन्हा.ने जैन दार्शनिका. के जैनेतर दार्शनिका. की दृष्टि से उत्पन्न होने वाली सब समस्याआ. का समाधान सर्वप्रथम करके आगे का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उनके बाद उनके द्वारा सर्जित भूमिका का आलम्बन ले कर विद्यान्नद, माणिक्यनन्दि, अनंतवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज आदि न केवल दिगम्बराचार्यों ने बल्कि अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि श्वेताम्बराचार्यों ने भी अकलंक-न्याय को विस्तीर्ण किया।

15.21 प्रश्नावली

1.निम्नलिखित आचार्यों की प्रमुख कृतिया. का तथा जैनदर्शन के क्षेत्र में उनके विशिष्ट योगदान का उल्लेख कर.-

(क) कुन्दकुन्द (ख) उमास्वाती (ग) समन्तभद्र (घ) सिद्धसेन (ङ) अकलंक

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

1. अष्टपाहुड .... की रचना हैं।
2. कुन्दकुन्द की रचनाओं की भाषा .... है।
3. पञ्चास्तिकाय/प्रवचनसार के तीन अधिकार- ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार और चारित्राधिकार हैं।
4. पञ्चास्तिकाय के तीसरे अधिकार में नव पदार्थों/मोक्षमार्ग का वर्णन है।
5. मुख्य नय दो हैं -
6. उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में सात/नव तत्त्वों का निरूपण किया हैं
7. रत्नकण्ड श्रावकाचार .... की रचना है।
8. तत्त्वार्थसूत्र में .... अध्याय है
9. समन्तभद्र के ग्रन्थों में प्रधान ग्रन्थ .... है।
10. हरिभद्र का समय ईसा की आठवीं/दसवीं शती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई– 16 : जैन पुराण एवं चरित–साहित्य

(ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक)

संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 पउमचरिय (पद्मचरित)
16.3 जंबूचरिय (जंबूचरित)
16.4 सुरसंदरीचरिय
16.5 रचणचूडरायचरिय (रत्नचूडराजचरि)
16.6 पासनाहचरिय (पार्श्वनाथचरित)
16.7 महावीरचरिय (महावीरचरित)
16.8 सुपासनाहचरिय (सुपार्श्वनाथचरित)
16.9 सुदंसणाचरिय (सुदर्शनाचरित)
16.10 मण्हचरिय (कृष्णचरित)
16.11 कुम्मापुत्तचरिय (कूर्मापुत्रचरित)
16.12 मणिपतिचरित
16.13 अन्य चरित–ग्रंथ
16.14 अपभ्रंश में तीर्थंकर चरित्र
16.15 अन्य चरिकाव्य
16.16 सारांश
16.17 अभ्यास प्रश्नावली

16.0 प्रस्तावना

कथा और आख्यानों की भांति जैन मुनियों ने महापुरुषों के चरितों की भी रचना की है। जब ब्राह्मणों के पुराण–ग्रन्थों की रचना होने लगी तथा रामायण, महाभारत और हरिवंशपुराण आदि की लोकप्रियता बढ़ने लगी तो जैन विद्वानों ने भी राम, कृष्ण और तीर्थंकर आदि महापुरुषों के जीवन–चरित लिखना आरंभ किया। तरेसठशलाकापुरुषों के चरित में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेवों के चरित्तों का समावेश किया गया। **कल्पसूत्र** में ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर आदि तीर्थंकरों के चरितों का वर्णन किया गया। वसुदेवहिंडी में तीर्थंकरों के चरित लिखे गये। भद्रेश्वरसूरि ने अपनी कहाबलि में तिरसठ महापुरुषों के चरितों की रचना की। यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के **विशेषावश्यकशाष्य** में महापुरुषों के चरितों को संकलित किया गया। निर्वृतिकुल के मानदेवसूरि के शिष्य शीलांकाचार्य (अथवा शीलाचार्य) ने सन् 868 में चउपन्नमहापुरिसचरिय में चौवन शलाकामहापुरुषों का जीवन–चरित लिखा। स्वतंत्ररूप से भी अनेक चरितों की रचना हुई। उदाहरण के लिये वर्धमानसूरि ने आदिनाथचरित, विजयसिंह के शिष्य सोमप्रभ ने सुमतिनाथचरित, देवसूरि ने पद्मप्रभस्वामिचरित, यशोदेव ने चन्द्रप्रभस्वामिचरित, अजितसिंह ने श्रेयांसनाथचरित, चन्द्रप्रभ ने वासुपूज्यस्वामिचरित, नेमिचन्द्र ने अनंतनाथचरित, देवचन्द्र ने शांतिनाथचरित, जिनेश्वर ने मल्लिनाथचरित, श्रीचन्द्र ने मुनिसुव्रतस्वामिचरित, रत्नप्रभ ने नेमिनाथचरित आदि चरितों की रचना की। इसी प्रकार अतिमुक्तकचरित, ऋषिदत्ताचरित, देवकीचरित, रोहिणीचरित, दमयंतीचरित, मनोरमाचरित, मलयसुन्दरीचरित, पद्मावतीचरित, सीताचरित, हरिबलचरित, वज्रचरित, नागदत्तचरित, भरतचरित आदि कितने ही चरित लिखे गये जो अभी तक अप्रकाशित पड़े हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.1 उद्देश्य

जैनधर्म के उन्नायक महान् आचार्यों के चरित भी जैन आचार्यों ने लिखे। उदाहरण के लिये जिनदत्तसूरि ने गणधरसार्धशतक की रचना की। इसमें आर्यसमुद्र, मंगु, वज्रस्वामी, भद्रगुप्त, तोसलिपुत्र, आर्यरक्षित, उमास्वाति, हरिभद्र, शीलांक, नेमिचन्द्र, उद्योतनसूरि, जिनचन्द्र, अभयदेव आदि आचार्यों के चरित लिखे गये। आगे चलकर जिनसेन, गुणभद्र और आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकामहापुरुष चरित की संस्कृत में रचना की। फिर पुष्पदत्त ने अपभ्रंश में और चामुण्डराय ने कन्नड़ में महापुरुषों के जीवनचरित लिखे। तमिल में भी चरितों की रचना हुई। इन चरितों में लौकिक और धार्मिक कथाओं का समावेश किया गया।

16.2 पउमचरिय (पद्मचरित)

वाल्मीकि की रामायण की भांति पउमचरिय में जैन परंपरा के अनुसार 118 पर्वों में पद्म (राम) के चरित का वर्णन किया गया है। पउमचरिय के कर्त्ता विमलसूरि हैं जो नागिल वंश के आचार्य राहु के प्रशिष्य थे। स्वयं ग्रन्थकर्त्ता के कथनानुसार महावीर-निर्वाण के 530 वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् के 60 के लगभग), पूर्वों के आधार से उन्होंने जैन महाराष्ट्री प्राकृत में आर्या छंद में इस राघवचरित की रचना की। प्रोफेसर याकोबी ने विमलसूरि का समय ईसवी सन् की चौथी शताब्दी माना है। राजा श्रेणिक के द्वारा प्रश्न करने पर गौतम गणधर द्वारा कही हुई रामकथा का विमलसूरि ने पउमचरिय में वर्णन किया है। बीच-बीच में अनेक उपाख्यानों, नगर, नदी, तालाब, ऋतु आदि का वर्णन देखने में आता है। शैली में प्रवाह और ओज है। काव्यसौष्ठव की अपेक्षा आख्यायिका के गुण अधिक हैं; ऐसा लगता है जैसे कोई आख्यान सुनाया जा रहा हो। वर्णन आदि के प्रसंगों पर काव्यत्व भी दिखाई दे जाता है। शब्दकोष समृद्ध है। कितने ही देशी शब्द जहां-तहां देखने में आते हैं। व्याकरण के विचित्र रूप पाये जाते हैं। 'एवि', 'कवण' आदि रूप अपभ्रंश के जान पड़ते हैं।

ग्रन्थ के विस्तार, विषय की विविधता और वस्तु संरचना की दृष्टि से आलोचकों ने इसे पुराण की संज्ञा दी है। अतएव इसके बारे में विस्तृत चर्चा 'पुराण' शीर्षक के अन्तर्गत की गई है।

16.3 जंबूचरिय (जंबूचरित)

जंबूचरित प्राकृत भाषा की एक सुन्दर कृति है जिसके रचयिता नाइलगच्छीय वीरभद्रसूरि के शिष्य अथवा प्रशिष्य गुणपाल मुनि थे। इस ग्रन्थ की रचना-शैली आदि से अनुमान किया जाता है कि यह ग्रन्थ विक्रम संवत् की 11वीं शताब्दी या उससे पूर्व लिखा गया है। जैन परंपरा में जंबूस्वामी अंतिम केवली माने जाते हैं, इनके पश्चात् किसी जैन श्रमण को निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं हुई। महावीरनिर्वाण के पश्चात् जंबूस्वामी ने सुधर्मस्वामी के पास श्रमणधर्म की दीक्षा स्वीकार की। सुधर्म ने महावीर के उपदेशों को जंबू मुनि को सुनाया। इसलिये प्राचीन जैन आगमों में सुधर्म और जंबू मुनि के नाम-निर्देशपूर्वक ही महावीर के उपदेशों का उल्लेख किया गया है। जंबूचरिय में इन्हीं जंबूस्वामी के चरित का वर्णन किया है। ग्रन्थ की शैली पर हरिभद्र समराइच्चकहा और उद्योतनसूरि की कुवलयमाला का प्रभाव दृष्टि गोचर होता है। धर्मकथाप्रधान यह ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। भाषा सरल और सुबोध है। कथा का वर्णन प्रवाहयुक्त है, बीच-बीच में जैनधर्म संबंधी अनेक उपदेशों को संग्रहीत किया गया है।

इस ग्रन्थ में 16 उद्देश हैं। पहले उद्देश का नाम कहावीढ (कथापीठ) है। यहां अर्थ, काम, धर्म और संकीर्ण कथा नाम की चार कथाओं का उल्लेख है। दूसरे उद्देश का नाम कहानिबंध (कथानिबंध) है। तीसरे उद्देश में राज श्रेणिक महावीर की वन्दना के लिये जाते हैं चौथे उद्देश में वे अंतिम केवली जंबूस्वामी के संबंध में भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं। महावीर उनके पूर्वभवों का वर्णन करते हैं।

पांचवें उद्देश में जंस्वामी के दूसरे भवों का वर्णन है। यहां प्रहेलिका, अंत्याक्षरी, द्विपदी, प्रश्नोत्तर, अक्षरमात्रबिन्दुच्युत और गूढचतुर्थपाद का उल्लेख है। छठे उद्देश का नाम गृहिधर्मप्रसाधन है। प्रभव ने भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जंबूकुमार का उपदेश श्रवण कर मुनि दीक्षा ली। जंबूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् प्रभव को उनका पद मिला, और उन्होंने भी सिद्धि गति पाई।

16.4 सुरसंदरीचरिय

कहाणयकोस के कर्त्ता जिनेश्वरसूरि के शिष्य साधु धनेश्वर ने सुबोध प्राकृत गाथाओं में वि. सं. 1095 (ईसवी सन् 1038) में चड्डावल्लि नामक स्थान में इस ग्रन्थ की रचना की है। यह कृति 16 परिच्छेदों में विभक्त है, प्रत्येक परिच्छेद में 250 पद्य हैं। यह एक प्रेम आख्यान है जो काव्यगुण से संपन्न है। यहां शब्दालंकारों के साथ उपमालंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपमायें बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। रसों की विविधता में कवि ने बड़ा कौशल दिखाया है। अपभ्रंश और ग्राम्यभाषा के शब्दों का जहां-तहां प्रयोग दिखाई देता है।

धनदेव सेठ एक दिव्य मणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागपाश से छुड़ाता है। दीर्घकालीन विरह के पश्चात् चित्रवेग का विवाह उसकी प्रियतमा के साथ होता है। वह सुरसुंदरी और अपने प्रेम तथा विरह-मिलन की कथा सुनाता है। सुरसुंदरी का मकरकेतु के साथ विवाह हो जाता है। अन्त में दोनों दीक्षा ले लेते हैं। मूलकथा के साथ अंतर्कथायें इतनी अधिक गुंफित हैं कि पढ़ते हुए मूलकथा एक तरफ रह जाती है। कथा की नायिका सुरसंदरी का नाम पहली बार ग्यारहवें परिच्छेद में आता है। इस ग्रन्थ में भीषण अटवी, भीलों का आक्रमण, वर्षाकाल, बसन्त ऋतु, मदन महोत्सव, सूर्योदय, सूर्यास्त, सुतजन्म महोत्सव, विवाह, युद्ध, विरह, महिलाओं का स्वभाव, समुद्रयात्रा तथा जैन साधुओं का नगरी में आगमन, उनका उपदेश, जैनधर्म के तत्त्व आदि का सरस वर्णन है।

जीव, सर्वज्ञ और निर्वाण को स्वीकार न करने वाले नास्तिकवादी कपिल का उल्लेख है। भूत-चिकित्सा के लिये नमक उतारना, सरसों मारना और रक्षा-पोटली बांधने का विधान है।

गंभीर नाम के समुद्रतट का सुन्दर वर्णन है। यहां से व्यापारी लोग सुपारी, नारियल, कपूर, अगरु, चंदन, जायफल आदि से यानपात्र को भरकर शुभ नक्षत्र देखकर मंगलघोष के साथ विदेशयात्रा के लिए प्रस्थान करते हैं। यानपात्र शनैः-शनैः बड़ी सावधानी के साथ किसी संयमशील मुनि की भांति आगे बढ़ता है।

16.5 रयणचूडरायचरिय (रत्नचूडराजचरित)

प्राकृत गद्य में रचित धर्मकथाप्रधान यह कृति ज्ञातृधर्मकथा नाम के आगम ग्रन्थ का सूचक है जिसमें देवपूजा और सम्यक्त्व आदि धर्मों का निरूपण किया है। इसके रचयिता **उत्तराध्ययनसूत्र** पर सुखबोधा नाम की टीका (रचनाकाल विक्रम संवत् 1129) लिखनेवाले तथा आख्यानमणिकोश के रचयिता सुप्रसिद्ध आचार्य नेमिचन्द्र हैं। यह कृति डिंडिलवद्दनिवेश में आरंभ हुई और चड्डावल्लि पुरी में समाप्त हुई। संस्कृत में यह प्रभावित है, इसमें काव्य की छटा जगह-जगह देखने में आती है। अनेक सूक्तियां भी कही गई हैं। लेखक ने अनेक स्थलों पर बड़े स्वाभाविक चित्र उपस्थित किये हैं। गौतम गणधर राजा श्रेणिक को रत्नचूड की कथा सुनाते हैं। ग्रंथकार की अन्य रचनाओं में आत्मबोधकुलक (अथवा धर्मोपदेशकुलक) और महावीरचरिय हैं।

रत्नचूड जब आठ वर्ष का हुआ तो उसे श्वेत वस्त्र पहना और पुष्प आदि से अलंकृत कर विद्याशाला में ले गये और समस्त शास्त्र आदि के पंडित ज्ञानगर्भ नामक कलाचार्य का वस्त्र आदि द्वारा सत्कार कर शुभ नक्षत्र में गुरुवार के दिन उसे विद्याध्ययन करने के लिये बैठा दिया। रत्नचूड ने छंद, अलंकार, काव्य, नाटक आदि का अध्ययन किया।

जब वह बड़ा हुआ तो कोई विद्याधर उसे उठाकर ले गया। किसी जंगल में पहुंचकर वह एक तापस से मिला। वहां राजकुमारी तिलकसुन्दरी से उसकी भेंट हुई। दोनों का विवाह हो गया। जब वे नंदिपुर जा रहे थे तो तिलकसुन्दरी को कोई विद्याधर हर कर ले गया। रत्नचूड रिष्टपुर चला गया। रिष्टपुर के कानन में चामुंडा देवी के आयतन का उल्लेख है। रत्नचूड और सुरानंदा का विवाह हो जाता है।

राजा मध्यान्ह के समय अपनी-अपनी रानियों के साथ बैठ कर प्रश्नोत्तरी गोष्ठी किया करते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रत्नचूड वैताढय पर्वत के लिए प्रस्थान करते समय कनकश्रृंग पर्वत पर शान्तिनाथ के चैत्य के दर्शन के लिये प्रस्थान करता है। शान्तिनाथ के स्नान-महोत्सव का यहां वर्णन है। स्वप्न सत्य होता है या नहीं, इसे दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है। शान्तिनाथ के चरित्र का वर्णन है। आगे चलकर रत्नचूड राजश्री के साथ विवाह करता है और उसका राज्याभिषेक हो जाता है।

16.6 पासनाहचरिय (पार्श्वनाथचरित)

पार्श्वनाथचरित कहारयणकोस के कर्त्ता गुणचन्द्रगणि (आचार्य पद के बाद देवेन्द्रसूरि) की दूसरी उत्कृष्ट रचना है। इस ग्रन्थ की वि. सं. 1168 (सन् 1111 में) भड़ौंच में रचना की गई। पार्श्वनाथचरित में पांच प्रस्तावों में 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित है। प्राकृत गद्य-पद्य में लिखी गई इस सरस रचना में कांतयदावली और छन्द की विविधता देखने में आती है। काव्य पर संस्कृत शैली का प्रभाव स्पष्ट है। अनेक संस्कृत के सुभाषित यहा उद्धृत हैं।

पहले प्रस्ताव में पार्श्वनाथ के तीन पूर्वभवों का उल्लेख है। पहले भव में वे मरुभूति नाम से किसी पुरोहित के घर पैदा हुए। उनके भाई का नाम कमठ था। कमठ का मरुभूति की स्त्री से अनुचित संबंध हो गया जिसका मरुभूति को पता चल गया। राजा ने उसके कान काटकर और गधे पर चढ़ाकर नगर से निकाल दिया। कमठ ने तपोवन में पहुंचकर तापसों के व्रत स्वीकार कर लिये। मरुभूति जब कमठ से क्षमायाचना करने गया तो कमठ ने उसके ऊपर शिला फेंक कर उसे मार डाला। दूसरे भव में दोनों भाई क्रमशः हाथी और सर्प की योनि में उत्पन्न हुए।

दूसरे प्रस्ताव में मरुभूति किरणवेग नाम का विद्याधर हुआ। उसके जन्म आदि के वृत्तान्त के साथ बीच-बीच में मुनियों की देशना और उनके द्वारा कथित पूर्वभवों का वर्णन भी यहां दिया है। उसके बाद मरुभूति की देशना से वज्रनाभ का जन्म धारण किया।

तीसरे प्रस्ताव में मरुभूति वाराणसी के राजा अश्वसेन के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुए, उनका नाम पार्श्वनाथ रखा गया। वाराणसी नगरी का यहां सरस वर्णन किया गया है। राजा अश्वसेन ने पुत्रजन्म का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया। वर्धापन आदि क्रियायें संपन्न हुई। बड़े होने पर प्रभावती से उनका विवाह हुआ। विवाह विधि का यहां वर्णन है। उधर कमठ का जीव तापसों के व्रत धारण कर पंचाग्नि तप करने लगा। नगरी के बहुत से लोग उसके दर्शनों के लिये जाते और उसकी पूजा-उपासना करते। एक बार पार्श्वनाथ भी वहां गये। जिस काष्ठ को कमठ अग्निकुण्ड में जला रहा था, उसमें से पार्श्वनाथ ने एक सर्प निकाल कर दिखाया। इससे कमठ अत्यंत लज्जित हुआ। कमठ मरकर देवयोनि में उत्पन्न हुआ।

चौथे प्रस्ताव में पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। सुभदत्त, अज्जघोष, वसिट्ठ, बंभ, सोम, सिरिधर, वारिसेण, भद्दजस, जय और विजय नाम के दस गणधरों को वे उपदेश देते हैं। बनारस के जन-जीवन का वर्णन करते हुये बताया है कि वहां के ठग उस समय भी प्रसिद्ध थे। वेदों का पाठ करने से भिक्षा मिल जाती थी। यानपात्र में माल भर, समुद्र-देवता की पूजा-उपासना कर शुभ मुहूर्त्त में समुद्रयात्रा की जाती थी। विवाह के अवसर पर अग्नि में आहुति दी जाती, ब्राह्मण लोग मंत्रपाठ करते तथा कुलस्त्रियां मंगलगान करती थीं। भद्र, मन्द और मृग नाम के हाथियों के तीन प्रकार गिनाये हैं। उत्तम हाथी का दाम सवा लाख रुपया होता था। पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से कुश की शय्या पर बैठकर दस रात तक कुलदेवी भगवती की आराधना की जाती थी। गोल्ल देश का यहां उल्लेख है। विवाह की भांवरें पड़ते हुए यदि चौथा फेरा समाप्त होने के पूर्व ही कन्या के वर की मृत्यु हो जाय तो कन्या का पुनः विवाह हो सकता था। मृतक की हड्डियां गंगा में बहाने का रिवाज था। हस्तितापसों का उल्लेख है। ये लोग हाथी को मार कर बहुत दिनों उसका मांस भक्षण करते थे। इनकी मानयता थी कि अनेक जीवों के वध करने की अपेक्षा एक जीव का वध करना उत्तम है; थोड़ा-सा दोष लगने पर यदि बहुत से गुणों की प्राप्ति होती हो तो उत्तम है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैसे कि उंगली में सांप के काट लेने पर शेष शरीर की रक्षा के लिए उंगली का उतना ही हिस्सा काट दिया जाता है। भैरवों को कात्यायनी का मंत्र सिद्ध रहता था। वे लोग शशि और रवि के पवनसंचार को देखकर फलाफल बताते थे।

पांचवें प्रस्ताव में पार्श्वनाथ का मथुरा नगरी में समवसरण आता है और ये दान आदि का धर्मोपदेश देते हैं। उन्होंने गणधरों को उपदेश दिया। तत्पश्चात् काशी में प्रवेश किया। चातुर्याम धर्म का उन्होंने प्रतिपादन किया। अन्त में सम्मेद शैल शिखर पर पहुंचकर मुक्ति पाई।

16.7 महावीरचरिय (महावीरचरित)

महावीरचरित गुणचन्द्रगणि की तीसरी रचना है। वि. सं. 1139 (ईसवी सन् 1082) में उन्होंने 12, 025 श्लोकप्रमाण इस प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की थी। गुणचन्द्र की रचनाओं से इनके मन्त्र, तन्त्र, विद्या-साधन तथा वाममार्गियों और कापालिकों के क्रियाकाण्ड आदि के विशाल ज्ञान का पता लगता है। महावीरचरित में आठ प्रस्ताव हैं जिनमें से आधे भाग में महावीर के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। यहां राजा, नगर, वन, अटवी, उत्सव, विवाहविधि, विद्यासिद्धि आदि के रोचक वर्णन मिलते हैं। काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ एक सफल रचना है। कालिदास, वाणभट्ट, माघ आदि संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। संस्कृत के काव्यों के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक उद्धृत हैं, अनेक पद्य अवहट्ठ भाषा में लिखे गये हैं जिन पर गुजरात के नागर अपभ्रंश का प्रभाव है। देशी शब्दों के स्थान पर तद्भव और तत्सम शब्दों का प्रयोग ही अधिक है। छन्दों की विविधता देखने में आती है।

प्रथम प्रस्ताव में सम्यक्त्वप्राप्ति का निरूपण है। दूसरे में ऋषभ, भरत, बाहुबलि तथा मरीचि के भवों आदि का वर्णन है। मरीचि के वर्णन-प्रसंग में कपिल और आसुरि की दीक्षा का उल्लेख है। तीसरे प्रस्ताव में विश्वभूति की बसन्तक्रीड़ा, रणयात्रा, संभूति आचार्य का उपदेश और विश्वभूति की दीक्षा का वर्णन है। रिपुप्रतिशत्रु ने अपनी कन्या मृगावती के साथ और गन्धर्वविवाह कर लिया, उससे प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ का जन्म हुआ। त्रिपृष्ठ का अश्वग्रीव के साथ युद्ध हुआ जिसमें अश्वग्रीव मारा गया। यहां गोहत्या के समान दूत, वेश्या और भांड़ों के वध का निषेध किया है। धर्मघोषसूरि का धर्मोपदेश संगृहीत है। प्रियमित्र चक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन है। चौथे प्रस्ताव में प्रियमित्र का जीव नन्दन नाम का राजा बनता है। घोरशिव तपस्वी वशीकरण आदि विद्याओं में निष्णात था। राजा नरसिंह ने उसे अपने मंत्र-बल से कोई कौतुक दिखाने की प्रार्थना की। घोरशिव ने कृष्ण चतुर्दशी को रात्रि के समय श्मशान में जाकर अग्नितर्पण करने के लिये राजा से कहा। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। श्मशान में पहुंच कर घोरशिव ने वेदिका रची, मण्डल बनाया। फिर वहां पद्मासन लगाकर प्राणायामपूर्वक मंत्र जपने लगा।

इसी प्रसंग में कहाकाल नाम के योगाचार्य का उल्लेख है। तीनों लोकों को विजय करने वाले मंत्र की साधन-विधि का प्रतिपादन करते हुए उसने कहा कि 108 प्रधान क्षत्रियों का वध करके अग्नि का तर्पण करना चाहिये, दिशाओं के देवताओं को बलि प्रदान करना चाहिये और निरन्तर मंत्र का जप करते रहना चाहिये।

आगे चलकर कालमेघ नाम के महामल्ल का वर्णन है। इसे मल्लयुद्ध में कोई नहीं जीत सकता था। नगर के राजा ने इसे विजयपताका समर्पित कर सम्मानित किया था। नरविक्रमकुमार ने उसे मल्लयुद्ध में पराजित कर शीलमती के साथ विवाह किया। आगे चलकर नरविक्रमकुमार शीलमती और अपने पुत्रों को लेकर नगर के बाहर चला जाता है और माली के यहां पुष्पमालायें बेचकर अपनी आजीविका चलाता है। देहिल नाम का एक व्यापारी छलपूर्वक शीलमती को अपने जहाज में बैठाकर उसे भगा ले जाता है। अंत में नरविक्रमकुमार का उसके पुत्रों और पत्नी से मिलन हो जाता है। नरविक्रमकुमार जैन दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नंदन का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित होता है। उसे क्षत्रियकुंडग्राम की त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में परिवर्तित कर दिया जाता है। बालक का नाम वर्धमान रक्खा जाता है। जन्म आदि उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं। पराक्रमशील होने के कारण महावीर नाम से वे प्रख्यात हो जाते हैं। महावीर बड़े होने पर पाठशाला में अध्ययन करने जाते हैं। बसन्तपुर नगर के राजा समरवीर की कन्या यशोदा से उनका विवाह हो जाता है। विवाहोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। महावीर के प्रियदर्शना नाम की कन्या पैदा होती है। 28 वें वर्ष में उनके माता पिता का देहान्त हो जाता है। उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन का राज्याभिषेक होता है। अपने भाई की अनुमतिपूर्वक महावीर दीक्षा ग्रहण करते हैं। निष्क्रमणमहोत्सव धूमधाम से मनाया जाता है।

पांचवें प्रस्ताव में शूलपाणि और चण्डकौशिक के प्रबोध का वृत्तान्त है। महावीर ने क्षत्रियकुंडग्राम के बाहर ज्ञातृखण्ड नामक उद्यान में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और कुम्मारगाम पहुंचकर वे ध्यानासस्थित हो गये। सोम ब्राह्मण को उन्होंने अपना देव-दूष्य वस्त्र दे दिया। कुम्मारग्राम में गोप ने उपसर्ग किया। भ्रमण करते हुए वे वर्धमानग्राम में पहुंचे। वर्धमान का दूसरा नाम अस्थिग्राम था। यहां शूलपाणि यक्ष ने उपसर्ग किया। कनकखल आश्रम में पहुंचकर उन्होंने चंडकौशिक सर्प को प्रतिबोधित किया। यहां गोभद्र नामक दरिद्र ब्राह्मण की कथा दी है। धनप्राप्ति के लिए गोभद्र की स्त्री ने उसे वाराणसी जाने के लिए अनुरोध किया। उस समय बनारस में बहुत दूर-दूर से अनेक राजा-महाराजा और श्रेष्ठी आकर रहते थे। कोई परलोक सुधारने की इच्छा से, कोई यश-कीर्ति की कामना से, कोई पाप-शमन की इच्छा से और कोई पितरों के तर्पण की भावना से यहां आता था। लोग यहां महा होम करते, पिंडदान देते और सुवर्णदान द्वारा ब्राह्मणों को सम्मानित करते थे। गोभद्र बनारस के लिये रवाना हो गया। मार्ग में उसे एक सिद्धपुरुष मिला। दोनों साथ-साथ चले। सिद्धपुरुष ने अपने मंत्र के बल से भोजन और शय्या आदि तैयार करके गोभद्र को आश्चर्यचकित कर दिया। (इस प्रसंग पर सुंदर रमणियों और जोगीनियों से शोभित जालन्धर नगर का वर्णन किया गया है।) यहां चन्द्रलेखा और चन्द्रकान्ता नाम की जागिनी बहनें रहा करती थीं। कुछ समय पश्चात् मठों में (विदेसियमठेसु) रात्रि व्यतीत कर दोनों वाराणसी पहुंच गये। वहां पहुंच कर उन्होंने स्कन्द, मुकुंद, रुद्र आदि देवताओं की पूजा की। दोनों गंगा के तट पर आये। सिद्धपुरुष ने दिव्यरक्षा-वलय को गोभद्र को सौंप कर स्नान करने के लिये गंगा में प्रवेश किया और प्राणायाम करने लगा। कुछ देर हो जाने पर जब सिद्धपुरुष जल से बाहर नहीं निकला तो गोभद्र को बड़ी चिन्ता हुई। वह समझ नहीं सका कि उसका साथी कहीं लहरों में छिपा रह गया है। उसे मगरमच्छ निगल गये हैं, या फिर वह कहीं दलदल में फंस गया है। गोभद्र ने गोताखोरों से यह बात कही। उन्होंने गंगा में गोते लगाकर, अपनी भुजाओं को चारों ओर फैलाकर सिद्धपुरुष की खोज की, लेकिन उसका कहीं पता न चला। अपने साथी को गंगा में से वापिस न आता देखकर गोभद्र गंगा में प्रार्थना करता हुआ विलाप करने लगा। वहीं पास में कोई नास्तिकवादी बैठा हुआ था। उसने गोभद्र को समझाते हुए कहा कि क्या इस तरह विलाप करने से गंगा मैया तुझे तेरे साथी को वापिस दे देगी? उसने कहा कि इस गंगा में स्नान करने वाले देश-देश के कोढ़ आदि रोगों से पीड़ित नर-नारियों के स्पर्श का अपवित्र जल प्रवाहित होता है, ऐसी हालत में अनेक मृतक शरीर तथा हड्डी आदि का भक्षण करने वाली किसी महाराक्षसी की भांति यह गंगा मनोरथ की सिद्धि कैसे कर सकती है? यदि गंगा में स्नान करने से पुण्य मिलता हो तो फिर मत्स्य, कच्छप आदि जीव-जन्तु अधिक पुण्य के भागी होने चाहिये। गोभद्र ब्राह्मण एकाध-दिन बनारस रह कर वहां से चला आया। वह जालन्धर गया और वहां सिद्धपुरुष को देख आश्चर्यचकित हो गया। तत्पश्चात् गोभद्र अपने घर वापिस लौटा। लेकिन इस समय उसकी पत्नी मर चुकी थी। उसने धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। आगे चलकर गोभद्र ने चंडकौशिक सर्प का जन्म धारण किया।

महावीर घूमते-घूमते सेयविया पहुंचे। वहां राजा प्रदेशी ने उनका सत्कार किया। यहां कंबल-शंबल नाम के नागकुमारों के पूर्वभव की कथा का वर्णन है। मथुरा में भंडीर यक्ष की यात्रा का उल्लेख है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

छठे प्रस्ताव में गोशाल की दुर्विनीतता का वृत्तान्त है। राजगृह के समीप नालंदा नामक संनिवेश में महावीर और गोशाल का मिलाप हुआ था। उत्तरापथ में सिलिन्ध नामक संनिवेश में केशव नामक एक ग्रामरक्षक रहता था। उसकी भार्या से मंख का जन्म हुआ। वह चित्रपट लेकर गांव-गांव में घूमा करता था। एक बार वह घूमता हुआ चंपा नगरी में पहुंचा। वहां मंखली नाम का एक गृहपति रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। मंखली मंख के पास रहकर उसकी सेवा करने लगा और गायन आदि विद्याओं में परंगत हो गया। तत्पश्चात् वह चित्रपट लेकर अपनी पत्नी के साथ वहां से चला गया। सरवण संनिवेश में पहुंच कर किसी गोशाला में सुभद्रा ने गोशाल को जन्म दिया। गोशाल बड़ा होकर अपने माता-पिता से लड़कर अलग रहने लगा। यही मंखलिपुत्र गोशाल नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालांतर में उसने महावीर से दीक्षा ग्रहण की और गुरु-शिष्य दोनों साथ-साथ रहने लगे।

महावीर की चर्या के प्रसंग में विभेलक नामक यक्ष के पूर्वभवों के वृत्तान्त का कथन है। इस प्रसंग में शूरसेन और रत्नावली के विवाह का विस्तृत वर्णन है। मद्य, मांस और रात्रिभोजन के निषेध का वर्णन है। कटपूतना के उपसर्ग का कथन है। लाढ़देश के अन्तर्गत वज्रभूमि नामक अनार्यदेशों में महावीर ने गोशाल के साथ भ्रमण किया। वैश्यायन के प्रसंग में वेश्याओं द्वारा गणिकाओं की विद्याओं के सिखाये जाने का उल्लेख है। गोशाल को तेजोलेश्या की प्राप्ति हुई।

सातवें प्रस्ताव में महावीर के परिषह-सहन और केवलज्ञान-प्राप्ति का वर्णन है। उनके वैशाली पहुंचने पर शंख ने उनका आदर-सत्कार किया। गंडकी नदी पार करते समय नाविक ने उपसर्ग किया। वाणिज्यग्राम में आनन्द गृहपति ने आहर दिया। दृढ़भूमि में संगम ने उपसर्ग किये। उसके बाद महावीर ने आलभिका, सेयविया, श्रावस्ती, कौशांबी, वाराणसी और मिथिला में विहार किया। कौशांबी में चन्दना द्वारा कुल्माष का दान ग्रहण कर उनका अभिग्रह पूर्ण हुआ। उनके कानों में कीलें ठोक दी गई। मध्यम पावा पहुंचकर महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

आठवें प्रस्ताव में महावीर के निर्वाण-लाभ का कथन है। मध्यम पावा के महासेन उद्यान में समवसरण की रचना की गई। भगवान् का उपदेश हुआ 11 गणधरों ने प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण की। यहां चन्दनबाला की दीक्षा, चतुर्विध संघ की स्थापना, ऋषभदत्त और देवानन्दा की दीक्षा, क्षत्रियकुंड में समवसरण, महावीर के दामाद जमालि का माता-पिता की आज्ञा से दीक्षाग्रहण, जमालि का निह्नव, प्रियदर्शना का बोध, सुरप्रिय यक्ष का महोत्सव, राजा शतानीक का मरण, रानी मृगावती की दीक्षा, श्रावस्ती में गोशाल का आगमन, उसका जिनत्व का अपलाप, तेजोलेश्या का छोड़ना, गोशाल की मृत्यु, सिंह मुनि द्वारा लाई हुई औषधि से महावीर का आरोग्य-लाभ, गोशाल के पूर्वभव, राजगृह में महावीर का श्रेणिक आदि को धर्मोपदेश, मेघकुमार की दीक्षा, प्रसन्नचन्द्र का प्रतिबोध 12 व्रतों की कथायें, गागलि की प्रव्रज्या, महावीर का मिथिला में गमन और उनके निर्वाणोत्सव का वर्णन है।

16.8 सुपासनाहचरिय (सुपार्श्वनाथचरित)

सुपार्श्वनाथचरित प्राकृत पद्य की रचना है जिसमें सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का चरित लिख गया है। सुपार्श्वनाथ का चरित तो यहां संक्षेप में ही समाप्त हो जाता है, अधिकांश भाग में उनके उपदेश की ही प्रधानता है। श्रावकों के बारह व्रतों के अतिचारसंबंधी यहां अनेक लौकिक अभिनव कथायें दी हुई हैं। इन कथाओं में कहीं बुद्धि-माहात्म्य, कहीं कला-कौशल आदि की मुख्यता का सरल और प्रभावोत्पादक शैली में दिग्दर्शन कराते हुए लौकिक आचार-व्यवहार, सामाजिक रीति-रिवाज, राजकीय परिस्थिति और नैतिक जीवन आदि का चित्रण किया गया है। सुपार्श्वनाथचरित के कर्त्ता लक्ष्मणगणि श्रीचन्द्रसूरि के गुरुभाई और हेमचन्द्रसूरि के शिष्य थे। उन्होंने विक्रम संवत् 1199 (ई.स. 1142) में राजा कुमारपाल के राज्याभिषेक के वर्ष में इस ग्रन्थ की रचना की। लेखक ने प्रारम्भ में हरिभद्रसूरि आदि आचार्यों का बड़े आदरपूर्वक उल्लेख किया है। बीच-बीच में संस्कृत और अपभ्रंश का उपयोग किया गया है। अनेक सुभाषित इस रचना में संगृहीत हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूर्वभव प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का उल्लेख है। कुलों में श्रावक का कुल, प्रवचनों में निर्ग्रन्थ प्रवचन, दानों में अभयदान और मरणों में समाधिमरण को श्रेष्ठ बताया है।

दूसरे प्रस्ताव में तीर्थंकर के जन्म और निष्क्रमण का वर्णन करते हुए देवों द्वारा मेरूपर्वत के ऊपर जन्माभिषेक का सरस वर्णन है। केवलज्ञान नाम के तीसरे प्रस्ताव में लकुट आसन, गरुड आसन तथा छट्ठ, अट्ठम आदि उग्र तपों का उल्लेख करते हुए तीर्थंकर को केवलज्ञान की प्राप्ति बताई है। इसके पश्चात् भगवान् धर्म का उपदेश देते हैं। इस भाग में अनेक कथाओं का वर्णन है।

यहां गारुडमंत्र और अवस्वापिनी विद्या का उल्लेख है। सिरिविच्छकहा में विद्यामठ का उल्लेख है। वर्षाऋतु का वर्णन है। उस समय हालिक अपने खेतों में हल जोतते हैं; दांत पीस कर और पूंछ मरोड़ कर वे बैल हांकते हैं। सीहकथा में मस्तक पर विचित्र रंग की टोपी लगाये एक योगी का उल्लेख है। रक्तचंदन का उसने तिलक लगाया था, वह मृगचर्म धारण किये हुए था और हुंकार छोड़ रहा था। कमलसिट्ठीकहा में आमों की गाड़ी का उल्लेख है। पारसदेश से तोते मंगाये जाते थे। बंधुदत्त की कथा में जल की एक बूंद में इतने जीव बताये हैं जो समस्त जंबूद्वीप में भी न समा सकें।

देवदत्तकथा में भूतबलि और शासनदेवी का उल्लेख है। वीरकुमारकथा में बंगालदेश का उल्लेख है। दुग्गकथा में त्रिपुरा विद्यादेवी के प्रसाधन के लिये कनेर के फूल और गूगल आदि लेकर मलय पर्वत पर जाने का कथन है। दुल्लहकथा में इंद्रमह, स्कंदमह और नागमह की चर्चा है। दत्तकथा में रात्रिभोजन-त्याग का प्रतिपादन है। रात्रिभोजन-त्याग करने वाला व्यक्ति सौ वर्ष जीता है और उसे पचास वर्ष उपवास करने का फल होता है। सीहकथा में कपर्दिक यक्ष का उल्लेख है। भोगों के अतिरेक में मलदेव की और संलेखना का प्रतिपादन करने के लिये मलयचन्द्र की कथा वर्णित है। अन्त में सुपार्श्वनाथ का वर्णन है।

16.9 सुदंसणाचरिय (सुदर्शनाचरित)

सुदंसणाचरिय में शकुनिकाविहार नामक मुनिसुव्रतनाथ के जिनालय का वर्णन किया गया है। यह सुंदर रचना प्राकृत पद्य में है। संस्कृत और अपभ्रंश का भी इसमें प्रयोग है। ग्रन्थ के कर्त्ता जगतचन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि (सन् 1270 में स्वर्गसथ) हैं। गुर्जर राजा की अनुमतिपूर्वक वस्तुपाल मंत्री के समक्ष अर्बूदगिरि (आबू) पर इन्हें सूरिपद प्रदान किया गया था। इस चरित में धनपाल, सुदर्शना, विजयकुमार, शीलवती, अश्वावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री नाम के आठ अधिकार हैं जो 16 उद्देशों में विभक्त हैं। सब मिलाकर चार हजार से अधिक गाथायें हैं। रचना प्रौढ़ है। शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है।

प्रथम उद्देश में श्रेष्ठीपुत्र धनपाल की कथा के प्रसंग में धर्मकथा का वर्णन है। यहां पर रात्रि, स्त्री, भक्त और जनपद कथा का त्याग करके धर्मकथा का श्रवण हितकारी बताया है। दूसरे उद्देश में सुदर्शना के जन्म का वर्णन है। सुदर्शना बड़ी होकर उपाध्यायशाला में जाकर लिपि, गणित आदि कलाओं का अध्ययन करती है। तीसरे उद्देश में सुदर्शना की कलाओं की परीक्षा ली जाती है। उसे जातिस्मरण हो आता है। भरुयकच्छ (भड़ौंच) का ऋषभदत्त नाम का एक सेठ राजा के पास भेंट लेकर राजसभा में उपस्थित तुखार नाम के घोड़ों की प्रशंसा करते हुए घोड़ों के लक्षण कहता है।

धर्माधर्मविचार नाम के चौथे उद्देश में राजसभा में ज्ञाननिधि नाम का पुरोहित आता है। वह ब्राह्मण धर्म का उपदेश देता है, लेकिन सुदर्शना उसके उपदेश का खण्डन करके मुनि धर्म का प्रतिपादन करती है। पांचवें उद्देश में शीलमती का विजयकुमार के साथ विवाह होता है। शीलमती का हरण कर लिया जाता है, इस पर विजयकुमार और विद्याधर में युद्ध होता है। छठे उद्देश में धर्मयश नाम के चारण श्रमण के धर्मोपदेश का वर्णन है। सातवें उद्देश में सुदर्शना अपने माता-पिता आदि के साथ सिंहलद्वीप से भरुयकच्छ के लिये प्रस्थान करती है। सब लोग बन्दरगाह पर पहुंचते हैं। यहां से सुदर्शना शीलमती के साथ जहाज में बैठकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आगे जाती है। इस प्रसंग पर बोहित्य, खरकुल्लिय, बेदुल्ल, आवत्त (गोल-नाव), खुरप्प आदि प्रवहणों के नामोल्लेख हैं जिन पर नेत्तपट्ट, सियपत्थ, दोछडिय, पट्ट, मृगनाभि, मृगनेत्र (गोरोचन), कर्पूर, चीण, पट्टंसुय, कुंकुम, कालागुरु, पद्मसार, रत्न, घृत, तेल, शस्य, वस्ति (मशक), ईंधन, एला, कंकोल, तमालपत्र, पोप्फल (पूगीफल-सुपारी), नारियल, खजूर, द्राक्षा, जातीफल (जायफल), नाराच, कुंत, मुद्गर, सव्वल (बरछी), तूणा, खुरप्प, खड्ग, जंपाण, सुखासन, खट्ट, तूलि, चाउरी, मसूरिका, गुडुर (डोरा), गुलणिय, पटमंडप तथा अनेक प्रकार के कनक, रत्न, अंशुक आदि लाद दिये गये। आठवां उद्देश अन्य उद्देशों की अपेक्षा बड़ा है। इसमें विमलगिरि का वर्णन, महामुनि का उपदेश, विजयकुमार का शीलमती के साथ परिणयन, विजयकुमार की दीक्षा, धर्मोपदेश, विशुद्धदान के संबंध में वीरभद्र श्रेष्ठी का और शील के संबंध में कलावती का उदाहरण, भावनाधर्म के निरूपण में नरविक्रम का दृष्टांत आदि वर्णित हैं। महिलाओं के कुसंग से दूर रहने का यहां उपदेश है।

नौवें उद्देश में मुनि के दर्शन से सुदर्शना के मन में वैराग्य-भावना उदित होने का वर्णन है। दसवें उद्देश में नवकारमंत्र का प्रभाव, श्रेयांसकुमार की कथा, मरुदेवी के गर्भ में ऋषभदेव का अवतरण, ऋषभदेव का चरित्र, भरत को केवलज्ञान की उत्पत्ति, नरसुंदर राजा की कथा, महाबल राजा का दृष्टान्त, जीर्ण वृषभ की कथा आदि उल्लिखित हैं। रात्रिभोजन-त्याग का महात्म्य बताया है। ग्यारहवें उद्देश में भृगुकच्छ के अश्वावबोध तीर्थ का वर्णन है। अश्व को बोध देने के लिये मुनिसुव्रतनाथ भगवान् का वहां आगमन होता है और अश्व को जातिस्मरण उत्पन्न होता है। बारहवें उद्देश में सुदर्शना के आदेशानुसार मुनिसुव्रतनाथ भगवान् का प्रासाद निर्मित किये जाने का वर्णन है। जिनबिम्ब की प्रतिष्ठाविधि सम्पन्न होती है। नर्मदा के किनारे शकुनिकाविहार नामक जिनालय के पूर्ण होने पर उसकी प्रशस्ति आदि की विधि की जाती है। तेरहवें उद्देश में शीलवती के साथ सुदर्शना द्वारा रत्नावली आदि विविध प्रकार के तपश्चरण करने आदि का वर्णन है। चौदहवें उद्देश में शत्रुंजय तीर्थ पर महावीर के आगमन और उनके धर्मोपदेश का वर्णन है। पन्द्रहवें उद्देश में महासेन राजा के दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख है। सोलहवें उद्देश में धनपाल संघ को साथ लेकर रैवतगिरि की यात्रा करता है। यहां उज्जयन्त पर्वत पर नेमिनाथ के जिनभवन का वर्णन है। धनपाल ने पहले संस्कृत गद्य-पद्य फिर प्राकृत पद्य में नेमिनाथ की स्तुति की। यात्रा से लौट कर धनपाल ने तीर्थोंपधान किया और गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए वह समय यापन करने लगा।

16.10 कण्हचरिय (कृष्णचरित)

रामचरित की भांति कृष्ण के भी अनेक चरित प्राकृत में लिखे गये हैं। इसके कर्त्ता सुदंसणाचरिय के रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्रसूरि हैं। यह चरित श्राद्धदिनकृत्य की वृत्ति में से उद्धृत किया गया है जिसमें नेमिनाथ का चरित भी अन्तर्भूत है।

प्रस्तुत चरित में वसुदेव के पूर्वभव, कंस का जन्म, वसुदेव का भ्रमण, अनेक राज्यों से कन्याओं का ग्रहण, चारुदत्त का वृत्तान्त, रोहिणी का परिणयन, कृष्ण और बलदेव के पूर्वभव, नारद का वृत्तान्त, देवकी का ग्रहण, कृष्ण का जन्म, नेमिनाथ का पूर्वभव, नेमि का जन्म-महोत्सव, कंस का वध, द्वारिका नगरी का निर्माण, कृष्ण की अग्र महिषियां, प्रद्युम्न का जन्म, पाण्डवों की परम्परा, द्रोपदी के पूर्वभव, जरासंध के साथ युद्ध, कृष्ण की विजय, राजीमती का जन्म, नेमिनाथ और राजीमती के विवाह की चर्चा, नेमिनाथ का विवाह किये बिना ही मार्ग से लौट आना, उनकी दीक्षा, धर्मोपदेश, द्रोपदी का हरण, गजसुकुमाल का वृत्तान्त, यादवों की दीक्षा, ढंढणऋषि की कथा, रथनेमि और राजीमती का संवाद, थावच्चापुत्र का वृत्तान्त, शैलक की कथा, द्वीपायन द्वारा द्वारिका का दहन, राम और कृष्ण का निर्गमन, कृष्ण की मृत्यु, बलदेव का विलाप, दीक्षा-ग्रहण, पाण्डवों की दीक्षा और नेमिनाथ के निर्वाण का वर्णन है। कृष्ण मर कर तीसरे नरक में गये आगे चलकर वे अमम नाम के तीर्थंकर होंगे। बलदेव उनके तीर्थ में सिद्धि प्राप्त करेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.11 कुम्मापुत्तचरिय (कूर्मापुत्रचरित)

कूर्मापुत्रचरित में कूर्मापुत्र की कथा है जो 198 प्राकृत पद्यों में लिखी गई है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता जिनमाणिक्य अथवा उनके शिष्य अनंतहंस माने जाते हैं। ग्रन्थ की रचना का समय सन् 1513 है। सम्भवतः इसकी रचना उत्तर गुजरात में हुई है। कुम्मापुत्तचरिय की भाषा सरल है। अलंकार आदि का प्रयोग यहां नहीं है। व्याकरण के नियमों का ध्यान रखा गया है।

कुम्मापुत्त की कथा में भावशुद्धि का वर्णन है। दान, शील, रूप आदि की महिमा बताई गई है। अन्त में गृहस्थावस्था में रहते हुए भी कुम्मापुत्त को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रसंगवश मनुष्य जन्म की दुर्लभता, अहिंसा की मुख्यता, कर्मों का क्षय, प्रमाद का त्याग आदि विषयों का यहां प्ररूपण किया गया है।

16.12 मणिपतिचरित

मणिपतिचरित के कर्त्ता बृहद्गच्छीय मानदेव के प्रशिष्य और उपाध्याय जिनपति के शिष्य हरिभद्रसूरि हैं। इस चरित में 646 गाथायें हैं। हरिभद्रसूरि ने वि. सं. 1172 (ईसवी सन् 1115) में इसकी रचना की है। इस पर संस्कृत में भी रचनायें की गई हैं। यहां मणिपति मुनि और कुंचिक सेठ के बीच संवाद के रूप में 16 कथाओं का संकलन किया गया है। मणिपतिक नगरी का राज मणिपति अपने पुत्र को राज्य सौंप कर दीक्षा ग्रहण कर लेता है। उज्जयिनी के बाहर श्मशान में तप करते हुए उनका शरीर आग से झुलस जाता है। कुंचिक सेठ मुनि को अपने घर लाकर उनकी चिकित्सा करता है। मुनि पर धन की चोरी का आरोप लगाया जाता है। कुंचिक सेठ हाथी की कथा कहता है। मणिपति मुनि अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए हार की कथा कहते हैं। इस प्रकार दोनों के बीच आठ-आठ कथाओं के माध्यम से लंबा संवाद चलता है। अन्त में कुंचिक सेठ संसार से विरक्त हो मुनि दीक्षा ग्रहण करता है।

16.13 अन्य चरित-ग्रंथ

इसके अतिरिक्त अभयदेवसूरि के शिष्य चन्द्रप्रभमहत्तर ने संवत् 1127 (सन् 1070) में देवावड नगर में वीरदेव के अनुरोध पर विजयचन्दकेवली चरिय की रचना की। इसमें 1163 गाथाओं में जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, दीप, धूप, नैवेद्य और फल इस अष्टविध पूजा के माहात्म्य के उदाहरण कथाओं द्वारा प्रस्तुत किये हैं। अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि ने सन् 1083 में 15,000 गाथाप्रमाण मनोरमाचरिय और 11,000 श्लोकप्रमाण आदिनाहचरिय की रचना की। अपभ्रंश की गाथायें भी इस रचना में पाई जाती हैं। इस समय सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र आचार्य के गुरु देवचन्द्र सूरि ने लगभग 12,000 श्लोकप्रमाण संतिनाहचरिय की रचना की। नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य शांतिसूरि ने अपने शिष्य मुनिचन्द्र के अनुरोध पर सन् 1104 में पुहवीचन्दचरिय लिखा। मलधारी हेमचन्द्र ने नेमिनाहचरिय और उनके शिष्य श्रीचन्द्र ने सन् 1135 में मुणिसुव्वयसामिचरिय की रचना की। देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने सन् 1157 में सणंकुमारचरिय की रचना की। श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य वाटगच्छीय हरिभद्र ने सिद्धराज और कुमारपाल के महामात्य पृथ्वीपाल के अनुरोध पर चौबीस तीर्थंकरों का जीवनचरित लिखा। इनमें चन्दप्पहचरिय, मल्लिनाहचरिय और नेमिनाहचरिय उपलब्ध है। मल्लिनाहचरिय में तीन प्रस्ताव हैं। कुमारपाल-प्रतिबोध के कर्त्ता सोमप्रभसूरि ने 9000 गाथाओं में सुमतिनाहचरिय और वि. सं. 1410 (सन् 1353) में मुनिभद्र ने संतिनाहचरिय की रचना की। नेमिचन्द्रसूरि ने भव्यजनों के लाभार्थ अनंतनाहचरिय लिखा जिसमें पूजाष्टक उद्धृत किया है। यहां कुसुमपूजा आदि के उदाहरण देते हुए जिनपूजा को पापहरण करने वाली, कल्याण का भंडार और दरिद्रता को दूर करने वाली बताया है।

प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश में भी चरितग्रंथों की रचना हुई और आगे चलकर पंप, रत्न और होन्न ने कन्नड़ भाषा में तीर्थंकरों के चरित लिखे। इनमें अपभ्रंश चरित साहित्य प्रचुर एवं चरित काव्य की परम्परा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव आगे के पृष्ठों में अपभ्रंश चरित काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.14 अपभ्रंश में तीर्थंकर–चरित्र

अपभ्रंश में भी विविध तीर्थंकरों के चरित्र पर स्वतंत्र काव्य लिखे गये। **'चंदप्पह चरिउ'** यशः कीर्ति द्वारा हुंमड् कुल के सिद्धपाल की प्रार्थना से 11 संधियों में रचा गया है। ये यशः कीर्ति वे ही हैं, जिन्होंने हरिवंशपुराण की रचना की। हरिवंशपुराण का रचनाकाल 15 वीं शती ई. है। अतएव **'चंदप्पह चरिउ'** का रचना काल भी 15 वीं शती ई. है। **'सांतिनाह चरिउ'** की रचना महीचन्द्र द्वारा वि. सं. 1587 में योगिनीपुर (दिल्ली) में बाबर बादशाह के राज्यकाल में हुई। कवि ने अपनी गुरु–परम्परा में माथुर संघ, पुष्करगण के यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रसूरि का उल्लेख किया है; तथा अग्रवाल वंश के गर्ग–गोत्रिय भोजराज के पोत्र, व ज्ञानचन्द्र के पुत्र साधारण के कुल का विस्तार से वर्णन किया है। **णेमिणाह चरिउ** की रचना हरिभद्र ने वि. 1216 में की। इसका अभी तक एक अंश **'सनत्कुमार चरित'** सुसंपादित होकर प्रकाश में आया है। एक और **णेमिनाह चरिउ** लखमदेव (लक्ष्मणदेव) कृत पाया जाता है, जिसमें चार संधियां व 83 कडवक हैं। कवि ने आरम्भ में अपने निवास–स्थान मालव देश व गोनंद नगर का वर्णन और अपने पुरवाड वंश का उल्लेख किया है। रचनाकाल का निश्चय नहीं है, किन्तु इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति वि.सं. 1510 की मिली है, जिससे उसके रचनाकाल की उत्तराविधि सुनिश्चित हो जाती है। **पासणाह चरिउ** की रचना पद्मकीर्ति ने वि. सं. 992 में 18 संधियों में पूर्ण की थी। कवि ने अपनी गुरु–परम्परा में सेन संघ के चन्द्रसेन, माधवसेन और जिनसेन का उल्लेख किया है। दूसरा **पासणाह चरिउ** 12 संधियों में कवि श्रीधर द्वारा वि. सं. 1189 में रचा गया है। कवि के पिता का नाम गोल्ल और माता का नाम बील्हा था। वे हरियाणा से चलकर जमना पार दिल्ली आये और वहां अग्रवाल वंशी नट्टल साहू की प्रेरणा से उन्होंने यह रचना की। तीसरा **पासणाह चरिउ** कवि अग्रवाल कृत पाया जाता है, जो कई संधियों में समाप्त हुआ है। संधि के अंत में उल्लेख मिलता है कि यह ग्रंथ संघाधिप सोनी (सोणिय?) के कर्णाभरणरूप अर्थात् उनकी प्रेरणा से उन्हें सुनाने के लिये रचा गया था। इसका रचनाकाल अनुमानतः 15 वीं शती या उसके आसपास होगा। अंतिम तीर्थंकर पर जयमित्र हल्ल कृत **वड्ढमाण–कव्वु** मिलता है, जिसमें 11 संधियां हैं। यह काव्य देवराय के पुत्र संघाधिप होलिवर्म के लिये लिखा गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि. सं. 1545 की मिली है; अतएव ग्रंथ इससे पूर्व रचा गया था। इस काव्य की अंतिम 6 संधियों में राजा श्रेणिक का चरित्र वर्णित है, जो अपने रूप में पूर्ण है और पृथ्क रूप से भी मिलता है। रइधूकृत **सम्मइणाह चरिउ** दस संधियों में समाप्त हुआ। इसमें कवि ने अपने गुरु का नाम यशःकीर्ति प्रकट किया है; अतएव इसका रचनाकाल वि. सं. 1500 के आसपास होना चाहिये। नरसेन कृत **वड्ढमाणकहा** वि. सं. 1512 के लगभग लिखी गई है। जैन ग्रंथावली में जिनेश्वर सूरि के शिष्य द्वारा रचित अपभ्रंश महावीर–चरित का उल्लेख है।

16.15 अन्य चरितकाव्य

तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त अपभ्रंश में जो अन्य चरित्र काव्य की रीति से लिखे गये, वे निम्न हैं—**'तिसट्ठि–महापुरिस–गुणालंकार'** के महाकवि पुष्पदंत कृत अन्य रचनाएं हैं—**जसहर–चरिउ** और **णायकुमार–चरिउ।** यशोधर का चरित्र जैन साहित्य में हिंसा के दोष और अहिंसा का प्रभाव दिखलाने के लिये बड़ा लोकप्रिय हुआ है और उस पर संस्कृत में सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू से लगाकर, 17 वीं शती तक लगभग 30 ग्रंथ रचे गये पाये जाते हैं। इनमें काव्यकला की दृष्टि से संस्कृत में सोमदेव की कृति और अपभ्रंश में पुष्पदंत कृत **जसहर चरिउ** सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दोनों रचनाएं 10 वीं शताब्दी में पांच–सात वर्ष के अंतर से प्रायः एक ही समय की हैं। **जसहरचरिउ** चार संधियों में विभाजित है। यौधेय देश की राजधानी राजपुर में मारिदत्त राजा की एक कापालिकाचार्य भैरवानंद से भेंट हुई और उनके आदेशानुसार आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने के लिये राजा ने नरबलि यज्ञ का आयोजन किया। इसके लिये राजा के सेवक जैन मुनि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुदत्त के शिष्य अभयरुचि और उसकी बहन अभयमती को पकड़ लाये। राजा ने उनके रूप से प्रभावित होकर उनका वृत्तान्त पूछा।

इस पर अभयरुचि ने अपने पूर्व 6 जन्मों का वृत्तांत कहना प्रारम्भ किया—अवन्ती देश में उज्जैनी के राजा यशोबंधुर का पौत्र व यशोर्ह का पुत्र मैं यशोधर नाम का राजा था (1सं.)। यशोधर ने अपनी रानी अमृतमती को एक कुबड़े से व्यभिचार करते देखा और विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेने का विचार किया। किन्तु उसकी मां ने उसे रोका। अमृतमती ने दोनों को विष देकर मार डाला। तत्पश्चात् मां-बेटों ने नाना पशु-योनियों में परिभ्रमण किया; जिनमें स्वयं उसके पुत्र जसवइ व व्याभिचारिणी पत्नी ने उनका घात किया (2 सं.)। अनेक पशुयोनियों में दुःख-भोगकर अंत में वे दोनों जसवइ के पुत्र और पुत्री रूप से उत्पन्न हुए। एक बार जसवइ आखेट करने वन में गया था, वहां उसे सुदत्त मुनि के दर्शन हुए और उसने उन पर अपने कुत्ते छोड़े। किन्तु मुनि के प्रभाव से कुत्ते उनके सम्मुख विनीतभाव से नमन करने लगे। एक सेठ ने राजा को मुनि का माहाम्त्य समझाया, तब राजा को सम्बोधन हुआ। मुनि को अवधिज्ञानी जान राजा ने उनसे अपने पूर्वभूत माता-पिता व मातामही का वृत्तांत पूछा। मुनि ने उनके भव-भ्रमण का सब वृत्तांत सुनाकर बतला दिया कि उसका पिता और उसकी मातामही ही अब अभयरुचि और अभयमती के रूप में उसके पुत्र-पुत्री हुए हैं (3सं.)। यह वृत्तांत सुनकर और संसार की विचित्रता एवं असारता को समझकर जसवइ ने दीक्षा ले ली। उसके पुत्र-पुत्रियों को भी अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया और वे क्षुल्लक के व्रत लेकर सुदत्त मुनि के साथ विहार करते हुए मारिदत्त के राजपुरुषों द्वारा पकड़ कर वहां लाये गये। यह वृत्तांत सुनकर राजा मारिदत्त उनकी देवी सुदत्त मुनि से दीक्षा ले ली (सं.4)। इस कथानक को पुष्पदंत ने बड़े काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। (कारंजा, 1932)

णायकुमार-चरिउ में पुष्पदंत ने श्रुत-पंचमी कथा के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र 9 संधियों में वर्णन किया है। मगधदेश के कनकपुर नगर में राजा जयंधर और रानी विशालनेत्रा के श्रीधर नामक पुत्र हुआ। पश्चात् राजा ने सौराष्ट्र देश में गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र देख उस पर मोहित हो, उससे भी विवाह कर लिया (सं. 1)। यथासमय पृथ्वीदेवी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जो शैशव में जिनमंदिर की वापिका में गिर पड़ा। वहां नागों ने उसकी रक्षा की; और उसी से उसका नाम नागकुमार रखा गया। नागकुमार नाना विद्याएं सीखकर यौवन को प्राप्त हुआ। उस पर मनोहारी और किन्नरी नामक नर्तकियां मोहित हो गई और उसने उन्हें विवाह लिया। उसकी माता और विमाता में विद्वेष बढ़ा; और उसका सौतेला भाई श्रीधर भी उससे द्वेष करके उसे मरवा डालने का प्रयत्न करने लगा। श्रीधर उसे दमन करने में असफल रहा; किन्तु नागकुमार ने अपने पराक्रम द्वारा वश में कर लिया। इससे दोनों का विद्वेष और अधिक बढ़ा (सं. 3)। नागकुमार के पराक्रम की ख्याति बढ़ी और मथुरा का राजकुमार व्याल एक भविष्य वाणी सुनकर उसका अनुचर बन गया। श्रीधर ने अब नागकुमार को अपना परमशत्रु समझ मार डालने की चेष्टा की। पिता ने संकट-निवारणार्थ नागकुमार को कुछ काल के लिये देशान्तर गमन का आदेश दे दिया (सं. 4)। नागकुमार राजधानी से निकलकर मथुरा पहुंचा, जहां उसने कान्यकुब्ज के राजा विनयपाल की कन्या शीलवती को बंदीग्रह से छुड़ाकर उसके पिता के पास भिजवा दिया। यहां से चलकर वह काश्मीर गया, जहां उसने राजा नंद की पुत्री त्रिभुवनरति को वीणावाद्य में पराजित करके विवाहा। यहां से रम्यक वन में गया और कालगुफावासी भीमासुर ने उसका स्वागत किया (सं. 5)। अपने पथ-प्रदर्शक शबर का सहायता से सह कांचन गुफा में पहुंचा; जहां उसने नाना विद्याएं प्राप्त कीं, व काल-बेताल गुफा से राजा जितशत्रु द्वारा संचित विशाल धनराशि प्राप्त की। तत्पश्चात् उसकी भेंट गिरिशिखर के राजा वनराज से हुई, जिसकी पुत्री लक्ष्मीमती से उसने विवाह किया। यहां मुनि श्रुतिधर से उसने सुना कि वनराज किरात नहीं, किन्तु पुण्ड्रवर्द्धन के राजवंश का है; जहां से तीन पीढ़ी पूर्व उसके पूर्वजों को उनके एक दायाद ने निकाल भगाया था। नागकुमार के आदेश से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वयाल पुण्ड्रवर्द्धन गया और वनराज पुनः वहां का राजा बना दिया गया; (सं. 6)। तत्पश्चात् नागकुमार ऊर्जयन्त पर्वत की ओर गया। बीच में गिरिनगर पर सिंध के राजा चंडप्रद्योत के आक्रमण का समाचार पाकर वहां गया और वहां उसने अपने मामा की शत्रु से रक्षा की एवं उसकी पुत्री गुणवती से विवाह किया। वहां से निकलकर उसने अलंघनगर के अत्याचारी राजा सुकंठ का वध किया और उसकी पुत्री रूक्मिणी को विवाहा। वहां से चलकर वह गजपुर आया और वहां राजा अभिचन्द्र की पुत्री चन्द्रा से विवाह किया (सं. 7)। महाव्याल के द्वारा उज्जैन की अद्वितीय राजकन्या का समाचार पाकर नागकुमार वहां आया और उस राजकन्या से विवाह किया। वहां से वह फिर किष्किन्धमलय को गया, जहां मृदंग वाद्य में राजकन्या को पराजित कर विवाहा। वहां से वह तोयावली द्वीप को गया और अपनी विद्याओं की सहायता से वहां की बंदिनी कन्याओं को छुड़ाया (सं. 8)। पांड्य देश से निकलकर नागकुमार आन्ध्रदेश के दन्तीपुर में आया और वहां की राजकन्या से विवाह किया। फिर उसकी भेंट मुनि पिहिताश्रव से हुई जिनके मुख से उसने अपने व अपनी प्रिय पत्नी लक्ष्मीमती के पूर्वभव की कथा तथा श्रुतपंचमी व्रत के उपवास के फल का वर्णन सुना। इसी समय उसके पिता का मंत्री नयंधर उसे लेने आया। उसके भ्राता श्रीधर ने दीक्षा ले ली थी। माता-पिता भी नागकुमार को राजा बनाकर दीक्षित हो गये। नागकुमार ने दीर्घकाल तक राज्य किया। अंत में अपने पुत्र देवकुमार को राज्य देकर उसने व्याल आदि सुभटों सहित दिगम्बरी दीक्षा ली और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया (सं. 9)। पुष्पदंत ने इस जटिल कथानक को नाना वर्णनों, विविध छंद-प्रयोगों, एवं रसों और भावों के चित्रणों सहित रोचक बनाकर उपस्थित किया है। (कारंजा, 1933)।

भविसयत्त-कहा (भविष्यदत्त-कथा) के कर्त्ता धनपाल वैश्य जाति के धक्कड़ वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम माएसर (महेश्वर?) और माता का नाम धनश्री था। इनके समय का निश्चय नहीं, किन्तु दसवीं शती अनुमान किया जाता है। यह कथा 22 संधियों में विभाजित है। चरित्रनायक भविष्यदत्त एक वणिक् पुत्र है। वह अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के साथ व्यापार हेतु परदेश जाता है, धन कमाता है और विवाह भी कर लेता है। किन्तु उसका सौतेला भाई उसे बार-बार धोका देकर दुःख पहुंचाता है; यहां तक कि उसे एक द्वीप में अकेला छोड़कर उसकी पत्नी के साथ घर लौट आता है और उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु इसी बीच भविष्यदत्त एक यक्ष की सहायता से घर लौट आता है, अपना अधिकार प्राप्त करता है और राजा को प्रसन्न कर राजकन्या से विवाह करता है। अंत में मुनि के द्वारा धर्मोपदेश व अपने पूर्व भव का वृत्तांत सुनकर, विरक्त हो राज्य दे, मुनि हो जाता है। यह कथानक भी श्रुतपंचमी व्रत का माहातम्य प्रकट करने के लिये लिखा गया है। ग्रंथ के अनेक प्रकरण बड़े सुन्दर और रोचक हैं। बाल क्रीड़ा, समुद्र-यात्रा, नौका-भंग, उजाड़ नगर, विमान यात्रा आदि के वर्णन पढ़ने योग्य हैं। कवि के समय में विमान हों या न हों, किन्तु उसने विमान का वर्णन बहुत सजीव रूप से किया है। (गायकवाड़ आरि. सीरिज. बड़ौदा)

करकंडचरिउ के कर्त्ता ने अपना स्वयं परिचय दिया है कि वे द्विजवंशी व चन्द्रर्षि गोत्रीय थे। वे वैराग्य से दिगम्बर हो गये थे उनके गुरु का नाम बुध मंगलदेव था तथा उन्होंने आसाई नगरी में एक राजमंत्री के अनुराग से यह चरित्र लिखा। राज्यमंत्री के विषय में उन्होंने यह भी कहा है कि वह विजयपाल नराधिप का स्नेहभाजन, नृपभूपाल या निजभूपाल का मन-मोहक व कर्णनरेन्द्र का आशारंजक था, उसके आहुल, रल्हु और राहुल, ये तीन पुत्र भी मुनि के चरणों के भक्त थे। सम्भवतः मुनि द्वारा उल्लिखित कर्ण उस नाम का कलचुरिवंशीय राजा व विजयपाल उसका सम-सामयिक चंदेल वंशीय राजा था। तदनुसार इस ग्रंथ का रचनाकाल 1050 ई. के लगभग सिद्ध होता है। कवि ने जो स्वयंभू और पुष्पदंत का उल्लेख किया है, उससे उनका ई. सन् 965 के पश्चात् होना निश्चित है। यह रचना 10 संधियों में पूर्ण हुई है। कथानायक करकंड जैन व बौद्ध परम्परा में एक प्रत्येक बुद्ध माने गये हैं। वे अंग देश में चंपानगरी के राजा धात्रीवाहन और रानी पद्मावती के पुत्र थे, किन्तु एक हस्ति आरूढ़ दुष्ट व्यक्ति हाथी द्वारा रानी के अपहरण के कारण उनका जन्म दंतीपुर के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समीप श्मशान-भूमि में हुआ था। उनका परिपालन व शिक्षण एक मातंग के द्वारा हुआ। दंतीपुर के राजा के मरने पर दैवयोग से वे वहां के राजा बनाये गये। चंपा से राजा धात्रीवाहन ने करकंड पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा। जिसे ठुकरा कर उन्होंने चंपापुर पर आक्रमण किया। पिता-पुत्र के बीच जब घामासान युद्ध हो रहा था, तब उसकी माता पद्मावती ने प्रकट होकर युद्ध का निवारण और पिता-पुत्र की पहचान कराई। अब करकंडू चंपापुर के राजा बन गये। उन्होंने दक्षिण के चोड़, चेर व पांड्य देशों की विजय के लिये यात्रा की। मार्ग में तेरापुर के समीप की पहाड़ी पर एक प्राचीन जैन गुफा व एक/दो लयण बनवाये। फिर उन्होंने सिंहल द्वीप तक विजय की और नाना राजकुमारियों से विवाह किया। अंत में शीलगुप्त मुनि से धर्म श्रवण कर, तपस्या धारण की और मोक्ष प्राप्त किया। इस कथानक में अनेक छोटी-छोटी उपकथाएं करकंड के शिक्षण के लिये मातंग द्वारा सुनाई गई हैं। तीन अवान्तर कथाएं इतनी बड़ी-बड़ी हैं कि वे पूर्ण एक-एक संधि को घेरे हुए हैं। पांचवीं संधि में तेरापुर की प्राचीन गुफा बनाने व पहाड़ी पर जिनमूर्ति के स्थापित किये जाने का वृत्तांत है। छठी संधि में करकंड की प्रिय पत्नी मदनावली का एक दुष्ट हाथी द्वारा अपहरण होने पर उनकी वियोग-पीड़ा के निवारणार्थ राजा नरवाहनदत्त का आख्यान कहा गया है एवं आठवीं संधि में करकंड की पत्नी रतिवेगा को उसके पतिवियोग में संबोधन के लिये देवी द्वारा अरिदमन और रत्नलेखा के वियोग और पुनिर्मिलन का आख्यान सुनाया गया है। ग्रंथ में श्मशान का, गंगानदी का, प्राचीन जिनमूर्ति के भूमि से निकलने का एवं रतिवेगा के विलाप आदि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। (कारंजा, 1934)

पउमसिरि-चरिउ (पद्मश्री-चरित) के कर्त्ता धाहिल ने अपने विषय में इतना बतलाया है कि उनके पिता का नाम पार्श्व व माता का नाम महासती सूराई (सूरादेवी?) था और वे शिशुपाल काव्य के कर्त्ता माघ के वंश में उत्पन्न हुए थे। समय का निश्चय नहीं, किन्तु इस कृति की जो प्राचीन प्रति वि. सं. 1199 की मिली है, उससे इस रचना की उत्तरावधि निश्चित हो जाती है। यह रचना चार संधियों में पूर्ण हुई है। नायिका पद्मश्री अपने पूर्व जन्म में एक सेठ की पुत्री थी, जो बाल-विधवा होकर अपना जीवन अपने दो भाइयों और उनकी पत्नियों के बीच एक ओर ईर्ष्या और सन्ताप तथा दूसरी ओर धर्मसाधना में बिताती रही। दूसरे जन्म में पूर्व पुण्य के फल से वह राजकुमारी हुई। किन्तु जो पापकर्म शेष रहा था, उसके फलस्वरूप उसे पति द्वारा परित्याग का दुख भोगना पड़ा। तथापि संयम और तपस्या के बल से अंत में उसने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया। काव्य में देशों व नगरों का वर्णन, हृदय की दाह का चित्रण, संध्या व चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णन बहुत सुंदर है। (सिंधी जैन सीरिज, बम्बई)

सणंकुमार-चरिउ (सनत्कुमार-चरित) के कर्त्ता हरिभद्र श्रीचन्द्र के शिष्य व जीतचन्द्र के प्रशिष्य थे, और उन्होंने अपने णेमि-चरिउ की रचना वि. सं. 1216 में समाप्त की थी। प्रस्तुत रचना उसी के 443 से 785 तक के 343 रड्डा छंदात्मक पद्यों का काव्य है, जो पृथक् रूप से सुसंपादित और प्रकाशित हुआ है। कथा-नायक सनत्कुमार गजपुर नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। वे एक बार मदनोत्सव के समय वेगवान् अश्व पर सवार होकर विदेश में जा भटके। राजधानी में हाहाकार मच गया। उनके मित्र खोज में निकले और मान-सरोवर पर पहुंचे। वहां एक किन्नरी के मुख से अपने मित्र का गुणगान सुनकर उन्होंने उनका पता लिया। इसी बीच सनत्कुमार ने अनेक सुंदर कन्याओं से विवाह कर लिया था। मित्र के मुख से माता-पिता के शोक-संताप का समाचार पाकर वे गजपुर लौट आये। पिता ने उन्हें राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। सनत्कुमार ने अपने पराक्रम और विजय द्वारा चक्रवर्तीपद प्राप्त किया व अंत में तपस्या धारण कर ली। इसी सामान्य कथानक को कर्त्ता ने अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा खूब चमकाया है। यहां ऋतुओं आदि का वर्णन बहुत अच्छा हुआ है। (डॉ. जैकोबी द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, जर्मनी)

(वीरकृत जंबूस्वामी चरिउ एंव नयनंदि कृत सुदंसण चरिउ भी उच्च कोटि के चरित काव्य हैं, जिनका प्रकाशन पिछले दशक में हुआ है।) इन प्रकाशित चरित्रों के अतिरिक्त अनेक अपभ्रंश चरित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ग्रंथ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में नाना जैन शास्त्रभंडारों में सुरक्षित हैं और सम्पादन प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं।

16.6 सारांश– अस्तु जैन चिंतन में जैन पुराण एवं चरित साहित्य का सांगोपांग विवेचन हुआ हैं

16.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्राकृत/अपभ्रंश चरित काव्यों का संक्षेप में चित्रण करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पउमचरिय का संक्षिप्त परिचय दें।
2. पासनाहचरिय के आधार पर भगवान् पार्श्व के पूर्वभवों का संक्षेप में विवेचन करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सणंकुमार-चरिउ के कर्त्ता हैं—अ. हरिभद्र ब. श्रीचन्द्र स. जितचन्द्र द. पुष्पदन्त
2. महावीरचरिय के कर्त्ता हैं—अ. विमलसूरि ब. गुणचन्द्रगणि स. जिनमाणिक्य द. अनंतहंस
3. चंदप्पह चरिउ में संधियां हैं—अ. पांच ब. सात स. नौ द. ग्यारह
4. रत्नचूडरायचरिय किस आगम ग्रन्थ का सूचक है—अ. ज्ञाताधर्मकथा ब. उत्तराध्ययन स. आख्यानमणिकोश द. आयारो
5. जंबूचरिय का रचनाकाल है—अ. 12वीं शताब्दी ब. 11वीं शताब्दी स. 13वीं द. 5वीं शताब्दी।
6. कण्हचरिय के रचयिता .... हैं।
7. श्रुत-पंचमी कथा के महात्म्य को प्रकट करने वाला ग्रन्थ .... है।
8. भविसयत्तकहा के कर्त्ता .... है।
9. मुनि कनकामर द्वारा रचित ग्रन्थ ..... है।
10. पउमसिरि-चरिउ के कर्त्ता .... है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाठ 17 : जैन काव्य एवं कथा साहित्य

संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 महाकाव्य के भेद
17.3 महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय
17.3.1 शास्त्रीय महाकाव्य
17.3.2 प्रद्युम्न चरित काव्य
17.3.3 नेमिनिर्वाण महाकाव्य
17.4 ऐतिहासिक महाकाव्य
17.5 पौराणिक महाकाव्य
17.5.1 रामायण-विषयक पौराणिक महाकाव्य
17.5.2 महाभारताश्रित पौराणिक महाकाव्य
17.6 गीतिकाव्य (खण्ड काव्य)
17.6.1 रसमुक्तकगीतिकाव्य (दूत या सन्देश काव्य)
17.6.2 रसेतर मुक्तक साहित्य
17.7 चम्पू काव्य
17.8 गद्य काव्य
17.8.1 तिलकमंजरी
17.8.2 गद्यचिन्तामणि
17.8.3 दृश्यकाव्य
17.9 सारांश
17.10 अभ्यास प्रश्नावली

17.0 प्रस्तावना

रसात्मक वाक्य काव्य कहलाता है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** कवि अभ्यास और समाधि का आश्रय लेकर काव्य की रचना करता है। उसमें जीवन के लिए श्रेयस्समुद्घाटक तत्त्वों का यथासंभव समावेश होता है।

काव्य के दो भेद हैं—दृश्य और श्रव्य। जो श्रवणेन्द्रिय (कान) के साथ नेत्रेन्द्रिय का विषय है, उसे दृश्य काव्य कहते हैं। जो केवल श्रवणेन्द्रिय का विषय है उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य के दो भेद स्वीकृत हैं—गद्य और पद्य। पद्य काव्य के दो भेद स्वीकृत हैं—1. प्रबन्ध काव्य, 2. मुक्तक काव्य। जिसमें वर्णनीय प्रसंगों में पारम्परिक सम्बन्ध होता है, उसे प्रबन्ध काव्य कहते हैं। जिनसेन ने निर्देश दिया है—पूर्वापरार्थघटनैः प्रबन्धः[1] अर्थात् पूर्वापर सम्बन्ध निर्वाह पूर्वक कथात्मक रचना प्रबन्ध काव्य है। पूर्वापर सम्बन्ध रहित काव्य को मुक्तक काव्य कहते हैं।

प्रबन्ध काव्य दो प्रकार के मिलते हैं—1. महाकाव्य और 2. कथा काव्य। जो जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता है उसे महाकाव्य कहते हैं, जिसका विभाजन सर्गों में होता है तथा आकृति भी विशाल

[1] आदि पुराण 1.100

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होती है। आचार्य जिनसेन ने महाकाव्य की परिभाषा दी है—जो ऐतिहासिक एवं पौराणिक चरित्र का रसात्मक चित्रण उपस्थित करता है तथा धर्म, अर्थ और काम के फल को प्रदर्शित करता है, वह महाकाव्य है।[2]

जिसमें रसात्मक एवं अलंकृत शैली में रोमांचक तत्त्वों के समावेश के साथ कथावस्तु का उपस्थापन किया जाता है वह कथाकाव्य है। यह छन्दोबद्ध रचना है। इसलिए आख्यायिका एवं गद्य कथा से भिन्न है। परन्तु तत्त्वत: एक ही है। कथा काव्य के दो भेद स्वीकृत हैं—सकल कथा और खण्डकथा। सकल कथा में महाकाव्य की तरह ही जीवनका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है, लेकिन सर्गबन्ध, छंद-प्रयोग आदि महाकाव्य के बन्धनों से रहित होने के कारण यह महाकाव्य से भिन्न विधा है। जैन परम्परा के अधिकांश चरितकाव्य इसी विधा के अन्तर्गत आते हैं। खण्डकथा काव्य में जीवन के एक पक्ष या एक घटना का चित्रण किया जाता है।

मुक्तक काव्य पाठ्य एवं गेय के भेद से दो प्रकार के होते हैं। पद्य संख्या के आधार पर मुक्तक के अनेक भेदों का निर्देश साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने किया है। जैसे—1. मुक्तक—एक श्लोकीय रचना, 2. संदानितक—दो श्लोकों या छंदों वाली रचना, 3. विशेषक—तीन श्लोकों में समाप्त होने वाली रचना, 4. कलापक—चार श्लोकों वाली रचना, 5. कुलक—पांच या छह श्लोकों से युक्त काव्य, 6. पर्यायबद्ध—वसंतादि एक ही विषय का वर्णन करने वाला काव्य, 7. कोश—परस्पर निरपेक्ष श्लोकों का संग्रह, 8. प्रघटक—एक कवि द्वारा रचित मुक्तकों का समुच्चय, 9. संघात- एक कवि द्वारा एक विषय पर लिखे गए मुक्तकों का संग्रह, 10. विकीर्णक—अनेक कवियों द्वारा रचित छंदों का संग्रह।

17.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में जैन काव्यों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करना हमारा अभीष्ट है। अध्ययन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण जैन काव्य साहित्य को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा रहा है—1. महाकाव्य, 2. गीतिकाव्य (खण्ड काव्य), 3. स्तोत्र काण्ड साहित्य, 4. चम्पू काव्य, 5. गद्य काव्य, 6. दृश्य काव्य (नाटक)।

17.2 महाकाव्य के भेद

महाकाव्य के दो रूप स्वीकार किए गये हैं—1. संकलनात्मक या विकासात्मक 2. अलंकृत महाकाव्य।

संकलनात्मक या विकासात्मक महाकाव्य वे हैं जिन्हें अनेक विद्वानों ने अपनी प्रतिभा से सजाया, संवारा तथा विकसित किया। रामायण, महाभारत इसी कोटि के महाकाव्य हैं। इनमें सरलता, स्वाभाविकता का आधिक्य होता है।अलंकृत महाकाव्य एक ही कवि द्वारा विरचित किए जाते हैं, जिनमें बाह्य पक्ष (कलापक्ष) पर विशेष बल दिया जाता है। इनकी रचना रामायण महाभारत के बाद में तथा उनका अनुकरण कर की गई है। इसलिए इन्हें अनुकृत महाकाव्य भी कहते हैं।

जैन परम्परा में एक ओर जहाँ विकासात्मक महाकाव्यों की स्वल्पता है वहाँ दूसरी ओर अलंकृत शैली में विरचित महाकाव्यों का बाहुल्य है। शैली की दृष्टि से अलंकृत महाकाव्यों को तीन रूपों में रखा जा सकता है—1. शास्त्रीय महाकाव्य 2. ऐतिहासिक महाकाव्य 3. पौराणिक महाकाव्य।

आचार्यों एवं विद्वानों ने जैन महाकाव्यों की निम्नलिखित तीन प्रवृत्तियों की ओर निर्देश किया है—

1. कथा का विभाजन सर्ग, आश्वास, परिच्छेद, उच्छवास, काण्ड, पर्व, लम्भक, प्रकाश आदि में होता है।
2. महाकाव्यों का वर्ण्य-विन्यास शिल्प इस प्रकार है—प्रारम्भिक मंगलाचरण, वस्तुनिर्देश, सज्जन-दुर्जनचर्या, आत्मलघुता, पूर्वाचार्यों का सादर स्मरण तथा अन्त में कवि एवं गुरु परम्परा का परिचय।
3. कर्मफल, पुनर्जन्म आदि के प्रतिपादन के लिए अवान्तरकथाओं की योजना।

---
[2] आदि पुराण 1.99

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. अधिकांश महाकाव्यों में शान्तरस की प्रधानता रहती है। श्रृंगार, वीर, अद्‌भुत आदि गौण रूप में उपस्थित रहते हैं।
5. जैन महाकाव्यों का लक्ष्य मुख्यत: धर्म के फल को प्रदर्शित करना है।

फिर भी उनमें त्रिवर्ग, धर्म, अर्थ और काम के फल की भी चर्चा होती है और अन्तिम फल के रूप में मोक्ष-प्राप्ति को स्वीकार किया जाता है।

17.3 महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में जैन कवियों ने अनेक प्रकार के महाकाव्यों की रचना की है। अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित वर्गीकरण का आधार ग्रहण किया जा रहा है—

17.3.1. शास्त्रीय महाकाव्य—रसात्मक एवं अलंकृत शैली में लिखे गए महाकाव्य शास्त्रीय कहे जाते हैं। प्राकृत भाषा में जैन कवियों ने शास्त्रीय महाकाव्य की रचना नहीं की है। संस्कृत में अल्प मात्रा में शास्त्रीय महाकाव्य विरचित किये गये हैं, जो प्राय: भारवि, माघ एवं भट्टि महाकाव्य के अनुकरण पर रचे गए हैं। इनकी भाषा किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध आदि की तरह है। कहीं-कहीं दुर्बोध हो गयी है। रस, अलंकार और छंद-योजना पर बल दिया गया है। रसों में श्रृंगार, वीर एवं शान्त रस की प्रमुखता है। गौण रूप से अन्य रसों की उपस्थिति भी है। चित्रालंकारों की श्रमसाध्य योजना भी यत्र-तत्र प्राप्य है। इनमें धर्म, राजनीति आदि विविध विषयों से सम्बद्ध प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है।

17.3.2 प्रद्युम्न चरित काव्य—यह महाकाव्य लाटबर्गट संघ के पारगामी विद्वान् गुणाकरसेन मुनि के शिष्य महासेनसूरि विरचित है। महासेन परमारनरेश मुंज के द्वारा पूजित थे और राजा भोज के पिता सिन्धुराज या सिन्धुल का 'महत्तम' (महामात्य) पर्पट इनके चरण कमलों का अनुरागी था—ऐसा उल्लेख कारंजा के जैन भण्डार में उपलब्ध प्रद्युम्नचरित काव्य की हस्तप्रति की प्रशस्ति में है। सिन्धुराज का समय ईसा की दसवीं शती है। इसके आधार पर कवि का काल 10वीं 11वीं शती माना जा सकता है।

प्रद्युम्नचरित काव्य 14 सर्गों में विभाजित है। ग्रन्थ की भाषा सरस एवं सरल है। इसमें उत्कृष्ट छंदों एवं अलंकारों का समावेश हुआ है। प्रद्युम्नचरित नाम का एक अन्य महाकाव्य भी प्राप्त होता है। इसके रचयिता ईसा की 15वीं शती के सकल कीर्तिभट्टारक है।

173.3.3 नेमिनिर्वाण महाकाव्य—इस महाकाव्य के रचयिता अहिच्छत्रपुर के पोरवाड कुल के छाहड के पुत्र वाग्भट्ट थे। संभवत: ये दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे क्योंकि ग्रन्थ के द्वितीय सर्ग में दिगम्बर-परम्परा में स्वीकृत 16 स्वप्नों का वर्णन मिलता है। इसमें 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवनवृत्त वर्णित है। यह 15 सर्गों में विभाजित है। ग्रन्थों की भाषा सरल एवं सरस है। विविध छंदों का प्रयोग किया गया है।

अन्य शास्त्रीय महाकाव्यों में प्रमुख हैं—आचार्य वीरनन्दि (11वीं शती) का चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य, महाकवि असग (988ई.) का वर्धमानचरित, हरिश्चन्द्र (सं.1257) का धर्मशर्माभ्युदय, जिनपालगणि (सं. 1262-1278) का सनत्कुमारचरित, अभयदेवसूरि का जयन्तविजय, अर्हतदास कृत मुनि सुव्रतकाव्य और जिनप्रभसूरि का श्रेणिकचरित आदि।

आधुनिक काल में भी अनेक महाकाव्यों की रचना की गई है। बाल ब्रह्मचारी पण्डित भूरालाल शास्त्री कृत जयोदय महाकाव्य प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल वि.सं. 1994 है। यह काव्य रमणीयता, रसप्रवाह अलंकार, विन्छिति आदि की दृष्टि से उत्कृष्ट महाकाव्य है। जैन कवियों ने जैन-कथाओं के अतिरिक्त अन्य कथाओं के आधार पर भी काव्यों की रचना की है। बायटगच्छीय सुप्रसिद्ध कवि अमरचन्दसूरि (सं. 1277-1294) ने महाभारत की मूल कथा का आश्रय लेकर बालभारत की रचना की है। यह महाकाव्य 18 पर्वों में विभाजित है। प्रत्येक पर्व में एक या एक से अधिक सर्ग हैं। सर्गों की कुल संख्या 44 हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस ग्रन्थ में कथानक का सहज प्रवाह परिलक्षित होता है। इसमें कथा-प्रवाह अनवरत है; कहीं भी हठात् जैन-धर्म के प्रतिपादन का प्रयास नहीं किया गया है। महाभारत के अनुसार ही भीष्म द्वारा राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म का उपदेश दिलाया गया है। इस काव्य की भाषा वैविध्यपूर्व, परिमार्जित, प्राञ्जल और प्रवाहयुक्त है। माधुर्यगुण की छटा विद्यमान है। कर्णकटु शब्दों का नितान्त अभाव है। इसकी भाषा-शैली में गरिमा, भव्यता और उदारता का साम्राज्य है। स्वयं कवि ने अपने बालभारत को "वाणीवेश्म" तथा "भाषारूपी पृथ्वी पर खड़ा किया गया श्रेय और शोभा का भवन" कहा है।

प्रवरसेन अथवा वाक्पतिराज की भाँति किसी जैन कवि ने प्राकृत भाषा में शास्त्रीय महाकाव्य की रचना नहीं की। परन्तु शास्त्रीय महाकाव्यों के रूप में संस्कृत और प्राकृत में शास्त्र काव्य और बहवर्थक काव्यों की रचना जैन कवियों के द्वारा की गई है। जिस काव्य में काव्य के साथ-साथ व्याकरण-शास्त्र के नियमों का प्रदर्शन किया जाता है उसे शास्त्रकाव्य कहते हैं। संस्कृत का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भट्टिकाव्य इसी कोटि की रचना है।जैन कवियों ने भी इस तरह की रचनाएं की हैं जिनमें आचार्य हेमचन्द्रकृत द्वयाश्रयकाव्य प्रसिद्ध है। ऐसी रचनाओं को द्वयाश्रय काव्य कहने का कारण यह है कि युगपत दो धरातलों पर चलते हैं—कथा के धरातल पर और शास्त्र (यथा व्याकरण) के धरातल पर।

आचार्य हेमचन्द्र (ईसा की 11वीं 12वीं शती) ने अपने सिद्धहेम व्याकरण के नियमों को समझाने के लिय उक्त द्वयाश्रय काव्य की रचना की। यह द्वयाश्रय काव्य दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में सिद्धहेम व्याकरण के प्रथम सात अध्यायों में आये हुए संस्कृत व्याकरण के नियमों को सम्पुष्ट करने के लिये उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। यह भाग संस्कृत में है। दूसरे भाग में व्याकरण के आठवें और अंतिम अध्याय में आये हुए प्राकृत व्याकरण के नियमों को समझाने के लिये उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। द्वयाश्रय काव्य के प्रथम भाग में 20 और दूसरे भाग में 8 सर्ग हैं। दूसरे भाग के आठों सर्ग प्राकृत में रचित हैं। यह भाग प्राकृत साहित्य में कुमारपालचरित के नाम से प्रसिद्ध है।

द्वयाश्रय काव्य के संस्कृत भाग (प्रथम 20 सर्ग) में अणहिलपुर में चौलुक्य वंश की उत्पत्ति से लेकर कुमारपाल के राज्यारोहण, दिग्विजय, अमारि घोषणा, मन्दिर निर्माण आदि लोकोपकारी कार्य का वर्णन है। द्वितीय प्राकृत भाग में भी कुमारपाल के प्रसंग को आगे बढ़ाया गया है। इसमें बन्दीजनों के द्वारा कुमारपाल का यशोगान, कुमारपाल की दिनचर्या, ऋतु के अनुसार विहार, राज दरबार और राजा के प्रताप का बखान किया गया है। कथा का पर्यवसान राजा के परमार्थ चिन्तन और श्रुतदेवी के उपदेश से होता है। प्राकृत के आठ सर्गों में दूसरी ओर प्रथम छह में महाराष्ट्री प्राकृत के, सातवें में शौरसेनी के और आठवें में मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं के व्याकरण-सम्बन्धी नियमों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

प्राकृत में श्रीचिह्न काव्य के नाम से एक दूसरा द्वयाश्रय काव्य भी मिलता है। इसमें भी प्राकृत व्याकरण के नियमों को समझाने के लिये उदाहरणों की रचना की गयी है। इसका समय ईसा की 13वीं शती है, लेखक "कृष्णलीलाशुक" केरल के हैं। यह हेमचन्द्र के कुमारपालचरित के अनुकरण के रूप में लिखा गया हो। परन्तु यहाँ जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं वे हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के आधार पर नहीं, अपितु वररुचि के प्राकृतप्रकाश के आधार पर है।

17.4 ऐतिहासिक महाकाव्य—संस्कृत कवियों की तरह जैन कवियों ने भी ऐतिहासिक महाकाव्यों की रचना की है। इनके प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न राजाओं के अतिरिक्त साधु, अमात्य और संभ्रान्त श्रेष्ठी भी हैं। इनके रचनाकार किसी राजा या धनाढ्य के आश्रित कवि होते थे। इसलिए इनके काव्यों में अपने नायक या राजा की पराजय या उनसे सम्बद्ध अप्रिय बातें नहीं चित्रित की गई हैं। घटनाओं का तिथिक्रम इतिहास सम्मत मिलता है। नायकों की वंश परम्परा कुलोत्पत्ति का विवरण पौराणिक आधार पर दिए गए हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन ऐतिहासिक महाकाव्यों में वसन्तविलास प्रमुख है। इसके रचयिता बालचन्द्रसूरि हैं जिनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम धरादेव और माता का नाम विद्युत था। बाद में चन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि से इन्होंने जैन-दीक्षा ली। इस काव्य का रचनाकाल संवत् 1296 से 1334 तक माना जाता है।

बसन्तविलास में चौदह सर्ग एवं 1021 पद्य हैं। इसमें प्रसिद्ध अमात्य वस्तुपाल का जीवन-चरित्र वर्णित है। यह वीर रस प्रधान है। युद्ध प्रसंग में रौद्र रस की व्यंजना भी मिलती है। संयोग-श्रृंगार का सुन्दर रूप मिलता है। भाषा सरल, कोमल, स्वाभाविक तथा प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। सूक्तियों का सुन्दर विनियोजन हुआ है। अन्य ऐतिहासिक महाकाव्यों में जयसिंहसूरि के कुमारपाल भूपाल चरित्र, नयनचन्द्रसूरि का हम्मीर महाकाव्य, जिनहर्षगणि का वस्तुपालचरित, आचार्य प्रभाचन्द्र का प्रभावकचरित आदि प्रसिद्ध हैं।

17.5 पौराणिक महाकाव्य—जैनों के उन महाकाव्यों को पौराणिक-महाकाव्य कहते हैं, जो तीर्थंकरादि 63 महापुरुषों की जीवन-कथा को लेकर विरचित किए गए हैं। ऐसे महाकाव्य सभी धार्मिक हैं। इनमें आत्मज्ञान संसार की नश्वरता, विषय-त्याग, वैराग्यभावना, श्रावकाचार आदि का प्रतिपादन किया गया है। यही कारण है कि इनमें कथारस गौर और धार्मिक भाव प्रधान है। इन महाकाव्यों को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन वर्गों में रख सकते हैं—1. रामायण पर आधारित पौराणिक-महाकाव्य, 2. महाभारत-विषयक पौराणिक महाकाव्य, 3. तिरसठ शलाका-पुरुषों के जीवन से सम्बद्ध पौराणिक महाकाव्य।

17.5.1. **रामायण—विषयक पौराणिक महाकाव्य**

राम एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन पर लगभग सभी परम्परा के कवियों ने लेखनी चलाई है। जैन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में राम-विषयक महाकाव्यों की प्रभूत रचना की है।

1. पउमचरिय—यह प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन महाकाव्य है। इसके रचयिता विमलसूरि नाइल कुलवंश के थे। वे राहु के प्रशिष्य एवं विजय के शिष्य थे। इसका रचना काल ई. सन् प्रथम शती से तृतीय शती तक माना जाता है।

इसमें जैन मान्यतानुसार राम-कथा का वर्णन है। यह ग्रंथ 118 अधिकारों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलाकर 8651 गाथाएं हैं, जो 12 हजार श्लोक प्रमाण हैं।

इसमें राम का नाम पद्म रखा गया है। इसकी कथावस्तु सात अधिकारों में विभक्त है—स्थिति, वंशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लवकुशोत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। बाल्मीकि रामायण से कथा की भिन्नता है, जैसे राम का स्वेच्छापूर्वक वनवास स्वर्णमृग की अनुपस्थिति, सीता का भाई भामण्डल, राम और हनुमान के अनेक विवाह आदि। इस महाकाव्य की भाषा सरल एवं सुललित है। जैन-दर्शन विषयक प्रभूत सामग्री यहाँ पर उपलब्ध होती है।

पद्म पुराण—संस्कृत भाषा में विरचित है। यह आचार्य रविषेण की रचना है। इसका रचना काल सन् 676 ई. माना जाता है। इस ग्रंथ में 123 पर्व तथा 18,023 अनुष्टुप प्रमाण श्लोक हैं। पउमचरिय के समान ही कथा-संघटना नियोजित है। इसकी भाषा सुन्दर है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त विजयदानसूरि (वि.सं.1652) द्वारा संस्कृत गद्य में विरचित जैन रामायण, जिनदास (16वीं शती) का पद्मपुराण (संस्कृत) शुभवर्धनगणि का पद्म महाकाव्य एवं पद्मनाभ का रामचरित्र प्रसिद्ध है। अपभ्रंश भाषा में भी अनेक रामाश्रित महाकाव्योंकी रचना की गई है, जिनमें स्वयंभू का पउमचरिउ अति प्रसिद्ध है। चरित काव्य शाीर्षक के अन्तर्गत प्राकृत अपभ्रंश चरित काव्यों का किंचित् विस्तार से पर्यालोचन किया जायगा।

17.5.2 महाभारताश्रित-पौराणिक महाकाव्य—महाभारत की कथा का आधार लेकर जैन कवियों ने अनेक महाकाव्यों की रचना की है। इनमें पुन्नाटसंघीय जिनसेन का हरिवंश पुराण (सन् 783) मलधारी गच्छ के देवप्रभुसूरि रचित पाण्डव चरित (वि. सं. 1210) आदि प्रसिद्ध हैं। हरिवंश पुराण नामक कृति अन्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लेखकों की भी हैं। जिनमें भट्टारक सकलकीर्ति (15वीं शती) भट्टारक श्री भूषण (सं. 1675) आदि प्रसिद्ध हैं।पाण्डव पुराण नामक कृति भी अनेक लेखकों की मिलती है। इनमें भट्टारक शुभचन्द्र (वि. सं. 1608) भट्टारक वादिचन्द्र (सं. 1654) एवं कवि रामचन्द्र (सं. 1560) आदि प्रसिद्ध हैं।

तिरसठ शलाका महापुरुष-विषयक पौराणिक महाकाव्य—जैनाचार्यों ने तिरसठ शलाका पुरुषों के चरित्र के आधार पर अनेक ग्रंथों की रचना की है। इनमें आचार्य जिनसेन एवं उनके शिष्य गुणभद्र का महापुराण प्रसिद्ध है। यह संस्कृत भाषा में निबद्ध विशाल रचना है, जो 76 पर्वों में विभाजित है। इसका प्रमाण 19207 अनुष्टुप श्लोक है। प्रथम बयालीस पर्व जिनसेन तथा शेष ग्रंथ उनके शिष्य गुणभद्र की रचना है। प्रारम्भिक भाग को आदिपुराण कहते हैं, जिसमें भगवान् ऋषभदेव का वर्णन है। अवशिष्ट भाग को उत्तरपुराण कहते हैं, जिसमें अजितनाथ से लेकर 23 तीर्थंकरों सगर से लेकर 11 चक्रवर्तियों, 9 बलदेवों, 9 नारायणों एवं 9 प्रतिनारायणों का वर्णन है। जिनसेन के महापुराण के अतिरिक्त मुनि मल्लिसेन (वि. सं. 1104) का महापुराण भी प्रसिद्ध है। पं. आशाधर का त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र एवं भट्टारक सकलकीर्ति का आदिपुराण और उत्तरपुराण आदि रचनाएं हैं। प्राकृत भाषा में निबद्ध मानदेवसूरि के शिष्य शीलाचार्य (वि. सं. 925) विरचित चउप्पन्नमहापुरिस चरिय आदि प्रसिद्ध हैं।

तिरसठ शलाका पुरुषों के जीवन से सम्बद्ध (एक-एक के जीवन को लेकर विरचित) स्वतंत्र पौराणिक महाकाव्यों की काफी संख्या है। प्राकृत भाषा में निबद्ध महाकाव्यों में अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानाचार्य का आदिनाथचरिय, सोमप्रभचार्य का सुमईनाहचरिय, देवसूरि का पउमपभचरिय, जिनदेव के शिष्य हरिभद्र का सेयंसचरिय (सं. 1172), नेमिचन्द्रसूरि का अनन्तनाहचरिय एवं देवेन्द्रसूरि (पूर्वनाम गुणचन्द्रसूरि) का महावीर चरिय (वि.सं. 1132) प्रसिद्ध हैं। संस्कृत भाषा में इसी श्रेणी के अधिक काव्य मिलते हैं।

17.6 गीतिकाव्य (खण्ड काव्य)

जिसमें रसपूर्ण भावों की अभिव्यक्ति होती है उसे गीतिकाव्य कहते हैं। इसमें जीवन के एक पक्ष या किसी मर्मस्पर्शी घटना का चित्रण होता है, इसलिए इसे खण्डकाव्य भी कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में खण्डकाव्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया है-

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च

खण्डकाव्य एक देश या एक पक्ष का अनुसरण करता है। इसमें गेयता और भावाभिव्यंजकता की प्रधानता होती है। आधुनिक समीक्षकों ने गीतिकाव्य के निम्नलिखित प्रमुख तत्त्वों का निर्देश किया है—
1. अन्तर्वृत्ति की प्रधानता 2. संगीतात्मकता 3. निरपेक्षता 4. रसात्मकता 5. रागात्मक अनुभूतियों की सघनता 6. भावसान्द्रता 7. चित्रात्मकता 8. समाहितप्रभाव 9. मार्मिकता 10. संक्षिप्तता 11. स्वाभाविक अभिव्यक्ति 12. सहज अन्त:प्रेरणा।

गीतिकाव्य के दो भेद हैं 1. प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य 2. मुक्तक गीतिकाव्य।

प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य मेघदूत या उसके अनुसरण पर लिखे गए संदेश काव्य हैं। जिनमें प्रबन्धात्मकता नहीं है वे मुक्तक शैली के अन्तर्गत परिगणित हैं। मुक्तक के भी दो भेद हैं 1. रस मुक्तक 2. रसेतर मुक्तक। रसमुक्तक में पार्श्वाभ्युदय आदि तथा रसेतर मुक्तक में स्तोत्र और शतक आदि साहित्य आते हैं।

17.6.1. रसमुक्तकगीतिकाव्य (दूत या सन्देश काव्य)—जैनों के सभी दूतकाव्य संस्कृत में ही लिखे गए हैं प्राकृत में एक भी उपलब्ध नहीं है। इनमें विप्रलंभ श्रृंगार के स्थान पर शांत रस की प्रधानता है। इनमें सोगण पुत्र कवि विक्रम (13वीं शती) का नेमिदूत, मेरुतुंगाचार्य (वि.सं. 1403-1473) का जैनमेघदूत, चारित्रसुन्दरगणि (वि.सं. 1484) का शीलदूत, भट्टारक वादिचन्द्र (17वीं शती) का पवनदूत आदि प्रमुख है। यह सारे दूतकाव्य मन्दाक्रान्ता छंद में लिखे गए हैं तथा मेघदूत से प्रभावित हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.6.2. रसेतर मुक्तक साहित्य—इसमें प्रमुखतया स्तोत्र साहित्य एवं शतक साहित्य को रखा जा रहा है।

स्तोत्र साहित्य—जैन परम्परा में विपुल रूप से स्तोत्र साहित्य की रचना हुई है। आचारांग का उपधानश्रुत और सूत्रकृतांग की महावीर-स्तुति आदि जैन-स्तोत्र के प्राचीन रूप हैं। उपधानश्रुत में भगवान महावीर के वीरचरित्र का समुद्घाटन हुआ है। महावीर-स्तुति में विभिन्न साभिप्राय विशेषणों एवं नामों के प्रयोग से भगवान् महावीर के विभिन्न गुणों का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य कृत तित्थयरसुद्धि तथा सिद्धभक्ति आदि स्तोत्र साहित्य प्राचीन माने जाते हैं। भद्रबाहु कृत उवसग्गहर स्तोत्र पांच प्राकृत गाथाओं में निबद्ध अत्यल्प प्रमाण वाला होते हुए भी अति प्रसिद्ध हैं। इस पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। प्राकृत-भाषा में निबद्ध अन्य स्तोत्रों में नन्दिसेन का अजियसंतिथय, धनपालकृत ऋषभपंचाशिका और वीरत्थुई, देवेन्द्रसूरि का स्तोत्र-साहित्य, धर्मघोषसूरि का इसिमण्डलथोत्त एवं अभयदेवसूरि विरचित जयतिहुअणथोत्त आदि प्रमुख हैं।

संस्कृत भाषा में जैन-कवियों ने अनेक उत्कृष्ट स्तोत्रों की रचना की है, जो शैली, पद्धति, छन्द, अलंकार आदि की दृष्टि में विविधता लिए हुए हैं। श्लेषमयी शैली, तार्किक शैली, आलंकारिक शैली और पादपूर्त्यात्मक तथा समस्यापूर्त्यात्मक शैली में स्तोत्र की रचना की गई। दार्शनिक-तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए तार्किक शैली में रचित स्तोत्रों में युक्त्यनुशासन और जिनशतकालंकार, आचार्य सिद्धसेन एवं हेमचन्द्रकृत द्वात्रिंशिकाएँ प्रमुख हैं।

प्रज्ञाचक्षु महाकवि श्रीपाल का 29 पद्यों का सर्वजिनपतिस्तुति, रामचन्द्रसूरि की द्वात्रिंशिकाएँ, जयतिलकसूरि कृत चतुर्हारावलीचित्रस्तव आदि श्लेषात्मक एवं आलंकारिक शैली में निबद्ध प्रमुख स्तोत्र हैं। पादमूर्त्यात्मक एवं समस्यापूर्त्यात्मक स्तोत्रों की रचना भी प्रचुर मात्रा में हुई है। भक्तामर स्तोत्र की समस्यापूर्ति में अनेक कवियों ने अपनी वाणी को विलसित किया है। समयसुन्दरकृत ऋषभभक्तामर, लक्ष्मीविमलकृत शान्ति भक्तामर, धर्मवर्धनकृत वीर भक्तामर आदि प्रसिद्ध हैं। शुद्ध भक्ति परक स्तोत्रों में पूज्यपाद (छठी शती) कृत सिद्धभक्ति आदि बारहभक्तियों, सिद्धप्रिय स्तोत्र, सिद्धसेन का कल्याणमन्दिर, मानतुंग का भक्तामर स्तोत्र बप्पभट्टि के सरस्वती स्तोत्र, शान्ति स्तोत्र, चतुर्विंशतिजिन स्तुति, वीरस्तव, धनंजयकृत (8वीं शती) विषहर स्तोत्र, जिनसेन (9वीं शती) का जिनसहस्त्रनाम तथा विद्यानन्द का श्रीपुरपार्श्वनाथ आदि प्रसिद्ध हैं।

17.7 चम्पू काव्य—गद्य पद्य मिश्रित शैली में रचित काव्य को चम्पूकाव्य कहते हैं। जैन कवियों ने इस विधा की काफी समृद्धि की है। आचार्य सोमदेवसूरि (सन् 959 ई.) का यशस्तिलक चम्पू प्रसिद्ध है। यह आठ आश्वासों में विभक्त है। राजा मारिदत्त का वर्णन है। जो हिंसा में रत था। वीरवैभव तान्त्रिक के प्रभाव से चण्डमारि देवी को युगल नरबलि देने के लिए नरयुगल के रूप में नवदीक्षित जैन यति अभयरूचि और क्षुल्लिका अभयमति (जो राजा की बहन के पुत्र-पुत्री थे) लाए जाते हैं। उन्हीं के प्रभाव से वह राजा हिंसा कार्य को छोड़कर जैनधर्म स्वीकार कर लेता है। बाद के आश्वासों (6-8) में श्रावकाचार का सुन्दर वर्णन किया गया है।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य के कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्रकृत जीवनन्धरचम्पू प्रसिद्ध है। इसकी कथा 11 लम्भों में विभाजित है जिसमें जीवन्धर के चरित्र का वर्णन है। भाषा उत्कृष्ट है। अलंकारों का सुन्दर विनियोग हुआ है। 14वीं शती में प्रादुर्भूत कवि अर्हद्दासकृत पुरुदेवचम्पू में पुरुदेव अर्थात् भगवान् आदिनाथ के चरित्र का वर्णन है। यह स्तबकों में विरचित चम्पूमण्डन नामक चम्पूकाव्य भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें द्रौपदी और पाण्डवों की कथा वर्णित है। अन्य चम्पूओं में जयशेखरसूरि का नलदमयन्ती चम्पू प्रसिद्ध है।

17.8 गद्य काव्य—संस्कृत के आचार्यों ने छंदहीन रचना को गद्य कहा है। विश्वनाथ के अनुसार छंद-बन्धहीन शब्दार्थ योजना को गद्य कहते हैं—वृत्तबन्धोज्झितं गद्यम् (साहित्य दर्पण 6.330) दंडी के अनुसार सुबंत, तिडन्त पद समुदाय में गणत्रादि का, नियत-पाद का न होना गद्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपादः पदसंतानो गद्यम् (काव्यादर्श 1/23)

गद्य रचना कठिन है इसलिए इसकी अत्यल्पता पायी जाती है। संस्कृत में गद्यकाव्य लेखन कवियों की कसौटी मानी गयी है—(गद्य कवीनां निकषं वदन्ति—वामन)।

ईसवी की छठी शती से संस्कृत गद्य का परिष्कृत रूप सुबन्धु की वासवदत्ता, बाणभट्ट की कादम्बरी एवं हर्षचरित एवं दण्डी के दशकुमारचरित में मिलता है।

जैनाचार्यों द्वारा विरचित गद्यकाव्यों में घनपाल की तिलकमंजरी और वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि प्रमुख है।

17.8.1 तिलकमंजरी—यह गद्य आख्यायिका है। इसका नामकरण नायिका के नाम के आधार पर किया गया है। इसमें हरिवाहन और तिलकमंजरी तथा समरकेतु तथा मलयसुन्दरी की कथा वर्णित है। यह कृति बाण की कादम्बरी से प्रभावित है। इसके रचनाकार महाकवि धनपाल हैं, जिनके पिता का नाम सर्वदेव और पितामह का नाम देवर्षि था। मूलतः ये मध्यप्रदेश के ब्राह्मण थे। बाद में उज्जैनी में बस गये थे। घनपाल का समय 11वीं शती है। इनकी अन्य रचनाएँ पाइयलच्छीनाममाला, ऋषभपंचाशिका और वीरथुइ हैं।

17.8.2 गद्यचिन्तामणि—यह गद्यकाव्य 11 लम्भों में विभक्त है। इसमें जीवन्धर के लौकिक कथानक का वर्णन संस्कृत की दुरूह और अलंकृत गद्यशैली में किया गया है। इसके रचनाकार क्षत्रचूड़ामणि के रचयिता आचार्य वादीभसिंह हैं। कवि का समय 11वीं शती का माना जाता है।

17.8.3 दृश्यकाव्य—जो केवल श्रवणेन्द्रिय का विषय होता है उसके श्रव्य काव्य तथा जो श्रवण और नेत्र दोनों के द्वारा आस्वाद्य होता है उसे दृश्य काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य के विभिन्न भेदों—महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पूकाव्य, स्तोत्रकाव्य आदि का निरूपण किया जा चुका है। अब दृश्य काव्य का निरूपण प्रसंग प्राप्त है। दृश्यकाव्य को सामान्यतः नाटक कहते हैं, इसका प्रारम्भिक रूप ऋग्वेद में पाया जाता है। ऋग्वेद के कतिपय संवाद—सरमान्पणि, यमयमी, विश्वामित्र—नंदी आदि नाटक के प्राचीनतम रूप हैं। रामायण और महाभारत काल में इसका अधिक विस्तार हुआ। रामायण में रंगमंच नट एवं नाटक का निर्देश है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में नटसूत्र एवं नाट्य का भी उल्लेख है। पातंजलमहाभाष्य में कंसवध और बलिबंध दो नाटकों के नामों का स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन जैन वाङ्मय में अनेक स्थलों पर नाटक का उल्लेख पाया जाता है। रायपसेणियसुत्त में नाटक एवं नाटकीय शब्दावली का वर्णन मिलता है। उपलब्ध जैन नाटकों में जो प्रमुख हैं यहाँ उनका विषयानुसार नामोल्लेख किया जा रहा है—

1. पौराणिक नाटक—रामचन्द्रकविकृत (सं.1228-1230) नलविलास, रघुविलास आदि, हस्तिमल्ल कृत मैथिली कल्याण, विक्रान्त कौरव आदि।
2. ऐतिहासिक नाटक—देवचन्द्र कृत चन्द्रलेख विजयप्रकरण, जयसिंहसूरिकृत हम्मीरमदमर्दन एवं नयचन्द्रसूरि कृत रम्भामंजरी आदि।
3. प्रतीकात्मक—मोहराज पराजय, ज्ञानसूर्योदय आदि।
4. काल्पनिक—रामचन्द्रकृत मल्लिकामकरन्द, कौमुदी मित्रानन्द आदि।

17.9 सारांश

इस प्रकार जैन कवियों ने काव्य-साहित्य की विभिन्न शाखाओं की प्रभूत समृद्धि की है। उन्होंने अपनी सरस्वती को विलसित किया। यही कारण है कि प्रकाशित-अप्रकाशित हजारों ग्रन्थ मिलते हैं जो जैन कवियों द्वारा विरचित हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन महाकाव्यों का परिचय देते हुए महाकाव्यों की मुख्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शास्त्र-काव्य का परिचय दीजिए।
2. गीतिकाव्य का परिचय दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. काव्य के कितने भेद हैं—
2. प्रबन्ध काव्य के कितने प्रकार हैं—
3. प्रद्युम्नचरित के रचनाकार हैं—
4. द्वयाश्रय काव्य के रचयिता है—
5. पउमचरियं किस कथा पर आश्रित है—
6. पद्मपुराण किसकी रचना है—
7. जिनसेन विरचित ग्रन्थ कौन सा है—
8. ऋषभ पंचाशिक किसकी रचना है—
9. गद्य-पद्य मिश्रित शैली में विरचित काव्य कौन सा है—
10. गद्य-चिन्तामणि में वर्णित है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–18 : योग साहित्य

संरचना

18.0 प्रस्तावना
18.1 उद्देश्य
18.2 आगमों में योग
18.3 भगवती में योग
18.4 कुन्दकुन्द की रचनाओं में योग (वि. की प्रथम शती)
18.5 उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्र में योग (वि. की तीसरी शती)
18.6 आवश्यक निर्युक्तिकार भद्रबाहु (वि. की चौथी–पांचवीं शती)
18.7 पूज्यपाद के ग्रंथों में योग (वि. की चौथी–पांचवी शती)
18.8 जिनभद्रगणी विरचित ध्यानशतक (वि. की छठी शती)
18.9 हरिभद्र के ग्रन्थों में योग (वि.वी. की आठवीं शती)
    18.9.1 अध्यात्म–योग
    18.9.2 भावना योग
    18.9.3 ध्यान–योग
    18.9.4 समत्व योग
    18.9.5 वृत्तिक्षय योग
18.10 योगदृष्टि समुच्चय
    18.10.1 मित्रा दृष्टि
    18.10.2 तारा दृष्टि
    18.10.3 बला दृष्टि
    18.10.4 दीप्रा दृष्टि
    18.10.5 स्थिरा दृष्टि
    18.10.6 कान्दा दृष्टि
    18.10.7 प्रभा दृष्टि
    18.10.8 परा–दृष्टि
18.11 योग शतक
18.12 योगविंशिका
18.13 शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव (ग्यारहवीं शती)
18.14 सोमदेतसूरि विरचित अध्यात्म तरंगिणी (गयारहवीं शती)
18.15 हेमचन्द्र का योगशास्त्र (बारहवीं शती)
18.16 पंडित आशाधरजी विरचित अध्यात्मरहस्य (तेरहवीं शती)
18.17 आचार्य सुन्दरसूरी रचित अध्यात्मकल्पदुम (पन्द्रहवीं शती)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

18.18 उपाध्यायविनयविजयविचचित शान्त सुधारस (आरहवीं शती)
18.19 उपाध्याय यशोविजय (अठारहवीं शती)
18.20 जयाचार्यकृत ध्यानप्रकरण (उन्नीसवीं शती)
18.21 गणाधिपति गुरूदेव श्री तुलसी विरचित मनोनुशासनम् (बीसवीं शती)
18.22 आचार्य श्री महाप्रज्ञ विरचित जैनयोग ग्रन्थ
18.22.1 जैन योग
18.23 सारांश
18.24 अभ्यास प्रश्नावली

18.0 प्रस्तावना

जैन विद्वानों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि क्या जैन परम्परा में योग मान्य है? क्या योगदर्शन जैसा कोई ग्रंथ है? इन दोनों प्रश्नों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श अपेक्षित है।

भारत में तीन मुख्य धर्म-परम्पराएं थीं— वैदिक, जैन और बौद्ध। अवांतर रूप में अन्य भी अनेक परम्पराएं थीं। उनकी अपनी-अपनी साधना-पद्धति थी। अष्टांगयोग सांख्यदर्शन की साधना-पद्धति है। सभी धर्मों ने अपनी साधना-पद्धति को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया था। जैन-धर्म की साधना-पद्धति का नाम मुक्ति-मार्ग था। उसके तीन अंग हैं—1. सम्यक्-दर्शन, 2. सम्यक्-ज्ञान, 3. सम्यक्-चारित्र।

महर्षि पतंजलि के योग की तुलना में इस रत्नत्रयी को जैन योग कहा जा सकता है। यह बहुत स्पष्ट है कि जैन धर्म की साधना-पद्धति में अष्टांगयोग के सभी अंगों की व्यवस्था नहीं है। प्राणायाम, धारणा और समाधि का स्पष्ट स्वीकार नहीं है। यम, नियम, आसन, प्रत्याहार और ध्यान—इनका भी योग-दर्शन की भांति क्रमिक प्रतिपादन नहीं है। जैन धर्म की साधना-पद्धति स्वतंत्र है, इसलिए उसकी व्यवस्था भी भिन्न है। उत्तराध्ययन के 28 वें अध्ययन में मुक्ति-मार्ग का संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित प्रतिपादन है। उसके 29, 30 व 32 वें अध्ययन में भी साधना का पथ-निर्देश है। उत्तराध्ययन उत्तरवर्ती आगम है। प्राचीन आगमों में आचारांग (प्रथम) का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें जैन धर्म की साधना-पद्धति का बहुत सूक्ष्म व मार्मिक प्रतिपादन है। **सूत्रकृतांग, भगवती** व **स्थानांग** में भी प्रकीर्णरूप से भावना, आसन, ध्यान आदि का निर्देश मिलता है। औपपातिक में तपोयोग का व्यवस्थित प्रतिपादन है। तपोयोग सम्यक्-चारित्र का ही एक प्रकार है।

आगम-साहित्य में साधना-तत्त्वों के बीज मिलते हैं। उनका विस्तार और प्रक्रियाएं प्राप्त नहीं हैं। उनका विलोप कैसे हुआ? यह अभी प्रश्नचिह्न ही बना हुआ है। भद्रबाहु स्वामी ने द्वादशवर्षीय **'महाप्राणध्यान'** की साधना की थी। अन्य आचार्यों के विषय में भी **'सर्वसंवरयोगध्यान'** की साधना का उल्लेख मिलता है। आगमिक साधना का स्वरूप हमें उपलब्ध है किन्तु उसका विधि-तंत्र उपलब्ध नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की प्रथम शताब्दी) ने समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथों की रचना कर जैन-परम्परा में साधना का नया क्षेत्र खोला। किन्तु मुक्तिमार्ग का सम्यक्दृष्टि से एक ग्रंथ में प्रतिपादन करने का श्रेय उमास्वाति (वि. 2-3) को ही है। उनका मोक्षमार्ग **(तत्त्वार्थ सूत्र)** आगम साहित्य और उत्तरवर्ती साहित्य के मध्य की कड़ी है। उसमें मुक्तिमार्ग के अंगों का सविस्तार प्रतिपादन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधना की प्रक्रियाओं का विस्तार हमें निर्युक्ति साहित्य में मिलता है। उसका सांगोपांग वर्णन **आवश्यकनिर्युक्ति** के कायोत्सर्ग-अध्ययन में मिलता है। इसके रचनाकार हैं द्वितीय भद्रबाहु स्वामी और इसका रचनाकाल विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी है।

मानसिक एकाग्रता की दूसरी भूमिका ध्यान है। उसका विशद विवेचन जिनभद्रगणी (छठी शताब्दी) के 'ध्यान शतक' में मिलता है। ये दोनों रचनाएं योगदर्शन तथा हठयोग के अन्य ग्रंथों से प्रभावित नहीं हैं। इनमें जैन-परम्परा का स्वतंत्र चिंतन परिलक्षित होता है।

पूज्यपाद देवनंदि (चौथी-पांचवीं शताब्दी) का 'समाधितंत्र' आध्यात्मिक अनुभूतियों का अजस्र स्रोत है। 'इष्टोपदेश' में भी पूज्यपाद ने अध्यात्मगहरी डुबकियां लगायी हैं। उसे पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति अध्यात्म से तदात्म हुए बिना नहीं रह सकता। पूज्यपाद योगानुभूति की परम्परा के आदिस्रोत हैं। **बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, मूलाराधना (भगवती आराधना)** आदि ग्रंथों में प्रसंगवश कायोत्सर्ग, ध्यान, आसन आदि की चर्चा मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र की वृत्तियों—श्लोकवार्तिक, भाष्यानुसारिणी आदि में भी विशद चर्चा हुई है।

विक्रम की आठवीं शताब्दी से जैन योग में एक नये अध्याय का सूत्रपात होता है। उसके पुरस्कर्त्ता हैं हरिभद्रसूरि। उन्होंने योग की पद्धतियों और परिभाषाओं का जैन-पद्धतियों से समन्वय स्थापित कर जैन योग को नयी दिशा प्रदान की। उनके मुख्य ग्रंथ हैं— योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक और योगविंशिका।

हरिभद्रसूरि का योग-विषय वर्गीकरण पूर्ववर्ती जैन साहित्य में प्राप्त नहीं है। अन्य योग-ग्रंथों से भी उन्होंने उधार नहीं लिया है। जैन और योग-परम्परा के संयुक्त प्रभाव से उन्होंने अपने वर्गीकरण की योजना की। उनके अनुसार योग के पांच प्रकार हैं—1. अध्यात्म, 2. भावना, 3. ध्यान, 4. समता, 5. वृत्तिसंक्षय।

नवीं शती में आचार्य जिनसेन ने 'महापुराण' में यत्र-तत्र योग-साधना का निरूपण किया है। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य रामसेन ने **'तत्त्वानुशासन'** की और आचार्य शुभचन्द्र ने **'ज्ञानार्णव'** की रचना की। इन दोनों ग्रंथों में योग के और नये उन्मेष मिलते हैं। इस शताब्दी में जैन-योग अष्टांगयोग, हठयोग और तंत्रशास्त्र से अधिक प्रभावित मिलता है। आगमिक युग में धर्म्यध्यान था, वह इस काल में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इन चार रूपों में वर्गीकृत हो गया। इस वर्गीकरण पर तंत्रशास्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। नवचक्रेश्वरतंत्र में पिंड, पद, रूप और रूपातीत को जानने वाले को गुरु कहा गया है—

"पिंड पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति सगुरुः परिकीर्तितः।।"

गुरु-गीता में पिंड का अर्थ कुडंलिनी शक्ति, पद का अर्थ हंस, रूप का अर्थ बिंदु और रूपातीत का अर्थ निरंजन किया गया है— **"पिंडं कुंडलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।**
रूपं बिंदुरीति ज्ञेयं रूपातीतं निरंजनम् ॥"

जैन आचार्यों ने पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत— इस वर्गीकरण को स्वीकार किया किन्तु उनके अर्थ अपनी परिभाषा के अनुसार किये। चैत्यवंदन भाष्य में पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत— ये तीन ही प्रकार मान्य किये गये— **"भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडस्थ पयत्थ रूवरहियत्तं।**
छउमत्थ केवलित्तं, सिद्धत्थं चेव तस्सत्थो ॥"

इनका अर्थ भी शेष ग्रंथों से भिन्न है। भाष्यकार के अनुसार छद्मस्थ (आवृतज्ञानी), केवली (अनावृतज्ञानी) और सिद्ध—ये तीन ध्येय हैं। एतद् विषयक ध्यान को क्रमशः पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत कहा जाता है। उस समय ध्यान के इन प्रकारों से जन-मानस बहुत परिचित हो गया था, इसलिए जैन आचार्यों के लिए भी इनका स्वीकार आवश्यक हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी (ग्यारहवीं) शताब्दी में सोमदेवसूरि ने भी योग के विषय में कुछ लिखा था। उनका योगसार ग्रंथ बहुत ही मार्मिक है। यशस्तिलकचम्पू के 39 और 40 वें कल्प में उन्होंने योग विषयक चर्चा प्रशस्त पद्धति से की है। इस शताब्दी के ग्रंथों में पार्थिवी, वारुणी, तैजसी, वायवी और तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू)— इन पांच धारणाओं की भी मान्यता मिलती है। तत्त्वानुशासन में केवल तीन धारणाओं का उल्लेख मिलता है।

बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' की रचना की। उसमें योग और रत्नत्रयी की एकात्मकता प्रतिपादित हुई है। उसमें आचार्य हेमचन्द्र ने योग की पारस्परिक पद्धति का भी निरूपण किया है। स्वानुभव के आधार पर उन्होंने मन के चार रूप प्रस्तुत किए हैं—1. विक्षिप्त 2. यातायात 3. श्लिष्ट 4. सुलीन।

तेरहवीं शताब्दी में पंडित आशाधरजी की कृति 'अध्यात्म-रहस्य' प्राप्त होती है। ग्रंथकार ने आध्यात्मिक रहस्यों का व्यवस्थित पद्धति से प्रतिपादन किया है।

पन्द्रहवीं शताब्दी की एक कृति सुन्दरसूरी की है। उसका नाम 'अध्यात्म कल्पद्रुम' है। इसकी शैली प्रक्रियात्मक कम, उपदेशात्मक अधिक है।

अठारहवीं शताब्दी में विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' की रचना की। भावनायोग की यह सुन्दर कृति है। इसी शताब्दी में उपाध्याय यशोविजयजी ने योग की सरिता प्रबल धारा से प्रवाहित की थी। उनके योग विषयक अनेक ग्रंथ मिलते हैं—अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मसार, योगावतार, द्वात्रिंशिका। आचार्य हरिभद्र की योगविंशिका पर उन्होंने टीका लिखी। पातंजल योगसूत्र पर उनकी एक वृत्ति है। उसमें जैन-योग का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

वि. सं. 2018 में आचार्यश्री तुलसी ने 'मनोनुशासनम्' लिखा। इसमें जैन योग का एक नयी शैली से प्रतिपादन हुआ है। नमस्कार स्वाध्याय में दो लघुकाय ग्रंथ प्रकाशित हैं। वे जैन-योग के क्षेत्र में नया आयाम प्रस्तुत करते हैं। 'पासनाहचरिय' में एक 21 गाथाओं की ध्यान संबंधी सुन्दर कृति है। ज्ञानसार, विद्यानुशासन, वैराग्यमणि शास्त्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रंथ हैं।

जैन आगमों के गंभीर अध्ययन से हर कोई अनुभव करेगा कि उनमें ध्यान की प्रचुर सामग्री है। ध्यान-परम्परा की विस्मृति और अभ्यास के अभाव में उसका मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है। ध्यान-साधना के लिए 'आयारो' (आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध) पर्याप्त है। उसमें प्रेक्षा या विपश्यना के तत्त्व बहुत स्पष्टता से प्रतिपादित हुए हैं। परिशिष्ट सख्यांक-2 में 'आयारो' के कुछ सूत्र संकलित हैं। उन्हें पढ़कर इस वास्तविकता को समझा जा सकता है। इस पुस्तक में जैन-योग (मुक्ति-मार्ग या संवर-सूत्र) का प्राचीन रूप नये प्रश्नों के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। क्या जैनयोग में चक्रों का स्थान है? क्या कुंडलिनी के संबंध में कोई चर्चा है? ये प्रश्न बहुत बार पूछे जाते रहे हैं और साथ-साथ अनुत्तरित भी रहे हैं। उन अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर खोजने का भी विनम्र प्रयत्न किया गया है।

18.1 उद्देश्य

हमारा यह देश योग एवं अध्यात्म की जन्मभूमि माना जाता है। इस अवसर्पिणी काल में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए हैं। उन्हें वैष्णव एवं शैवमार्गी अपने-अपने ढंग से महापुरुष या अवतारी पुरुष मानते हैं। कई उन्हें अवधूत कहते हैं। वे एक दृष्टि देखें तो आद्य योगी ही नहीं, योगीराज हैं। ऐसा माना जाता है कि उन्हीं से योग-मार्ग का प्रवर्तन हुआ है। अतएव योगविषयक साहित्य की विपुल मात्रा में रचना हुई है, परन्तु वह सर्वांशतः आज उपलब्ध नहीं है, उसमें से अधिकांश तो नाम शेष रह गया है।

18.2 आगमों में योग

आगमों का प्रतिपाद्य विषय मूलतः मोक्ष है जो जीव से भिन्न आत्मा के निजस्वरूप की प्राप्ति रूप है। इसका प्रमुख साधन तप है। तप के अन्तर्गत कायक्लेशरूप आसन, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, ध्यान का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समावेश किया जाता है। तपश्चर्या के अतिरिक्त पंचमहाव्रत और उनकी भावनाएं, गुप्ति, समिति आदि का विधान किया गया है। योग साधना की दृष्टि से ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है क्योंकि इसके बिना मोक्ष असम्भव है। आगमों में ध्यान का विस्तृत वर्णन मिलता है।

18.3 आचारांग में योग

आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर की योग एवं ध्यानसाधना के महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध होते हैं।

द्रष्टा का दर्शन

एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स। यह अहिंसक और निरावरण द्रष्टा का दर्शन है। (आयारो 3/85)

अनासक्ति का विकास

अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा। (आ. 2/118) अध्यात्म तत्त्वदर्शी वस्तुओं का परिभोग अन्यथा करे, आसक्ति से न करे।

अप्रमाद की साधना

धीरे मुहुतमवि णो पमायए। (आ. 2/11)

धीर पुरुष मुहूर्तमात्र भी प्रमाद न करे।

उट्ठिए णो पमायए। (आ. 5/23)

पुरुष उत्थित होकर प्रमाद न करे।

सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भयं। (आ. 3/75)

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है। अप्रमत्त को कहीं से भय नहीं होता।

एगमप्पाणं संपेहाए। (आ. 3/4)

एक आत्मा की ही संप्रेक्षा करे।

राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति। (आ. 9/2/4)

भगवान् महावीर रात और दिन स्थिर और एकाग्र तथा अप्रमत्त रहकर समाहित अवस्था में ध्यान करते थे।

अन्तर्यात्रा

पणया वीरा महावीहिं। (आयारो 1/37)

वीर पुरुष महापथ के प्रति प्रणत होते हैं। महापथ का अर्थ कुण्डलिनी-प्राणधारा भी है।

श्वास-प्रेक्षा

सहिए धम्ममादाय, सेयं समणुपस्सति। (आ. 3/67)

श्वास को नियंत्रित और शांत करने वाला साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात्कार कर लेता है।

परिणाम

सहिए दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए। (आ. 3/69)

श्वास को नियंत्रित और शांत करने वाला दुःख मात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल नहीं होता।

शरीर-प्रेक्षा

भगवान् महावीर शरीर-प्रेक्षा का प्रयोग करते थे, ऐसा उल्लेख भी आयारो में प्राप्त होता है।

प्रयोजन

जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे त्ति मन्नेसी। (आ. 5/21)

'इस शरीर का यह वर्तमान क्षण है' इस प्रकार अन्वेषण करने वाला अप्रमत्त होता है।

प्रक्रिया

पासह एयं रूवं। (आ. 5/29)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तुम इस शरीर को देखो।

प्रकम्पन दर्शन

लोयं च पास विप्फंदमाणं। (आयारो 4/37)

तू देख! यह लोक (शरीर) क्रोध से चारों ओर प्रकम्पित हो रहा है।

शरीर के भीतर से भीतर देखना

अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि, पासति पुढोवि संवंताइं। (आ. 2/130)

पुरुष इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर पहुंचकर शरीर-धातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।

शरीर के स्रोतों को देखना

उड्ढं सोता अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया, एते सोया वियक्खाया, जेहिं संगंति पासहा। (आ5/118)

ऊपर स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं, मध्य में स्रोत हैं। ये स्रोत कहे गए हैं। इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है, यह तुम देखो।

परिणाम

एवं से अप्पमाएणं, विवेगं किट्टति वेयवी। (आ. 5/74)

प्रमाद से किए हुए कर्म-बन्ध का विलय अप्रमाद से होता है।

लोक का ज्ञान

आयतचक्खू लोग-विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ,

उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ। (आ. 2/125)

संयतचक्षु पुरुष लोकदर्शी (शरीरदर्शी) होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।

चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा

संधि विदिता इह मच्चिएहिं। (आ. 2/127)

पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के भीतर की संधि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो।

संधि की प्रेक्षा

एत्थोवरए तं झोसमाणे अयं संधी ति अदक्खु। (आ. 5/20)

जो आरंभ से उपरत है, उसने अनारम्भ की साधना करते हुए 'यह संधि है'—ऐसा देखा है। संधि का अर्थ है—अप्रमाद के अध्यवसाय को जोड़ने वाला शरीरवर्ती साधन जिसे चैतन्यकेन्द्र या चक्र कहा जाता है।

समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपण्णे

आरियदंसी अयं संधीति अदक्खु। (आ. 2/106)

आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी और संयम में तत्पर अनगार ने 'यह विवर है'—ऐसा जाना है।

परिणाम

संधि समुप्पेहमाणस्स एगायतण-रयस्स इह विप्पमुक्क-रस णत्थि, मग्गे विरयस्स त्ति बेमि। (आ.5/30)

जो कर्म-विवर को देखता है, एक आयतन में लीन है, ऐहिक ममत्व से मुक्त है, हिंसा से विरत है, उसके लिए कोई मार्ग नहीं है, ऐसा मैं कहता हूं।

लेश्या-ध्यान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अबहिलेस्से परिव्वए। (आ. 6/106)

मुनि अबहिर्लेश्य, अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन कर परिवर्जन करे।

अनुप्रेक्षा और भावना

लोभं अलोभेण दुगंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ। (आ. 2/36)

जो पुरुष लोभ को प्रतिपक्ष भावना—अलोभ से पराजित कर देता है वह प्राप्त कामों का सेवन नहीं करता। वह लोभ से मुक्त हो जाता है।

अनित्य अनुप्रेक्षा

सं पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्मं, विद्धंसण-धम्मं, अधुवं, अणितियं, असासयं, चयावचइयं, विपरिणाम-धम्मं पासह एयं रूवं। (आ. 5/29)

तुम इस शरीर को देखो, यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य छूट जाएगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं।

णत्थि कालस्स णागमो। (आ. 2/62)

मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है। वह किसी भी क्षण आ सकती है।

वयो अच्चेइ जोव्वणं व। (आ. 2/12)

अवस्था बीत रही है और यौवन चला जा रहा है।

अशरण अनुप्रेक्षा

नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।

तुमं पि तेसिं नालं ताणाएं वा सरणाए वा। (आ. 2/8)

वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

संसार-अनुप्रेक्षा

मोहेण गब्भं मरणाति एति। (आ. 5/7)

प्राणी मोह के कारण जन्म-मरण को प्राप्त होता है।

एकत्व-अनुप्रेक्षा

अइअच्च सव्वतो संगं ण महं अत्थित्ति इति एगोमंसि। (आ. 6/38)

पुरुष सब प्रकार के संग का त्याग कर यह भावना करे—मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूं।

एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्सइ

एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्ज ॥ (आ. 8/97)

मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूं। इस प्रकार वह भिक्षु अपनी आत्मा को एकाकी ही अनुभव करे।

अशौच भावना

अंतो अंतो पूतिदेहंताणि, पासति, पुढोवि सवंताइं। (आ. 2/130)

पुरुष इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।

प्रक्रिया

तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे। (आ. 5/110)

साधक ध्येय के प्रति दृष्टि नियोजित करे, तन्मय बने, ध्येय को प्रमुख बनाये, उसकी स्मृति में उपस्थित रहे एवं उसमें दत्तचित्त रहे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

खणं जाणाहि पंडिए। (आ. 2/24)

हे साधक तुम क्षण को जानो।

परिणाम

णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तहागया उ।

विधूत-कप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवणे महेसी। (आ. 3/60)

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

आसन

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं। (आ. 9/4/14)

भगवान् उकडू आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे।

प्रक्रिया

मन, वाणी और शरीर के कर्म को शांत कर देखना।

विणएत्तु सोयं णिक्खम्म, एस महं अकम्मा जाणति पासति। (आ. 5/120)

इन्द्रिय-विषय का परित्याग कर निष्क्रमण करने वाला वह महान् साधक अकर्मा होकर जानता, देखता है।

परिणाम

दु:खचक्र से मुक्ति

जे कोहदंसी....से दु:खदंसी। (आ. 3/83)

जो क्रोधदर्शी है...वह दु:खदर्शी है।

से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा कोहं च...दुक्खं च। (आ. 3/84)

मेधावी, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष....दु:ख को छिन्न करे।

उपाधि से मुक्ति

किमत्थि उवाही पासगस्स ण विज्जइ? णत्थि। (आ. 3/87)

क्या द्रष्टा के कोई उपाधि होती है या नहीं? नहीं होती।

आत्म-रमण

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी। (आ. 2/173)

जो अनन्य को देखता है वह अनन्य में रमण करता है और जो अनन्य में रमण करता है वह अनन्य को देखता है।

पाप से मुक्ति

आयंकदंसी ण करेति पावं। (आ. 3/33)

हिंसा में आतंक देखने वाला पुरुष परम को जानकर पाप नहीं करता।

समत्तदंसी ण करेति पावं। (आ. 3/28)

समत्वदर्शी पुरुष पाप नहीं करता।

कर्म-बंध का विलय

एवं से अप्पमाएणं, विवेगं किट्टति वेयवी। (आ. 5/74)

प्रमाद से किए हुए कर्म-बंध का विलय अप्रमाद से होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सूत्रकृतांग में योग

सूत्रकृतांग में अध्यात्म-योग, समाधि-योग, ध्यान-योग, भावना-योग जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण स्वरूप— **भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।**

णावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टति ॥ (सूयगडो 1/15/5)

जिसकी आत्मा भावना योग से शुद्ध है वह जल में नौका की तरह कहा गया है वह तट पर पहुंची हुई नौका की भांति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

सूक्ष्म-श्वास-प्रश्वास

अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।

विहरेज्ज समाहितिंदिए आतहितं दुक्खेण लब्भते ॥ (सू. 1/2/52)

मुनि स्नेह रहित, श्वास को शांत और नियन्त्रित करने वाला, सुसंवृत, धर्मार्थी, तप में पराक्रमी, शांत इन्द्रियवाला होकर विहार करे। आत्महित की साधना बहुत दुर्लभ है। (सहिए का अर्थ श्वास को शांत करना रहा है।)

द्रष्टा द्वारा प्रदत्त बोध

अदक्खुव! दक्खुवाहियं, सद्दहसू अदक्खुदंसणा।

हंदि हु सुविरूद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा।।(सू. 1/2/65)

हे द्रष्टा! तुम्हारा दर्शन तुम्हारे ही मोह के द्वारा निरुद्ध है। तुम सत्य को नहीं देख पा रहे हो। अतः तुम उस पर श्रद्धा करो जो द्रष्टा द्वारा तुम्हें बताया जा रहा है। अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा द्वारा प्रदत्त बोध है।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

अण्णे खलु कामभोगा अण्णो अहमंसि।(सू. 2/2/34)

काम-भोग मुझसे भिन्न है और मैं उनसे भिन्न हूं। पदार्थ मुझ से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं।

क्षण को जानना

इणमेव खणं वियाणिआ।(सू. 1/2/73)

इस क्षण को जानो।

उव्वेहती लोगमिणं महंतं बुद्धपमत्तेसु परिव्वएज्जा।(सू. 1/12/18)

जो इस महान् लोक को निकटता से देखता है वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।

पणए वीरे महाविहिं सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं।(सू. 1/2/23)

धीर पुरुष लक्ष्य तक ले जाने वाले उस शाश्वत महापथ के प्रति प्रणत होते हैं, जो सिद्धि का पथ है।

स्थानांग में योग

ठाणं सूत्र में निषीदन, स्थानयोग एवं अनुप्रेक्षाओं का चुम्बक रूप में विश्लेषण प्राप्त होता है।

निषीदन स्थानयोग

पंचं निसिज्जाओ पण्णत्ताओ तं जहा—उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुता, पलियंका, अद्धपलियंका।(सू5/50)

निषीदन स्थानयोग के पांच प्रकार हैं—उत्कटुका, गोदोहिका, समपादपुता, पर्यङ्का, अर्धपर्यङ्का।

धर्म्य ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा— एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।(ठाणं 4/68)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्म्य ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं अर्थात् धर्म्यध्यान के पश्चात् चार अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया जाता है— एकत्व, अनित्य, अशरण एवं संसार अनुप्रेक्षा।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ तं जहा— अणंतवत्तियाणुप्पेहा, विपरिणामाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अवायाणुप्पेहा (ठाणं 4/72)

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं—अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा, विपरिणाम अनुप्रेक्षा, अशुभ अनुप्रेक्षा, अपाय अनुप्रेक्षा।

समवायांग में योग

जैन परम्परा में 'योग' शब्द मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के लिए प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'योग' शब्द समाधि का वाचक है। यहां 'जिन' बत्तीस योगों का संग्रहण किया है, वे सब समाधि के कारणभूत हैं इसे हम 'समाधि' सूत्र भी कह सकते हैं। बत्तीस योग-संग्रह ये हैं—

1. आलोचना—अपने प्रमाद का विवेचन करना।
2. निरपलाप—आलोचित प्रमाद का अप्रकटीकरण।
3. आपातकाल में दृढ़धर्मता—किसी भी प्रकार की आपत्ति में दृढ़धर्मी बने रहना।
4. अनिश्रितोपधान—दूसरों की सहायता लिए बिना तपः कर्म करना।
5. शिक्षा—सूत्रार्थ का पठन-पाठन तथा क्रिया का आचरण।
6. निष्प्रतिकर्मता—शरीर की सार-संभाल या चिकित्सा का वर्जन।
7. अज्ञातता—अज्ञात रूप में तप करना, उसका प्रदर्शन या प्रख्यापन नहीं करना।
8. अलोभ—निर्लोभता का अभ्यास करना।
9. तितिक्षा कष्ट-सहिष्णुता, परीषहों पर विजय पाने का अभ्यास करना।
10. आर्जव-सरलता।
11. शुचि—पवित्रता, सत्य, संयम आदि का आचरण।
12. सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दर्शन की शुद्धि।
13. समाधि—चित्त स्वास्थ्य।
14. आचार—आचार का सम्यक् प्रकार से पालन करना, उसमें माया न करना।
15. विनयोपग—विनम्र होना, अभिमान न करना।
16. धृतिमति— धैर्ययुक्त बुद्धि, अदीनता।
17. संवेग— संसार-वैराग्य अथवा मोक्ष की अभिलाषा।
18. प्रणिधि—अध्यवसाय की एकाग्रता।
19. सुविधि—सद् अनुष्ठान
20. संवर—आश्रवों का निरोध।
21. आत्मदोषोपसंहार—अपने दोषों का उपसंहरण।
22. सर्वकामविरक्तता—समस्त विषयों से विमुखता।
23. प्रत्याख्यान—मूलगुण विषयक त्याग।
24. प्रत्याख्यान—उत्तरगुण विषयक त्याग।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

25. व्युत्सर्ग—शरीर, भक्तपान, उपधि तथा कषाय का विसर्जन।

26. अप्रमाद—प्रमाद का वर्जन।

27. लवालव—समाचारी के पालन में सतत जागरूक रहना। 'लव' शब्द कालवाची है। इसका अर्थ है—क्षण। 'लवालव' अर्थात् प्रतिक्षण अप्रमाद की साधना करना। यथालंदक मुनि निरंतर अप्रमाद की साधना करते हैं। वे क्षणभर के लिए भी प्रमाद नहीं करते और यदि प्रमाद आ जाता है तो उसका तत्काल प्रायश्चित्त कर लेते हैं।

28. ध्यानसंवरयोग—महाप्राण ध्यान की साधना करना।

29. मारणांतिक उदय—मारणांतिक वेदना का उदय होने पर भी क्षुब्ध न होना, शांत और प्रसन्न रहना।

30. संग-परिज्ञा—आसक्ति का त्याग।

31. प्रायश्चित्तकरण—दोष-विशुद्धि का अनुष्ठान करना।

32. मारणांतिक आराधना—मृत्यु-काल में आराधना करना। (समवाओ 32, टिप्पण— पृ. 171-72)

18.3 भगवती में योग

प्राचीन गन्थों में संधि, विवर, रन्ध्र, चक्र, कमल, करण आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में देखा जाता है।

करण के प्रकार

कतिविहे णं भंते! करणे पण्णत्ते?

गोयमा! चउव्विहे करणे पण्णत्ते, तं जहा— मणकरणे, वइकरणे, कायकरणे, कम्मकरणे। (भगवई 6/1/5)

प्राणी के पास चार करण होते हैं— मनकरण, वचनकरण, कायकरण, कर्मकरण।

उपर्युक्त आगमों के अतिरिक्त उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, अनुयोगद्वार, औपपातिक, नन्दीसूत्र आदि आगमों में भी ध्यान-योग से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध होती है। विस्तारभय से यहां वर्णन नहीं किया गया है।

18.4 कुन्दकुन्द की रचनाओं में योग (वि. की प्रथम शती)

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जैन परम्परा में एक ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र का उदय हुआ जिसने अपने आपको सर्वात्मना आत्मदर्शन की महत्ता के प्रतिपादन में लगा दिया। उनका नाम है आचार्य कुन्दकुन्द। नियमसार, समयसार, मोक्षपाहुड़ आदि ग्रन्थों में कुन्दकुन्द ने योग के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन किया है। इन्होंने ध्यान साधना की परमावश्यकता पर बल दिया है। ध्यान के द्वारा ही साधक बहिरात्म भाव का त्याग कर अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्ततः परमात्मभाव का न केवल साक्षात्कार करता है बल्कि स्वयं परमात्मा बन जाता है। कुन्दकुन्द द्वारा दिग्दर्शित बहिरात्मा से परमात्मा तक की यात्रा का विशद चित्र जैन वाङ्मय में प्रथम बार हमें उपलब्ध होता है।

18.5 उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्र में योग (वि. की तीसरी शती)

तत्त्वार्थसूत्र में जैन आगमों का नवनीत प्रस्तुत किया गया है और पूरे ग्रन्थ में मोक्षमार्ग का प्रतिपादन सात तत्त्वों के माध्यम से किया गया है। इस ग्रन्थ के विवेच्य विषयों में चारित्र एवं ध्यान का अनन्यतम स्थान है। संभवतः इन्होंने पहली बार हमारा ध्यान मोक्षमार्ग के लक्षण की ओर आकृष्ट किया है जिसके तीन घटक तत्त्व हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र। इस प्रकार का मोक्षमार्ग का लक्षण-निरूपण उमास्वाति ने ही किया है जो उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए एक मॉडल बन गया है। सम्भवतः ध्यान की परिभाषा भी इनसे पूर्व इस रूप में नहीं दी गयी है। इनके अनुसार एकाग्र चित्तता निरोध का नाम ध्यान है। इसी के साथ इन्होंने ध्याता की शारीरिक संरचना का भी उल्लेख किया है और ध्यान के कालमान का निर्देश किया है। अन्तर्मुहूर्त्त के रूप में उमास्वाति के अनुसार धर्म्य और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। इससे ज्ञात

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है कि आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं। आत्मा की निर्मलता के लिए चारित्र के विविध तत्त्वों का उल्लेख इन्होंने किया है।

18.6 आवश्यक निर्युक्तिकार भद्रबाहु (वि. की चौथी-पांचवीं शती)

जैन परम्परा में इन्हें बहुत सम्मान और बहुमान प्राप्त है। आवश्यकनिर्युक्ति के कायोत्सर्ग नामक प्रकरण के आधार पर इन्हें एक सिद्ध योगी की प्रतिष्ठा दी जा सकती है। इस प्रकरण में कायोत्सर्ग का विशद विवेचन किया गया है। कायोत्सर्ग जैन साधना का एक अभिन्न अंग है जिसके बिना ध्यान सिद्ध नहीं होता। इस ग्रन्थ में चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि ध्यान केवल मानसिक ही नहीं होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक—तीनों प्रकार के ध्यानों में प्रवृत्त होने का स्पष्ट निर्देश यहां प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में चार प्रकार के ध्यानों का उल्लेख है। प्रथम दो संसार को बढ़ाने वाले हैं और अन्तिम दो मुक्ति के हेतु हैं। अतः धर्म्य और शुक्लध्यान ही अधिकृत है। ध्यान के कालमान में अन्तर्मुहूर्त्त का निर्देश है। कायोत्सर्ग का अर्थ, प्रयोजन, विधि, भेद, फल, अभ्यासी की अर्हता, ध्यान और कायोत्सर्ग में सम्बन्ध जैसे विषयों पर प्रकाश डालते हुए अन्त में निर्दिष्ट किया गया है कि कायोत्सर्ग से सभी प्रकार के दुःखों से विमोक्ष होता है। संक्षेपतः कायोत्सर्ग मोक्षमार्ग के रूप में उपदिष्ट है।

18.7 पूज्यपाद के ग्रंथों में योग (वि. की चौथी-पांचवीं शती)

इनके समाधितंत्र और इष्टोपदेश नामक दो ग्रन्थ काफी प्रसिद्ध हैं। समाधितंत्र का प्रारम्भ शुद्धात्मा के अवबोध से प्रारम्भ होता है और उसका अंत इस कथन के साथ होता है कि समाधि ज्योतिर्मय सुख का मार्ग है। शुद्धात्मा की प्राप्ति हेतु इसके विभिन्न स्वरूपों की जानकारी अपेक्षित है। आचार्य कुन्दकुन्द के समान पूज्यपाद ने भी आत्मा की तीन अवस्थाओं यथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का निरूपण किया है। आत्मज्ञान से सर्वथा विमुख अवस्था का नाम बहिरात्मा है। उस समय प्राणी अपने शरीर को ही आत्मा के रूप में जानता है। जब प्राणी को इसका बोध हो जाता है कि शरीर में आत्मबुद्धि रखना ही दुःख का मूल कारण है। तब वह उस भाव को छोड़कर शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है। उसकी उस अवस्था का नाम अन्तरात्मा है। जब वह शरीर और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान प्राप्त कर अपने आपको समस्त जड़ पदार्थों, यहां तक कि समस्त प्रवृत्तियों से पृथक् कर लेता है तब अपने शुद्ध आत्मा। जिसे परमात्मा कहते हैं उसका साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार वह आत्मा की ही उपासना कर परमात्मा बन जाता है। इस अवस्था को ही अनिर्देश्य मोक्ष पद कहा गया है। जिससे पुनः संसार में आना नहीं होता। इस ग्रन्थ में उपमाओं के द्वारा एक मात्र आत्मा में लीन होना और आत्मा में आत्मबुद्धि रखना ही दुःख मुक्ति का सशक्त उपाय बताया गया है।

पूज्यपाद के दूसरे ग्रन्थ इष्टोपदेश में इष्ट अर्थात् मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। मन की एकाग्रता से इन्द्रियों का नियमन कर आत्मवान् को स्वयं आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान करना चाहिए। निरन्तर आत्मा का अनुभव करना ही अध्यात्म योग है जिससे कर्म की अवशेष निर्जरा होती है। आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए आत्मा में लीन होना अनिवार्य माना गया है। इसमें सरल-सुबोध भाषा में आत्मा की गहराइयों में लीन होने की विधि का निरूपण किया गया है। आत्मा में स्थित होने पर अपने हृदय में एक अनिर्वचनीय परमानन्द की अनुभूति होती है। आत्मार्थियों के लिए यही इष्ट है। आत्मज्ञान से ही निरूपम मुक्ति सम्पदा की प्राप्ति संभव है।

18.8 जिनभद्रगणी विरचित ध्यानशतक (वि. की छठी शती)

यह ध्यान विषयक प्राकृत भाषा में निबद्ध एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसके रचयिता ध्यान के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक पक्ष के पारद्रष्टा हैं। इस ग्रंथ की अधिकांश गाथाएं षट्खण्डागम की धवला टीका में उद्धृत हैं। ध्यान के महत्त्व का निरूपण करते हुए बताया गया है कि ध्यान से कर्मों को भस्मसात् किया जाता है, अतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह मोक्ष का हेतु है। छद्मस्थ और केवली दोनों को ध्यान में रख कर जिनभद्रगणी ने ध्यान की सुस्पष्ट परिभाषा दी है। एक वस्तु में चित्त को एकाग्र करना और योग-निरोध ध्यान है। इस प्रकार उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जब यह कहा जाता है कि स्थिर अध्यवसाय ध्यान है तो यह छद्मस्थ के ध्यान पर लागू होता है। और जब यह कहा जाता है कि योग-निरोध ध्यान है तब वह केवलियों के ध्यान पर विचार कर कथन किया जाता है। उमास्वाति के समान उन्होंने भी ध्यान का कालमान अन्तर्मुहूर्त ही माना। इन्होंने भी ध्यान के चार प्रकारों की चर्चा की है। आर्त्त और रौद्र ध्यान के चार-चार भेदों और उनके चार-चार लक्षणों की भी चर्चा की गई है। धर्मध्यान के प्रसंग में जिनभद्रगणी ने पहली बार भावना, देश, काल, आसन, आलम्बन, क्रम, ध्येय, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल का विवरण प्रस्तुत किया है। देश और काल के सम्बन्ध में इनका विचार है कि जब मन, वचन और काया का समाधान हो वही देश और काल उत्तम है। धर्मध्यान और प्रथम दो शुक्ल ध्यान के अधिकारी क्षीणमोह और उपशांतमोह ही हो सकते है। जब कि तीसरे शुक्ल ध्यान का अधिकारी संयोगी केवली और चौथे प्रकार का अयोगी केवली होता है।

18.9 हरिभद्र के ग्रन्थों में योग (वि.वी. की आठवीं शती)

विक्रम की आठवीं शताब्दी का समय आध्यात्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। अध्यात्म के नये-नये उन्मेष इस समय देखने को मिलते हैं। आध्यात्मिक चिंतन और प्रयोग की दृष्टि से यह युग स्वर्णयुग कहा जा सकता है। ऐसे ही समय में हरिभद्र का प्रादुर्भाव होता है और जैन योग साहित्य में एक नये युग की पदचाप सुनाई पड़ती है। युग की समस्त आध्यात्मिक सम्पदा उन्हें प्राप्त थी जिसमें जैन, बौद्ध, पातञ्जल योग आदि सब समाहित थे। उन्होंने जैन परम्परा में प्रतिपादित विकासक्रम का वर्णन योगरूप से किया है। अनेक स्थलों पर जैन वर्णन शैली को नयी परिभाषा दी, अन्य योग पद्धतियों के साथ जैन साधना की तुलना भी की। उन्होंने उन सभी पद्धतियों में विद्यमान योगवस्तु की एकता का सम्पादन कर समन्वय के एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। इनके चार योग ग्रन्थ उपलब्ध हैं— 1. योगबिन्दु, 2. योग दृष्टि समुच्चय, 3. योगशतक और 4. योगविंशिका।

साधक पूर्णता की दिशा में चलता है। उसकी अपनी क्षमताएं और पथ की सुन्दरता, दोनों मिलकर उसके उद्देश्य को पूरा करती हैं। 'योग-बिन्दु' अध्यात्म-योग का महान् ग्रंथ है। इसमें आचार्य हरिभद्र क्रमिक विकास की दृष्टि से पंचाग व्यवस्था देते हैं—1. अध्यात्म-योग, 2. भावना-योग, 3. ध्यान-योग, 4. समत्व-योग, 5. वृत्ति-क्षय योग।

इन पांच योग-भूमिकाओं का अभ्यास किस प्रकार किया जाए, इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

18.9.1. अध्यात्म-योग

औचित्यात् व्रत युक्तस्य, वचनात् तत्त्व चिन्तनम्।
मैत्र्यादिसार-मत्यन्त, मध्यात्मं तद्विदो विदुः।।

साधु और श्रावक धर्म का आचरण करते हुए मैत्री, प्रमोद आदि भावनाओं से आपूरित सत् चिन्तन करना अध्यात्म-योग है। भावनाओं के अमृत-सिंचन के बिना व्रतों की फसल नहीं पकती। अतः साधना का प्रथम चरण व्रत नहीं, किन्तु व्रत-भावनाएं हैं।

18.9.2. भावना-योग

अभ्यासोस्यैव विज्ञेयः, प्रत्यहं बुद्धि संगतः।
मनः समाधिसंयुक्तं, पौनः पुन्येन भावना।।

साध्य के रंग से मन को रंगना भावना है। इससे पूर्व-जीवन के संस्कार धुलकर नये संस्कार प्रतिष्ठित होते हैं। इसलिए प्रतिष्ठित विवेक और समाधिपूर्ण चिन्तन से भावना के नित्य नये प्रयोग करने चाहिए। अन्तर के प्रति सावधानता उत्पन्न करना भावना का प्रमुख कार्य है। यही एक ऐसा प्रयोग है जिससे शास्त्रीय-ज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्म-ज्ञान में परिणत होने को आतुर हो उठता है। धीरे-धीरे यही आतुरता एक सीमा पर ध्यान का पर्यावरण उत्पन्न करती है।

18.9.3. ध्यान-योग

शुभैकालम्बनंचित्तं, ध्यान माहुर्मनीषिणः।
स्थिर प्रदीप सदृशः, सूक्ष्म योग समन्वितम्।।

लम्बे समय तक एक प्रकार की भाव-वाटिका में विहार कर लेने के बाद चित्त उस विषय पर आसानी से एकाग्र हो जाता है। ध्यान चेतना की उस स्थिति का नाम है जहां सारे संकल्प-विकल्प सो जाते हैं और आत्मा स्थिर दीप-शिखा की तरह शुद्ध उपयोग में अवस्थित हो जाती है। मन की बढ़ती हुई इस पवित्रता और स्थिरता से जगत् के सब पदार्थों के प्रति निर्लेप भाव जागृत होता है। धीरे-धीरे विषय-जगत् को मन से बांधने वाला मोह का धागा पतला होता हुआ एक दिन समत्व की धार से कट जाता है।

18.9.4. समत्व-योग

प्रत्येक धर्म-चक्र की धुरी समता होती है। यह एक पारस है, जिसके स्पर्श मात्र से सारी साधना-विधियां चमक उठती हैं। राग, द्वेष और मोह जनित विषय-चक्र इस छाया के सान्निध्य मात्र से निर्विष हो जाता है। योगी सुख-दुःख, मनोज्ञ-अमनोज्ञ और इष्ट अनिष्ट आदि काल्पनिक द्वन्द्वों से जिस आलम्बन के सहारे ऊपर उठता है वह आलम्बन समत्व-योग ही है। जैन आगम वर्णित अनेकों लब्धियां और अतीन्द्रिय अनुभूतियां इसी योग की उत्कृष्ट साधना के परिणाम हैं। संक्षेप में समता की महत्ता के बारे में इतना ही कहा जा सकता है—समता समस्त जैन-साधना पद्धतियों के इतिहास की प्रस्तावना है। यहां पहुंचते-पहुंचते समस्त दूषित चित्त-वृत्तियां क्षीण होने लग जाती हैं।

18.9.5. वृत्तिक्षय-योग

ध्यान से समता आती है और समता से वृत्ति-क्षीणता।

अनन्य संयोग वृत्तीनां, यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण, स तु तत् संक्षयो मतः।।

पूर्ण चित्त-शोधन के बाद वृत्ति-क्षय की स्थिति उत्पन्न होती है। अब आत्म-दर्शन विकारों की जड़ों को खोखला ही नहीं अपितु जलाना भी शुरू कर देता है। इस प्रकार बढ़ती हुई क्षीणता मुक्तता में परिणत हो जाती है। इन पांचों योग-भूमिकाओं से प्रथम चार की तुलना आचार्य हरिभद्र ने योग-दर्शन सम्मत सम्प्रज्ञात समाधि के साथ और अन्तिम वृत्ति-क्षय की तुलना असम्प्रज्ञात समाधि के साथ की है (योग-बिन्दु 419-21)।

18.10. योगदृष्टि समुच्चय

इस ग्रन्थ में 227 संस्कृत श्लोक हैं। इसमें विवेचित विषय-वस्तु में अत्यधिक नवीनता एवं मौलिकता देखने को मिलती है। अध्यात्म-प्रगति का सुदृढ़ आधार सत्य-दृष्टि है। संसारवर्ती प्रत्येक प्राणी पदार्थों का उपभोग करता है। परन्तु वह दृष्टि के किस कोण से उन्हें देखता है और भोग करता है, यही कोण सारी अन्तर्मुख और बहिर्मुख वृत्तियों का नियामक है। मुख्य दृष्टियां दो हैं—ओघ-दृष्टि और योग-दृष्टि। सबमें प्राप्त होने वाली सर्वसाधारण दृष्टि ओघ-दृष्टि कहलाती है। इस दृष्टि में मौलिकता, यथार्थता और सहजता के भाव नहीं होते। इसमें गतानुगतिकता और संसाराभिमुखता विशेष होती है। योग-दृष्टि इससे विपरीत है। मित्रा और आठों योग-दृष्टियां इसी के प्रकार हैं। इनमें प्रथम चार दृष्टियां जीव को सुलभ-बोधिनी प्रज्ञा प्रदान करती हुई सम्यक्त्व तक ले जाती है। ये (मित्रा आदि) चारों दृष्टियां लघु कर्मा मिथ्यात्वी जीवों में भी प्राप्त हो सकती है। इसी विशेषता के कारण इन्हें कहीं-कहीं 'स्थिर-दृष्टि' भी कहा गया है।

आठों दृष्टियों के नाम और लक्षण

मित्रा, तारा, बला, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नामानि योग दृष्टिनां, लक्षणं च निबोधत:।।

18.10.1 मित्रा दृष्टि

इस दृष्टि से प्राणिजगत् के प्रति मैत्री भाव, परोपकार बुद्धि और सामान्य भेद-ज्ञान की झलक पैदा होती है। इस दृष्टि में आत्म-बोध अत्यन्त न्यून होता है। इस बोध की तृणाग्नि से तुलना की गयी है। जैसे तृणों की अग्नि क्षणिक प्रकाश करके शीघ्र विलीन हो जाती है वैसे मिथ्यादृष्टि सम्पन्न आत्मा में सामान्य आत्मबोध उत्पन्न होकर समाप्त हो जाता है। यह अत्यन्त सामान्य बोध आगे की भूमिकाओं के लिए नया उल्लास पैदा नहीं करता किन्तु बारम्बार ऐसे प्रयासों के कारण शुभ कार्यों में खिन्नता व आलस्य का भाव घटने लगता है। क्रमश: 'अखेद' नामक आत्मगुण प्रकट होता है। इसके साथ ही वह 'अद्वेषवृत्ति' को प्राप्त करता है। इस वृत्ति से वह प्राकृतिक नियमों की अवमानना करने वाले लोगों के प्रति क्रोध न उगलकर समता व सहिष्णुता की मृदु धार बहाता है। यह बोध प्रगति की महावीथि में प्रथम चरण है।

मित्रायां दर्शनं, मन्दं, यम इच्छादिकस्तथा।
अखेदो देव कार्यादा, वद्वेषश्चापरत्र च।।

आचार्य हरिभद्र ने इस दृष्टि की तुलना अष्टांग योगान्तर्गत यम से की है। यह सही भी है—अहिंसा, सत्य आदि व्रतों की सीमित साधना के लिए बिना अद्वेष आदि गुणों को पाया नहीं जा सकता। मित्रा दृष्टि मैत्री भावना का ही एक सुव्यवस्थित रूप है।

18.10.2. तारा दृष्टि

तारायांतु मनाक् स्पष्ट नियमश्च तथाविधि:।
अनुद्वेगो हितारंभे जिज्ञासा तत्त्व गोचरा।।

यह तारा है। इसमें मित्रा की अपेक्षा बोध कुछ स्पष्ट होता है। इसे गोबर की अग्नि के प्रकाश से उपमित किया गया है। यद्यपि तृणाग्नि की अपेक्षा गोमयाग्नि प्रबल होती है, परन्तु स्थैर्य इसमें भी नहीं होता। यही कारण है कि इस दृष्टि वाला आत्महित तथा परहित का स्थिर चिन्तन नहीं कर सकता। तारा-दृष्टि में जिज्ञासाएं उभरती हैं। धीरे-धीरे सत्य-जिज्ञासा आत्म-जिज्ञासा में परिणत होने लगती है। अष्टांग व्यवस्था के अनुसार इसकी तुलना 'नियम' से की गयी है, क्योंकि तारा व्रत भावना को प्रयोगोन्मुख करती है।

18.10.3. बला दृष्टि

सुखासन समायुक्तं, बतायां दर्शनं रूढ़म्।
पराच तत्त्व शुश्रुषा न क्षेपो योग गोचर:।।

बला तीसरी दृष्टि है। इस दृष्टि से साध्य के प्रति जागरूकता बढ़ती है। इसका दर्शन पूर्व दृष्टियों से क्रमश: अधिक स्पष्ट है। चिर रूढ़ धारणाएं एवं आस्था के शाश्वत केन्द्र यहां टूटने लगते हैं। क्रमश: यहां ग्रन्थि-भेद की तैयारी शुरू हो जाती है। इस बोध को काष्ठाग्नि के समान बताया है, क्योंकि यह अग्नि स्थिर होती है। इसके प्रकाश में स्वयं को पढ़ा जा सकता है अर्थात् जीवन के किस कोने में क्या छिपा है, यह ज्ञान होने लगता है। इस दृष्टि में 'क्षेप-दोष' शांत होता है और सुश्रूषा (श्रवणेच्छा) नामक गुण उत्पन्न होता है। धीरे-धीरे इस दृष्टि वाले व्यक्ति में पौद्गलिक पिपासाएं शांत होने लगती हैं। सत्-कार्यो में रुचि लेना इस दृष्टि का प्रमुख कार्य है।

18.10.4. दीप्रा दृष्टि

प्राणायामवती दीप्रा, न योगोत्थान वत्यलम्।
तत्त्व श्रवण संयुक्ता सूक्ष्म बोध विवर्जिता।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दीप्रा चतुर्थ दृष्टि है। क्रमशः इसका बोध और अधिक सबल हो जाता है। यहां पतन की सम्भावनाएं न्यून अवश्य हो जाती हैं परन्तु समाप्त नहीं होती। दीपक निकटवर्ती पदार्थों को जितनी स्पष्टता से प्रकाशित करता है उतनी स्पष्टता से दूरवर्ती पदार्थों को नहीं करता। यहां 'उत्थान-दोष' क्षीण होता है। शांत सागर में जैसे लहरों का उत्थान नहीं होता वैसे शांत चित्त में अब संसाराभिमुख संकल्प-विकल्पों का सतत जन्म नहीं होता। अब यह शरीर और इन्द्रिय विषयों के अतिरिक्त धर्म और चारित्र की भी महत्ता पहचानने लगता है। आश्चर्य, इतना सब कुछ होने पर भी इस दृष्टि वाला व्यक्ति पुनः पथच्युत हो जाता है।

18.10.5. स्थिरा दृष्टि

स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च।
कृत्य मभ्रान्त मनघं सूक्ष्म बोध समन्वितम्।।

यह दृष्टि स्थायी विकास दिशा में प्रथम सोपान है। इस दशा का दूसरा नाम 'अवेद्य संवेद्य पद' भी है। स्थिरा में आत्मज्ञान, रत्नप्रभा के समान स्पष्ट और स्थिर होता है। आत्मोन्मुखता जहां बढ़ती है वहां बाह्यकर्षणों का अल्पीकरण सहज सम्भाव्य है। पूर्व दृष्टियों में प्राप्त अद्वेष, जिज्ञासा, श्रवणेच्छा और श्रवणगुण जो है, स्थिरा इन सबको बलवान् बनाकर 'सूक्ष्मबोध' नामक पांचवें गुण को प्राप्त करती है। अब आत्मा केवल औरों के संकेतों पर चलना बन्द कर देती है। औरों से सदा मांगते रहने की मनोवृत्ति उसकी करीब-करीब समाप्त हो जाती है। विकारों की जड़ों में एक साथ कंपन उत्पन्न होने का अर्थ है— अनादिकालीन अहंकार और ममकार की दुर्भेद्य दीवारों को हिलाना। यहां पहुंचने के बाद साधक में योगजनित कुछ शक्तियां प्रकट होने लगती हैं, जैसे—**अलौल्य मारोग्य मनिष्ठुरत्वं, गन्धः शुभो मुत्रपुरीष मल्यम्।**
कान्तिः प्रसाद स्वर सौम्यता च, योग प्रवृत्तेः प्रथमं हि लिंगं ॥

महर्षि पतंजलि ने इसकी प्रत्याहार से तुलना की है। चित्त और इन्द्रियों का एक देश में स्थिर होकर विहरना इसका परिणाम है। अब तक जो आंखे बाह्य रूप देखती रही हैं, अब वे यदा-कदा अन्तररूप भी निहारेंगी। जो कान केवल बाह्य कंपन ही सुनते हैं, अब वे अन्तर्नाद भी सुनेंगे। यहां देहात्म-भिन्नता का बोध और अधिक स्पष्ट होकर अस्पर्श योग तक पहुंच जाता है।

18.10.6. कान्ता दृष्टि

कान्तायां मेत दन्येषां, प्रीतये धारणा परा।
अतोत्र नान्य मुन्नित्यं मीमांसास्ति हितोदया ॥

इस दृष्टि से साधक में हितोदया दृष्टि जागृत होती है। इससे लक्ष्य की स्मृति बराबर बनी रहती है।

इस दृष्टिजनित आत्मबोध को तारक-ज्योति से उपमित किया गया है क्योंकि इस प्रकाश में प्रतिक्षण परिवर्तन नहीं आता। इस स्थिर प्रकाश में कभी-कभी साधक अपने भीतर देखता है। इससे वह भोग और त्याग के बीच खड़ी दुविधा को पार करने की अलौकिक कला पा लेता है। फिर बलवान् भोग शक्ति भी धर्म-शक्ति को पराजित नहीं कर सकती। कहा भी है—

धर्म शक्ति र्नहन्त्यस्याः भोग शक्ति र्बलीयसी।
हन्ति दीपापहो वायु-र्ज्वलन्तं न दवानलम् ॥

इस भाव-दशा की प्राप्ति होते ही मन किसी एक आलम्बन पर ठहरना सीख लेता है। इसी आत्म-क्षमता की तुलना महर्षि पतंजलि ने धारणा से की है।

18.10.7. प्रभा दृष्टि

लम्बे समय तक ध्येय के साथ तन्मय रहने की स्थिति प्रभा है। अब साधक चित्त-प्रवाह को देखने और समझने की योग्यता पा लेता है। अन्तर की खुदाई में प्रथम अन्धकार आता है अतः उसे चीरकर आगे बढ़ने के लिए वह नयी मशाल हाथ में लेता है। क्रमशः इस दृष्टि का बोध सूर्य-तुल्य वितिमिर-स्पष्ट होता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। कान्ता जिन विषयों की समीक्षा करती है, प्रभा उनमें प्रयोग-प्रगुणता भरती है। इससे शरीर रोगरहित होकर अपूर्व शांति का अनुभव करने लगता है। फिर कर्म-दोष क्षीण करते-करते वह वीतरागता को पा लेता है। इस दृष्टि की तुलना ध्यान से की गयी है। दूसरे शब्दों में यही प्रशांतवाहिनी-वृत्ति है।

18.10.8. परा-दृष्टि

परा विकास क्रम की चरम अवस्था है, जिसे महर्षि पतंजलि ने 'समाधि' कहा है। इस दशा को पा लेने के बाद साधक के लिए किसी भी कर्म-योग के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रह जाती। अब जो कर्मावरण अवशेष हैं, उनके लिए सजग रहना मात्र पर्याप्त है। यहां पहुंचने के बाद आत्म-बोध आत्माकार पा लेता है। अब शुद्धात्मद्रव्य परिणति के सिवाय न भीतर कुछ बनता है और न कुछ बिगड़ता है। सारे विकार अपनी मौत मर जाते हैं। यही निर्वाण-दशा मोक्ष है। यहां ज्ञान दर्शन में और दर्शन चारित्र में लय हो जाता है। अब वह पूर्ण है और पूर्णता के लिए है।

18.11. योग शतक

यह ग्रंथ प्राकृत की 100 गाथाओं में निबद्ध है। आचार्य हरिभद्र 'योग शतक' में जैन तत्त्व सम्मत भूमिकाओं की दृष्टि से अधिक खुले हैं। योग-शतक में चार भूमिकाओं का उल्लेख है—

1. **अपुन-बंधक**—जिसके भव-भ्रमण रूप केवल एक आवर्तन शेष रहा है अथवा जो फिर से तीव्र मिथ्यात्व का बन्ध नहीं करने वाला है।
2. **सम्यग् दृष्टि**—सत्य के प्रति आन्तरिक अभिरुचि।
3. **देशविरति**—सत्य-दिशा में आंशिक गति।
4. **सर्वविरति**—विषय जगत् के प्रति पूर्ण अनाकर्षण

इन भूमिकाओं में प्रगति के लिए सहज उपाय क्या हो सकते हैं, इसके प्रत्युत्तर में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—

आभ्यन्तर उपाय—

1. आत्म-दोषों का बारम्बार चिन्तन 2. विवेक प्रतिमा का अभ्यास 3. भावनाओं का विशेष प्रयोग

बाह्य उपाय—

1. अपने प्रति फैली लोक-धारणाओं की जानकारी
2. गुणीजनों एवं पूज्य पुरुषों का यथासम्भव सम्पर्क
3. सत्-साहित्य और धर्म गुरुओं का अनुसरण।

18.12 योगविंशिका

इसकी भाषा प्राकृत है। इसमें 20 गाथाएं हैं। इसमें योग का अत्यन्त संक्षिप्त निरूपण किया गया है। आगमकाल में महाव्रतों, भावनाओं, यतिधर्म, तपस्या और कषाय-विजय आदि साधनों के लिए 'अध्यात्म' शब्द प्रयुक्त होता था। आचार्य हरिभद्र ने अध्यात्म का स्थान योग को दिया। 'योग' शब्द उनकी व्यवस्था के अनुसार अध्यात्म का सूचक ही नहीं अपितु वाचक भी रहा है। उन्होंने प्रत्येक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को योग कहा, अर्थात् जो धर्म-व्यापार आत्मा को मोक्ष के निकट ले चलता है, वह योग है। महावीर-दर्शन के अनुसार ज्ञान-शून्य कर्म जड़ता का पोषक माना गया है और क्रिया-शून्य ज्ञान दुःख का कारण। आचार्य हरिभद्र ने पंचांग-योग व्यवस्था में इसका ज्ञान-योग और कर्म-योग के रूप में समन्वय किया और दोनों की सामान्य उपयोगिता बतायी। निम्नोक्त प्रथम दो भेद कर्म-योग के प्रतीक हैं और शेष तीन भेद ज्ञान-योग के—

1. स्थान-योग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थान का अर्थ है किसी आकार विशेष में शरीर का स्थिर होना। जैन आगमों में आसन का प्रतीक 'स्थान' शब्द रहा है। प्राचीन जैन साधना-विधि में आसनों को अनिवार्यता प्राप्त थी। प्रायः सभी ऐसे धार्मिक अनुष्ठान रहे हैं जिनमें आसनों का सुनिश्चित विधान है। कालक्रम से कुछ शिथिलता आयी। विधियां छूटती और टूटती चली गयीं। आज फिर आवश्यकता है उन विधियों को उजागर करने की। आसन-योग के अभ्यास से दैहिक स्थिरता के साथ-साथ मानसिक स्थिरता बनती है, इसलिए सामायिक, प्रतिक्रमण और गुरु-वन्दना जैसी क्रियाओं में किसी एक आसन का होना परम आवश्यक है।

2. ऊर्ण-योग

अविधि से किया हुआ धर्मानुष्ठान अपनी सफलता में लम्बा समय लेता है। वह चित्त का क्लेश नहीं मिटाकर धीरे-धीरे अवचेतन को अनास्था से भर देता है। अतः आचार्य हरिभद्र ने कहा— आसन स्थिर होते ही जिस क्रिया के साथ जिस मंत्र या आगम-वाक्य का विधान है उसका मनोयोगपूर्वक शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण किया जाए। 'ऊर्ण' शब्द उच्चारण का द्योतक है।

3. अर्थ-योग

हमारे शरीर में कुछ ज्ञानवाही नाड़ियां हैं, जिनका विकास क्रियाशीलता में नहीं, किन्तु किसी एक विषय पर एकाग्र होने से होता है। अर्थ-शून्य मंत्र मन को शब्द-वासना से भरने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता। उपासना गत सफलता की जो चरमस्थिति है वह मन को भरने से नहीं, खाली करने से बनती है।

4. आलम्बन-योग

अर्थाकार चित्त ध्येय-धारणा के बहुत निकट पहुंच जाता है। उपासनाकाल में प्रमुखता ज्ञान-योग की होती है। ज्ञान-चेतना में हम जितने अधिक होंगे, उतना चैतन्य का ऊर्ध्वारोहण विशेष होगा। इसलिए यह आवश्यक है। किसी भी धार्मिक अनुष्ठान को करते समय मन को स्वाध्याय, जाप, ध्यान और कायोत्सर्ग जैसे किसी महान् प्रयोग के साथ जोड़ें।

5. निरालम्बन-योग

किसी विशेष आलम्बन का सहारा न लेकर ज्ञानादि गुणों का तथा आधारभूत आत्मद्रव्य का चिन्तन करना अथवा तन्मय हो जाना निरालम्बन योग है।

18.13 शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव (ग्यारहवीं शती)

शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव जैनयोग का एक विशाल ग्रंथ है। संस्कृत भाषा में लिखा यह ग्रंथ 42 सर्गों में योग का सुबोध शैली में गम्भीर विवेचन करता है। इसमें वैराग्यभावना के उदय पर बहुत बल दिया गया है। संसारत्यागी के लिए भी योग-साधना का विधान किया गया है। हेमचन्द्र के योगशास्त्र के साथ इस ग्रंथ का विषय-वस्तु, पारिभाषिक शब्दावली, प्रतिपादन शैली आदि की दृष्टि से अत्यधिक साम्य है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है जो राग-द्वेष आदि के द्वारा आवृत है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार के लिए राग-द्वेष आदि का क्षय किया जाना जरूरी है। कर्म का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है। कषाय का अपगम इन्द्रियजय से होता है। इन्द्रियजय मन की शुद्धि से सम्भव है। आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करने से मन की चंचलता समाप्त होती है। मन का निरोध राग-द्वेष को दूर करने से अर्थात् प्रत्याहार से होता है। प्रत्याहार मन को स्वस्थ बनाता है। इसलिए राग-द्वेष को दूर करने का उपाय समत्व की साधना है। समत्व की साधना ही योग-साधना का केन्द्रीय तत्त्व है क्योंकि इसके द्वारा आत्म-स्वरूप में लीन हुआ जा सकता है। इस ग्रंथ में ध्यान का स्थान और काल, ध्याता की अर्हता, ध्यान के विविध प्रकार जैसे विविध विषयों का सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। पिण्डस्थ आदि चार ध्यानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत मंत्रों का विशद निरूपण किया गया है। पिण्डस्थ आदि ध्यानों का जैन परम्परा में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सर्वप्रथम निरूपण संभवतः आचार्य शुभचन्द्र ने ही किया है। मैत्री आदि चार भावनाओं के वर्णन क्रम में करुणा-भावना के व्यापक स्वरूप को यहां प्रस्तुत किया गया है।

18.14 सोमदेवसूरि विरचित अध्यात्म-तरंगिणी (ग्यारहवीं शती)

यह संस्कृत भाषा का छोटा सा ग्रंथ है जिसकी श्लोक संख्या चालीस है। इन पद्यों में योगी आदिनाथ की योग-मुद्रा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए आत्म-विकास के कारणभूत आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का संक्षिप्त एवं सरल वर्णन किया है, जो प्रमेय बहुल है। उस योगमार्ग का जीवन में अनुष्ठान करने से आत्मा परमात्मा हो जाता है।

ग्रंथ में भगवान् आदिनाथ को, नीलांजना नामक अप्सरा के नृत्य करते समय एकाएक उसकी आयु पूरी हो जाने के कारण संसार-देहभोगों से वैराग्य हो गया और उन्होंने जैन योग-मुद्रा धारण कर तपश्चरण का अनुष्ठान किया। ग्रंथकार ने उनकी उस समय की योग-मुद्रा का स्वरूप अंकित करने का प्रयत्न किया है। आदि-ब्रह्मा या आदीश्वर ध्यानस्थ हैं, कायोत्सर्ग आसन से युक्त हैं, नासाग्रदृष्टि हैं, जिनकी दोनों भुजाएं नीचे को लटक रही हैं और जिनके नेत्र कमल निमेष रहित-निश्चल हैं। श्वास को जिन्होंने जीत लिया है और जिन्होंने कुनीति-रूपी सरिता को सुखा दिया है, जो देह-भोगों से अत्यन्त उदासीन हैं, समाधि में विलीन हैं और शत्रु-मित्र में समभाव को लिए हुए है ऐसे ये योगी रमणीय आत्मीय अद्‌भुत रस में निमग्न हैं। उनकी वह योगमुद्रा अत्यन्त सौम्य, गंभीर और दर्शकों के लिए आनन्द-विभोर करती हुई उनमें योगानुष्ठान द्वारा जिन, परमात्मा या परमेष्ठी बनने की क्षमता को ही उद्‌घोषित नहीं करती; प्रत्युत उसकी महत्ता एवं प्रभाव को भी हृदय-पटल पर अंकित करती है।

18.15 हेमचन्द्र का योगशास्त्र (बारहवीं शती)

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत हेमचन्द्र ने सरल, सुबोध संस्कृत में योग शास्त्र नामक ग्रंथ की रचना की जो 1000 श्लोक प्रमाण है। यह ग्रंथ 12 प्रकारों में विभक्त है। इसमें योग साधना का सांगोपांग विवेचन किया गया है। हेमचन्द्र ने योगसाधना की दृष्टि से आत्मा के साथ रत्नत्रय का अभेद सम्बन्ध दिखाकर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। कषाय और रागद्वेष का क्षय करने के लिए समत्व की साधना एवं अनेकविध भावनाओं के स्वरूप, विधि एवं फल का निर्देश किया गया है। ध्यान की स्थिरता में सहायक मैत्री आदि भावनाओं पर बल दिया गया है। आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा का वर्णन करने के उपरान्त ध्यान, ध्याता और ध्येय विषय का निरूपण किया गया है। धर्मध्यान का परम्परागत स्वरूप प्रस्तुत कर उसके पिण्डस्थ आदि चार भेदों के स्वरूप आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसी क्रम में अनेक प्रकार के मंत्रों और विद्याओं का भी वर्णन किया गया है।

शुक्लध्यान के स्वरूप, अधिकारी, भेद आदि का भी वर्णन करने के साथ मुक्त सत्ता के विषय में भी चर्चा की गयी है। हेमचन्द्र ने शास्त्राध्ययन एवं गुरुमुख से अधिगत विषयों का निरूपण प्रथम ग्यारह प्रकाशों में किया है। अन्तिम बारहवें प्रकाश में उन्होंने अपने जीवन्त साधना-प्रसूत अनुभवों के आधार पर मन के चार भेदों यथा विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन का विशद वर्णन किया है। और इस प्रकार योग निरूपण में नवीनता लाने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त बहिरात्मा आदि के स्वरूप तथा सिद्धि प्राप्ति के साधन की भी चर्चा की गयी है। हेमचन्द्र ने गृहस्थाश्रम में भी ध्यान-साधना की शक्यता को स्वीकार कर श्रावक के स्वरूप, व्रत, साधना के स्वरूप और फल का करीब दो प्रकाशों में वर्णन किया है।

18.16 पंडित आशाधरजी विरचित अध्यात्मरहस्य (तेरहवीं शती)

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है और वह है अध्यात्म का रहस्य। 'अध्यात्म' नाम आत्मा तथा परमात्मा का, तत्तत्सम्बन्धों का और उस सम्बन्ध का भी है जो प्रत्येक जीवात्मा का शक्ति तथा व्यक्ति के रूप में स्थित परमात्मा के साथ सुघटित है। 'रहस्य' नाम गुह्य-गूढ़ तत्त्व अथवा मर्म का है। इन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सबका फलितार्थ यह हुआ कि इस ग्रन्थ में आत्मा-परमात्मा और दोनों के सम्बन्ध का जो यथार्थ वस्तु-स्थिति का प्रकाशक गुप्त रहस्य अथवा मर्म है—जिसको साधारण जनता नहीं जानती—उसे संक्षेप में प्रकट किया गया है। संक्षेप में इसलिये कि ग्रन्थ अल्प-विस्तारवाला होने से सूत्र में ही उस के प्रकट करने की दृष्टि को लिये हुए है। इस ग्रन्थ में मात्र 72 गाथाएं हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्खपाहुड (मोक्षप्राभृत) में और श्रीपूज्यपादाचार्य ने समाधितंत्र में आत्मा को तीन भेदों में विभक्त किया है—1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा और 3. परमात्मा। ये तीन भेद आत्मा की किसी जाति के वाचक नहीं, बल्कि भव्यात्मा की अवस्था विशेष के संद्योतक हैं।

आत्मा के इन तीन अवस्था-भेदों को प्रकृत ग्रन्थ में स्वात्मा, शुद्धस्वात्मा और परब्रह्म—इन तीन नामों से उल्लेखित किया गया है, जिनमें 'परब्रह्म' परमात्मा का, 'शुद्धस्वात्मा' अन्तरात्मा का और 'स्वात्मा' शुद्धस्वात्मा से पूर्ववर्ती होने के कारण अशुद्धस्वात्मा अथवा बहिरात्मा का वाचक है।

18.17 आचार्यसुन्दरसूरी रचित अध्यात्मकल्पद्रुम (पन्द्रहवीं शती)

जैन शास्त्रकार प्रत्येक वस्तु के चार निक्षेप मानते हैं। ये किसी भी वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखने के भिन्न द्वार हैं। अध्यात्म के भी उसी प्रकार चार निक्षेप हो सकते हैं। नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म और भाव अध्यात्म। केवल मात्र 'अध्यात्म' शब्द उच्चारण करना किन्तु उसका अर्थ न समझना यह नाम अध्यात्म कहलाता है। इसी प्रकार अध्यात्म का आडम्बर करने वाले शुद्ध वर्तनरहित प्राणी नाम अध्यात्मी कहलाते हैं। आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाले की मूर्ति स्थापित करना अथवा अध्यात्म का अक्षरविन्यासीपन करना स्थापना अध्यात्म कहलाता है। अध्यात्म उत्पन्न करने वाले उपदेश अथवा दृश्य या श्रव्य कारणों को द्रव्य अध्यात्म कहते हैं, अथवा रेचक, पूरक, कुंभकादि करके बाह्य वृत्ति से ऐसा ध्यान बतलावे कि जिससे लोगों को ऐसा जान पड़े मानो इसने अन्तरवृत्ति से आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष कर लिया है, परन्तु स्वयं तो कोरा का कोरा ही होता है। यह भी द्रव्य अध्यात्म कहलाता है और निज स्वरूपायित क्रिया की प्रवृत्ति होना भाव अध्यात्म कहलाता है।

अध्यात्म शब्द का अर्थ इतना विशाल है। यह अध्यात्म स्वयं ही कल्पवृक्ष है। जिस प्रकार का कल्पवृक्ष के पास जाकर किसी चीज की याचना करने से उसकी प्राप्ति हो सकती है उसी प्रकार यह अध्यात्म ग्रन्थरूप कल्पवृक्ष है इससे आत्मिक सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले यदि किसी पदार्थ के लिये प्रार्थना की जायेगी तो वह याचक को कहीं पर भी प्राप्त हो सकेगा। आत्मिक व्यवहार के साथ उससे सम्बन्ध रखने वाला और दूर करने योग्य सांसारिक व्यवहार और उसका दुष्ट स्वरूप भी साथ ही साथ बतलाया गया है इसलिये अध्यात्म से सम्बन्ध रखने वाले कई उपयोगी विषयों का इस ग्रन्थ में मिल जाना सम्भव है।

इस ग्रन्थ के सोलह अधिकार हैं जिनके क्रमशः नाम इस प्रकार हैं—1. समता, 2. स्त्रीममत्व, 3. पुत्रममत्व, 4. धनममत्व, 5. देहममत्व, 6. प्रमाद, 7. कषाय, 8. शास्त्र गति, 9. चित्तदमन, 10. वैराग्य, 11. धर्मशुद्धि, 12. गुरुशुद्धि, 13. यतिशिक्षा, 14. संवर, 15. शुभप्रवृत्ति, 16. साम्य। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के शुभारम्भ में समत्व का विवेचन है। ग्रन्थ के अंत में भी समत्व का विवेचन कर ग्रन्थ के महात्म्य को बढ़ाया गया है।

18.18 उपाध्यायविनयविजयविरचित शान्त सुधारस (अठारहवीं शती)

जैन साधना पद्धति में अनुप्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रेक्षा से सत्य उपलब्ध होता है। अनुप्रेक्षा से पुराने संस्कारों का परिवर्तन होता है। आगम में एक साथ बारह अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख नहीं है। उत्तरवर्ती साहित्य में उनका समवेतरूप उपलब्ध है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में बारह अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख किया है। आचार्य कुन्दकुन्द का **'बारस अणुवेक्खा'** स्वामीकुमार का **'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'** आदि अनेक ग्रन्थ बारह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुप्रेक्षा के विषय में उपलब्ध हैं। उपाध्याय विनयविजयजी ने उस परम्परा को विकसित कर **'शान्तसुधारस'** नामक गेय काव्य की रचना की। इसमें सोलह अनुप्रेक्षाएं हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत गेय काव्य की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। प्रांजल भाषा, सशक्त अभिव्यक्ति, भाव की गम्भीरता और प्रसन्न शैली— ये सब विशेषताएं प्राप्त हैं। शान्तरस से परिपूर्ण इस रचना में प्रेरकशक्ति का प्रवाह है। उपाध्याय विनयविजयजी ने कुछ पद्य तो बहुत ही मार्मिक लिखे हैं। वे वर्तमान समस्या पर बड़े सटीक बैठते हैं।

बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास का सन्तुलन प्रेक्षाध्यान का सूत्र है। यह वर्तमान समस्या का समाधान है। उपाध्यायजी ने लिखा है—

स्फुरित चेतसि भावनया विना, न विदुषामपि शान्तसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोहविषादविषाकुले ॥

भावना के बिना विद्वान् के चित्त में शांति नहीं होती और उसके बिना सुख नहीं होता।

18.19 उपाध्याय यशोविजय (अठारहवीं शती)

17वीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजयजी ने जैनयोग-परम्परा का संवर्द्धन अपनी अनेक रचनाओं के द्वारा किया है। उन्होंने संस्कृत और गुजराती में अनेक ग्रंथ लिखे हैं। व्यापक अध्ययन, गहन चिंतन और समन्वयवादी दृष्टिकोण उनके सभी योग ग्रंथों में परिलक्षित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी मनीषा का प्रस्फुटन योग ग्रन्थों में ही हुआ है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध होती हैं—अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद, ज्ञानसार, सटीक द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका, हरिभद्र योग विंशिका और षोड्शक पर वृत्ति, पातञ्जलयोगसूत्र पर वृत्ति एवं हरिभद्र के योगदृष्टि समुच्चय पर गुजराती में आठ दृष्टियों पर सज्झाय। प्रथम तीन ग्रन्थों में उन्होंने अध्यात्म का स्वरूप, भवस्वरूप, वैराग्य, ममत्वत्याग, समत्व-स्वीकार, सदनुष्ठान, मनःशुद्धि, ध्यान एवं ध्याता का स्वरूप, ध्यान का काल, स्थान, आसन, आलम्बन एवं प्रकार आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है। कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के लक्ष्य पर प्रकाश डालते हुए यशोविजयजी लिखते हैं कि सद्प्रवृत्ति अर्थात् विहित धार्मिक क्रिया का सम्यक् आसेवन कर्म-योग है जबकि निजस्वरूप में संलग्नता और विषयों के प्रति उन्मनीभाव ही ज्ञानयोग है। एक मात्र आत्मदर्शन ही ज्ञानयोग का लक्ष्य है। ध्यान के फल की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि ध्यान से आत्म-ज्योति स्फुरित होती है, जीवन में प्रशम का उदय होता है, आत्मा-परमात्मा की भेदबुद्धि अपगत होती है। ध्यान अनुपम अमृत है। परम रस है। द्वात्रिंशिकाओं में अध्यात्म के कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की चर्चा कर पातञ्जल योगसाधना का सुस्पष्ट विवरण प्रस्तुत करते हैं और अधिकांश द्वात्रिंशिकाओं में हरिभद्र के योगग्रन्थों का विशद विवेचन करते हैं। यहां उपाध्यायजी की समीक्षात्मक, तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक दृष्टि की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। इसी प्रकार पातञ्जलयोगसूत्र वृत्ति में योगसूत्र के कुछ सूत्रों की जैनदृष्टि से गम्भीर समीक्षा करके उनका यथाशक्य जैनमन्तव्यों के साथ समन्वय करने का प्रयास परिलक्षित होता है। जैनयोग के तुलनात्मक अध्ययन में उपाध्यायजी का योगदान हमारा मार्गदर्शन करता है।

18.20 जयाचार्यकृत ध्यानप्रकरण (उन्नीसवीं शती)

जयाचार्य ने ध्यान का गहरा अभ्यास किया था। वे ध्यान के सिद्धान्त-पक्ष और क्रियापक्ष—दोनों से परिचित थे। मघवागणी ने उनके जीवन-चरित्र में लिखा है कि जयाचार्य योग-शास्त्र की युक्तियों को जानते थे—

जोग शास्त्र तणी कै युक्ति, अति ऊंडी समय रेस।
व्याख्यान हेतु दृष्टान्त युक्ति अति, ज्ञायक सखर गणेश ॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देशी भाषाओं में भी ध्यान संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। उसी श्रृखंला में जयाचार्य की ये दो कृतियां—'बड़ो ध्यान' और 'छोटो ध्यान' आती हैं।

बड़ो ध्यान

इसमें जयाचार्य ने ध्यान की कुछ पद्धतियों का संक्षिप्त निर्देश किया है। जैन साधना-पद्धति का मूल तत्त्व है—'त्रिगुप्ति साधना'। इसका तात्पर्य है—आसन, मौन और एकाग्रता का अभ्यास। 'बड़ो ध्यान' इसी से ही प्रारम्भ होता है। 'मन की चंचलता कैसे मिटे'? इस प्रश्न के समाधान में उन्होंने श्वास के प्रवेश और निर्गमन पर सोऽहं पर, चित्त केन्द्रित करने का निर्देश किया है। ध्यान का दूसरा प्रकार तीर्थंकर-ध्यान बतलाया है। ध्यान का तीसरा प्रकार है—सिद्ध-ध्यान और चौथा ध्यान है- कर्म-विपाक का चिन्तन। ध्यान के पश्चात् अशौच अनुप्रेक्षा के अनुचिन्तन की पद्धति बतलाई है और अंत में स्वरूप-चिन्तन की पद्धति निर्दिष्ट है। इस प्रकार इस छोटे से ग्रंथ में श्वास-प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान, तादात्म्य-ध्यान, स्वरूप-ध्यान और अनुप्रेक्षा के महत्त्वपूर्ण तत्त्व निदर्शित हैं। ग्रंथ पढ़ने से पता चलता है कि यह ग्रंथों के आधार पर की हुई रचना नहीं है, किन्तु अभ्यास और अनुभव के आधार पर की हुई रचना है। उन्होंने लिखा है—ध्यान निर्मल चढै जरै गुण घणा प्रगट थाय अनै घणा गुण गान करै तिवारै ध्यान निरमल चढ़ै। तिवारे जेहवो रंग चिंतवै तेहवोई दीसण लाग जावै, नै इम जाणै श्री भगवंत इज इण ठिकाणै विराज्या है।

यह अनुभव है। इससे लगता है जयाचार्य ने इस ध्यान का अनुभव किया और उसे एक लघुकाय ग्रंथ का रूप दिया। इसमें भेद-विज्ञान का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। चालीस से अधिक विशेषणों द्वारा जीव और पुद्गल का भेद बतलाया है—

"राग-धेष, कषाय आस्रव ए माहरा नहीं। हूं एह सूं न्यारो छूं। अनंत ज्ञान-दर्शन-चरित्र वीर्य वालो सुध, बुध, अविनासी छूं। 1. अजर, 2. अनादि, 3. अनंत, 4. अखय, 5. अचल, 6. अकल, 7. अमल, 8. अगम, 9. अनभी, 10. अरूपी, 11. अकर्म, 12. अबंधक, 13. अनुदय, 14. अनुदीरक, 15. अयोगी, 16. अभोगी, 17. अरोगी, 18. अभेदी, 19. अवेदी, 20. अछेदी, 21. अखेदी, 22. अकषायी, 23. अलेसी 24. असरीरी, 25. अभासी, 26. अनाहारी, 27. अव्याबाध, 28. अगुरुलघु, 29. अनेंद्री, 30. अप्राणी, 31. अयोनि, 32. असंसारी, 33. अमर, 34. अपर, 35. अपरंपर, 36. अव्यापी, 37. अनाश्रित, 38. अकंप, 39. अविरुध, 40. अनाश्रव, 41. अलख, 42. असोक, 43. असंगी, 44. अनाकार, 45. लोकालोकज्ञायक, 46. सुध, चिदानंद, माहरो छै, पिण कर्म थकी परवस्य वर्तै छै। ते माटे जे विषयादि कर्म ना स्वभाव तेहमें हूं रक्त थावूं नहीं। एथी माहरो निरमल चिदानंद स्वभाव न्यारो छै। इम निज स्वभाव, पर स्वभाव भिन्नपणै चिंतवै विषयादिक थी आत्मा न्यारो गिणै।"

इस प्रकार यह ग्रंथ लघुकाय होने पर प्रतिपाद्य विषय की गुरुता की दृष्टि से सचमुच बड़ा है।

छोटो ध्यान

प्रस्तुत ग्रंथ में नमस्कार महामंत्र के ध्यान की पद्धति वर्णित है। इसका आकार बहुत छोटा है और प्रतिपाद्य संक्षिप्त है। इसलिए वास्तव में ही 'छोटो ध्यान' यह नाम उपयुक्त है। इन दोनों ग्रंथों के रचना-स्थल और रचना-काल के विषय में कोई जानकारी नहीं है।

18.21 गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी विरचित मनोनुशासनम् (बीसवीं शती)

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विलुप्त होती हुई जैनयोग परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास जिन मनीषि-साधकों ने किया उनमें अग्रगण्य हैं गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी। उन्होंने संस्कृत की सूत्रात्मक शैली में यह ग्रन्थ लिखा। जिसमें 181 सूत्र सात प्रकरणों में विभक्त हैं। इसमें ग्रन्थकार की अध्यात्म संवलित चेतना के दर्शन होते हैं। यह ग्रन्थ अपने लघु कलेवर में 2500 वर्षों की विशाल एवं समृद्ध ध्यान-संपदा को समेटकर योगाभ्यासियों को संजीवनी प्रदान करता है। ग्रन्थकार के अनुसार जीवन की समस्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रियाओं के मूल में मन ही क्रियाशील रहता है। अतः उसके स्वरूप को जानकर, देखकर, उसको केन्द्रित-प्रशिक्षित कर, उसकी मूर्च्छा को समाप्त कर अध्यात्म-चेतना से एक रस हुआ जा सकता है। शांति और आनन्द का अजस्र स्रोत है जिसको उपलब्ध करना प्रत्येक मनुष्य चाहता है। किन्तु प्राप्त करने में असफल होता है। युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप योगसाधना के सार्वभौम एवं उपादेय तत्त्वों का सरल एवं बोधगम्य शैली में प्रस्तुतीकरण ही इस ग्रन्थ-रत्न का उद्देश्य है। मन का जागरण और सम्यग् दिशा में विनियोजन की अपूर्वकला वैज्ञानिक ढंग से बतायी गयी है। ध्यान इसका प्रमुख तत्त्व है। ध्यान के द्वारा ही मन अनुशासित होता है। अतएव मनोजय में ध्यान की भूमिका, ध्यान के सहायक तत्त्वों का उपस्थापन, ध्यान की योग्यता, ध्यानोचित आसन, आलम्बन प्रकार आदि का विवेचन इसमें किया गया है। मन की मूढ़ विक्षिप्तादि 6 अवस्थाओं का वर्णन करते हुए मन के शोधन से लेकर मन के निरोध तक की सभी प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है। मन की स्थिरता में सहायक श्वास-प्रश्वास के कुछ अनुभूत प्रयोगों की भी जानकारी दी गयी है।

जैन तत्त्वविद्या में मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति को भी योग कहा गया है। उसका प्रयोग बहुत प्रचलित है, इसलिए साधना के अर्थ में संवर या प्रतिमा का प्रयोग अधिक प्रचलित है।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत (पर्याप्तियां) और दश शक्ति-केन्द्र (प्राण) हैं।

छह शक्ति-स्रोत

1. आहार पर्याप्ति 2. शरीर पर्याप्ति 3. इन्द्रिय पर्याप्ति 4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
5. भाषा पर्याप्ति 6. मनः पर्याप्ति

दस शक्ति-केन्द्र

1. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण 2. चक्षुःइन्द्रिय प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण 4. रसनेन्द्रिय प्राण
5. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण 6. मनोबल 7. वचन-बल 8. काय-बल
9. श्वासोच्छ्वास प्राण 10. आयुष्य प्राण।

इनमें परस्पर कार्य-कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति-स्रोत कारण हैं और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य हैं। संख्या-विस्तार को संक्षेप में लाने पर दोनों की संख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत	**शक्ति-केन्द्र**
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायबल प्राण
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचनबल प्राण
मन:पर्याप्ति	मनोबल प्राण

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था में होते हैं और न अचेतन में होते हैं। ये चेतन और अचेतन के संयोग में उत्पन्न होते हैं। हम जितने प्राणी हैं, वे सब चेतन और अचेतन (पुद्गल) के संयोग की अवस्था में हैं। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नहीं हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका में अवस्थित नहीं हैं। हम अनुभव-शक्ति व ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न हैं, इसलिए हम केवल अचेतन की भूमिका में भी नहीं हैं। हम चैतन्य और अचैतन्य की संयुक्त भूमिका में हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र ही जीव और निर्जीव तत्त्व के बीच व्यावर्तक (भेद डालने वाले) हैं। जिनमें आहार करने, शरीर-रचना, इन्द्रिय रचना व श्वास लेने की शक्ति है, वे जीव हैं और जिनमें ये शक्तियां नहीं हैं, वे निर्जीव हैं।

भाषा-शक्ति व चिंतन-शक्ति जीव के लक्षण नहीं हैं किन्तु वे विकास के अग्रिम सोपान हैं।

ये शक्ति-स्रोत जीवन के आरंभ-काल में ही निष्पन्न हो जाते हैं। इनकी क्रियाशीलता ही प्राणी का जीवन है। प्रश्न होता है कि जीवन का साध्य क्या है? जीवन का कोई एक निश्चित साध्य है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। जीवन जब प्रबुद्ध होता है तब उसका साध्य होता है मुक्ति। मुक्ति के दो साधन हैं— शोधन और निरोध। विस्तार में इनके बारह प्रकार हो जाते हैं।

1. आहार शुद्धि , 2. आहार निरोध, 3. शरीर शुद्धि, 4. शरीर निरोध, 5. इन्द्रिय शुद्धि, 6. इन्द्रिय निरोध, 7. श्वासोच्छ्वास शुद्धि, 8. श्वासोच्छ्वास निरोध, 9. वाक् शुद्धि, 10. वाक् निरोध, 11. मन शुद्धि, 12. मन निरोध।

प्रथम भूमिका शोधन की है। शुद्धि जब अपने चरम बिन्दु पर पहुंच जाती है तब निरोध की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है।

योग का विशिष्ट अंग निरोध है। जब तक मन आदि का निरोध नहीं होता तब तक शोधन का क्रम विकासशील नहीं बनता। निरोध की अपेक्षा शोधन सरल है, इसलिए वह सहजतया हो जाता है किन्तु उसकी पूर्णता निरोध से जुड़ने पर ही होती है। मानवीय चर्या के तीन अंग हैं—असत् प्रवृत्ति, सत् प्रवृत्ति और निवृत्ति। साधना का क्रम-प्राप्त मार्ग यह है कि हम पहले असत् प्रवृत्ति से हटकर सत्प्रवृत्ति की भूमिका में आएं और फिर निवृत्ति की भूमिका को प्राप्त करें।

इस प्रकार ग्रन्थ के शीर्षक के अनुरूप साधक जीवन के आध्यात्मिक और वैज्ञानिक विकास का सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

18.22 आचार्य श्री महाप्रज्ञ विरचित जैनयोग ग्रन्थ

जैन विद्वानों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि क्या जैन परम्परा में योग मान्य है? क्या योगदर्शन जैसा कोई ग्रन्थ है? इस प्रश्न का समाधान देने के लिए सन् 1962 उदयपुर चातुर्मास में गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने वर्तमान आचार्य श्री महाप्रज्ञ को इस दिशा में प्रेरित किया। साधना उनकी विशेष रुचि का विषय था। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसंधान की विधा रही—शास्त्रों का दोहन, तथ्यों का समाकलन, पद्धति का निर्धारण, वैज्ञानिक तथ्यों के साथ तुलना, प्रयोग और अनुभव। इन सबके आधार पर एक परिष्कृत पद्धति का स्थिरीकरण हुआ, जो आज 'प्रेक्षा-ध्यान साधना' के नाम से प्रयुक्त हो रही है। प्रेक्षा-ध्यान की पूरी प्रक्रिया ही 'जैन योग' है। यह एक चिरंतन प्रश्न का समाधान है और है अन्तर्यात्रा का सोपान। इसका प्रारम्भ होता है अस्तित्व बोध के आत्म-लक्षी बिंदु से और अग्रिम बिंदुओं में है आभा-मण्डल, कुण्डलिनी, चैतन्य-केन्द्र आदि का शारीरिक, वैज्ञानिक तथा यौगिक दृष्टि से विश्लेषण।

जैन योग

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार जैनयोग के दो मुख्य सूत्र हैं—संवर और तप। संवर पांच हैं—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। साधना की ये ही पांच भूमिकाएं हैं। गुणस्थान इन्हीं का एक विकसित रूप है। ध्यान तपोयोग का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। साधना का आदि, मध्य और अन्त इसके द्वारा ही सम्पन्न होता है। धर्म-ध्यान को प्रेक्षा-ध्यान के रूप में एक नया आयाम दिया गया है, जो जैन साधना पद्धति के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत पुस्तक जैनयोग के विस्मृत अध्यायों की स्मृति का माध्यम बन सकेगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन योग पुस्तक के प्रमुख चार अध्यायों—1. साधना की पृष्ठभूमि 2. साधना की भूमिकाएं 3. पद्धति और उपलब्धि 4. प्रयोग और परिणाम के अन्तर्गत साधना के विविध प्रयोगों का सर्वांगीण विवेचन हैं। दो परिशिष्टों में 1. महावीर के साधना प्रयोग व 2. आचारांग में प्रेक्षा-ध्यान के तत्त्व का तलस्पर्शी वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के 183 पृष्ठों में भाषा और शैली की विविधता है। कहीं गूढ़ भाषा और सूत्रात्मक शैली है, तो कहीं सरल-सुबोध भाषा और विस्तृत शैली है। कहीं-कहीं विषय की स्पष्टता के लिए प्रतिपाद्य की पुनरुक्ति भी है। इसमें साहित्यिक सिद्धान्त की कठोरता नहीं है किन्तु साधना के रहस्यपूर्ण विषय की अरहस्यात्मकता समझ में आ सके, इस दृष्टि से भाषा और शैली के प्रतिबन्धों की उपेक्षा की गयी है।

1. चेतना का ऊर्ध्वारोहण

चेतना का विकास शरीर के माध्यम से होता है। मनुष्येतर प्राणियों की चेतना नीचे की ओर प्रवाहित होती है, कामकेन्द्र की ओर प्रवाहित होती है। यह चेतना का निम्न अवतरण है। मनुष्य इस दिशा को बदल सकता है, चेतना का ऊर्ध्वारोहण कर सकता है, कामकेन्द्र की ओर अवतरण करने वाली चेतना को ज्ञानकेन्द्र तक ले जा सकता है।

चेतना के ऊर्ध्वारोहण की एक निश्चित प्रक्रिया है। उसके कुछ उपाय हैं। उन्हें जान लेने पर मनुष्य उस दिशा में यात्रा कर सकता है। जिन व्यक्तियों ने इस दिशा में यात्रा की, उनके यात्रा-विरामों को जान लेने पर भी, उस दिशा में यात्रा की जा सकती है। भगवान् महावीर ने चेतना के ऊर्ध्वारोहण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण यात्रा की थी। उनके संकेत उस दिशा में यात्रा करने वालों के लिए आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत पुस्तक के 214 पृष्ठों में यत्र-तत्र उन संकेतों की ओर इंगित किया गया है। सांकेतिक भाषा को समझना यद्यपि सरल नहीं होता, फिर भी उसे समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए अतीत को वर्तमान में अनावृत कर देता है। प्रस्तुत पुस्तक में कोई नयी स्थापना नहीं है, केवल अतीत का अनावरण है।

2. महावीर की साधना का रहस्य

जो अज्ञात है, वह सब ज्ञात है। जो ज्ञात होने पर भी सार्वजनिक रूप से प्रकाशित नहीं होता, वह भी रहस्य होता है। साधना दोनों अर्थों में रहस्य है। भगवान् महावीर के युग में जो साधना-सूत्र ज्ञात थे, वे आज समग्रतया ज्ञात नहीं रहे, इसलिए वे अज्ञात हैं। साधना के कुछ सूत्र व्यक्तिशः ज्ञापनीय होते हैं, इसलिए वे सार्वजनिक रूप में ज्ञात नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन साधना-सूत्रों के स्पर्श का प्रयत्न है, जो अज्ञात से ज्ञात के तल पर आ गए हैं और सबके लिए उपयोगी हैं। आचार्य श्री महाप्रज्ञ की दृष्टि में भगवान् महावीर की स्मृति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है—अर्हत् का ध्यान कर अर्हत् बनना या अर्हत् बनकर अर्हत् के स्वरूप को पहचानना ही साधना का रहस्य है।

साधना के क्षेत्र में शरीर, श्वास, वाणी और मन सबको साधना जरूरी है। इनकी साधना के कुछ मर्म हैं, जिनका प्रस्तुत पुस्तक में उद्घाटन किया गया है। 307 पृष्ठों की पुस्तक को चार अध्यायों में विभाजित किया गया है। वे अध्याय इस प्रकार हैं—1. आत्मा का जागरण 2. आत्मा का साक्षात्कार 3. समाधि 4. इतिहास के संदर्भ में।

इस प्रकार महावीर की साधना के रहस्यों को आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अनुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठित कर सरल-सुबोध शैली में जन-जन के लिए ग्रहणीय बना दिया है।

3. अपना दर्पण : अपना बिम्ब

प्रस्तुत पुस्तक का अन्वर्थ है—अपने दर्पण का निर्माण और अपने बिम्ब का दर्शन। प्रेक्षा निर्जरा की प्रक्रिया है, जिससे पुराने संस्कार क्षीण हो सके। प्रेक्षा संवर का प्रयोग है, जिससे प्रतिबिम्ब पैदा करने वाले

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परमाणु चेतना के भीतर न आ सके। शोधन और निरोध तथा निरोध और शोधन—इस क्रम का परिणाम है बिम्ब का दर्शन, साक्षात्कार।

योगक्षेम वर्ष चिन्तन-मनन, प्रशिक्षण और प्रयोग का महान् अनुष्ठान था। उसमें एक ओर आचार्य श्री की सन्निधि, दूसरी ओर सैंकड़ों-सैंकड़ों प्रबुद्ध साधु-साध्वियों की उपस्थिति, तीसरी ओर जनता। इन सब के बीच में प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में जो चिंतन प्रस्तुत किया, वह 'अपना दर्पण: अपना बिम्ब' में समाकलित है।

इस प्रकार 240 पृष्ठों की इस पुस्तक में 35 प्रवचन संकलित हैं। प्रेक्षा-ध्यान का अमूल्य पाथेय इसमें सन्निविष्ट है जो हमें आत्म-दर्शन की प्रेरणा प्रदान करता है।

4. तब होता है, ध्यान का जन्म

'ज्ञान-ध्यान' एक वाक्यांश है। ज्ञान के लिए ध्यान आवश्यक है और ध्यान के लिए ज्ञान आवश्यक है। प्रकृति की दृष्टि से दोनों एक हैं और प्रक्रिया की दृष्टि से दोनों दो हैं। ज्ञान में चल अंश विद्यमान है और ध्यान में स्थिर अंश। चंचलता जितनी सहज है, स्थिरता उतनी सहज नहीं हैं। शरीर, वाणी और मन के साथ चलने का जन्मसिद्ध अभ्यास है, किन्तु शरीर, वाणी और मन से परे जाने का अभ्यास नहीं है। जो नहीं है, वह जब 'है' में बदलता है, तब होता है ध्यान का जन्म।

जिस क्षण शरीर, वाणी और मन के पीछे खड़ी आसक्ति का दर्शन होता है, उसी क्षण ध्यान व्यक्त हो जाता है।

चंचलता की अपनी समस्याएं हैं तो ध्यान के सामने भी कम समस्याएं नहीं हैं। आवश्यक है ध्यान के विषय का ज्ञान, अनुकूल वातावरण, प्रारम्भ बिन्दु को पकड़ना, ध्यान के फलित के विषय में असंदिग्ध होना। सबसे बड़ी समस्या है मन से परे जाने के लिए मन का ही सहारा लेना। समस्या के कुछ बिन्दुओं पर विचार करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इसमें न अति गहराई में जाने का प्रयत्न है और न दिशा का अतिक्रमण है—मध्य का मार्ग है। इस पर चल कर ध्यान की गहराई तक पहुंचा जा सकता है। इस पुस्तक के 193 पृष्ठों में 22 ध्यान से सम्बन्धित प्रवचनों का समावेश है।

इस प्रकार आचार्य श्री महाप्रज्ञ की ध्यान से सम्बन्धित लगभग 60 पुस्तकें समुपलब्ध हैं। चुम्बक रूप में ही यहां विश्लेषण किया गया है।

18.23 सारांश

उपर्युक्त सर्वेक्षण से सुस्पष्ट होता है कि जैनयोग परम्परा प्राचीन काल से लेकर आज तक अधिकाधिक समृद्ध होती रही है। योग अथवा ध्यान का विशाल साहित्य यहां समुपलब्ध होता है जिसका संक्षिप्त विवरण हमने प्रस्तुत किया है।

18.24 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. योग साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का सविस्तार वर्णन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मध्ययुगीन योग-साहित्य का संक्षिप्त परिचय दें।
2. आगमिक योग साहित्य का चुम्बकीय विवेचन करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मोक्ष पाहुड़ ग्रन्थ के रचनाकार कौन हैं?
2. जिनभद्रगणी विरचित ध्यान विषयक ग्रन्थ का नाम लिखें।
3. आत्मज्ञान से सर्वथा विमुख अवस्था का नाम .... है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. कौन-से आचार्य का समय स्वर्णयुग कहा जा सकता है?
5. योगशतक ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य ..... हैं।
6. मनोनुशासनम् में कितने सूत्र एवं प्रकरण हैं?
7. आचार्य यशोविजयजी का समय ...... शताब्दी है।
8. पिण्डस्थ पदस्थ आदि ध्यानों का जैन परम्परा में सर्वप्रथम निरूपण करने वाले आचार्य ...... हैं।
9. धर्मध्यान को ..... के रूप में एक नया आयाम दिया गया है, जो जैन साधना पद्धति के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है।
10.वर्तमान में ध्यान सम्बन्धी साहित्य सबसे ज्यादा कौन से आचार्य का उपलब्ध होता है?

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. भारतीय इतिहासः एक दृष्टि, ले. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
2. जैनधर्मः अर्हत् और अर्हताएं, ले. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं
3. उत्तराध्ययनः एक समीक्षात्मक अध्ययन, सं. मुनि नथमल जैन, श्वे. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
4. उत्तराध्ययनः एक समीक्षात्मक अध्ययन-वा. प्रमुख आचार्यश्री तुलसी, संपादक-मुनि नथमल, तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
5. तीर्थंकर चरित्र, लेखक-मुनि सुमेरमल 'लाडनूं', जैन विश्व भारती, लाडनूं
6. चौबीस तीर्थंकर, लेखक डॉ. गोकुलचन्द जैन, पराग प्रकाशन, दिल्ली
7. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, लेखक-राजेन्द्र मुनि, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
8. चार तीर्थंकर, लेखक-पं. सुखलाल संघवी.
9. अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण—लेखक श्रीचंद रामपुरिया, जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता।
10. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—लेखक आचार्य महाप्रज्ञ, आ. सा. संघ, चुरू।
11. सूयगडो (1, 2)—प्रका. जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
12. सूयगडो (2)—प्रका. जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
13. भारतीय दर्शन के प्रमुखवाद—मुनि राकेशकुमार जी, प्रका. आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राज.)
14. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—साध्वी संघमित्रा, प्रथम संस्करण 1979
15. उपासना—भाग-1, सं. महाश्रमण मुदित कुमार, प्रथम संस्करण 1996
16. जैन परम्परा का इतिहास—आचार्य महाप्रज्ञ, चतुर्थ संस्करण 1986
१७- जैनधर्म-लेखक पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा।
18 संस्कृति के दो प्रवाह—युवाचार्य महाप्रज्ञ
19. महावीर का पुनर्जन्म—युवाचार्य महाप्रज्ञ
20. आहार और अध्यात्म, लेखकः आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशकः तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्रकाशन वर्षः 1996
21. जैन दर्शन और विज्ञान, समाकलनकर्ताः मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी, श्री जेठालाल एस. झवेरी, प्रकाशकः जैन विश्व भारती संस्थान, (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं, प्रकाशन वर्षः 1992
22. विविध तीर्थकल्प—श्री जिनप्रभसूरि, प्रकाशनः जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ मवानगर, बालोतरा, राज. प्रथम संस्करण 1978
23. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड में प्रकाशित निबन्ध प्राचीन जैनतीर्थ, प्रकाशकः जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ले. पं. कल्याण विजय गणी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

24. जैन तीर्थ दर्शन, प्रकाशक: लालचन्द एण्ड सन्स, 16 दरियागंज, नई दिल्ली
25. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि—संपा. डॉ. आ. ने. उपाध्ये, पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
26. जैनधर्म—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भा. दि. जैन संघ चौरासी, मथुरा
27. जैन पर्व—डॉ. रमेशचन्द्र जैन, प्रका. जैन विद्या संस्थान, प्रका. जैन विद्या संस्थान, अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी (राज.)
28.अमृत कलश भाग 2,सम्पादिका साध्वी जिनप्रभा, साध्वी विमल प्रज्ञा, प्रका. आदर्श साहित्य संघ चुरू(राज.)
29. जैन धर्म का सरल परिचय—पं. बलभद्र जैन, प्रका. कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर
30. प्राकृत साहित्य का इतिहास, लेखक - डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी.
31. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान – लेखक डॉ. हीरालाल जैन,, प्रका. मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिङ्कद, भोपाल.
32.जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 6, लेखक डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रकाश्क—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5 प्रकाशन वर्ष 1973
33. प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास—डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री
34. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भाग 4, डॉ. मोहनलाल मेहता व प्रो. हीरालाल र. कापड़िया, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, द्वितीय संस्करण : 1991
35. जैनयोग की परम्परा, मुनि राकेश कुमार, प्रकाशक तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)
36. चित्त समाधि : जैनयोग, डॉ. नथमल टाटिया, प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)
37. जैनयोग : युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान), तृतीय संस्करण, 1988
38. प्रेक्षाध्यान आगम और आगमेत्तर स्रोत—मुनि धर्मेश, प्र. जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण, 1996
39. आराधना—जयाचार्य, प्र. आचार्यश्री मघवा निर्वाणशताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदारशहर (राजस्थान), द्वितीय संस्करण : 1993
40. मनोनुशासनम्—आचार्य तुलसी, प्र. आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज.), पंचम संस्करण : 1996
41.अध्यात्म-रहस्य—पंडित आशाधर, प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर 21 दरियागंज, दिल्ली, नवम्बर 1957, प्रथमावृत्ति
42. शान्तसुधारस—उपाध्याय विनयविजय, प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज.), 1985
43. अध्यात्मकल्पद्रुम—सुन्दरसूरि, प्रकाशक—श्री वर्द्धमान-सत्य-नीति-हर्षसूरि जैन ग्रन्थमाला रीचीरोड़, अहमदाबाद, सन् 1938
44. अध्यात्म तरंगिणी—सोमदेवसूरि, प्रकाशक—अहिंसा-मन्दिर प्रकाशन, 1 दरियागंज, दिल्ली
45. दर्शन और चिन्तन, पण्डित सुखलालजी के हिन्दी लेखों का संग्रह, प्रकाशक—पण्डित सुखलालजी सन्मान समिति, गुजरात विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद-1, ई.सन् 1957
46. प्राचीन जैन साधना पद्धति—साध्वी राजीमती, प्र.—आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान), 1976

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun